धर्म, धर्म-निरपेक्षता बनाम आतंकवाद

धर्म दिवाकर

धर्म, धर्म-निरपेक्षता बनाम आतंकवाद

लेखकः
धर्म दिवाकर

लेखक रचित अन्य पुस्तकें :

नेहरू का राजनैतिक चिन्तन

डा० अम्बेडकर और सामाजिक न्याय

आज़ादी के पचास वर्ष –
एक इन्कलाब और चाहिये

इतिहास बोलता है,
अब गाँधी चुप नहीं रहेगा



एक क्रान्ति जो शान्ति में समा गई

गीत और बालक (बच्चों के लिए)

शिष्टाचार और व्यवहार

क्या भारतीय गणतन्त्र
आत्महत्या तो नहीं कर रहा है?

गाँधी की अहिंसक क्रान्ति
और विश्व शान्ति

धर्म, धर्म–निरपेक्षता बनाम आतंकवाद

लेखक :
धर्म दिवाकर

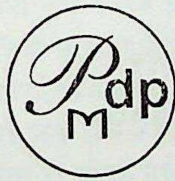
समर्पण

अपने पूज्य पिता

स्व० श्री आर०जी० शर्मा जी

को

धर्म, धर्म–निरपेक्षता
बनाम
आतंकवाद



लेखक :
धर्म दिवाकर

प्रभा दिवाकर प्रकाशन
पी०एल० शर्मा रोड, मेरठ (उत्तर प्रदेश)

- सौरभ शर्मा, गौरव शर्मा
  प्रभा दिवाकर प्रकाशन
  द्वारा अशोका अकादमी
  पी०एल० शर्मा रोड, मेरठ (उ०प्र०)
  दूरभाष : 0121-2663658, 9997420001

- प्रथम संस्करण : 2007
  द्वितीय संस्करण : 2009

- मूल्य 685/- रुपये मात्र

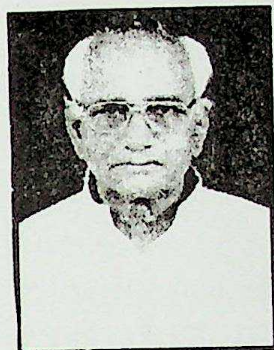
- लेज़र टाईप सैटर्स : सुधांशु जैन, मेरठ।

- मुद्रक : पावन प्रिन्टर्स, शिवाजी मार्ग, मेरठ। फोन : 2642973

यद्यपि कोशिश की गई है कि इस पुस्तक में सही तथ्य प्रस्तुत किये जायें, फिर भी इतिहास अतीत का विषय होता है, उसका अध्ययन विद्वानों और मनीषियों के शोध ग्रन्थों और ऐतिहासिक वर्णन पर आधारित होता है, उस ज्ञान प्राप्ति में यदि कोई त्रुटि रह गई हो या आप उससे सहमत न हों, तो उसके लिए क्षमा प्रार्थी हैं, ऐसी किसी भी प्रकार की क्षति के लिए प्रकाशक, लेखक व मुद्रक उत्तरदायी नहीं होंगे। अन्य किसी लेखन त्रुटि के लिए भी क्षमा प्रार्थी हैं।

-लेखक

लेखक का सूक्ष्म जीवन परिचय



धर्म दिवाकर का जन्म 3 नवम्बर 1936 को शेरकोट, जिला बिजनौर के स्वतंत्रता सेनानी कांग्रेसी परिवार में हुआ था। आर्थिक तौर पर साधारण मध्यम श्रेणी का प्रतिष्ठित तथा लोकप्रिय परिवार रहा। प्रारम्भिक शिक्षा धामपुर, (बिजनौर) तथा हाई स्कूल परीक्षा के० डी० ऐ० वी० हाई स्कूल रुड़की से उत्तीर्ण की। इन्टर मेरठ कॉलिज व तदोपरान्त बी० ए०, एम० ए० (राजनीतिशास्त्र) व एल० टी० मेरठ कॉलिज (आगरा विश्वविद्यालय) से उत्तीर्ण की थी। इस दौरान कॉलिज राजनीति में काफी लोकप्रिय रहें व अनेक प्रतिष्ठित पद पर चुने गये तथा छात्र जीवन में अहिंसक आन्दोलन में मुख्य भूमिका निभाते हुए जेल भी गये। कॉलिज में ही स्टूडेन्ट्स फैडरेशन के भी विभिन्न पदों पर कार्य किया और उत्तर प्रदेश के समाजवादी नेता के रूप में लोकप्रिय हुए। उनके जीवन पर प्राचार्य मेरठ कॉलिज कर्नल ओ० डोनल, श्री बी० आर० चटर्जी (इतिहासकार), मदन मोहन जी, पूर्व प्रंसिपल मेरठ कॉलिज, दार्शनिक कार्ल मार्क्स, गाँधी, नेहरू, आचार्य नरेन्द्र देव, रविन्द्र नाथ टैगोर, भगत सिंह तथा इन्दिरा गाँधी का विशेष प्रभाव रहा। प्रोफेसर जे० पी० सूद, डा० परमात्मा शरण ने गाँधीवादी दर्शन से उनके जीवन को धनी बनाया। वह राजनीति शास्त्र के प्रवक्ता भी रहे।

दिवाकर जी ने पिछड़े वर्ग के शैक्षिक उत्थान हेतू विशेष कार्य किया तथा मलिन बस्तियों को अडाप्ट कर उनका सुधार किया। वह अशोका अकादमी एवं प्रगतिशील अध्ययन केन्द्र के संस्थापक हैं तथा अनेकों सामाजिक संस्थाओं से जुड़े हैं। समाजिक तथा राजनैतिक जीवन में लोकप्रियता के कारण अखिल भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के चौदह वर्ष तक मेरठ शहर कांग्रेस के अध्यक्ष तथा जिला कांग्रेस के अध्यक्ष रहे। वह मेरठ व गाजियाबाद जिला सहकारी बैंक के चेयरमैन रहे। वह महामन्त्री उ० प्र० कांग्रेस व मेरठ शहर विधान सभा क्षेत्र से एम. एल. ए. का चुनाव कांग्रेस के अधिकृत प्रत्याशी के रूप में चुनाव भी लड़े जिसका परिणाम साम्प्रदायक दंगे के कारण सुप्रीम कोर्ट से निरस्त हो गया। वह दूरदर्शन एवं आकाशवाणी के प्रमुख वार्ताकार रहे। दिवाकर जी का विश्वास गाँधी दर्शन में विशेष्ज्ञ रूप से है। उस पर उनका लेखन कार्य निरन्तर चलता रहता है।

कांग्रेस के आन्दोलन में, मजदूर तथा किसान आन्दोलन का नेतृत्व करते हुये कई बार जेल की यातनाऐं भी सही। उन्होंने गोवा मुक्ति संग्राम में सक्रिय भाग लिया। स्वतंत्रता आन्दोलन में, स्कूल भवन पर तिरंगा फहराने के अपराध में पब्लिक केनिग की सज़ा दी गई।

दिवाकर जी ने नेहरू का राजनीतिक चिन्तन, "डा० अम्बेडकर और सामाजिक न्याय" पर विशेष लेखन कार्य किया और समय-समय पर उनके अनेकों लेख विशेषरूप से चर्चित रहे। **"आज़ादी के पचास वर्ष", "एक इन्कलाब और चाहिए"**, नामक पुस्तकों **"एक क्रान्ति जो शान्ति में समा गई"** तथा **"इतिहास बोलता है' अब गाँधी चुप नहीं रहेगा"** नामक पुस्तक ने विशेष ख्याति प्राप्त की। वर्तमान में **"धर्म, धर्म-निरपेक्षता बनाम आतंकवाद"** नामक पुस्तक पाठकों के सामने प्रस्तुत है।

कविता, कहानी के क्षेत्र में भी दिवाकर जी एक विशिष्ठ स्थान रखते है तथा राष्टीय स्तर की पत्र-पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहते है।

प्रेषिका –

श्रीमती संगीता शर्मा

एम० ए० (इतिहास)

धर्म, धर्म-निरपेक्षता
बनाम
आतंकवाद

डरो मत :

आतंक का अन्त निश्चित है,
क्योंकि आतंकी अपने अन्दर छिपी भय की परछाई से स्वयं मर रहा है।
अपने मन के अन्धेरे कोने से छोटी-छोटी प्रकाश बातियाँ बुझा दो,
क्योंकि सवेरा होने वाला है।
कोई भी धर्म-सम्प्रदाय अकेला नहीं चल सकता है,
उसे सभी धर्मो के एकता के महा सागर में ही समन्वय करना होगा।
ताकि मानवता जीवित रह सके।
हिंसा थोड़े समय के लिये उत्तेजित हो सकती है,
उसे अहिंसा की शीतल बौछारों से शान्त होना ही होगा।
हे मानव। निडर होकर जियों, उससे अपार आनन्द मिलेगा।

दिवाकर

शोषण हिंसा है,

चाहे वह धार्मिक हो, राजनैतिक या आर्थिक !
इसे सत्य मानो, कि शोषण ही आतंक की जननी है।
शोषण-रहित समाज की रचना ही सभी धर्मों का उद्देश्य है,
ऐसा इतिहास का अनुभव बोलता है।
आतंकी की तलवार पर जंग लगना निश्चित है,
लेकिन प्रेम और सहयोग सदा जीवित रहते हैं।

दिवाकर

आमुख

इतिहास बहती हुई धारा के समान प्रतिदिन ही नहीं, प्रति पल बदलता रहता है। इतिहासकार तथा वैज्ञानिक अनुमान लगाते है, कि पृथ्वी की रचना 4600 मिलयन वर्ष पूर्व हुई थी, और धरती की गौद मे वृक्ष और पौधे तथा जीव उसके एक हज़ार वर्ष बाद पाये गये थे।

इस तरह से धीरे-धीरे प्रकृति की महान चमत्कारी विकास यात्रा लाखों वर्ष की यात्रा पूर्ण करती हुई, धीरे-धीरे अपनी एतिहासिक गति निरन्तरता को परिवर्तन की परिभाषाओं में अनुबन्धित करती हुई आगे बढ़ती रही। तब कही धरती की विशाल तह को, सूर्य की किरणों की अग्नि ने पिघलाकर सृष्टि के रूप को बदलना आरम्भ कर दिया। उसके बाद मनुष्य ने भी अपने को विकसित करना आरम्भ कर दिया। इतिहास, निर्विध्न मार्ग में उदिग्नता पैदा करता हुआ, नये ज्ञान स्रोतों के साथ आगे बढ रहा था। उस अभिराम विकास यात्रा में, मनुष्य को तथा अन्य जीवों को कठोर प्राकृतिक कठिनाईयों के मध्य से होकर गुजरना पड़ता रहा था, यदि सर्व प्रथम अन्धेरों से उभरने की परिभाषा बताई तो, सूर्य ने, वह उसका सूर्य देवता कहलाया, चन्द्रमा की शीतलता ने उसे अपना परिचय दिया तो वह भी देवता के रूप में पूजा योग्य माने जाने लगा।

अग्नि, वायु तथा सभी 'सितारें', देवताओं के रूप में मनुष्य के लिये मान्य हो गये। उसी के साथ-साथ यह माना जाने लगा कि समस्त सृष्टि का कोई तो रचनाकार होगा ही, जिसे आज तक किसी ने नहीं देखा है, उसे सर्वशक्तिमान 'ईश्वर' के रूप में मनुष्य ने स्वीकार किया। मनुष्य की ज्ञान जिज्ञासा से सृष्टि की सत्यता को जानने की आधार शिला रखी गई। उसी के साथ धर्म (Religion) की परिभाषा भी समझाई जाने लगी। यहां से, मनुष्य जन्म से लेकर मृत्यु तक धर्म बन्धनों में तथा उसके बताएं अनेकों संस्कारों में, साथ ही साथ नैतिक बन्धनों में बंधा कार्य करने लगा।

आगे जाकर मानव 'जाति' विभिन्न 'धर्मों' में विभाजित हो गई। यहीं नहीं, एक ही धर्म कई तरह की धर्म परम्पराओं तथा जातियों में विभाजित हो गया।

धर्म ने, मानव जीवन को नियम, विधि तथा नैतिकता के अधार पर चलने का आवाह्न किया, जिसमें सामाजिक जीवन में सहयोग तथा शुद्ध आचरण का समावेश हुआ।

यह सत्य है कि सर्व प्रथम मनुष्य ने, धर्म और सत्य के आधार पर जीवन को सुचारू रूप से चलाने की व्यवस्था की थी। उस काल से ही मनुष्य की आत्मा, धर्म के प्रभाव में, सत्य को ग्रहण करने के लिये तत्पर रहती है। यह उपदेश धर्म द्वारा ही दिया जाने लगा।

धर्म का लक्ष्य असत्य को त्यागना और सत्य को ग्रहण करना हो गया। परोपकार, किसी को हानि न पहुँचाना, कमज़ोर पीड़ित की मदद करना, तथा दया, धर्म, करुणा और प्रेम का विस्तार करना, प्रत्येक धर्म की शिक्षाओं का मूल आधार माना जाने लगा। लेकिन, राजनीति तथा धर्म संगतन आगे जाकर भंयकर हिंसा का मुख्य कारण भी हो गये।

बहुत लम्बें काल तक, यूरोप का इतिहास, धर्म और राजनीति के मिश्रण से युद्ध का खुला

मैदान बन गया, जिसका वर्णन इस पुस्तक में करने का साहस किया गया है।

धर्म के आवरण में अंधविश्वास, संर्किणताओं का कारण बनकर मनुष्य को उत्पीड़ित करने लगा। उस समय से ही धर्म का सहारा लेकर अन्धविश्वासी धर्माधीश अनेकों तरह के शोषण करने लगे।

आगे जाकर राजनैतिक संरक्षण में धर्म अपना दार्शनिक और आध्यात्मिक पक्ष भूल गया। राजनैतिक भोग विलास की संगत में, धर्म तन्त्र, राजतंत्र की चाकरी करने लगा। यही नहीं, कहीं-कहीं राजनैतिक सत्ता और धार्मिक सत्ता दोनों मिलकर एक सत्ता में समा गई। यूरोप में उसने भयंकर हिंसा को जन्म दिया। स्वामी विवेकानन्द के शब्द स्वंय, उस अवस्था की क्रान्तिकारी व्याख्या करते हुये प्रकट होते हैं "पहले तो इन दुष्ट पुरोहितों को दूर कर दो, क्योंकि यह मस्तिष्क विहिन लोग कभी अच्छी बाते न मानेगे - उनके ह्रदय भी शून्य है, जिसका विकास भी कभी न होगा।

सैकड़ों सदियों के कुसंस्कार व अत्याचारों के मध्य उनका जन्म हुआ है। पहले इनका उच्छेद करो ! आओ ! मनुष्य बनो, अपने संकीर्ण अन्ध कूप से निकलकर बाहर जाकर देखो।

इस पुस्तक में यह भी लिखने का प्रयास किया गया है, कि इतिहास की घटनाऐं किस तरह से सम्पूर्ण संसार में युद्ध और हिंसा का कारण बनी और भयंकर मार-काट के लिये ज़िम्मेदार ठहराई गई।

सृष्टि की जीवन यात्रा में विभिन्न प्रकार के ठहराव आये, हिंसक और अहिंसक पड़ावों से होकर मानव जीवन का कारंवा गुजरता रहता है, कभी उसने सृजन के पल देखे, तो कभी विध्वंस के कठोर प्रहारों से मानदता को नष्ट होते हुये देखा। जहां राजा महाराजाओं को तलवारें क़त्लों और ग़ारत करती, रक्त की नदियां बहाती रही। वहीं बुद्ध, यीशू, मौहम्मद, महावीर तथा नानक की वाणी "सजृन और मानवता' का सन्देश देती रही और शान्ति और मानव सुरक्षा को हिंसा से बचाती रही।" इस पुस्तक में धर्म और धर्म-निरपेक्षता के महत्व को कुछ हद तक समझाने का प्रयास भी किया गया है, जिससे मानवता सुरक्षित होकर विकास कर सके। आतंक सदियों से किसी न किसी रूप में आपसी संघर्ष को जन्म दे रहा है, उसका मुख्य कारण जहां राजनैतिक तथा आर्थिक शोषण रहा है, वहीं धर्म के नाम पर भी असंख्य सर काटे गये हैं, और वर्तमान भी उसकी काली छाया से पीड़ित हो रहा है। पैगम्बरों और अवतारों ने, समय-समय पर अहिंसक उपदेश दिये, लेकिन साम्राज्यवादियों और हिंसक व्यक्तियों ने दुनिया को युद्ध की आग में झौकने का काम किया, जिसमें करोड़ों लोग गारे गये। कई बार ऐसे अवसर भी आये जब सम्पूर्ण संसार को युद्ध ने सर्वनाश के द्वार पर लाकर खड़ा कर दिया।

आज हम वैज्ञानिक युग में रहते हुये भी 'शान्ति' से दूर होते जा रहे है। आतंक और आर्थिक, राजनैतिक तथा धर्मिक शोषण हमें आतंकित कर रहा है। इतिहास में यह आतंकी घटनाऐं क्यों और कैसे घटी इस पर भी कुछ लिखने का साहस किया गया।

यदि ध्यान पूर्वक निष्पक्ष ढंग से इतिहास का मंथन किया जाये, तो साफ नज़र आयेगा कि शक्तिशाली राष्ट्रों की शोषण मनोवृत्ति वर्तमान में अपने नोकीले दांतों से कमज़ोर राष्ट्रों का रक्त पी रही है और अपने स्वार्थ के लिये लाशों का खुला व्यापार कर रही है। वहीं साम्राज्यवादी शक्तियाँ आधुनिक आतंक को जन्म भी दे रही हैं। आधुनिक आतंकवाद चाहे वह धार्मिक हो या जातीय, आर्थिक हो या राजनैतिक, सभी के लिये शक्तिशाली राष्ट्रों की शोषण प्रवृत्ति ही जिम्मेदार है, जो विध्वंसक शस्त्रों का भण्डार लगाये हैं, जो सम्पूर्ण सृष्टि के नाश का कारण भी बन सकती हैं।

आज वर्तमान में चारों और आतंक है, विवाद और संघर्ष है। सम्पूर्ण मानवजाति भय की छाया में सांसे ले रही है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों को मिटाने की कोशिश कर रहा है, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का शत्रु बना, उसे समाप्त करना चाहता है। ऐसे में आवश्यक है कि शान्ति और सुरक्षा के सम्पूर्ण आवरण को अहिंसा और स्नेह तथा सहयोग के धागे से पुनः बुना जाये, और संसार को स्वतन्त्रता तथा समानता के विस्तार के लिये प्रेरित किया जाये। इस पुस्तक के सीमित शब्दों में यह कहने का साहस भी किया गया है कि अहिंसा ही श्रेष्ठ धर्म है।

पाश्चात्य दुनिया से हमने वैज्ञानिक अविष्कारी बदलती हुई आधुनिक संस्कृति और सभ्यता के साथ, नवीन सुख सुविधाओं को ग्रहण किया तथा श्रेष्ठ विचार धाराओं का आदान प्रदान भी हुआ। दुनिया की विभिन्न विचारधाओं का श्रेष्ठ समन्वय भी हुआ। लेकिन आतंकी शक्तियाँ ज्ञान और विज्ञान के युग में भी, घोर आंतकी दानवीय विनाश के काले हस्ताक्षर संसार के विभिन्न कोनों में अंकित करती रही। उसी के साथ-साथ विश्व की महा शक्तियाँ, जनतन्त्र के नाम पर राजनैतिक व्यापारीकरण के माध्यम से आतंक का दायरा बढाते रही।

विश्व की महाशक्तिशाली साम्राज्यवादी शक्तियाँ, वैभवता का विशाल आडम्बर लिये, वैश्यकरण द्वारा निर्मित स्वर्ण तथा रत्नों जड़ित दौलत के सिंहासन पर बैठी हैं, वह उसकी सुरक्षा के लिये विभिन्न प्रकार के हिंसक खेल खेलती रहती हैं। उनके पीछे महाशक्तियों का विशाल साम्राज्य स्थापित हैं। उसकी तृष्णा संसार को निगल जाने की है, उनके आर्थिक सामाज्य की लहराती 'पताकाऐं', बारूदि अग्नि से उठे धुऐं की काली रेखायें हैं। उन तमाम राजनैतिक तथा तथा कथित धार्मिक कहलाने वाले व्यापारियों के युद्ध क्षेत्र, गरीब देशों के खुले बाज़ार हैं। उनके विस्तार के लिये करोड़ों निर्दोश लोगों को आतंकी साये में जीने को विवस करती हैं। आज समस्त ऐशिया और दुनिया के गरीब देश उसका शिकार हो रहे है। अब वह स्यंम भी अपने बनाये आतंकी चक्रव्यु में फंस गये है। आतंक उन तक भी पहुँच गया है। आज की वर्तमान दुनिया या तो एक नशीली विलासता की बाहों में चिपकी खुमारी में जी रही है, या फिर आतंक के दानवीय प्रहारों से पीड़ित हो घुट-घुट कर मर रही है।

वैसे, धर्म दर्शन के अनुसार मनुष्य सर्वश्रेष्ट प्राणी है। वह गम्भीर और अपार ज्ञान का स्वामी है। उसके पास 'कर्म' करने की अपार ऊर्जा है। जब मनुष्य जाति अपने हिंसक अंश का त्याग कर देगी तथा ज्ञान-योग और कर्म योग का समन्वय उसमें स्थापित हो जायेगा, तो अहिंसा के मार्ग पर चलकर चिर शान्ति और मानवता विश्व का श्रंगार बन जायेगी। यही इस पुस्तक का उद्देश्य है।

हमें अहिंसा के रास्ते पर बढते रहना है, निर्भीकता से शान्ति, और विकास की ओर आगे बढना है। धर्म निरपेक्षता तथा पवित्र धर्मो के अहिंसक स्वरूप को समझाना है। पुस्तक की उपदेयता सदा पाठकों पर निर्भर रहती है। यह पुस्तक अपने उद्देश्य में कहां तक सफल हुई, इसकी उपदेयता पाठकों पर ही निर्भर है।

धर्म दिवाकर

अनुक्रमणिका

एक चेतनामय जिज्ञासा

'सृष्टि' के आदिकाल से ही "मानव" के ह्रदय में एक 'जिज्ञासा' उसे बेचैन बनाये हुये थी, कि यह "जगत" क्या है ? उसके 'प्राणी' तथा आस-पास का पर्यावरण क्या है ? यह जल से पूर्ण 'महासागर' दूर तक फैला हुआ क्यों है ? यह पृथ्वी, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा तथा आकाश में जड़े असंख्य सितारे किसके इशारे पर प्रकाश करते हैं ? क्या इसका कोई रचनाकार है ? यह उस काल के चिंतकों का मुख्य विषय था। दुनिया में चिन्तनशील व्यक्तियों ने अपने आरम्भिक काल में, अपने-अपने ढंग से इसकी परिकल्पना की थी, इस चिन्तन जगत की प्रयोगशाला में जहाँ 'प्रकृति' के अपार भण्डार और उसके तत्वों से मानव समाज ने परिचय किया तथा उसकी व्याख्या की उससे जो 'परिणाम' निकलकर सामने आये उसे ही 'ज्ञान' कहा गया। उस ज्ञान खोजकर्त्ताओं को दार्शनिक (Philospher) कहा गया है। ज्ञान के खोजकर्त्ता को ही दार्शनिक कहा जाता है। अब प्रश्न उठा कि जीवन क्या है ? मृत्यु क्यों होती है ? उसी के साथ-साथ इसके उत्तर मिलने लगे। यदि जीवन धरती पर आया तो कैसे आया ? उसका आदि पुरुष कौन था। हमारे जीवन का कौन सृजनकर्त्ता है ? फिर 'जीव' को मृत्यु क्यों आती है ? यदि मृत्यु आती है, तो मृत्यु के बाद उस जीव का क्या होता है ? एक प्रश्न के बाद दूसरे प्रश्न उठते चले गये। उसी से 'आत्मा' का प्रश्न चिन्तकों के सामने आया यह 'आत्मा' क्या है ? यह 'आत्मा' मृत्यु को प्राप्त होती है या 'अमर' है। यह प्रश्न भी उठने लगे। इन सभी प्रश्नों में से एक 'सार' निकल कर आया कि 'सृष्टी' का कोई 'रचियता' है। सभी ने उस 'अज्ञात' शक्ति को खोजना आरम्भ कर दिया। उस जगत के रहस्य को खोजना ही 'सत्य' की खोज कहलाने लगी और सृष्टी के 'रचनाकार' को संसार में 'ईश्वर' कहने लगे। इसी को स्वीकार कर लिया गया कि इस समस्त संसार का और प्रकृति का निर्माण ईश्वर ने किया है। उसने जीवन को जन्म दिया है और उसी ने 'मृत्यु' दी है। उसी के आदेश से जीवन, सुख-दुख के जीवन चक्र से होकर निकलता है। जब जीवन मिला, तो कुछ प्रवृतियाँ भी जीव को प्राप्त हुईं। भूख लगने पर खाने की तलाश होती है, उसके लिये 'जीव' को 'खाने' की तलाश करनी ही होगी। जीवन रक्षा भी एक प्रवृति है, उसे बचाने में, भय, क्रोध और मोह जैसे संवेग के मध्य से होकर गुजरना पड़ेगा। जीवन बचाने पर 'हर्ष' तथा हारने पर 'दुख' का संवेग आयेगा ही। उसी समय से जीवन का 'खेल' आरम्भ हो गया। यहीं से दार्शनिकों ने इनकी सही व्याख्या आरम्भ कर दी, जिसे सत्य की खोज भी कहा जाता है। संसार आगे बढ़ा, "आवश्यकता ही आविष्कार की जननी कही जाती है," मनुष्य प्रकृति के आँचल में अपने लिये, 'सुख' की खोज करने लगा। इसी से चिन्तन जगत में भी 'क्रान्ति' शब्द का प्रयोग आरम्भ हुआ।

जीवन की परिभाषा के साथ सैकड़ों प्रश्न साथ जुड़ने लगे और 'मन' के धरातल पर सैकड़ों नये प्रश्न उठने लगे। क्योंकि 'प्रकृति' की परिभाषा में तो मनुष्य भी एक 'विकसित' 'नस्ल' का 'जीव' ही है। भिन्नता यह है कि उसे सोचने की शक्ति मिली है, 'बुद्धि' मनुष्य की 'नस्ल' में ही सर्वप्रथम विकसीत हुई, उसने ही मनुष्य की चिन्तन शैली में 'जिज्ञासा' का तूफान उठाना शुरु

कर दिया।

उसने फिर प्रश्न किया सौंदर्य क्या है ? प्रकृति ने मानव जीव क्यों बनाया है ? अपने को बचाने की 'प्रवृत्ति' ने उसे सोचने पर मजबूर कर दिया कि अपने जीवन को कैसे सुरक्षित और सुखी रखा जाये। कैसे 'दुख' पीड़ा के दर्द को हटाया जाये और 'सुख' को लाया जाये। चिन्तन जगत में सबसे बड़ा प्रश्न उठा सत्य क्या है ? अच्छाई क्या है ? बुराई क्या है ? उसी के मध्य न्याय और अन्याय की परिभाषा ने भी जन्म लिया। उन्हीं प्रश्नों की 'खोज' में अधिक विकसीत मनुष्यों ने चिन्तक जगत में इन प्रश्नों का उत्तर खोजना आरम्भ कर दिया। इसी क्रम में सदियों से असंख्य प्रश्न मानव जीवन में रोज-रोज उठते रहे और आज भी उठ रहे हैं। इन्हीं प्रश्नों का उत्तर 'तलाशना' मानव जीवन को विवेकपूर्ण अर्थ्मान् बनाता है। इन्हीं 'खोजों की परिधि में ज्ञान और विज्ञान ने जन्म लिया और इन्हीं परिभाषाओं से 'धर्म' की भी 'उत्पत्ति' हुई। यहीं से 'सर्वप्रथम' दार्शनिक और सूफी शब्द की उत्पत्ति हुई। इन्हीं प्रश्नों के उत्तर तलाशने वाले मनुष्य को दार्शनिक और वैज्ञानिक भी कहा गया। इसी तरह के प्रश्नों की खोज में लीन व्यक्ति को 'सन्त' कहाँ गया। इसी आधार पर लोग आगे जाकर विज्ञान की परिभाषा और व्याख्या भी करने लगे।

एक 'दार्शनिक' के विषय में प्लेटो (Plato) ने कहा, "दार्शनिक वह है, **जो सत्य की खोजकर्त्ता है।"** धर्म गुरु और धर्म के संस्थापक संसार में अलग-अलग प्राकृतिक के आँचल में पले और विकसित हुये थे, इसलिये धर्म का लक्ष्य तो मानव जीवन के लिये सत्य की खोज करना था, वह सत्य की खोज तो करते रहे, लेकिन उसमें भिन्नता आ गई। उसमें एक भिन्नता यह भी आ गई की वह सृष्टी के रचनाकार की खोज में अधिक लीन हो गये। सृष्टी के उस रचनाकार को उन्होंने 'ईश्वर' का नाम दिया था।

सत्य हो सकता है, कि सृष्टी को ईश्वर ने बनाया हो ! लेकिन यह भी सत्य है कि 'ईश्वर' और 'धर्म' का नामकरण मनुष्य ने ही किया है।

पाश्चात्य दर्शन में छटी शताब्दी में ईसा से पूर्व, 'पाइथागोरस' ने अपने को सर्वप्रथम ज्ञान का प्रेमी कहा था। उससे पूर्व किसी उच्चकोटि के 'दार्शनिक' ने अपने आपको 'ज्ञानी' नहीं कहा! स्वयं सुकरात का कहना था "मैं 'ज्ञानी' नहीं हूँ मैं सत्य का खोजकर्त्ता हूँ !" ज्ञान के प्रति प्रेम रखता हूँ !! लेकिन जब ज्ञान के खोजकर्त्ताओं ने सम्प्रदाओं में विभाजित होकर रास्ता बदल लिया और वह अपने-अपने 'सम्प्रदाय' के रूप में सृष्टी की व्याख्या करने लगे और आगे जाकर धर्म की परिभाषा में आ गये, तभी से धर्मयुग का आरम्भ हो गया।

मनुष्य के जन्म के बाद उस पर पहली 'मोहर' 'धर्म' की लगती है। मनुष्य की जीवन यात्रा उसके धर्म, बन्धनों और उसके वंश संस्कारों तथा उसकी जाति (Cast) के प्रचलनों और उसके क्षेत्र और 'देश' की 'रीति रिवाजों', 'नियम-कानूनों' द्वारा आरम्भ होती है। धर्म ही उसे प्रथम बन्धन (Chain) में अनुबंधित करता है। उसे सबसे पहला पाठ सिखाता है, कि ऐसा करो! ऐसा मत करो!! यह सत्य है! यह असत्य है! इस संसार की निर्माणकर्त्ता कोई अज्ञात अलौकिक शक्ति है। वह सर्वशक्तिमान अपने नियम से संसार को चलाता है। **वैसे 'दर्शन' का जन्म आश्चर्य से होता है। लेकिन 'धार्मिक' दर्शन का जन्म 'आश्चर्य' पर विश्वास से होता है।** आरम्भ में 'दार्शनिकों' ने 'संसार' को देखकर, उसे समझ कर प्रश्न किया कि संसार की उत्पत्ति कैसे हुई, ? उसके प्रति प्रश्न किये गये। फिर प्रश्न उठा कि संसार की उत्पत्ति क्यों हुई ? संसार में अन्य प्राकृतिक, वस्तुएँ तथा तत्व, कैसे बने ? जगत की अन्य वस्तुएँ क्यों 'स्थिर' रहती हैं तथा कुछ क्यों नाश को प्राप्त होती हैं ?

प्राचीन काल में ग्रीक दर्शन में यह 'प्रश्न' छटी तथा सातवीं शताब्दी में ई० पू० से पूर्व और अति आदि काल में "दर्शन" क्षेत्र में चिन्तन का विषय बन गये थे।

हिन्दु जगत में, 'मनु स्मृति', जो हिन्दु धर्म का अति प्राचीन धर्म ग्रन्थ माना गया है, संकेत देता है, कि ऋषि समुदाय मनु के पास गये, जो एकान्त में चिन्तनलीन बैठे थे, और अति श्रद्धा से वचन बोले कि :—

भगवन्सर्ववर्णानां यथावदनुपूर्वशः। (१)
अनतर-प्रमवाणां च धर्मान्नों वक्तुमर्हसि (२)
त्वमेंको ह्मस्य सर्वस्य विधानस्य स्वयंभुवः।
अचिन्त्यस्याप्रमेयस्य कार्यतत्वार्थवित्प्रभो! (३)

अर्थात् :— महाराज ! सम्पूर्ण धर्मों, वर्णों के धर्मों का यथावत् क्रम से हम लोगों को वर्णन करने में आप समर्थ हैं, क्यों कि सम्पूर्ण "वेद" (ऋग्यजु साम अथर्व) के कार्यों, 'यज्ञ', और नित्यक्रम, सन्ध्यों, वन्दनादि के यर्थात् तात्पर्य के जानने वाले आप एक ही हैं, जो वेद का 'अचिन्त्य, अप्रमेय तथा अनादि' परमात्मा का विधान है। उन्होंने 'मनु' से प्रार्थना कि जगत की रचना और उस धर्म का वर्णन करने की कृपा करें, कि वह क्या है ? यह श्लोक हमें भारतीय धर्म-दर्शन और जगत को जानने की 'जिज्ञासा' का बोध कराता है।

महर्षि 'मनु' ने उत्तर दिया। परमात्मा से 'जगत' की 'उत्पत्ति' हुई है, क्योंकि आरम्भ में, विश्व महाप्रलयकाल में अन्धकार युक्त था और लक्षणों से रहित था। संकेत के अयोग्य था, तप द्वारा सरूप जानने के अयोग्य था तथा निद्रा की अवस्था में था।

"स तैः पृष्टस्तथा सम्यगमिततौजा महात्मभिः।
प्रत्युवाचार्च्य तान्सर्वान्मि हर्षोऽश्रूयतामिति"
आसीदिदं तमो भूतम प्रज्ञातम लक्षणम्।
अप्रतर्क्यमविज्ञेयं प्रसुप्तमिव सर्वतः (पू०)

वास्तव में, सभ्यता के आरम्भ काल से ही भारत के विद्वानों की 'जगत' को जानने की जिज्ञासा का बोध होता है जो आगे जाकर 'दर्शनशास्त्र' का विषय बनने के साथ-साथ धर्म के रूप में स्वीकार करने की ओर बढ़ने लगा।

इसी तरह 'ग्रीक दर्शन' भी 'छटवीं' शताब्दी ई० पू० अनेकों दार्शनिक व्याख्याओं के दौर से गुजरा। ग्रीक दर्शन का आरम्भ भी एशिया से ही हुआ था। कहा जाता है, ग्रीक दर्शन का आरम्भ "लघु एशिया" के "आयोनिया" तथा इटली के "इलिया" प्रदेश से होता है। यह ग्रीक का धनी प्रदेश समुद्र के किनारे बसा था, जहाँ पर अनेकों दार्शनिक, राजनैतिक और अर्थशास्त्र के चिन्तक आरम्भिक ज्ञान, 'नक्षत्र ज्ञान' तथा 'गणित' और 'मावन शरीर' के अध्ययन कार्यों में लीन रहे थे। दर्शन शास्त्री "थेलिस (Thalas)" भी जो सर्वप्रथम दार्शनिक थे यही पैदा हुये थे। लेकिन जैसे हिन्दु दर्शन शास्त्रों में वेदों को 'सृष्टी' का अति प्राचीन ग्रन्थ माना गया है। इसी तरह इटली के 'इलिया' प्रदेश से अति प्राचीन दर्शन की सुगन्ध इतिहास के पन्नों पर मिलती है। उस काल में दक्षिण इटली के दार्शनिक शोधकर्त्ता मानव जीवन के विकास पर निरन्तर शोध कर रहे थे। इसी चिन्तन की निरन्तरता में 'मनुष्य' 'ईश्वर' की कल्पना में खो जाता है। वह धीरे-धीरे ईश्वर के निकट आ जाता है। मनुष्य के जीवन से दुखों का अन्त कैसे होगा, 'प्रकृति' के प्रकोप से मनुष्य कैसे बच सकता है ? कौन उसे कष्टों से, पीड़ा और दर्द से छुटकारा दिलायेगा ? बीमारियों से, उसे कौन निज़ात दिलायेगा ? वह 'शक्ति' कौनसी है, जो जीवन को 'सुरक्षित' रख सकती है।

इस पर अध्यन होने लगा कि मानव जीवन दुखों के महासागर से कैसे 'पार' हो सकता है। 'मृत्यु' के बाद मनुष्य की क्या 'गति' होती है? इन प्रश्नों के उत्तर ने और 'प्रकृति' की विधि ने यही से 'धर्म' को जन्म दिया। एक 'सन्देह' पूर्ण भय ने 'मनुष्य' को 'ईश्वर' देवी, देवताओं की शरण में भेज दिया। वह सर्वोच्च शक्ति के विषय में चिन्तन करने लगा। जिसने जगत को बनाया है।

पाश्चात्य चिन्तन में और, दार्शनिक खोज में 'सुकरात' से पूर्व, यह 'प्रश्न' दर्शन शास्त्र में महत्वपूर्ण था कि "जगत का मूल तत्व क्या है?" यहाँ से ही "परम सत्ता" तथा सर्वोच्च शक्ति को समझने और जानने की जिज्ञासा गति पाती है और वह आगे का सफर तय करती है।

पाश्चात्य जगत के महान् 'दार्शनिक' थेलिस (Thales) ने यह प्रश्न सर्व प्रथम उठाया कि जगत का मूल क्या है? दार्शनिक 'थेलिस' की गणना सप्तऋषियों में होती है। उसने सबसे प्रथम 28 मई 585 ई० पू० पूर्व के होने वाले सूर्य ग्रहण के विषय में संकेत दिया था। वैसे थेलिस (Thales) का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता है। लेकिन उसके विषय में जो भी कहा गया है, वह 'अरस्तू' के अध्यन द्वारा ही पता चलता है। (अरस्तू) वर्णन करते हैं, कि "जल ही अन्तिम तत्व है" थेलिस कहता था कि 'पृथ्वी' जल के ऊपर तैरती है। थेलिस का कथन था, "सभी तत्वों में और वस्तुओं में कोई 'दैविक' शक्ति छिपी रहती है।"

अधिकतकर 'धर्म' ग्रन्थ भी जल को महत्वपूर्ण तत्व मानते हैं तथा पृथ्वी की उत्पत्ति समुद्र से होने का वर्णन करते हैं। थेलिस प्रत्येक वस्तु में **'देवत्व' स्वीकार करता है।**

हिन्दु दर्शन के अनुरूप भी **आकाश, जल, अग्नि और सम्पूर्ण जलवायु, प्रकृति को प्रेरित करने वाले महातत्व** हैं। "मनु स्मृति" 'मनु' द्वारा बोध कराती है। जल, अग्नि, आकाश, वायु, पृथ्वी, के प्रकट होने पर, 'परमात्मा' ने अपने को प्रकाशित किया है।'

"ततः स्वयं भू-र्भगवानव्यक्तोत्वत्रजयान्निदिम्।"

महा-भूतादि वृत्तौजाः प्रादुरासीत्तमोनुदः। योऽसावतीद्रियग्राह्यः सूक्ष्मोऽव्यक्तः सनातनः सर्वभूतमयोऽचिन्तयः स एव स्यममुद्वभौ।।

इसी प्रकार हिन्दु 'ग्रन्थ' ऋग्वेद में भी संसार को अन्धकार से पूर्ण माना गया है। जहाँ पर जल के आपार गर्त के होने को भी स्वीकार किया गया है। 'नृसिंह पूर्णतापनिय उपनिषद' बताती है, सृष्टी में समस्त "जगत जलमय ही" था, उसमें अकेले "प्रजापति" कमल-पत्र से उत्पन्न हुये। उनकी इच्छा हुई कि उन्हें इस जगत की रचना करनी चाहिये।

'ब्रह्मा पुराण' में कहा गया है कि ईश्वर ने सबसे पहले 'जल' की उत्पत्ति की थी, जिसे 'नीर' कहते हैं, और उसमें उन्होंने अपना बीज छोड़ दिया, इसलिये उसे नारायण कहते हैं। (1) (1,38) 'हिन्दु' धर्म ग्रन्थ **'मनुस्मृति' में यह प्रश्न सामने आता है कि ऋषियों ने मनु से 'धर्म' क्या है? यह प्रश्न किया था, क्योंकि वह धर्म के सार को जानना चाहते थे। फिर, 'मनु' उन्हें सृष्टी की रचना पर उपदेश क्यों देने लगे? इस उत्तर में हिन्दु महर्षियों ने धर्म को जानने से पूर्व 'सृष्टी' की व्याख्या और उसकी उत्पत्ति को जानने पर अधिक जोर दिया।** उन्होंने 'वेदों' को अचिन्त्य अप्रमेय, अनादि, परमात्मा का 'विधान' माना।

इसी तरह ग्रीक तथा 'पाश्चात्य दर्शन' के दार्शनिकों ने भी **सृष्टी की 'व्याख्या' को प्रथम स्थान दिया और उन्होंने ने भी उसके बाद धर्मशास्त्रों की व्याख्या आरम्भ की थी।**

प्राचीन ग्रीक दर्शन विद्वान 'एनेक्जमेण्डर' (Anaximander) दार्शनिक ने जो पाश्चात्य चिन्तन जगत के उच्चकोटि के चिन्तक थे, अपनी खोज से सिद्ध किया कि पृथ्वी शून्य में स्वच्छन्द विचरण करती है! पृथ्वी बेलनाकार है, सूर्य पृथ्वी से विशाल है! 'एनेक्जमेण्डर' (Anaximander) ने ज्ञात

कराया कि "सृष्टी की उत्पत्ति एक साथ नहीं हुई, बल्कि इस जगत का शनैः-शनैः विकास हुआ है। उसने कहा "मनुष्य अन्य प्राणियों के साथ मछली से उत्पन्न हुआ।" उसका कथन था "मनुष्य जीवधारियों में सबसे बाद में उत्पन्न हुआ।" उसने सिद्ध किया कि "मनुष्य पैदा होते समय अन्य जीवों के मुकाबले सबसे अधिक एक असहाय प्राणी है।" **मनुष्य अपने शिशु काल में जितना कमज़ोर असहाय होता है उतना और कोई दूसरा प्राणी नहीं होता। उसका कथन था, यदि मनुष्य के अस्तित्व का विकास, नहीं हुआ होता, तो आरम्भिक जीवनकाल में ही वह नष्ट हो जाता। उसका अस्तित्व दुनिया में दिखाई नहीं देता।"**

जीवन और सृष्टी का मूल, तत्व 'असीमतत्व' (Apeironor the Boundless) में भी एक समस्या है। "असीम तत्व" ही मूलतत्व है जिसमें से सभी ही संसार उत्पन्न होता है, सभी नक्षत्र तथा 'ग्रह' उसी में से उत्पन्न होते हैं। यही अमरतत्व है, शाश्वत (Eternal) तथा युगों युगान्तर तक कालातीत (Ageless) है, तथा सम्पूर्ण संसार पर छाया हुआ है। अतः इसके अनुसार वह एक शाश्वत गति भी है, जो 'सृष्टी' की उत्पत्ति में सहयोग करती है। उसके दर्शन के अनुरूप "उस असीम तत्वों से ही सब कुछ उत्पन्न हुआ है और उसी में वह 'विलीन' भी हो जाता है। उसी में वह समा भी जाता है।" **इस तत्व के यह गुण हैं कि वह "अविनाशी" है नित्य है, निर्गुण है, निर्विशेष है, तथा स्वयंभू है, और अमेद तत्व आदि भी है। इसी असीम तत्वों (Apreironor the Boundless) के विषय में "हिन्दु दर्शन शास्त्र" और "वेदान्त" बहुत पहले ही 'ब्रह्म' के रूप में वर्णन करते हैं, ब्रह्म अन्नत है, अपार है तथा शाश्वत् है! बस अन्तर इतना है, कि यह वेदान्तों के समान परमानन्द, स्वरूप मोक्षदाता नहीं है।**

उस काल के, पाश्चात्य दार्शनिकों ने **'असीम तत्व'** को भौतिक स्वरूप नें स्वीकार किया है। लेकिन दार्शनिक 'जेलर' ने इसे दैवीय चेतन, सता कहकर स्वीकार किया है। 'एनेक्जमेण्डर' (Anaximandar) का यह भी मत था, कि 'असीम' में कई अन्य संसार निकलते हैं। कुछ पाश्चात्य दार्शनिक मानते हैं कि असीम के भीतर असंख्य संसार युग समाये रहते हैं। ऐसा एनेक्जमेण्डर विश्वास भी रखता था।

ज्ञान की खोज के साथ सृष्टी की व्याख्या और उसके तथ्यों की खोज चलती रही और दार्शनिक लोग भी तत्वों की व्याख्या करते रहे। नई-नई परिभाषाएँ इतिहास में लिखी जाती रहीं। उसी के साथ सृष्टी के रचियता की **'अपारता'** और **'शाश्वता'** की पूर्णता पर विश्वास रखने के उपदेश देते रहे हैं।

'हिन्दु धर्म' दर्शन में "जगत की उत्पत्ति" तथा उसके 'रचियता' के संदर्भ में अति आदि काल में, वेदों में, अन्य शास्त्रों में जो भी वर्णन किया गया है वह पाश्चात्व दर्शन के चिन्तन जगत से बहुत पहले ही वर्णन किया जा चुका था। लेकिन कई समानताएँ उसमें मिलती हैं। वेदों में जगत की उत्पत्ति पर **एक 'शब्द' 'अप' का बहुत प्रयोग किया गया है जिसमें 'अप' का अर्थ जल से भी माना गया है।**

वेद कहते हैं :

'अप' एव ससजादी तासु विजभवा सृजत्।। "सोडमिध्या शरीरार्त्स्वत्सिसृक्षुविविधाः प्रजाः।"

"अर्थात् उस ('मालिक ने, प्रभु ने और मिलकियत के दृष्टीकोण से) अपने शरीर से नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न किया। **इसमें परमेश्वर शरीर के उपादान का अधिष्ठाता है। इसलिये उसे 'परमेश्वर' कहा गया है।"**

'हिन्दु' दर्शन शस्त्रों में तथा 'पाश्चात्य' दर्शन में भी 'जल' से सृष्टी की उत्पत्ति मानी गई है। ईसाई धर्म में भी ईश्वर की 'आत्मा' जल पर डोलती थी, ऐसा, वर्णित है। पाश्चात्य दर्शन शास्त्र का प्रसिद्ध 'दार्शनिक' ऐनेक्विजमेनीज (Anaximanies)' जो 'एनेक्जमेण्डर' का शिष्य था और जिसका जन्म (588 ई० पू०) माना जाता है। यह चिन्तन किया कि "जगत" किस तत्व से बना है। क्योंकि उससे पूर्व दार्शनिकों के चिन्तन में कुछ भ्रम दिखाई दिया। इसलिये वह थेलिस के इस विचार से सहमत था कि **"मूलतत्व" कोई एक तत्व होना चाहिए जो कि निर्विशेष द्रव्य स्थूल वस्तुओं का कारण नहीं हो सकता, किन्तु एनेक्वजमेनीज कहता है कि "जल अन्तिम तत्व नहीं है क्योंकि जल से उसके विरोधी तत्व से अग्नि उत्पन्न नहीं हो सकती।"** इसलिये वह 'वायु' को अन्तिम तत्व के रूप में प्रस्तुत करता है। क्योंकि वह 'वायु' सम्पूर्ण जगत में फैली है। वह असीम तत्व के समान है। **इसलिये दैविक भी है। वह प्राणियों के जीवन का आधार भी है। वह शीतल और गर्म दोनों है। वह असीम है। 'वायु' ही उत्पत्ति की जननी है।**

उसके दर्शन में मूलतत्व से जगत की उत्पत्ति मानी गई है, जो दो मौलिक प्रक्रियाओं की कल्पना के सहारे आगे बढ़ता है। जिसके विषय में वह कहता है। "एक है विरलीकरण (Rarefaction) और दूसरा (संघनन) (Condensation) जब वायु विरल हो जाती है तब वह अग्नि बन जाती है। उसके अनुसार इसी अग्नि से 'सूर्य, 'चन्द्रमा' तथा 'सितारे' आदि आकाश के समस्त सौर जगत के पिण्डों का निर्माण हुआ है। दूसरी 'प्रक्रिया' में (Condensation) संघनन प्रक्रिया के कारण मूलतत्व से 'पवन' की उत्पत्ति होती है। इस पवन के संघनन से बादल जल फिर पृथ्वी आदि कठोर ठोस पदार्थों का निर्माण होता है 'एनोक्जिमेनीज' 'पृथ्वी' को चपटे आकार का मानता था जो पत्ते के समान डोलती रहती है।"

वह उस समय के धर्म की पुरातन व्याख्याओं से स्वतन्त्र होकर दर्शनशास्त्र को स्वतन्त्रता चिन्तन की ओर ले जाता है।

हजारों वर्ष पूर्व, महऋषि मनु ने मनु स्मृति में कुछ इसी तरह का वर्णन किया है।

तदा विश्न्तिभूतानि महान्ति सहकर्ममिः।
मनश्चावयवैः सूक्ष्मैः सर्वमूतकृदव्यम्
तेषामिंद तु सप्तानां पुरूषाणां महौजसाम् (१)।।८।।
सूक्ष्माभ्यों मूर्तिमात्राम्यः संमवत्यव्याद्व्ययम्।।६।।

अर्थात् : "महामूत" और "मन" जो सब का कर्त्ता और (अन्यों की अपेक्षा) अविनाशी है। अपने-अपने कामों और सूक्ष्म अवयवों सहित प्रविष्ठ होते हैं। पूर्वोक्त सात पुरूष जगतरूपी पुर में रहने वाले (1) अहंकार (2) महत्व और आकाश आदि जो कि बड़े सामर्थ्य वाले हैं। उसकी सूक्ष्म मूर्ति मात्राओं से अविनाशी परमात्मा, नाशवान जगत को उत्पन्न किया करता है।

आद्याद्यस्य गुणं त्वेषामवालप्नोति परः पर।
यो यो यावतिथश्चैषां स स तावद्गुणः स्मृतः।।२०।।
सवैषा तुस नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक् ।
वेदशब्देम्यं एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे।।२१।।

अर्थात् आकाश का गुण 'वायु' से प्राप्त हुआ है। वायु का स्पर्श अग्नि में, अग्नि का रूप जल से, जल का रस पृथ्वी में (इसी प्रकार के शब्द स्पर्श में पांच गुण हैं।) उस (परमात्मा) ने 'सृष्टि' के आरम्भ में इन सब के पृथक-पृथक नाम और गुणों की व्यवस्था 'वेंदों' में की है।

'भारतीय दर्शन' जो आदि काल से एक चिन्तनशील दार्शनिक विवेकपूर्ण सृष्टी की रचना,

तथा उसके 'मूलतत्व' की विषयक जानकारी वेदों तथा पुराणों में ईसा से बहुत पहले, हजारों वर्ष पूर्व इतिहास के पन्नों पर मिलती है। इस अपार जगत की रचना के विषय में पाश्चात्य दर्शन शस्त्रियों से बहुत पहले भारतीय मुनि और दार्शनिक वर्णन कर चुके हैं। पाश्चात्य दर्शन जगत का दार्शनिक पाइथागोरस (Pythagoras) भी भारतीय दर्शन के लक्ष्य की तरह अपने दर्शन के मूलतत्व की व्याख्या करता है तथा दर्शन शास्त्र को एक नवीन दर्शन से जोड़ता है। जो 'द्रव्य' की अपेक्षा आकार को समझने को ही मूलतत्व मानकर चलता है। उसकी दर्शन दृष्टि में आकार की संख्या ही मूलतत्व है। वह अपने 'दर्शन' के माध्यम से बताता है कि "वस्तुओं के आकार में कोई 'द्रव्य' हो, या ना हो संख्या अवश्य होती है" 'संख्या' जल तथा वायु से अधिक मौलिक है। वह अवश्य ही अदृश्य एवं अस्पर्श तत्व है। हम रूप, रंग, गंध, स्पर्श आदि से ही जगत की कल्पना कर सकते हैं। उसका अनुवाद कर सकते हैं। लेकिन संख्याहीन जगत अकल्पनीय है। दार्शनिक 'पाईथागोरस' गणित दर्शन के माध्यम से 'जगत' की व्याख्या करता है संगीत और गणित के लिये 'समानुपात' अनुरूपता और सामंजस्य का होना अति योग्य और महत्वपूर्ण है। "अनेकता" स्वयं ईकाईयों का एक समूह है।

'पाइथोगोरस' के सिद्धान्त में, संख्या के सिद्धान्त से ही जगत का 'निर्माण' होता है। उसके अनुसार 'असीम' से 'ईकाई' की उत्पत्ति हुई। लेकिन पाइथोगोरस यह नहीं उल्लेख करता कि जगत की उत्पत्ति किस प्रकार हुई। इस विषय में वह मौन हो जाता है। वह 'असीम' के कुछ अंशों को, सीमित करता चला गया। फिर इससे ही संसार की वस्तुओं को निर्मित करने की क्रिया को बताता है।

इसी तरह मनु स्मृति भी जगत की उत्पत्ति और विकास का वर्णन बड़े वैज्ञानिक ढंग से करती है मनु ने वर्णन किया :–

'तस्मिन्नण्ड़े से भगवानुषित्व परिवत्सरम्'।
स्वयमेवात्मनो ध्यानात्तदण्डमकरोद्द्विधा।।२।।
ताम्यां स शकलाम्यांच दिवं भूमि च निर्ममे।
मध्ये व्योम दिशश्चाष्यवपां स्थानं च शाश्वतम्।।३।।

अर्थात् उस अण्डे में परितव्सरसंज्ञक काल पर्यन्त होकर उस परमात्मा ने आप ही अपने ध्यान से उस अण्डे के दो टुकड़े किये। (कल्प के समय का 100वाँ भाग परिवत्सर मान लेना चाहिये।) **जिस प्रकार 100 वर्ष का मनुष्य प्राणी, एक 'वर्ष' में ही माँ के गर्भ में तैयार होता है।** उसी तरह से यह जगत भी 100 वर्षों के काल भाग तक 'गर्म' अवस्था में रहा है। उसने उन दो टुकड़ों से भूलोक और पृथ्वी के मध्य को आकाश और आठ दिशा तथा जल का सनातन स्थान बनाया। इस तरह वेदों में तथा भारतीय दर्शन पुराणों में, जगत की आकृति गणित आधार पर की गई है। जगत रचियता ने भारतीय दर्शन में, उसके ज्ञान और अस्तीत्व को यर्थात में महसूस करने के लिये 5 इन्द्रियों को मनुष्य को प्रदान किया।

इस प्रकार जगत की रचना भारतीय दर्शनशास्त्र, जो वेदों में वर्णन करता है। वह 'ईसा' काल से भी हजारों वर्ष पहले वर्णन किये गये थे।

उद्ववहमितनश्चैव मनः सद्ासदात्मकम् !
मन सश्चाप्यहंकारम मि-मन्तारमीश्वरम पदृष्ठा।।४।।
महात्वमेव चात्मान सर्वाणि त्रिगुणानिच।

विषयाणां ग्रहीतुणि शनै पचैन्द्रायाणी च ।।५।।
तेषां त्ववयान्स्मान्षण्णामप्यमितौजम्।
सन्त्रि वेश्यात्ममान्त्रासु सर्वभूतानिक निर्ममे।।६।।
यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्या श्रयान्ति षठ्।
तस्माच्छरीर मित्यहुस्तस्चय मूर्तिक मनीषिण।।७।।

अर्थात् जगत रचियता ने अपने स्यमभूत प्रकृति से सन्कल्पकर्त्ता 'मन' और उस 'मन' से अभिमानी सार्म्थ्य वाले 'अहमतत्व' को उत्पन्न किया। उसके बाद महान् आत्मा तथा सत्य को ग्रहण करने वाली पाँच 'इन्द्रिया' उत्पन्न की गईं। उन पाँच इन्द्रियों और एक अहंकार के सूक्ष्म अवयवों को अपनी-अपनी मात्राओं जैसे 'शब्द' स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का ज्ञान करके प्राणियों को बनाया।

जो जगत का 'ज्ञान' कर, के अहंकार और पांच इन्द्रियों से पांच महाभूत (6) यानि प्राणियों के समस्त कार्यों के रूप होकर उस रचियता परमात्मा के आधीन रहते हैं। **इस कारण ज्ञान (उस ज्ञान स्वरूप परमात्मा) के रचित मूर्ति जगत को उसका आकार कहते हैं। यद्यपि परमात्मा 'आकार' रहित है। मनु ने भी 'मनु स्मृति' में ऐसा ही वर्णन किया है। मनु ने भी 'परमात्मा' को इन्द्रियाँजीत निराकार कहा है। वेदों में जगत के 'आकार' को ही परमात्मा का रूप मान लिया है।**

पाश्चात्य दर्शन शास्त्र भी इस तरह के कुछ समान संकेत देता है जो जगत निर्माण का वर्णन करते हैं। पाश्चात्य जगत का दर्शनशास्त्र के महाविद्वान पाइथागोरस इस जगत के आकार को दस विरोधी जोड़ों में विभाजित करते हैं। इस तरह का वर्णन अरस्तू के ग्रन्थों में पढ़ने को मिलता है।

(1) सीमित और असीमित (Limited and Unlimited)
(2) विषम और सम (Odd and Even)
(3) एक और अनेक (One and Many)
(4) दक्षिण और वाम (Left and Right)
(5) पुंलिग और स्त्रीलिंग (Masculine and Feminine)
(6) स्थिर और गति (Rest and Motion)
(7) सीधा और वक्र (Straight and Crooked)
(8) प्रकाश और अन्धकार (Light and Darkness)
(9) शुभ और अशुभ (Good and Evil)
(10) वर्ग और आयात (Square and Oblong)

'पाईथागोरस' (Pythagoras) भी एक नैतिक तथा धार्मिक उपदेशक था, जो उस काल के 'आफिक' धर्म से सम्बन्धित बताया जाता है। उसके अनुसार 'आत्मा' अमर है। वह मृत्यु के बाद समाप्त नहीं होती। उसे पुनः जन्म धारण करना पड़ता है 'शरीर' 'आत्मा' को बन्धनों में बाँधता है। उसका कथन था; मनुष्य को शरीर की रक्षा करनी चाहिये, क्योंकि उसमें आत्मा निवास करती है, जो 'प्रभु' की अमानत है। मनुष्य को आत्महत्या नहीं करनी चाहिये, क्योंकि यह शरीर प्रभु का घर है, उसकी ही अमानत है। इसलिये किसी को भी प्रभु की उस अमानत को नष्ट करने का अधिकार नहीं है। **'पाइथोगोरस' सम्प्रदाय 'शाकाहारी'** था। उसमें 'माँसाहार' निषेध था। उसमें 'आहार' के विषय में बड़े-बड़े नियम थे। वह जमीन पर पड़ी वस्तुओं को भी उठाकर नहीं खाते थे। यह सम्प्रदाय इन्द्रियों को बस में रखने की शिक्षा देता था तथा

मनुष्य को संयम और त्याग से रहने की शिक्षा देता था। यू तो पाइथागोरस का 'जन्म्' 580 ई० पू० में सेमांस नामक स्थान में हुआ था। जीवन के मध्य काल में वह वहाँ के 'राजा' पालोक्रेटस से अपने दार्शनिक विचारों के मतभेदों से मजबूर होकर देश छोड़कर चला गया था, जो 'मिश्र' आदि देशों में भ्रमण करता हुआ, 'इटली' में जा बसा। वहाँ उसने एक 'धार्मिक' सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जिसे 'पाइथागोरियन' संम्प्रदाय' के नाम से जाना जाता है।

उस काल में भी यह संकेत मिलते हैं कि 'दार्शनिक' विचारों के मतभेदों के कारण कई धार्मिक सम्प्रदाय बन गये थे। उन सम्प्रदायों में संघर्ष आरम्भ हो गया था। 'पाइथोगोरस' को वहाँ से भी अपने 'दार्शनिक' विचारों की भिन्नता के कारण जगह-जगह भागना पड़ा। विवश होकर उसे 'दक्षिण' इटली के 'मोटोपोन्शियम' नामक स्थान पर रहने को मजबूर होना पड़ा। वहीं पर वह अपने अन्तिम समय तक रहा।

वह युग 'ज्ञान की खोज' का युग था, पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण सभी ओर जगत की खोज के विषय बनते जा रहे थे। **भारतीय दर्शन में भी उस काल को "सत्य युग" "The Age of Truth" के नाम से पुकारा गया है। क्योंकि दर्शनशास्त्र में सत्य की खोज करना ही दार्शनिक का कर्त्तव्य था।**

जहाँ, जगत को जानने की उच्चतम 'जिज्ञासा' 'मनुष्य' को बेचैन कर रही थी वहीं, एक दार्शनिक दूसरे दार्शनिक, खोज को आगे बढ़ा रहे थे। लेकिन उस काल में भी उनमें होने वाले दार्शनिक मतभेद साफ दिखाई दे रहे थे। एक दार्शनिक सम्प्रदाय दूसरे दार्शनिक सम्प्रदाय को 'असत्य' साबित करने पर भी लगा था। इन्हीं कारणों से विभिन्न 'सम्प्रदायों' में आपसी टकराव होने लगे थे। उदाहरण के लिये **हेराक्लाइटस' (Hereclitus)** 'नामक' दार्शनिक जो लघु 'एशिया' के 'एफ़ेसस' नामक नगर में पैदा हुआ था। उसके विषय में, कहा जाता है, कि वह एक राजवंश परिवार से सम्बन्धित था लेकिन उसने बोसोलियस की प्राचीन गरिमा (एक धार्मिक पद) से तथा पैतृक सम्पत्ति का त्याग कर दिया था। उसने "ऑन नेचर" (On Nature) नामक ग्रन्थ लिखा जिसके कुछ ही अंश प्राप्त हैं। वह दार्शनिक 'पेलिस' के सौ वर्ष बाद पैदा हुआ था। जिसने ग्रीक दर्शन में कुछ विचित्र घटनाओं को चित्रित किया तथा अपने से पूर्व तथा समान्तर दर्शन पर भारी कटाक्ष भी किया। वह अपने देश की जनता का, जो उस समय बड़ा अन्धविश्वासी जीवन व्यतीत कर रही थी, बड़ा 'आलोचक' था। उसने उस समय अपने देश की जनता के विषय में कहा, "अन्धविश्वासी लोगों को फाँसी लगा देनी चाहिये तथा बच्चों को देश की बागड़ोर सौंप देनी चाहिए।" उसका कथन था "मनुष्य तो एक ही बहुत है। दस हज़ार गधे रखना तो बेकार है" उसी के द्वारा प्रचलित कहावत आज तक दोहराई जाती हैं "गधों को घास चाहिये न की स्वर्ण।"

वह साधारण मनुष्य से 'घृणा' करता था तथा अपने समकालीन तथा पूर्ववर्ती विद्वानों की भी कटु आलोचना करता था।

'आफिक' धर्म के विषय में उसका मत था कि "वह एक अपवित्र धर्म है।" उसे मूर्ति पूजा से घृणा थी। देवी, देवताओं पर बलि देने की प्रथा पर वह गहरा असन्तोष व्यक्त करता था। वह कहता था, बलि देकर वह जो अपने आपको पवित्र करते हैं, वह उसी प्रकार हैं जैसे कीचड़ में डूबा व्यक्ति, "स्वयं कीचड़ में स्नान करके अपने को पवित्र करता है।" उसे 'पाइथागोरस' सम्प्रदाय से बेहद नफरत थी। वह कहता था "मै ही सत्य का साक्षत्कार करने वाला प्रथम दार्शनिक हूँ, अन्य झूठ बोलते हैं।" 'हेराक्लाइटस' 'क्षणिकवाद' को ही सत्य मानता था। उसका कथन था कि आप एक ही नदी में दो बार स्नान नहीं कर सकते। जल तो निरन्तर बहता रहता है, वह ठहरता

नहीं। **जिस जल में आपने स्नान किया है "वह तो आगे बढ़ गया, वह तो बदल गया।" वह नदी तो आगे बढ़ जाती है जिसमें आपने स्नान किया है। इसी प्रकार 'स्नान' कर्त्ता भी पल-पल बदलता रहता है। वह कहता था संसार में सब कुछ बदल रहा है। उसने कहा "देखो! पल-पल निरन्तर बदल रहा है और तेजी से निरन्तर बदल रहा है। चारों ओर देखो! परिवर्तन हो रहा है और सब और परिवर्तन का ही वातावरण है।"**

'हेराक्लाइटस' का मत था सूर्य भी प्रतिपल बदलता रहता है उसका कथन था, वस्तु एक पल ही सत्य रहती है तथा दूसरे पल अस्त्यता में बदल जाती है **इसलिये 'परिवर्तन' ही सत्य है** उसका कथन था, जो होने जा रहा है या होने वाला है, वह सत्य है। इसलिये वह परिणाम को (Be coming) को ही सत्य कहता था। उसके 'दर्शन' को प्लेटो (Plato) ने आगे यह कहकर बढ़ाया था कि सभी दशाएँ, या वस्तुएँ गतिशील हैं।

पक्ष और विपक्ष, दुख और संघर्ष तथा निषेध के साथ-साथ अभाव भी जीवन के अंग हैं। क्योंकि मनुष्य उन्हें अशुभ मानता है, इसलिये उनसे आतंकित रहता है लेकिन 'हेराक्लाइटस' के अनुसार वह जीवन के लिये अनिवार्य दशा है। यदि जीवन दशा परिवर्तित न हो तो जगत ठहर जायेगा। उसका कथन था मनुष्य परिवर्तन के अनुसार ही चलता है, लेकिन उसे यह नहीं मालूम कि किस प्रकार विरोधी शक्तियों में 'समन्वय' स्थापित होगा। यदि मनुष्य परिवर्तन के दो विरोधी पक्षों में समन्वय करने की विधि समझ ले तो जीवन सफल हो जाता है। वह प्रसिद्ध कवि 'होमर' का सख्त आलोचक था क्योंकि उसने ईश्वर से प्रार्थना की थी कि जीवन संघर्ष मनुष्य समाज से समाप्त हो जाये तो जीवन सरल हो जायेगा। इस पर हेराक्लाइटस, ने उसको कह डाला कि कवि "होमर" को यह पता ही नहीं है कि दिन ओर रात क्या होते हैं? हेराक्लाइटस दार्शनिक कहता है कि यदि संघर्ष समाप्त हो जायेगा तो सब कुछ समाप्त हो जायेगा क्योंकि "संघर्ष ही जीवन है।" वह तो युद्ध का भी 'प्रेशक' था। **उसका कथन था "युद्ध तो जीवन का पिता है"। संघर्ष जगत का सत्य नियम है। उसने तो यहाँ तक कह डाला विनाश ही 'नवीन' जन्म का प्रतीक तथा जन्मदाता है। वह अपने को बाद तथा प्रतिवाद का जन्मदाता कहता था।** 'हेराक्लाइटस' का मत था **"वीणा से संगीत के स्वर तीव्र गति तथा मध्य और सरल गति के 'समन्वय' से निकलते हैं।**

उसने साफ कहा **"निर्भीक होकर जीओ"** ! क्योंकि युवा अवस्था और वृद्धावस्था, जीवन और मृत्यु , जागृति स्वपन तथा निद्रा, के साथ-साथ शुभ और अशुभ और जीवन और मृत्यु ही वास्तविक सत्य है। इसमें अशुभ और बुरा कुछ नहीं। मनुष्य यदि परिवर्तन को स्वीकार करे, तो उसे भय और आतंक नहीं आतंकित करेगा।" हेराक्लाइटस 'अग्नि' को ही मूल तत्व मानता है।

उसके कथनानुसार, यह संसार सबके लिये एक ही है, वह किसी ईश्वर सत्ता अन्य किसी सत्ता द्वारा निर्मित नहीं है। यह निरन्तर तथा संजीव अग्नि रूप में सदा से था और हमेशा रहेगा। उसका कथन 'जलना' (दहल) की प्रतिक्रिया ही जीवन की कुंजी है जो निरन्तर होती है, कभी भी विश्राम नहीं करती।

दार्शनिक हेराक्लाइटस अग्नि को साधारण अग्नि नहीं मानता है, यह तो चेतन, निरन्तर सजीव 'अग्नि' है।, जो मानव जीवन की जीवन शैली है तथा सत्य की परिभाषा है। वह 'सर्वदा' गर्मी (Heat) तथा धुऐं (Smoke) तथा राख (Eash) का परिचित खेल है।

'हेराक्लाइटस दार्शनिक' **'आत्मा'** को **'अग्नि'** का ही रूप मानता है मनुष्य में जो चेतना, और जीवन दिखाई देती है वह 'अग्नि' के कारण ही है। जिस 'आत्मा' में जितनी अग्नि होती है,

वह आत्मा उतनी ही पवित्र होती है। भारतीय दर्शन में भी 'अग्नि' को ही जीवन को संचालित करने की सर्वोच्च शक्ति कहा है। अग्नि ही जीवन का आधार है। मनु ने भी कहा –

"अग्निवायुरविम्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातम्"

अग्निवायु आदिव्यादि सनातनु यज्ञ को उत्पन्न किया है।

अब एक 'दर्शन' दूसरे दर्शन के सामने खड़ा था। एक 'सम्प्रदाय' दूसरे सम्प्रदाय को असत्य ठहराने के लिये नई युक्तियाँ तथा नये रास्ते तलाश रहा था।

रेसल' दार्शनिक का तो यह 'कथन' है कि ग्रीक दार्शनिक कभी भी "मध्य मार्गी" नही रहे, बल्कि व्यवहार और सिद्धान्त दोनों में एक दूसरे के विरोध में 'विपरीत' किनारों पर खड़े रहे। हेराक्लाइट्स कहता है। "परिवर्तन ही जीवन का सत्य है।" जबकि "इलियाई सम्प्रदाय" (Eleatic School) कहता है कि "परिवर्तन तो होता ही नहीं" वैसे इस दर्शन के संस्थापक 'जेनाफेनीज' माने जाते हैं, लेकिन उसको व्यापकता प्रदान करने वाले 'पार्मेनाइडीज' ही कहे जाते हैं।

इलियाई दर्शन का संस्थापक जेनोफेनीज इलिया का निवासी नहीं था। वास्तव में इसी व्यक्ति ने दार्शनिक 'पार्मेनाइडीज' के विचारों को फैलाने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की थी। पाँचवी शताब्दी ई० पू० एक व्यक्ति जिसका नाम "जेनोफेनीज" था वह व्यक्ति अपने 'दर्शन' और विचारों में मस्त हो "ग्रीक के नगरों में भ्रमण करते हुये देखा जाता था। वह सड़कों पर आनन्द विभोर हो कविताएँ सुनाता था तथा कहानियों द्वारा अपने धर्म दर्शन को लोगों को समझाता था। उसका दास उसके पीछे एक गिटार तथा उसका सामान लेकर चलता था। वह दूसरे सम्प्रदायों की आलोचना भी जोर-शोर से करता था। वह व्याख्यान कला तथा संगीत और कविता में माहिर था। वह प्रसिद्ध कवि तथा धर्म ज्ञाता 'होमर' का बड़ा आलोचक था। वह कहता था कि किसी भी शक्तिशाली पहलवान और योद्धा को सम्मानित करना अनुचित है क्योंकि 'योद्धा' की 'पूजा' करना 'शक्ति की पूजा करना अनुचित है, क्योंकि यह शक्ति तो पशु में भी होती है। 'शक्तिं की पूजा' उसकी दृष्टि में निन्दनीय थी। उसका कथन था, **मानव का सम्मान उसके बौद्धिक कौशल के कार्य के कारण होना चाहिये।**

उस काल का **'जेनोफेनीज'** नामक दार्शनकि 'ईश्वर' के अस्तीत्व पर सन्देह करता है। इसलिये उसे संदेहवाद का जनक कहा जाता है। उसके अनुसार निश्चित होकर यह नहीं कहा जा सकता है कि ईश्वर का अस्तित्व है या नहीं। उसने ईश्वर के अस्तीत्व को स्वीकार भी नहीं किया, और उसे पूर्णतया अस्वीकार भी नहीं किया। उसका कथन था ईश्वर की **'कल्पना'** हो सकती है। यह सब अध्यन का विषय है लेकिन वह उस काल के अन्धविश्वासी धर्म का कटु आलोचक था तथा वह उस काल के "धर्म-दर्शनशास्त्रियों" का भी विशेष रूप से कठोर तथा कटु आलोचक था क्योंकि उन्होंने देवताओं के "अस्तीत्व" को स्वीकारा और मानव जाति को अन्धविश्वास के अन्धेरों में धकेल दिया। जेनोफेनीज़ ने वर्णन किया कि **"देवताओं की भी स्थापना 'मनुष्य' ने की थी, वह मनुष्य की कल्पना की ही उपज है। उसकी दृष्टि में देवताओं का वास्तविक कोई अस्तित्व नहीं है।** वह अपनी घोषणा वर्णात्मक शैली में करते हुये कहता है "यदि बैलो, घोड़ों, शेरों के हाथ मनुष्य के समान होते और वे चित्र बना सकते, तो वह देवताओं को बैल, घोड़ों के रूप में ही चित्रित करते।" देखा जाये तो वह एक ईश्वरवादी था, लेकिन नास्तिक नहीं था। वह कहता था, **"सर्वोच्च सत्ता मनुष्य की आकृति के रूप में नहीं हो सकती है। वह शक्ति अनादि है, वह सृष्टि का संचालन करता है। वह एक स्थान पर निश्चित रूप से विराजमान है। उसमें गति नहीं है, क्योंकि 'गति' उसके लिये उचित भी नहीं है।"** ईश्वर

समस्त जगत का शासक है। उसके दर्शन में ईश्वर केवल पवित्र आत्मा ही नहीं है बल्कि वह समस्त प्राकृतिक जगत में लीन शक्ति है। वह ही सम्पूर्ण सजीव प्रकृति है। इतिहास बोलता है कि उस काल में 'दर्शनशास्त्री' जगत की रचना और व्याख्या पर 'ईश्वर' और देवताओं की पूजा विधि पर, एक दूसरे से टकराने लगे थे। ग्रीक दर्शन में आपसी टकराव के अनेकों उदाहरण भरे पड़े हैं। जिसके कारण साम्प्रदाय और धार्मिक मतभेद बढ़ रहे थे। 'दार्शनिक' मतभेदों के कारण तथा पंथ तथा धार्मिक मान्यताओं के कारण 'संघर्ष' और 'मतभेद' तेजी से बढ़ रहे थे। उसी कारण आतंक और हत्याएँ भी बढ़ रही थीं।

आगे देखिये, **'इलियाई'** (Eleatic) दर्शन का सबसे प्रमुख दार्शनिक **'पार्मेनाइडीज'** (Parmenides) था। महान् दार्शनिक प्लेटो ने अपने दर्शनशास्त्रों में **'पार्मेनाइडीज'** दार्शनिक का कई जगह वर्णन भी किया। वह दार्शनिक 'सुकरात' से बहुत प्रभावित हुआ था। प्लेटो के दर्शन में उसकी पूर्णतया छाप थी। वह 'हेराक्लाइटस' के समय का ही इलियासी सम्प्रदाय का दार्शनिक था, जिसका जन्म 514 ई० पू० एक अत्यन्त श्रेष्ठ सम्भ्रान्त परिवार में हुआ था। 'राजनीति' में उसका उच्च स्थान था। वैसे 'पार्मेनाइडीज' एक स्वतन्त्र चिन्तक था तथा वह "तान्त्रिक चिन्तन" में तर्क का प्रयोग करता रहता था। इसलिये उसे तर्कशास्त्र का पण्डित भी कहा जाता था, उस काल में वह पाश्चात्य दर्शन का प्रसिद्ध दार्शनिक माना जाता था, जिससे प्लेटो तथा अरस्तू भी प्रभावित हुये थे। पार्मेनाइडीज (Parmenides) ने अपने विचारों को "आन नेचर" नामक काव्य ग्रन्थ में प्रकट किया है, जो काव्य शैली में वर्णन किये गये थे। यह ग्रन्थ दो भागों में बाँटा गया है, जिसमें पहला मार्ग 'परमार्थ' का मार्ग है तथा दूसरा मार्ग "प्रतीति मार्ग" है। उससे पहले उसकी प्रस्तावना दी गई है। प्रस्तावना में वर्णन है, कि "सूर्य कुमारियों के नेतृत्व में 'रथ' पर सवार होकर एक ऐसी देवी के महल' पहुँचता है, जो योग्य और बुद्धिमान पुरुषों को ज्ञान का प्रसाद देती है।" 'देवी' उसे ज्ञान देती है कि प्रथम मार्ग ही "सत्य का मार्ग बताता है। दूसरा मार्ग असत्य का मार्ग है। उसका मत था इन्द्रियों ही से प्राप्त ज्ञान सत्य नहीं कहा जा सकता है। सत्य की 'परख' बुद्धि ही कर सकती है, क्योंकि वह 'सत्य' का सत्यापन करती है। 'पार्मेनाइडीज' बुद्धिवादी दार्शनिक होते हुये कहता है **कि बुद्धिवाद ही सत्य की खोज करता है। इन्द्रियाँ तो भ्रम पैदा करती हैं।** "सत्य के ज्ञान का स्वाद बुद्धि द्वारा ही प्राप्त होता है।"

उसके कथन अनुसार, परिवर्तन का ज्ञान हमें 'इन्द्रियों' द्वारा ही प्राप्त होता है। लेकिन यदि बुद्धि की कसौटी पर हम देखें तो ज्ञात होगा परिवर्तन भ्रामक है, वास्तव में परिवर्तन के पीछे एक स्थाई सत्ता होती है, जिसे बुद्धि द्वारा परख कर ज्ञान की परिधि में लाया जाता है। 'पार्मेनाइडीज' के समय में 'हैराक्लाइटस' का यह सिद्धान्त बहुत ही प्रसिद्ध था, कि **"परिवर्तन ही सत्य है।"** लेकिन पार्मेनाइडीज का 'दर्शन' इसके विपरीत अपनी भावना व्यक्त करता है कि अपार सत्ता की उत्पत्ति कैसे होगी? उसका कथन था परिवर्तन या किसी ज्ञान की वाहक इन्द्रिया ही होती हैं लेकिन वह कभी-कभी भ्रामक 'ज्ञान' भी दे सकती हैं। उसकी 'परख' केवल बुद्धि ही कर सकती है। प्रत्येक परिवर्तन के पीछे एक स्थाई सत्ता होती है, एक स्थाई ज्ञान होता है। जिसको केवल बुद्धि द्वारा ही जाना जा सकता है। इन्द्रियाँ तो भ्रामक ज्ञान भी दे सकती हैं। उसकी यह धारणा थी कि **'सत्य से सत्य ही उत्पन्न होगा। असत्य से सत्य की उत्पत्ति नहीं होगी।'** परम सत्ता की सत् से उत्पत्ति, होती है। उसे असत् से उत्पत्ति मानना भारी भूल है। यह भी सत्य है कि जड़ और शून्य से कुछ भी उत्पन्न नहीं होता है। पार्मेनाइडीज की दृष्टि में, 'परमसत्य' निरपेक्ष सत्य ही है, उसका मानना था **"कि अपरिवर्तित सत्ता का अस्तीत्व ही 'सत्य' है, निरपेक्ष सत्**

(Absolute being) ही उच्चतम सत्य है। वह कहता था "वही मूल तत्व है।" उसी से समस्त जगत उत्पन्न होता है। निरपेक्ष सत्य, केवल एक है, जो अविभाज्य है, अपरिवर्तनीय है, भूत, वर्तमान, भविष्य के बन्धनों से मुक्त है अर्थात् काल से परे है। यह ब्रह्म है। अब दर्शन सत्य की खोज की ओर बढ़ रहा था। लेकिन वह अभी ईश्वर, जीव, आत्मा तथा जगत की व्याख्या ही कर रहा था, जो 'धर्म' और 'सम्प्रदाय' को जन्म देखकर उसे विभिन्न धार्मिक वर्गों में विभाजित कर रहा था।

सत्य पूर्ण और अपार है

समस्त ज्ञान का सार एक ही है कि 'सत्' केवल एक हैं। वह पूर्ण है तथा अपार है। वह 'चिन्त' स्वरूप है। उसके अलावा किसी में भी अन्य सत्ता का अस्तित्व नहीं है उसके अलावा कोई अन्य सत्ता भी स्वीकार नहीं थी। वह सत् 'सत्ता' अभाज्य है। उसका विभाजन नहीं किया जा सकता। सत् सत्ता अपार है। अखण्ड है, वह भूत, वर्तमान, भविष्य के विभाजन से मुक्त है। उसी के साथ-साथ वह निर्विकार है, क्योंकि 'विकार' 'सत्' का गुण नहीं है। इसलिये सत् विकार रहित है। उसकी उत्पत्ति किसी ने नहीं की है। वह स्वयं जन्मा है इसलिये स्वयं 'भू' है। उसका आकार ब्रह्मण्डलाकार है तथा वह अपने में पूर्ण है। वह सत् सत्ता भौतिकवादी तथा आध्यात्कि दोनों ही है। 'हीलग जैसा दार्शनिक' उसे अध्यात्मवादी कहता है जब कि 'बर्नेट' उसे भौतिकवादी मानता है। लेकिन जब 'सत्' अपार अपरिर्वतनशील सत्ता हो जाती है। 'प्लेटो' तो उसे अध्यात्मवाद का प्रेरक कहकर पुकारता था। उससे दर्शनशास्त्र में वाद-विवाद और आगे बढ़ता चला गया। तर्क-वितर्क बढ़ते चले गये। सम्प्रदायों के नये दायरे भिन्नता में विभाजित होते चले गये। धर्म और सम्प्रदाय 'अब' एक दूसरे को असत्य ठहराने के लिये आपसी सघर्ष में तेजी लाने लगे।

इसी संदर्भ में यह जानना जरुरी है, **दर्शनशास्त्र की भिन्नता जहाँ मतभेद का अम्बार लगा रही थी, वहीं धार्मिक मतभेद भी उभर कर सामने आ रहे थे। देवी-देवताओं की पूजा, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्रों की पूजा पर यद्यपि व्यंग और आलोचना होने पर संघर्ष होना आरम्भ हो गया था, फिर भी दर्शनशास्त्र की यात्रा तेजी से अन्धविश्वास की कठोर जंज़ीरे तोड़कर आगे बढ़ने का प्रयास कर रहा थी।**

उसी काल के एक उच्चकोटि के दार्शनिक 'जेनो' (Zeno) का वर्णन न करें तो उस काल का दर्शन ज्ञान अधूरा रह जायेगा। इलियावासी दार्शनिक 'जेनो' 489 ई० पू० में पैदा हुआ था। उसके गुरु 'पार्मेनाइडीज' अपने शिष्य 'जेनो'(Zeno) को अपने पुत्र समान प्रेम करते थे। 'हींगल' ने अपनी पुस्तक 'लेक्चर्स आन दी हिस्ट्री ओफ फिलोस्पी' में बड़े रोचक ठंग से इसका वर्णन किया है। 'जेनो' दार्शनिक 'पार्मेनाइडीज' के समान राजनीति में विशेष 'रुचि' रखता था। उस पर 'राजनैतिक' गतिविधियों के कारणों से 'षडयन्त्र' का भी चार्ज लगा, लेकिन जब उससे उसके सहयोगियों का नाम मालूम किया गया तो उसने अपने सहयोगियों का नाम नहीं बताया, बल्कि बताने से पूर्व ही अपनी 'जीभ' काट कर फेक दी जिससे किसी भी 'शारीरिक' ताड़ना से भी पीड़ित होने पर उसे अपने सहयोगियों के नाम न बताने पड़े।

दर्शनशास्त्रियों के इस 'द्वन्द' और टकराव की कहानियाँ बड़ी विचित्र और कठोर भी हैं। वास्तविकता यह है कि एक 'दार्शनिक तथा धर्म पंथी' यूनान में उत्तर प्रति उत्तर देते रहते थे। उस समय जब 'पार्मेनाईडीज' के दार्शनिक विचार का जिसमें वह कहता था 'सत्' एक है तथा स्थिर और अद्वैव है और निर्विकार तथा स्वयं भू है। तो लोगों ने उसकी हंसी उड़ानी आरम्भ कर

दी थी। उसके शिष्य 'जेनो (Zeno) ने बड़े कठोर और क्रुद्ध शब्दों में ज़ोरदार ढंग से उसका उत्तर दिया, जो विशेष रूप से तब पूर्ण और प्रभावशाली था। जिसका विवरण 'अरस्तू' ने अपने दार्शनिक लेखों में बड़े विस्तार से किया है।

"तर्कशास्त्र कहता है विरोधी गुणों से युक्त वस्तु असल होती है। 'जेनो' (Zeno) दो तरह से अनेकता को विरोधी गुणों से युक्त कहता है। उसका कथन था "एक ही सत्ता सूक्ष्मतम् तथा महानतम् दोनों एक साथ नहीं हो सकती" अतः अनेकता भ्रामक है। संख्या की दृष्टी से अनेकता 'जेनो' (Zeno) के दर्शन में दो विरोधी गुणों से पूर्ण है, वह ससीम तथा असीम दो गुणों से युक्त है, वह ससीम तो इसलिये है, क्योंकि वह जितनी है उतनी ही रहेगी। इसका अर्थ यह है कि वह निश्चित होगी और निश्चित संख्या सीमित होती है। दूसरी ओर यह असीम भी है क्योंकि इसमें विभाजन और अन्त नहीं है, हम इसका अनन्त तक विभाजन नहीं कर सकते हैं, इसलिये यह असीम है।" इसी दष्टीकोण के अनुसार, जेनो (Zeno) गति के विरोध में अनेकों तर्क देता है वह 'गति' को ऐसी दशा में असीमित्व बताता है, जिसका विभाजन अनन्त तक न हो सके।

'जेनो' (Zeno) का दर्शन भी बड़ी आलोचना का शिकार हुआ। उसका सबसे बड़ा आलोचक तो 'स्वंय' अरस्तू ही था, जिसने अपने दर्शन में उसकी आलोचना की थी।

उस काल के ग्रीक 'दार्शनिक' अनेकों परिभाषा में अपने-अपने ढंग से जगत के निर्माण की व्याख्या कर रहे थे। उनके दर्शन से उपजे मतभेद, जहाँ 'राजनीति' को प्रभावित कर रहे थे, वहाँ मानव समाज में वह लोग पृथक-पृथक रूप से नये-नये सम्प्रदायों को जन्म दे रहे थे। एम्पेडाक्लीज (Empedocles) नाम दार्शनिक जो एक योग्य राजनीति, सफल वक्ता, एक धार्मिक शिक्षक तथा उच्चकोटि का कवि भी था अपने दर्शन के आधार पर इतना आगे बढ़ गया, कि स्वयं को उसने देवता घोषित कर दिया। उसने कहना आरम्भ कर दिया "मुझ पर विश्वास करो मैं स्वयं देवता हूँ।" "I am an immortal God unto you, Look on me no more as a mortal."

उसके लिखे दो ग्रन्थ उसके कार्य की स्वयं व्याख्या करते हैं, उसका प्रथम ग्रंथ "औन नेचर" (On Nature) जिसमें उसके दार्शनिक विचारों का खुलासा उसकी 'छन्दवद्ध' काव्य शैली द्वारा होता है। उसका दूसरा ग्रन्थ प्यूरिफीकेशन (Purification) जो उसके धार्मिक विचारों को प्रकट करता है, उसके धार्मिक विचारों पर 'आफिक' धर्म की पूर्ण छाप भी नजर आती है। वैसे स्वयं को देवता बताने वाले इस दार्शनिक "एम्पेडाक्लीज" (Empedocle) का जन्म 495 ई० पू० में 'सिसली' के एक्रागस नामक स्थान में हुआ था। राजनीति, उसे विरासत में उसके पिता द्वारा मिली थी। त्याग की भावना भी उसे पिता द्वारा संस्कारों में दी गई थी। उसने अपने 'देश' में तानाशाही को समाप्त करने के लिये अपनी सम्पूर्ण प्रतिमा और शक्ति को झोक दिया था। निरंकुश शासन को उखाड़ फेकने में वह सफल भी हुआ था, लेकिन उसने राजसत्ता का त्याग कर दिया थां। उसने देशवासियों द्वारा उसे सिंहासन पर बैठाने की प्रार्थना को स्वीकार नहीं किया था, बाद में उसे देश निकाला दे दिया गया। वह यह कहता था कि उसकी 'मृत्यु' साधारण तरीके से नहीं होगी। बल्कि वह दिव्य आलोक में अर्न्तध्यान हो जायेगा। उसके विषय में यह भी कहा जाता है कि वह ज्वालामुखी पर्वत में कूद गया था।

उसने अपने दर्शन में वायु, जल, अग्नि और पृथ्वी को मूल तत्व माना था। उसे वह केवल तत्व नहीं मानता था, 'बल्कि' रूफ ऑफ ऑल (Roofs of All) मान कर चलता था। एक तरह से वह उन्हें सब का आधार कहता था।

उसका मानना था "जगत की रचना में दो महान् शक्तियाँ कार्य करती हैं" एक का नाम

प्रेम (Love) है। दूसरी शक्ति का नाम घृणा विग्रह "(Strife NIlkos) है। यह दोनों महाशक्तियाँ क्रमशः चारों तत्वों को निकट लाने और दूर ले जाने का कार्य करती हैं जिससे जगत का निर्माण तथा उसका विध्वन्स होता है।

प्रेम (Love) से 'आकर्षण उत्पन्न होता है, लेकिन घृणा से 'विकर्षण' होता है। एक शक्ति सृजन करती है और दूसरी शक्ति विध्वन्स करती है।

प्रचलित परिभाषा में प्रेम भावात्मक तत्व है। उसी तरह घृणा भी भावात्मक तत्व है, लेकिन 'एम्पेडाक्लीज' के दार्शनिक शब्दकोष में यह दोनों शक्तियाँ उसके लिये इतनी ही भौतिक हैं जितनी अग्नि, जल, पृथ्वी तथा वायु हैं। वह इन चारों शक्तियों को 'समान' (Equal) कहता है। उसका प्रेम को लम्बाई, चौड़ाई युक्त कहना भी इसका उदाहरण है। घृणा को वह भारपूर्ण कहता है, इससे वह सिद्ध करता है की यह तत्व भौतिक है।

'एम्पेडॉक्लीज' कहता है कि "सृष्टि एक चक्रिय क्रम में घूम रही है, उसका आदि और अन्त नहीं हैं, लेकिन उसके आरम्भ पर विचार किया जा सकता है। प्रथम वह कहता है, "वह चारों महाभूतों में सम्मलित स्थिति की अवस्था है, जो दिव्य लोक कहा जाता है जहाँ पर प्रेम (Love) का साम्राज्य होता है। **उसमें प्रेम ही सृजन करता है। उसकी व्यापकता में सृष्टि समाई थी, यह 'अतिशुभ' अवस्था (Blessed good) थी।** लेकिन दूसरी अवस्था में, घृणा वहाँ नहीं थी। वह उसके बाहर मौजूद थी, जो प्रेम (Love) के साम्राज्य में किसी तरह प्रवेश कर जाती है और वहाँ से प्रेम (Love) को बाहर निकालना आरम्भ कर देती है। इससे चारों तत्वों में अलगाव आरम्भ हो जाता है। लेकिन फिर भी एकता बनी रहती है।

तीसरी अवस्था में यह दुखद होता है, क़ि घृणा 'पूर्णता' प्रेम के साम्राज्य पर काबिज़ हो जाती है और प्रेम को बाहर निकाल देती है। उसमें एक मात्र 'घृणा' का साम्राज्य हो ज़ाता है। और चारों 'तत्व' अलग-अलग हो जाते हैं।

लेकिन दार्शनिक 'एम्पेडॉक्लीज' कहता है कि चतुर्थ अवस्था में प्रेम (Love) भी शान्त नहीं बैठता, वह यत्न करके समयानुसार घृणा के क्षेत्र में, प्रवेश कर जाता है और पृथक-पृथक तत्वों को फिर से मिलाना आरम्भ कर देता है, उसकी अन्त में विजय होती है और सृष्टि फिर सृजन में लीन हो जाती है।

यहाँ यह प्रश्न उठता है, कि सृष्टि का निर्माण 'कैसे' हुआ ? इसका उत्तर दार्शनिक एम्पेडाक्लीज बड़े रोचक ढंग से देता है **कि चारों तत्व 'प्रेम साम्राज्य' में मिलकर कार्य कर रहे थे। लेकिन घृणा के कारण अलगाव की प्रतिक्रिया आरम्भ हुई और सर्वप्रथम वायु और बाद में जल अलग हो गये। अग्नि के बाद जो तत्व अलग हुआ उसका नाम 'पृथ्वी' है, जो घूमने लगी, जिसके आवेश के दबाव के कारण जल के स्त्रोत फूट पड़े। उसके बाद जल से भाप और धुन्ध का निर्माण हुआ। जो आकाश" पिण्डों का निर्माण करता है, वह वायु है। दार्शनिक 'एमपेडाक्लीज' का कथन था कि सूर्य का निर्माण 'अग्नि' से हुआ है। जीवधारियों के निर्माण को वह 'विकास' परम्परा का सिद्धान्त मानकर चलता है। वह घृणा और प्रेम के अनुपात के गतिशील होने पर ऐसा रसायन उत्पन्न हुआ, जिससे जीवधारी उत्पन्न हुये।**

वह मानता था, कि उस रसायन से भी पहले वनस्पति जगत की उत्पति हुई। उसी से समवेदना और सुख-दुख का अनुभव करने का सिलसिला आरम्भ हुआ। उसके बाद जीव-जन्तु उत्पन्न हुये, और सबसे बाद में मनुष्य उत्पन्न हुआ। वह इसी सिद्धान्त के आधार पर कहता है "जो जीव परिस्तिथियों के अनुसार जीवन को ढाल लेते हैं, वहीं जीवित रहते हैं" अन्यथा नष्ट हो जाते

हैं। डार्विन भी इसी के सिद्धान्त से प्रभावित था।

दर्शन शास्त्रियों का सम्पूर्ण जीवन उस काल के 'धर्म चक्र' से प्रभावित था। उस काल में भी राज्य का धर्म, भी वहीं होता था, जो किसी दार्शनिक के "धर्म दर्शन" के अनुसार ग्रहण कर लिया जाता था, वहीं धर्म 'सत्य' माना जाता था। जो राज्य को स्वीकार होता था। समस्त "पाश्चात्य दर्शन" इस तरह के भयंकर संघर्षों से भरा पड़ा है। जहाँ 'सूर्य' को देवता न मानने, 'अग्नि' को 'देवी' के स्परूप में स्वीकार न करने पर दार्शनिकों को जेल में सड़ना पड़ता था, या फिर मौत की सज़ा को अंगीकार करना पड़ता था। उस काल में 'धर्म' को 'राज'-सत्ता शक्ति के बल पर तलवार के माध्यम से फैलाती थी या उसे अपने "चिन्तन दर्शन" के अनुसार मानने को विवश करती थी।

उदाहरण के तौर हर हम 'ऐथन्स' की उस पवित्र भूमि की ओर बढ़ते हैं, जहाँ पाश्चात्य दर्शन के महान् दार्शनिक 'सुकरात', 'प्लेटो' और 'अरस्तू' ने जन्म लिया था।

वह एक नगर राज्य था "(सिटी स्टेट)" थी तथा ज्ञान की और विज्ञान की 'जननी' थी। उसकी हवाओं, में और वादियों में हर पल ज्ञान गंगा बहती रहती थी। 'दर्शनशास्त्र', राजनीति को दिशा तथा ज्ञान को सत्यता पर पहुँचाने के लिये चिन्तन धाराओं का प्रवाह बना रहता था, लेकिन उस काल की राज्य सत्ता सत्य के खोजकर्ताओं को कष्ट देने में और ज़हर का प्याले पिलाने तथा सूली पर चढ़ाने के लिये कलंकित भी मानी जाती है, फिर भी काल कोठारियों में पड़े 'दार्शनिक' सत्य बोलते रहते थे और ज्ञान और विज्ञान को आगे बढ़ाते रहते थे।

उसी काल में, एक महान दार्शनिक एनेक्जेगोजरस (Anaxagoras) 500 ई० पू० में आयोनिया के क्लेजोमेना नामक स्थान में, एक धनी परिवार में जन्मा था। वैसे वह ऐथन्सवासी नहीं था, लेकिन अपनी समस्त सुख-सुविधाएँ, धन दौलत छोड़कर 'ज्ञान' की प्यास तृप्ति के लिये 'ऐथन्स' आया था। 'एनेक्जगोरस' ने ही 'ऐथन्स' शहर की धरती पर "दर्शनशास्त्र' के 'प्रथम' पौधे को बोया था। इसी धरती को सुकरात की 'जननी', 'प्लेटो' की "ज्ञान शाला" और अरस्तू की दार्शनिक 'प्रयोगशाला' के नाम से भी जाना जाता है।

अपने आरम्भिक काल में, वह 40 वर्ष की अवस्था में ऐथन्स आये थे। वहाँ पर वह एनेक्जमेनीज के दर्शन शास्त्र से प्रभावित हुआ। उसके बाद में वह विद्वान 'पेरिक्लीज' के 'दर्शन केन्द्र' का सदस्य बन गया और उसके साथ रहा। उसे वहाँ कवि "यूरीपिडज", महान् संगीतकार 'डेमन' प्रसिद्ध इतिहास ज्ञाता "हेरोडोट्स" आदि का सांनिध्य प्राप्त हुआ।

उस काल में 'दार्शनिक' 'परिक्लीज' के विरोधियों की केवल संख्या ही अधिक नहीं थी, 'बल्कि' उनकी शक्ति भी अधिक थी। उसके विरोधी राज्यसत्ता पर हावी थे। उसी के प्रभाव में उसे 'कैद' कर लिया गया। उसी के साथ 'एनेक्जेगोरस' को भी कैद में डाल दिया गया। **उस पर अपराध लगाया गया कि उसने 'सूर्य' को देवता न मानकर उसे "अग्निमय पत्थर" माना है तथा 'सूर्य' देवता का अपमान किया है। उसी के साथ उसने 'चन्द्रमा' को 'देवी' न मानकर पृथ्वी की तरह एक ग्रह माना है, जिसमें मैदान है, तथा गुफाएँ भी हैं। इसलिये वह धर्म निन्दा का 'दोषी' है।** दार्शनिक एनेक्वेगोरस (Anaxagores) जेल की कोठरियों में ही सड़ जाता या फिर मौत की नींद सुला दिया जाता यदि उसे दार्शनिक 'पैरेक्लीज़' ने 'जेल' से भागने में मदद न की होती। यहाँ से भागकर वह किसी तरह अपने देश पहुँच गया। वहाँ जाकर उसने अपने दार्शनिक विचारों को विकसीत किया। उस काल से ही ऐथन्स की जंज़ीरों से विकसीत हुये

उसके दार्शनिक विचार दर्शन जगत को 'प्रकाश' की ओर ले जाने लगे। यह युग 'प्लेटो' जैसे दार्शनिकों का युग था, लेकिन वह भी बहुत हद तक पुरातन धर्म का पक्षधर था।

'प्लेटो' जैसे दार्शनिक ने भी यहाँ संकीर्णता और धर्मनिष्ठा का ही पक्ष लिया था। वह भी अन्धवश्विास के चिन्तन से बाहर नहीं निकल पाया था। **उन्होंने भी 'सूर्य' को देवता ही स्वीकार किया तथा 'एनेक्जेगोरस' को गलत साबित किया था।**

"एनेक्जेगोरस" भी 'एम्पेड़ाक्लीज' के सिद्धान्त का विकास ही करता है। एम्पेडाक्लीज (Empedocles) जहाँ मूल तत्वों को केवल चार की संख्या बताता है, वहीं (एन्क्जेगोरस) मूल तत्व की संख्या 'असंख्य' बताता है। उन चार तत्वों में जैसे जल, पृथ्वी, अग्नि, वायु में ही असंख्य तत्वों का मिश्रण है। 'एम्पेडाक्लीज' उन्हें गतिशील बनाने में प्रेम और घृणा को भौतिक शक्ति मानकर गतिशील करता है। जबकि 'एनेक्जेगोरस' उसे मानसिक शक्ति मानकर आगे बढ़ाता है। अरस्तु ने तो दार्शनिक 'एनेक्जेगोरस' को अकेला ही अन्धों में देखने वाला बताया। उसने बताया कि असंख्य बीजों द्वारा किस तरह से संसार का निर्माण होता है। उसने यह समझाया कि यह निर्माण 'स्वयं' होता है या फिर कोई परमशक्ति इसका निर्माण करती है। एनेक्जेगोरस (Anaxagoras) इस 'दर्शन' को नहीं मानता कि निर्माण 'स्वयं' हो जाता है, वह इसके पीछे किसी शक्ति को अवश्यक मानता है। उसके पीछे किसी 'प्रयोजन' को भी आवश्यक मानता है, वह उस गतिदाता शक्ति को मानसिक शक्ति (Mink or Intelligent) 'नाउस' (Nous) मानता है। वह सृष्टि का निर्माण उसका संचालन और उसकी क्रमबद्धता की सत्यता को महसूस करके ही नाउस (Nous) को निर्माण का जन्मदाता कहता है। उसकी दृष्टी में 'नाउस' (Nous) ही 'परमज्ञान' है।

गति देने वाला 'नाउस' अपार गुणों से पूर्ण है "यह स्वयं तो 'गतिहीन' है यदि यह गति युक्त' हो जाता है, तो फिर गति दाता कौन होगा ? यह प्रश्न सामने आ जाता है। इसलिये यही उचित है कि इसे गतिहीन माना जाये।

'अरस्तु' इसी परमतत्व को गतिहीन गति दाता कहता है। 'ऐन्कजेगोरस' इसे स्वयं भू असीम, निराकार, स्वतन्त्र, परम शुद्ध, प्रतिनिष्ठ तथा सर्वश्रेष्ठ, परम शक्ति के रूप में संसार की सूक्ष्म तम् से लेकर विशालतम् समस्त वस्तुओं और जीवों में इसकी सत्ता मौजूद है।

नाउस (Nous) क्या तत्व है ?

इस विषय में 'दर्शनशास्त्र' अनेकों प्रकार की व्याख्या करता है तथा इस विषय पर आपसी मतभेदों की संख्या भी अधिक है। यही मतभेद आगे जाकर धार्मिक संघर्ष का कारण बन जाते हैं।

'एनेक्जेगोरस' ने स्वयं कहीं नहीं कहा कि यह (मानसिक शक्ति) नाउस (Nous) चेतन तत्व हैं या अचेतन। यह भौतिक तत्व हैं या आध्यात्मिक तत्व है। ऐनेक्जेगोरस कहता है, "यह भूत, वर्तमान, भविष्य का जन्मदाता है, यह जगत की व्यवस्था करने वाला है। सभी वस्तुओं का निर्माण कर्त्ता तथा कारण है। वह पूर्णरूप से निरपेक्ष है। साथ ही साथ विशुद्ध तथा अमिश्रित है और अन्य जीवों से पृथक हो जाता है, तब यह तत्व चेतन हो जाता है, लेकिन जब यह तत्व कम और ज्यादा तथा स्थान घेरने वाला कहलाता है तो भौतिक हो जाता है। नाउस (Nous) को अस्तु तथा जेलर आदि आध्यात्मिक तत्व मानते हैं जब की ग्रोटे तथा वर्नेट इसे भौतिक तत्व के नाम से पुकारते हैं, लेकिन कुछ विद्वान इसे आध्यात्मिक तथा भौतिक दोनों ही मानते हैं। **लेकिन अधिकतर विद्वान (मानसिक शक्ति) नाउस (Nous) को चेतन तत्व ही मानते हैं।**

सृष्टि के निर्माण में एनेक्जेगोरस दो तत्वों को निर्माण का कारण मानता है। एक और असंख्य बीज उपजाऊ मात्रा में मौजूद हैं, दूसरे (बुद्धितत्व) नाउस (Nous) हैं, जो गति देने वाली शक्ति के रूप में हैं, फिर भी प्रश्न सामने खड़ा है कि किस प्रकार इससे जगत का निर्माण होता है, यह दार्शनिक बड़े रोचक ढंग से उसकी व्याख्या करता है। एक समय था, ज़ब आकाश के अपार विस्तार पटल पर असंख्य बीच बिखरे पड़े थे, तब वह अपने फैलाव में अस्त-व्यस्त अवस्था में समस्त आकाश में फैले थे। कहीं पर भी शून्यता नहीं थी। यह नाउस उस अवस्था में उनके मध्य एक (vortoz) आर्वत पैदा करता है उससे बीजों में हलचल पैदा होती है जैसे हम किसी नदी में पत्थर डालते हैं, नदी में अपार तरंगें उठती हैं। उसी तरह सम्पूर्ण बीजों में गति उत्पन्न हो जाती है वह सक्रिय हो जाते हैं। इस हलचल से विरोधी गुण वाले बीज अलग हो जाते हैं। इस हलचल से ही पृथकता विकास करती है, अपना फैलाव करती है इसी से सघन तप्त से शीतल, अन्धकार से प्रकाश शुष्क से नम आदि अलग होनें लगते हैं लेकिन वह पूर्णतया अपने तत्व से अलग नहीं होते और वे हो भी नहीं सकते। उसी से सृष्टि का क्रम चलता रहता है, वह एक महान् शक्ति है और प्रक्रिया में बन्धे चलते रहते हैं लेकिन इस विरोध 'अलगाव' से यह नतीजा सामने आया कि विरल तप्त, प्रकाश और शुष्क के साथ मिलन से 'वायु' का ऊपरी भाग पैदा हो गया। दूसरी ओर सघन, शीतल नम और अन्धकार के मिलन से निचले भाग का निर्माण हुआ। उसका वचन था कि, पृथ्वी चपटी वायु पर तैरती रहती है।

सौर जगत की व्याख्या करते हुये तो एनेक्जेगोरस एक दार्शनिक के साथ-साथ वैज्ञानिक भी बन जाता है, क्योंकि वह 'सूर्य' और 'चन्द्रमा' को देवता न कहकर पत्थर पर टुकडा कहता है। सूर्य को वह लाल पत्थर कहता है, 'चन्द्रमा' को वह सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित होना मानता है। हमारे जगत के अलावा भी कई अन्य जगत हैं वह ऐसा मानता है। उनके अपने-अपने अलग सूर्य और चन्द्रमा हैं। उसकी इस 'दार्शनिक' व्याख्या के कारण उसे जेल में अनेकों कष्ट भी उठाने पड़े थे।

उस काल में **ग्रीक पाश्चात्य दर्शन** पग-पग पर संर्कीताओं और धार्मिक अन्ध-विश्वासों का सामना कर रहा था और कभी-कभी कुछ 'दार्शनिक विद्वान' अन्धविश्वास और संर्कीणताओं की धुन्ध को हटाने के बजाय स्वयं उसमें चिन्गारी दिखाकर, उसे हवा देने का काम करते थे। ऐसे अनेकों उदाहरण पाश्चात्य दर्शन-शास्त्र और धर्म शास्त्रों में भरे पड़े हैं। **वह युग 'दर्शनशास्त्र' के मानवतावादी चिन्तकों के लिये कोई 'सरल' युग नहीं था। मानवतावादी चिन्तकों की उस काल में स्वतन्त्र पहचान करना बड़ा कठिन था, जब कभी किसी चिन्तक ने रूढिवादी 'लीक' से हटकर कलम चलाई, उसे मृत्यु और भयानक आतंक का सामना करना पड़ा।**

वह युग जगत के निर्माण की खोज में लीन था। उस समय का दार्शनिक स्वर्ग तथा दूसरे नक्षत्रों, देवी और देवताओं की 'शक्ति' परिभाषाओं या अग्नि, जल, थल, वायु तथा आकाश की उत्पत्ति और उसके योगदान, तथा जीवन की व्याख्या, सम्वेदनाओं और ज्ञानेन्द्रियों के कार्य पर चिन्तन को विकसीत कर रहा था। उस काल में यदि कोई दार्शनिक 'प्रचलित' परम्पराओं पर कुछ बोलता था तो उस पर तूफान खड़ा हो जाता था। वैज्ञानिक 'दर्शन' और मानवतावादी 'दर्शन' सत्य की खोज तो कर रहा था 'लेकिन' सत्य की खोज उसे मृत्यु के दरवाज़े तक ले जाती थी।

फिर भी ऐसे अनेकों दार्शनिक थे, जो दर-दर की ठोकरें खाकर 'सत्य' बोलने का 'साहस' करते थे। इस काल में जगत की रचना और विकास की व्याख्या का कार्यक्रम जोरों पर था। उस काल में 'परमाणुवादी दर्शन' (Automistic Philosophy) उन प्रश्नों का उत्तर दे रही थी, जो

दार्शनिक 'थेपिस' ने उठाये थे। यही 'दर्शन' अपना महत्व इसलिये भी रखता है क्योंकि यह 'वैज्ञानिक' दार्शनिक जगत का शिलान्यास करता हुआ चलता है। इस दर्शन के ल्यूसिपस (Leusipus) तथा डेमोक्रिटस (Democritus) इस दर्शन के कर्णधार माने गये हैं। इस दर्शन ने एक नवीन वैज्ञानिक चिन्तन को जन्म दिया जो प्रकृति के छिपे रहस्यों पर कार्य कर रहे थे। **उस काल में अन्धविश्वास और 'राज्यसत्ता' के अहंकार का पर्दा उठ रहा था, लेकिन सत्ता और अन्धविश्वास का 'आतंक' खूनी खेल भी साथ ही साथ खेल रहा था। बुद्धिवाद की बढ़ती हुई शक्ति और दर्शन शास्त्र की चेतनामय जिज्ञासा उन्हें सत्य-ज्ञान की खोज के लिये 'मृत्यु' का आलिंगन करने के लिये प्रेरित करती थी उसी के साथ-साथ अमर सत्य की खोज निरन्तर जारी थी।**

परमाणुवादी दर्शन और जगत

मानव समाज की जिज्ञासा, दार्शनिक वर्ग को जगत के रचनाकार के विषय में तथा संसार की रचना के विषय में, जानने को निरन्तर यत्र करने को प्रेरित कर रही थी। उस काल में, दार्शनिक थोलिस ने जगत की रचना के सम्बन्ध में जो प्रश्न उठाये थे, उसका उत्तर परमाणुवादी दर्शन देता है। इस दर्शन का मुख्य ज्ञाता ल्यूसिपस था।

'दार्शनिक' ल्यूसिपस (Leusipus) पर ग्रीक दर्शन-शास्त्र सन्देह करता हुआ चलता है। बहुत से इतिहासकार उसके अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते हैं, लेकिन दार्शनिक 'अरस्तू' ने उसका उल्लेख विशेष रूप से अपने दर्शन ग्रन्थों में किया है तब उस पर सन्देह करने की गुंजाइस ही नहीं है।

कहते है, वह 'माइलेटस' का रहने वाला था जो बाद में 'इलिया' चला गया था। जहाँ वह दार्शनिक जेनों (Zeno) का शिष्य बन गया। उसके बाद वहाँ से वह 'अवडेरा' चला गया, जहाँ उसने अपने शिष्य 'डेमोक्रिटस' के साथ मिलकर परमाणुवादी दर्शन पर विशेष कार्य किया।

'डेमोक्रिटस' (Democritus) ने परमाणुवादी दर्शन की व्याख्या में अपने गुरू 'ल्यूसिपस' से बहुत अधिक कार्य किया। वास्तविकता यह है कि, 'डेमाक्रिटस' अपने गुरू से 20 साल छोटा था, लेकिन परमाणुवादी दर्शन पर जो उसने कार्य किया, वह आज भी विज्ञान जगत में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। 'डेमोक्रिटस' ने सत्य दर्शन की खोज में दूर-दूर देशों की यात्राएँ भी की थीं तथा ज्ञान की प्यास में वह जगह-जगह भटकता भी रहा तथा अनेकों कष्ट भी उठाये।

'डेमोक्रिटस' (Democritus) दार्शनिक जगत की रचना में असंख्य मूल तत्व के रूप में 'परमाणु' की स्थापना करते हैं। परमाणुवादी दार्शनिक कहते हैं कि यदि किसी पदार्थ को लगातार तोड़ते चले जाओ, तब एक ऐसा 'कण' (जर्रा) रह जायेगा, जिसे विभाजित नहीं किया जा सकता, यहीं वह अविभाज्य कण है जो 'परमाणु (Atoms)' कहलाता है। यह शब्द 'परमाणु' दो ग्रीक शब्दों से मिलकर बना हैं जिसमें प्रथम अक्षर 'ए' (A) है, जिसका अर्थ नहीं (Not) होता है दूसरा शब्द मिलाकर शब्द 'टोम' (Tom) बनता है।, जिसका अर्थ, है कट (Cut) जो आगे नहीं काटा जा सकता है। इस सम्पूर्ण शब्द का अर्थ यही है कि वह आगे 'विभाज्य' नहीं है।

परमाणुओं की विशेषता यह भी है कि वह गुण रहित हैं, किन्तु यह सदा भेद रहित नहीं हैं। इसमें परिमाणात्मक अन्तर हैं, इसका अर्थ यह है कि इनके 'आकार' और स्वरूप में अन्तर हैं। इसलिये परमाणुओं को गुण रहित माना गया है। परमाणुओं का विनाश नहीं होता है और उनकी-उत्पत्ति भी नहीं होती है। वह नित्य तथा अनित्य हैं, इसी के साथ-साथ वह अमेद्य और अतीन्द्रिय हैं। उनमें रंग, ध्वनि, स्वाद तथा रूप का अभाव है। प्रश्न उठता है, जब परमाणुओं की उपरोक्त अवस्था है, तो परमाणुओं से निर्मित वस्तुओं में गुणात्मक अन्तर क्यों पाया जाता है ? इसके उत्तर में परमाणुवाद बोलता है कि इसका कारण यह कि परमाणुओं का आकार आकृति और व्यवस्था पर स्थित है।

दूसरी ओर परमाणुवादी मानते हैं कि इसके अतिरिक्त एक सत्ता और है, वह है "शून्य आकाश" (Empty space) परमाणुवादियों का कहना है कि "संसार में वस्तुओं का निर्माण परमाणुओं के विशेष अवस्थाओं के 'मिलन' और 'अलगाव' (विछोह) से ही होता हैं"। इस कार्य के लिये 'गति' की अवाश्यकता है, जो शून्य आकाश की जरूरत से पूरी होती है। शून्य आकाश के बिना 'गति' हो ही नहीं सकती है। (Atoms) परमाणुओं का विचरण शून्य आकाश में हो सकता है।

परमाणुवाद दो सत्ताओं को स्वीकार करता है। एक 'सत्ता' परमाणुओं की होती है, उसी तरह दूसरी सत्ता शून्य आकाश की है। प्रथम में परमाणु परिपूर्ण है, वहाँ आकाश पूर्णतय शून्य है। उनके दर्शन के अनुरूप शून्य आकश में असंख्य परमाणु गतिशील पाये जाते हैं, उन्हीं से वस्तुओं का निर्माण होता है। प्रश्न उठाया गया कि परमाणुओं में गति कहाँ से आती है? उसके उत्तर में परमाणुवादी कहते हैं कि गति तो परमाणुओं का अपना गुण है, तथा साथ ही साथ गति तो परमाणुओं का प्राकृतिक गुण भी है। उदाहरण के लिये जैसे मधु में मिठास होती है, उसी तरह परमाणुओं में गति होती है।

परमाणुवादी किसी 'प्रयोजन' को नहीं मानते। यह 'गति' यान्त्रिक' होती है परमाणुवादी किसी 'दैविक' सत्ता को स्वीकार नहीं करते, यह स्वचालित निमय से घटित होती है। कोई भी घटना अकारण नहीं होती है, किसी भी घटना की कोई भी आवश्यकता उसकी अनिवार्यता में होती है।

एक प्रश्न और सामने आता है कि समस्त जगत और उनकी वस्तुओं का निर्माण कैसे होता हैं? उस पर परमाणुवादियों का कथन है **"समस्त शून्य जगत में असंख्य परमाणु घूमते रहते हैं।" तब वह एक दूसरे से टकराते रहते हैं ऐसी अवस्था में तब उनकी रगड़ से चक्रावत (Vortax) पैदा होता है। ऐसी दशा में समान आकार और आकृति वाले परमाणुओं के एक साथ मिलने पर विभिन्न पदार्थों का निर्माण होता है, यहीं से पृथ्वी, जल, वायु आदि महाभूतों का श्रीगणेश होता है।**

भंवर या चक्रावर्तन की इस प्रक्रिया से यह परिणाम सामने आता है, सूक्ष्म परमाणु केन्द्र की ओर खींचे चले जाते हैं, और स्थूल परमाणु परिधि की ओर चले जाते हैं। उदाहरण के तौर पर जैसे समुद्र की लहरों के कारण छोटे और बड़े कंकड़ पृथक-पृथक हो जाते हैं। इस तरह से परमाणुओं के आपसी टकराव से ही विश्व की रचना होती है। इसमें सबसे पहले पृथ्वी बनी, फिर चन्द्रमा और फिर सूर्य तथा बाद अन्य नक्षत्रों का जन्म हुआ।

परमाणुवादी 'आत्मा' को भी परमाणुओं द्वारा निर्मित मानते हैं लेकिन वह 'परमाणु' कुछ भिन्न प्रकार के 'चिकने' गोल तथा परिमार्जित होते हैं, जिसका निर्माण पवित्र 'अग्नि' से हुआ माना जाता है। इस प्रकार के चिकने परमाणु आकाश के चारों ओर फैले रहते हैं। जब वह किसी प्रकार पृथ्वी, जल, वायु के परमाणुओं के सम्पर्क (Contact) में आते हैं। उसी शक्ति को 'आत्मा' कहते हैं। वही जीवन और चेतना कही जाती है।

परमाणुवादी क्योंकि भौतिकवादी हैं, इसलिये 'ईश्वर' की सत्ता को नहीं मानते हैं उनका कथन साफ है कि मनुष्य 'ईश्वर' की शरण में प्राकृतिक 'भय' के कारण जाता है, क्योंकि मनुष्य आँधी, तूफान, दुर्घटनाओं, प्राकृतिक प्रकोपों तथा भूकम्प आदि से पीड़ित होकर या किसी भय से घबरा कर किसी अनदेखी किसी अपार शक्ति को 'ईश्वर' देवी, देवताओं के रूप में मान्यता देता है और उसकी शरण में चला जाता है। वह मानते हैं कि 'भय' ही देवी, देवताओं तथा 'ईश्वर' की कल्पना और उसकी जननी है।

'परमाणुवादी' वैसे सीधे तौर पर भोग-विलास के जीवन से दूर एक नैतिक जीवन जीने में विश्वास करते थे। हिन्दू तथा जैन धर्म के ग्रन्थों में भी परमाणुओं से जगत की रचना के संकेत मिलते है, जो ग्रीक, परमाणुवादियों से हजारों साल पहले संसार तथा 'जीव' उत्पत्ति में 'परमाणुओं' से जगत की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है। मनु स्मृति में महऋषि मनु वर्णन करते हैं कि –

"तमोऽयं तु समाश्रित्य चिरं तिष्ठति सेद्रियः।
न च स्व कुरूते कर्म तदोत्क्रमति मूर्तितः ।।५५।।
यदाणुमत्रिको भूत्वा बीजं स्थास्नु चरिष्णु च।
समाविशति संसृष्टस्तदा मूर्ति विमुञ्चति।।५६।।

अर्थात् जब यह जीवन इन्द्रियों सहित बहुत काल उपरान्त (अन्धेरा) को (सुषुप्ति) आश्रय करके रहता है और अपना कर्म स्वास प्रश्वासदि नहीं करता, तब वह शरीर से प्रथक हुआ रहता है।।५५।। जब अणु मात्रिक होकर (अर्थात् अणु है, मात्राएँ जिसको उस अणु मात्र पुर्यटक कहते हैं, जिससे शरीर बनता है उसकी सामग्री जीव, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, आयु, अविद्या मिलकर अणु मात्र कहलाते हैं, जो प्रथम 'अणु मात्रिक होकर "अचर" वृक्षादि या चर (मनुष्य आदि) के हेतू बीजों में प्रविष्ट करते हैं। तब उनसे मिलकर शरीर को धारण करता है।

'हिन्दु' धर्म, जिसे सनातन धर्म भी कहा जाता है, 'मनुस्मृति' में ऐसे बहुत से बड़े 'रोचक' तथ्य प्रस्तुत किये हैं, मनु स्मृति में 'सृष्टि की रचना के सम्बन्ध में वर्णन किया गया है –

"चत्वार्याहु; 'सहस्त्रणि वर्षाणां तत्कृत युगम्।
तस्य तापच्छती संध्या सन्ध्याशश्च तथाविधः।।६९।।
इतरेषु ससंध्येषु संसंघ्याशेषच त्रिषु।
एकापायने वर्तन्ते सहस्राणि शतानि च ।। ६०।।

अर्थात् (मनुष्य के 360 वर्ष का एक दैव वर्ष) ऐसे चार हज़ार को कृत युग कहते हैं और उसकी सन्ध्या युग (युग का पूर्वकाल) भी चार सौ वर्ष का होता है और सन्ध्यांशु (युग का पर काल) भी चार सौ वर्ष का होता है। सन्ध्या और सन्ध्यांशं मिल कर कृत युग 4000 दैव वर्ष का होता है। (69) अन्य तीन (त्रेता, द्वापर, कलि) की संन्ध्या और सन्ध्याश के साथ मिलकर जो संख्या होती है, वह क्रम से सहस में को ओर शत में की एक-एक संख्या घटाने से तीन संख्या पूरी होती हैं जैसे कृत युग 4,800 = 17,28,000

त्रेता 3,600 = 12,960,00 द्वापर

2,400 = 9,64,000, कलि 1,200 = 4,32,000

चारों 12,000 = 4,24,20,000 वर्ष, 1 चतुर्यगी ।।७०।।

"यदेत्परिसख्यातमादावेव, चतुर्युगम्।
एतद् द्वादशसाहत्र देवानां युग मुच्यते।।७१।।
दैविकानां युगानां तु सहस्र परिसंख्यया।
बाह्यमेकमदृझेंयं तावतीं रात्रिमेव च"।।

अर्थात् वह जो प्रथम गिनाये इन्हीं चार युगों को बारह हज़ार 12,000 से गुणा करके 1 दैव युग कहलाता है।।७१।। दैव सहस्रों युगों का ब्रह्मा का दिन होता है, और सहस्त्र युगों की रात्रि

होने से ब्रह्मा की दिन रात्रि होती है। दैव एक हज़ार वर्ष का एक युग इसे 1000 से गुणा करने से 4,32,00,00,000 (चार अरब बत्तीस करोड़ मानुष वर्ष का 'ब्रह्म' दिन और इतनी ही 'रात्री' हुई। भारतीय दार्शनिक इस समस्त सृष्टी की जीवन यात्रा और उसकी रचना गणित के आधार पर बड़े वैज्ञानिक ढंग से, संकल्प के साथ विकसीत करत हैं।

नोट : कुछ टीकाकारों ने मानवी वर्षा की संख्या 400 x 365 = ,46,000 मानुषी वर्ष को स्वीकार किया। सत्य क्या है ? गणित इतिहासकार ही जानते है। हम तो 'ग्रीक दर्शन' और 'भारतीय दर्शन' के समानता के अंश की वर्णन कर रहे है।

इससे आगे हिन्दु दर्शन, मनुः शास्त्र कहता हैं –

"मनः सृष्टि विकुरूते चोद्यमान सिसृक्षया।
आकाशं जायते तस्मातस्य शब्दं गुणं विदुः।।
आकाशंतु विकुवणित्सर्वगन्धवहः शुचिः।
बलवान् जायते वायुः सवं स्पर्श गुणों मतः ।।७६।।

अर्थात् 'परमात्मा' की रचने की इच्छा से प्रेरित किया हुआ मन 'सृष्टि' में उथल-पूथल अर्थात् उसमें हिलोरे उत्पन्न करता है, यानि विकृत करता है मन स्तत्व से आकाश उत्पन्न हाता है, उसके गुण को शब्द कहते हैं ।।७५।। आकाश के विकार से सब गन्ध को ले चलने वाली 'वायु' उत्पन्न होती है। वह स्पर्श गुण वाला माना जाता है मनु जी आगे कहते हैं –

"वायोरपि विकुवर्णाणांर्दूरो चिष्णु तमोनुदम्।
ज्योतिरूत्पद्यते भास्वतद्रूपगुणुमुच्यते।।७७।।
ज्योतिषश्च विकुर्वाणदापोरस्गुणाः स्मृताः।
अद्भयों गन्धगुणा भूमि रित्येषा सृष्टिरदितः ।।७८।।

अर्थात् वायु के विकार को तम (अंधेरे) का नाश करने वाली प्रकाशमय चमकीली अग्नि उत्पन्न होती है, उसका गुण रूप है।।७७।। अग्नि के विकार से जल उत्पन्न होता है।, उसका गुण रस है, और जल से पृथ्वी उत्पन्न होती है, उसका गुण गन्ध है। आरम्भ से सृष्टि का यही क्रम है।

सृष्टि की रचना भारतीय (हिन्दु) दर्शन में, 'वेदों' 'पुराणों' और 'मनु स्मृति' में भारत के ऋषियों, मुनियों ने, बड़े रोचक तथा वैज्ञानिक ढंग से गणित के आधार पर की थी, वह दार्शनिक, वैज्ञानिक खोज पश्चिमी दर्शन से भी हजारों वर्ष पूर्व, वर्णन की गई थी। **उपरोक्त वर्णन से यह साफ पता चलता है कि भारतीय 'प्राचीन दर्शन' में तथा अति प्राचीन ग्रीक दर्शन में बहुत कुछ समानता है।**

'प्राकृति' के अनजान रहस्य को खोज कर, भारत और ग्रीक दर्शन अपनी अपार समता और समानता संसार में रखता है। प्राचीन भारतीय दर्शन और ग्रीक दर्शन सभ्यता और संस्कृति की जननी है। पाश्चात्य दर्शन तथा धर्मशास्त्र 'यद्यपि' दर्शन और धार्मिक मतभेदों, के कारण 'संघर्ष' और विवादों के दायरे में आ गया था। इसलिये पाश्चात्य दर्शन शास्त्र जहाँ दर्शन शास्त्र के विकास की कहानी कहता है। वहीं संघर्ष और आतंक का 'हुनर' भी वहीं से आरम्भ होता है। 'फर्क' इतना ही है, कि 'समय' की परतों में उसके रूप और बदलते रहे हैं। प्राचीन, युग, मध्य युग तथा आधुनिकयुग में उसका 'चरित्र' बदलता रहा है।

एशिया और भारत तथा अन्य देश भी इसके प्रभाव से बचे नहीं हैं। यूरोप का इतिहास तो सबसे अधिक पीड़ित रहा है। उदाहरण के लिये, 5 वीं सदी ई० पू० के लगभग 'ग्रीक' दार्शनिक और चिन्तक अपने लक्ष्य को छोड़ संघर्ष में फंस गये थे। उस समय 'ग्रीक' देश जो 'जनतन्त्र' में विश्वास करता था, छोटे-छोटे गण राज्यों में विभाजित हो गया था। यह उस काल में यह राज्य बुरी तरह अव्यवस्तिथ और टूटते जा रहे थे। राजनीति और धर्मतन्त्र की दल-दल में फंसकर वह लोग मुख्य चिन्तन लक्ष्य से हटते जा रहे थे, तथा 'धर्म की' अति प्रचीन संर्कीर्णाताओं ने 'दार्शनिक प्यास' और 'ज्ञान' के लक्ष्य की खोज को पीछे छोड़ दिया था।

पांचवीं सदी के दूसरे चरण में सोफिस्ट (Sophist) दर्शन में विश्वास करने वालों ने खुले रूप से 'ईश्वर' के अस्तित्व पर 'सन्देह' किया और नैतिकता, प्रचलित धार्मिक और 'लोक' परम्पराओं पर भी 'रान्देह' किया, और उनकी आलोचना खुले रूप से आरम्भ कर दी। उन्होंने धार्मिक स्वतन्त्रता की आवाज़ स्वतन्त्र मन से उठाई तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की मांग भी जोर-शोर से उठाई। यह लोग व्यवहारिक विचारों की स्वतन्त्रता की माँग भी करते थे।

इस सम्प्रदाय के 'दार्शनिक' अपने ढंग से 'सम्पूर्ण' ग्रीक में फैल गये थे। यह लोग नागरिकों से 'फीस लेकर' शिक्षा देते थे। राजनीति, गणित, विज्ञान तथा इतिहास यह नौजवानों को रोचक ढंग से पढ़ाते थे, जिसमें यह सिखाते थे कि "राज्य और समाज के सामने अपने पक्ष को स्वतन्त्रता के साथ निर्भिकता से रखा जाये, जिससे वह योग्य नागरिक बन सकें।

सोफिस्टों में हिप्पचस, फ्राडिकस तथा 'प्रोटागोरस' मुख्य व्यक्तियों में से थे, जो 'सोफिस्ट' दर्शन को आगे बढ़ाते थे। वैसे सोफिस्ट (Sophist) का अर्थ योग्य, विद्वान व्यक्ति से है, लेकिन बाद में यह दार्शनिक जनता में अपना विश्वास खो बैठे, क्योंकि उन्होंने कहना आरम्भ कर दिया कि "लक्ष्य प्राप्ति के लिये उनका उद्देश्य नौजवान को चालाक बनाना है"। वह लोग नौजवानों को उच्छखल बनाना चाहते थे। इसलिये लोग उन्हें 'धूर्त' मनुष्य कहने लगे। साथ ही साथ उनसे लोग नफरत करने लगे।

सोफिस्ट दर्शन का महान दार्शनिक 'प्रोटागोरस' (Protagoras) 490 ई० पू० में अब्डेरा में जन्मा था। वह इनका प्रथम दार्शनिक था। वह 30 वर्ष की आयु में ही घर छोड़कर अपने दर्शन के प्रचार के लिये एक जगह से दूसरी जगह भ्रमण करने लगा। वह अपने शिष्यों को राजनीति में योग्य तथा प्रवीण बनाने में लगा रहता था। वह शिक्षा के बदले में फीस लेता था, जो उस काल में ग्रीक में बहुत बुरी प्रथा मानी जाती थी। आगे जाकर दार्शनिक प्लेटो ने उसकी कटु आलोचना की थी।

उसने कई ग्रन्थ लिखे, उसमें "औन दी गौडस औन मैथमेटिकस" (On the "Gods on Mathematics" और "ऑन दी औरिजनल स्टेट ऑफ थिंग" (On the Original State of Things).

उसने अपने ग्रन्थ 'On the Gods' का आरम्भ ही देवताओं (Gods) के अस्तित्व को नकारते हुये किया था। वह कहता था कि "हम निश्चित रूप से यह कहने में असमर्थ हैं, कि "वे हैं, और न ही यह कह सकते है कि वे नहीं हैं।" हमारे लिये यह भी कहना कठिन है कि उनका रूप कैसा है, उनकी आकृति किस प्रकार की है, क्योंकि इस प्रकार की व्याख्या में अनेकों बाधाएँ हैं और इस विषय में ज्ञान के मार्ग में अनेकों रूकावटें हैं, क्योंकि "यह विषय बहुत ही कठिन है तथा मनुष्य का जीवन बहुत कम है।"

कहा जाता हैं, कि **जनमत उसे नास्तिक कहने लगा। उसकी पुस्तकों की होली जलाई जाने लगी और उसे अपमान सहन करना पड़ा तथा उसे ऐथन्स से भागना पड़ा। वह वहाँ**

से सिसली के लिये रवाना हुआ जहाँ रास्ते में ही मृत्यु हो गई।

प्रोटोगोरस का दर्शन कहता है, **"मनुष्य ही सभी वस्तुओं का मापदण्ड है"**, मनुष्य ही श्रेष्ठ तथा महत्वपूर्ण है। उसका कहना था "सत्य," (विषयनिष्ठ व्यक्तिनिष्ठ) वस्तुनिष्ठ न होकर आत्मनिष्ठ है। "मनुष्य अपनी ज्ञानेन्द्रियों से ही जो ज्ञान प्राप्त करता है या अनुभव करता है वही सत्य है।" जो ज्ञान आपके अनुभव में है तथा परिणामस्वरूप तुम्हें प्राप्त होता है, वही 'सत्य' है। वह नैतिकता को भी 'व्यक्तिनिष्ठ' मानता था। यदि नैतिकता वस्तुनिष्ठ होती, तो सब जगह समान होती, क्योंकि वह भिन्न-भिन्न जगहों पर, भिन्न-भिन्न होती है, इसलिये वक्तिनिष्ठ है। उस काल के अध्ययन से यह तो साफ हो गया, कि उस काल के धार्मिक तथा नैतिक प्रचलनों तथा दर्शन परम्पराओं में जो रूढिवादिता और पुरातनता थी, उनके 'विरूद्ध' परिवर्तन की माँग हो रही थी। उसी तरह के विवादों पर धार्मिक, सम्प्रदाय और दार्शनिक सम्प्रदाय आपस में टकरा रहे थे। जहाँ नवीन 'क्रान्ति' दर्शन और चिन्तन जगत में आगे बढ़ रही थी, वहीं साथ-साथ 'साम्प्रदायक' तनाव भी आपसी मतभेदों को बढ़ा रहा था।

सुकरात का बलिदान और मानवता

पाश्चात्य जगत में सुकरात (Socratics) का 'बलिदान' मानवता के लिए सर्वोच्च बलिदान है, वह नये युग का आरम्भकर्त्ता कहा जा सकता है। उससे 'पूर्व' के चिन्तकों ने 'हज़ारों वर्ष' संसार के निर्माण की कथा कहने में, और ईश्वर और धर्म की परिभाषा करने में लगा दिये थे। लेकिन 'सुकरात' (Socratics) के बलिदान का समय 'मानवतावाद' का 'आरम्भिक' काल ही कहा जा सकता है। यद्यपि इस युग से पूर्व के चिन्तक जगत में, 'मनुष्य' के 'अस्तित्व' की पहचान तो हो गई थी, जैसे 'सोफिस्ट' दर्शन कहता था कि "मनुष्य ही श्रेष्ठ है", वह ही चिन्तन का 'केन्द्र बिन्दु' होना चाहिये। लेकिन वह विध्वन्सवाद और सन्देहवाद के भी जनक कहे जाते थे। लेकिन वास्तव में मानवतावाद के सबसे सकारात्मक व्यवहारिक चिन्तन को सुकरात ने ही जन्म दिया था। 'सुकरात' ने ही जगत के मूल तत्व को छोड़कर, 'मानव' को चिन्तन जगत का केन्द्र बिन्दु बनाया था। यह सत्य है कि उस काल में, 'ग्रीक' जगत में 'ज्ञान' गंगा के फैलाव का युग था। जब सम्पूर्ण पाश्चात्य 'दुनिया' एक अज्ञानी 'वहशी' जिन्दगी व्यतीत कर रही थी, वहीं 'यूरोप' का यह ग्रीक 'जगत ज्ञान' की खोज में लीन था। लेकिन वहाँ भी कुछ अन्धकार के पहर थे। वहाँ भी धर्म की संर्कीणता मनुष्य की हर सांस पर पहरे लगाने की कोशिश करती थी। उस काल का राजतन्त्र, वहाँ यद्यपि गणतन्त्रवादी कहा जाता था लेकिन 'राजतन्त्र' धर्मतन्त्र के साये में साजिश को रचने में माहिर हो गया था।

उसी पर्यावरण में 'सुकरात' ने अपनी आँखें खोली थीं। 'सुकरात' एक ऐसा व्यक्तित्व, था, जो बेहद 'कुरूप' था, उसकी आँख आगे की ओर निकली थीं, उसकी नाक चपटी थी, और होट मोटे थे तथा उसका चेहरा 'वन-मानुस' जैसा दिखता था। पहनावे में वह अजीब से कपड़े पहनता था, तथा एक अस्त-व्यस्त तरीके का जीवन व्यतीत करता था। ऐसे व्यक्तित्व के होते हुये भी वह ऐथन्स के नौजवानों में बेहद लोकप्रिय था। उसकी ईमानदारी, जीवन की पवित्रता और नम्रता तथा निडरता उसे विशेष 'चुम्बकीय' केन्द्र बनाये हुये थी, जो भी व्यक्ति उसके सम्पर्क में आता था, वही उसका हो जाता था।

सुकरात का जन्म 470 में, ई० पू० 'ऐथन्स' में हुआ था। वह एक मूर्तिकार सोफोनिस्कस का हौनहार पुत्र था। वह उसे एक सफल मूर्तिकार बनाना चाहता था। लेकिन उसकी माता जो फैनारेटो के 'दाई' जैसे पेशे से सम्बन्धित थी, उसे आगे बढ़ाना चाहती थी। उसकी माता का प्रभाव उस पर साफ दिखाई देता था। वह स्वाभिमान के साथ कहता है कि मेरी 'माँ' प्रसव पीड़ा को सहन करने में, तथा नवजात बच्चे को जन्म देने में एक माता की मदद करती है, उसी प्रकार "वह मनुष्य के मन में उत्तम विचारों को जन्म देने में मदद करता था।"

दार्शनिक, 'प्लेटो' के ग्रन्थ 'फीड़ो' में वर्णन किया गया है, कि 'सुकरात' एक सफल शिक्षक के रूप में 'मुफ्त' (Free) शिक्षा अपने शिष्यों को प्रदान करता था। इसी कारण उसकी पत्नी "जेनथिपो" बड़ी कठिनाई से जीवन व्यतीत करती थी, वह अपने तीन बच्चों के पालन, पोषण में

अपार कष्टों को सहन करती थी। इसलिये उससे 'नाखुश' रहती थी। सुकरात ने देश की सुरक्षा के लिये भी एक सेनानी के रूप में कार्य किया और वीरता का परिचय भी दिया था।

'ऐथन्स' में यह भी कथा प्रचलित थी कि 'सुकरात' को ईश्वर की ओर से दिव्य 'सन्देश' आते थे जो उसे 'गलत' कार्य करने से रोकते थे। सुकरात एक उच्चकोटि का चिन्तक भी था। जिसके कारण वह घण्टों समाधि लगा कर 'चिन्तन समाधि' में डूबा रहता था। सुकरात की शहादत और उसका बलिदान मानवता और सत्य की खोज के लिये एक अमर "स्मृति चिन्ह" है, जो मानवतावादियों को सदा प्रेरित करता रहेगा। सुकरात की 'मृत्यु' का कारण धर्मतन्त्र और राजतन्त्र का अन्धविश्वास तथा घोर आतंक ही था, जो भय दिखाकर सत्य की खोज करने वालों को मौत दिया करता था। उस काल में पाश्चात्य 'ग्रीक' देश में अन्धविश्वास, झूठ और साजिशों का 'साम्राज्य' था, जिसका उदाहरण 'सुकरात' के बलिदान से बढ़कर और क्या होगा?

दार्शनिक गोम्पर्ज लिखते हैं, **"मानव जाति और उसका इतिहास, जब तक धरती पर है, तब तक उस दिन और उस मुकदमें को कभी भी नहीं भूलाएगा और न स्वतन्त्र 'जीवन' के लिये अपना जीवन बलिदान करने वाले उस व्यक्ति के लिये शोक कभी समाप्त होगा।"**

सुकरात (Socratics) पर आरोप

उस काल के धर्मतन्त्र और राजतन्त्र की संकीर्णतया, अपार निरंकुशता तथा आतंक साथ-साथ मिलकर मानव जीवन की स्वतन्त्रता का हनन कर रहा था, सत्य बोलने वालों पर झूठ और असत्य का सहारा लेकर, इल्ज़ाम लगाने में "धर्मतंत्र" 'माहिर' हो चला था। 'राजतन्त्र' पर भी उस काल में चापलूसों का पहरा था। 'ईश्वर' के स्वरूप और देवताओं के अपमान की सज़ा उस काल में मृत्यु दण्ड ही थी। अन्धविश्वास की बैसखियों पर न्याय व्यवस्था चलती थी। ऐसा कहा जा सकता है कि कुछ अर्थों में मानव जाति लाखों वर्ष पूर्व की अन्धविश्वासी धारणाओं में जी रही थी और ऐसा, भी लगता था कि पत्थर 'युग' (Stone age) के अवशेष तब भी जीवित थे।

'सुकरात' के क्रान्तिकारी दर्शन के प्रभाव ने नौजवानों में एक नवीन दृष्टिकोण विकसित किया था, जिससे उसका प्रभाव और उसकी ओर आकर्षण बढ़ता चला जा रहा था, लेकिन साथ ही साथ उसी तेज़ी से उसके विरोधियों की संख्या भी बढ़ रही थी। सुकरात की स्पष्टवादिता और विचारों की स्वतन्त्रता तथा निर्भीकता से लोग उससे कटुता रखने लगे थे। उस काल में सुकरात राजनीतिज्ञों पर गहरी चोट करने से भी नहीं चूकते थे, जो लोग अपने को ज्ञानी कहलाते थे, सुकरात उनके 'अज्ञान' को स्पष्टता से कह देता थां। उसके विरोधियों ने 'षड़यत्र' रचकर सुकरात पर 'मुकदमा' कायम करा दिया। 70 वर्ष की अवस्था में उस पर इल्ज़ाम लगाया गया कि "वह 'राष्ट्र' के देवताओं का अपमान करता है, **तथा उन्हें नहीं मानता है। वह नये देवताओं को मानता है। वह "ऐथन्स के युवकों को पथ भ्रष्ट करता है।"**

उस काल में जहाँ 'ग्रीक' 'सभ्यता' अपना उच्चतम स्थान इतिहास में रखती है, वहाँ 'सुकरात' को मृत्यु दण्ड देने वाली उस काल की 'ग्रीक' 'न्याय' व्यवस्था झूठ के आधार पर एक उच्चतम श्रेणी के 'दार्शनिक' को मृत्यु दण्ड भी दे रही थी। जिससे न्याय जगत का सर आज भी शर्म से झुक जाता है। 'प्लेटो' के किये गये वर्णन से यह साफ जाहिर हो जाता है, कि सुकरात ने कभी भी राष्ट्र देवताओं का अपमान नहीं किया था। सुकरात पर इल्ज़ाम था कि उसने देवताओं को चरित्रहीन बताया था। यह सही है, कि **"सुकरात अपनी अन्तर आत्मा की आवाज़ से निकले हुये 'सन्देश' को ही "वह ईश्वर स्वरूप मानता था।"**

राज्य सत्ता और 'न्याय' में बैठे हुये लोगों ने न्याय की 'तराजू' को अहंकार, छल और कपट के 'पत्थरों' से तोलकर झुका दिया था, जिससे 'मानवता' के पुजारी को 'हिंसा' की भेंट चढ़ा दिया गया था। 'प्लेटो' नें 'स्पॉलाजी' में जो वर्णन किया है वह उस काल की कठोरता को उजागर करता है, और महसूस करता है कि उस काल में सभ्य कहे जाने वाले लोग कितने अन्धविश्वासी थे। शायद वह लोग हज़ारों वर्ष पुराने अतीत के "पत्थर युग" (Stone Age) में रह रहे थे और उसी युग की परम्पराओं के दास थे।

'स्पॉलोजी' में, प्लेटो उस घटना का वर्णन बड़े मार्मिक शब्दों में करते हैं, कि "सुकरात" ने मृत्यु दण्ड सत्य की खोज के लिये 'सहर्ष' स्वीकार किया। वैसे उस काल के कानून के अनुसार सुकरात को यह अधिकार था, कि अपने लिये कोई दण्डस्यम प्रस्तुत करे ! लेकिन सुकरात ने कहा **"वह अपराधी नहीं है, वह अपने लिये कोई 'दण्ड' प्रस्तुत नहीं करेगा, न ही वह मृत्यु दण्ड के बदले देश निकाला स्वीकार करेगा" सुकरात ने अपना 'सर' सम्मान से उठा कर निर्भीकता से कहा कि "उसने जितना ऐथन्सवासियों के लिये किया है, उसके लिये तो उसे राष्ट्रपति के बराबर में सिंहासन मिलना चाहिये था। उसके शब्दों और निर्भीकता से न्यायधीश और भी क्रोधित हो गये और उन्होने न्याय की 'तराजू' को अपनी क्रोध की ज्वाला के पलड़े में तोलते हुये, सुकरात को ('हेमलॉक') यानि जहर पिलाकर मृत्यु दण्ड देने की सज़ा सुनाई। सुकरात एक 'सत्यवादी' बलिदानी की तरह से सर उठाकर मुस्कराते रहे। उनके चेहरे पर आतंक की कोई छाया नहीं थी। वह एक 'अटल' विश्वासी की तरह तथा एक 'अग्नि' योद्धा की तरह से प्रसन्न रहे।** सुकरात ने कहा आगे **"सत्य" पर अटल रहते हुये मृत्यु का आलिंगन करना सर्वश्रेष्ठ है। अब वियोग का समय आ गया है और हम अपने मार्ग पर चलते हैं, मैं मृत्यु पथ पर चल रहा हूँ और तुम जीवन पथ पर, ईश्वर ही जानता है कि इनमें से कौन सा मार्ग श्रेष्ठ है, यह ईश्वर को ही ज्ञात है।**

"दार्शनिक प्लेटो" ने अपनी रचना 'फीडो', में सुकरात की मृत्यु के दृश्य का बड़ा हृदय स्पर्शी ढंग से वर्णन किया है। फिडो के वर्णन के अनुसार, **सुकरात को जहर पिलाकर मृत्यु दण्ड' की सज़ा भोगनी थी। सन्ध्या का समय निकट आ गया था।** सुकरात में **'मृत्यु' को आलिंगन करने की इच्छा बढ़ती चली जा रही थी। वह एक निर्भिक प्राणी की तरह वहाँ मृत्यु से मिलने के लिये बेचैन था। "सन्ध्या" के समय जब "सूर्य" पूर्णतय अदृश्य भी नहीं हुआ था। "सुकरात" स्वयं जेलर से जहर की माँग करता है।** उसका मित्र 'क्रीटो' कहता है, अभी तो सूर्यास्त होने में समय है। अन्य लोग तो सूर्यास्त होने के बाद अन्धेरा होने पर 'विषपान' करते थे, तब तक खूब मनपसन्द भोजन आदि खाते रहते थे। फिर आप अभी से जहर क्यों माँग रहे हो ? उस प्रश्न के उत्तर में सुकरात उत्तर देते हैं **"जो जीवन समाप्त हो रहा है, उसको और अधिक क्यों ठहरने को कहूँ! इस पर तो मैं लोभी कहलाऊगा!!** अतः **मेरी यही इच्छा है कि मेरे लिये तुरन्त ही विष मंगाओ। थोड़ी देर बाद जेल कर्मचारी 'जहर' का 'प्याला' सुकरात के लिये ले आया।** सुकरात ने उससे प्रश्न किया, इसे क्या करना होगा ? जेल कर्मचारी उत्तर देता है। आप इसे पी लीजिये, और फिर टहलने लगिये और तब तक टहलते रहें, जब तक आप के पैर भारीपन न महसूस करने लगे, जब पैर भारी, हो जाएँ तब आप लेट जाएँ, इसके बाद यह 'विष' अपना काम करना आरम्भ कर देगा, और आप मृत्यु को प्राप्त हो जायेंगे।"

उसके निर्देश के बाद, सुकरात जहर का प्याला प्रशन्नता के साथ अपने हाथों में थाम लेता है और इच्छा ज़ाहिर करता है, क्या मैं इसमें से कुछ बूँदे अपने "देवता को भेंट कर सकता हूँ",

कर्मचारी, ऐसा करने को मना कर देता है। उसके बाद, सुकरात अपने देवता की, 'प्रार्थना' करके "खुशी-खुशी जहर का प्याला पी लेता है।"

सुकरात के ज़हर पीते ही माहौल में बेहद दुख 'छा' गया था। चारो ओर दुख भरी शान्ति थी, उस अपार 'शान्ति' को चीरती हुई, उसके मित्रों और शिष्यों की रोने की आवाज़ें 'अन्याय' और निष्ठुरता का 'अहसास' करा रही थीं। अपने मित्रों और शिष्यों का विलाप और क्रन्दन देखकर सुकरात कहता है।, **"हे मित्रों! यह आप क्या कर रहे हो? ऐसा रोने से आप मेरी अन्तिम, शान्तिपूर्ण यात्रा में बाधा न डालें, मुझे विचलित कर दुख न दें। मुझे मित्रों! आप खुशी-खुशी विदा करें। "मृत्यु" तो शान्तिपूर्ण तरह से विदा होने का ही नाम है। हर मनुष्य को शान्तिपूर्ण तरह से संसार से विदा देनी चाहिये। तुम लोग शान्ति से प्रार्थना करो! तथा धर्म को धारण करो! जिससे मुझे मृत्यु का आलिंगन शान्तिपूर्ण तरह से हो! मृत्यु शान्ति का नाम है।**

दार्शनिक 'प्लेटो' के शब्दों में "फिर ज़हर ने सुकरात के हृदय को स्पर्श किया और धीरे-धीरे सुकरात ने कहा "यह जहर मेरे हृदय को स्पर्श कर रहा है", प्लेटो वर्णन करता है। "मेरे परम मित्र की अन्तिम 'विदाई' इस तरह से अपने लक्ष्य को प्राप्त हुई, जो मेरे 'अजीज़ों' में सबसे अधिक ज्ञानी, न्याय प्रिय, सत्यनिष्ठ और सर्वश्रेष्ठ था। यह भी सत्य है, कि सुकरात ने दर्शनशास्त्र या धर्मतन्त्र तथा जगत की व्याख्या पर कोई ग्रन्थ नहीं लिखा। वह तो एक शिक्षक था, एक उपदेशक था, जो उस काल के व्यवहार पर बोलता रहता था। वह व्यक्ति की 'आत्मा' में छिपे 'शुद्ध' और सत्य विचारों को सामने लाने में मनुष्य की मदद करता था।

उस काल में अन्धविश्वास के पहरों में और धार्मिक और राजनीतिक आतंक के साये में न्याय व्यवस्था स्वयं ही अन्याय कर रही थी। 'प्लेटो' का कथन था कि उसका कोई गुरू न होते हुये भी वह "ज्ञानी" लोगों के सत्संग में रहता था। उसमें मुख्य 'जेनो' प्रटोगोरस 'हिप्पियस' तथा पारर्मेनाइडीज प्रमुख थे। 'प्लेटो' के ही शब्दों में उस पर 'जेनो' का प्रभाव अधिक था।

सत्य की खोज करने वाले सुकरात "द्वन्द न्याय पद्धति", सुकरातीय व्यंग (Socratice Irony) तथा "धात्री प्रणाली" (Maieutic Method) के द्वारा व्यक्ति की आत्मा में छिपे भावों को शुद्ध कर, उन्हें व्यक्त करने का साहस देता था। बस यही उसका दोष था। कुछ लोग उस पर इल्ज़ाम लगाते थे, कि वह अज्ञान बन कर ढोग करता है, लेकिन वास्तव में वह "शुद्ध" योग्य व्यक्तिव था, जो कभी अहंकार में नहीं रहा 'बल्कि' एक 'अज्ञानी' बनकर 'ज्ञान' की वर्षा करता था। जब तक आप अज्ञानी बनकर शून्य में से ज्ञान की खोज नहीं करेंगे, तब तक इन्द्रियाँ आपका साथ से नहीं देगी।

यदि देखा जाये, तो "धर्म ज्ञाता, राजनेता तथा अहंकारी दार्शनिक यह अहंकार करते हैं, कि वह ही केवल चमत्कारी है तथा ज्ञानी है। वास्तव में अहंकार और झूठा दम्भ, उन्हें ज्ञान से विमुख कर देता है और वह स्वंय हिंसक हो जाते हैं, और दूसरों को हिंसा के लिये प्रेरित करते हैं। किसी भी मनुष्य की वह हिंसक 'प्रवृति' उन्हें ज्ञान की खोज से दूर करती है। वह छद्म रूप में धर्मात्मा और ज्ञानी कहलाने वाले लोग अपने अहंकार में, हिंसा और आतंक के प्रत्यक्ष रूप से जन्म दाता हैं, जो इनके प्रभाव में आकर हिंसा करते हैं, वह तो अज्ञानी कहे ही जाते हैं। लेकिन जो उन्हें हिंसा या असत्य तथा आतंक को फैलाने को प्रेरित करते हैं, वह सबसे बड़े दोषी और अज्ञानी भी हैं।

वास्तविकता तो यह है, 'सुकरात' कभी यह नहीं महसूस करता था कि वह ज्ञानी है वह तो यह सोचता था कि वह 'ज्ञान' की खोज कर रहा है।

सुकरात ज्ञान की परिभाषाओं द्वारा प्राप्त प्रत्ययों को निर्मित ज्ञान की परिभाषा में स्वीकार करता है। 'प्रत्यय' का अर्थ सुकरात की भाषा में किसी भी वर्ग या जाति निहित सामान्य गुण, जो उसकी परिभाषा में बनते हैं, ज्ञान की प्राप्ति के लिये हमें प्रत्येक वस्तु की एक परिभाषा सुनिश्चित कर लेनी चाहिये।

सुकरात का मत था, सबसे पहले अपने आपको जानो "Know thy Self"! वह कहता था कि **"मनुष्य को मनुष्य बनने के लिये अपने अन्दर की प्रतिभा और गुणों को समझना चाहिये। "वास्तविक ज्ञान" तो आत्मज्ञान ही है जो सर्वप्रथम ज्ञान की सीढ़ी पर ले जाता है।"** उसका कथन था **" जो अपने को 'जानकर' कार्य करता है, उसे विश्व ज्ञान को समझने की शक्ति प्राप्त होती है।"**

सुकरात ने सबसे अधिक समय स्वयं को संभालने में व्यतीत किया और इसी आत्म शक्ति से वह मानवता की ओर आगे बढ़ा। उसके 'ज्ञान' का सफर 'जगत' की रचना और उसकी व्याख्या को छोड़, 'मनुष्य' की समस्याओं को समझने की ओर आगे बढ़ा। उसका कथन था **"मैं जंगल में ज्ञान प्राप्त करने नहीं जाता क्योंकि वहाँ मुझे एकान्त जंगल में मनुष्य जैसे प्राणी नहीं मिलते हैं।"** सुकरात कहता था। "ज्ञान की प्राप्ति में, इन्द्रियों का बड़ा योगदान है।" जो ज्ञान हमें इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होता है वह 'प्रत्यक्ष' ज्ञान है। उसे ही ज्ञानी प्रत्यक्षीकरण की परिभाषा में लाते हैं। लेकिन सुकरात इससे भी आगे बढ़ाते हुये, कहता है "हमें इन्द्रियों द्वारा 'प्रत्यक्षों के माध्यम' प्राप्त किये ज्ञान को, हम कल्पना जगत में प्रवेश करा सकते हैं।" हम आँख बन्द करके भी किसी चीज़ की कल्पना कर सकते हैं। यही नहीं, हम कल्पना करके किसी 'जाति' या 'वर्ग' का विचार बना सकते हैं। यही कल्पनाधारित विचार 'प्रत्यय' (Idea) कहलाते हैं, जो किसी जाति या वर्ग का प्रतिनिधित्व करने वाले प्रत्यय (Idea) हैं। प्रत्ययों (Idea) का निर्माण 'बुद्धि' करती है। वही ही उसकी पहचान बनाती है। सुकरात की दृष्टि में मनुष्य भी एक विचार प्रत्यय (Idea) से मनुष्य बना। जैसे हमने 'मनुष्य' के निर्माण में समान गुणों और पहचान तत्व के ज्ञान के आधार पर उसे मनुष्य कहा। "हमारी ज्ञानेन्द्रियों ने समान दो हाथ, पैर, वाले व्यक्ति को ही मनुष्य कहकर पुकारा। बाद में ऐसे व्यक्तियों का समाज मनुष्य समाज कहलाने लगा। इसी आधार पर जातियों की पहचान हुई, पशु पक्षियों की पहचान और नस्लों की पहचान हुई और इसी तरह से विभिन्न 'धर्मों' की पहचान हुई । जैसे दो हाथ और दो पैर वाला बौद्धिक प्राणी को मनुष्य पहचाना गया। उसी तरह विशेष ढंग से रहने वाले सोचने वाले व्यक्ति को, व्यवहार करने वाले व्यक्ति को हम विभिन्न धर्मों से जोड़ते हैं। इसी तरह सह प्रत्यय (Idea) के आधार पर हम धर्मों, जातियों तथा वर्गों की पहचान बनाते हैं।

'ज्ञानी' 'सुकरात' को मानवतावाद का ज्ञाता कह सकते हैं। उससे 'पूर्व' के ज्ञानी लोग प्रकृति के रहस्य को जानने और उसकी परिभाषा में लीन थे, लेकिन सुकरात को 'मनुष्य' और उसके समाज को समझना सर्वोत्तम विषय लगा। सुकरात की तरह हिन्दु धर्म ग्रन्थों और वेदों में आत्मज्ञान को ही श्रेष्ठ ज्ञान कहा –

'सर्वेषामपि चेतेयात्माज्ञानं पर स्मृतम्।
तद्भग्रय सर्वविधानों प्राप्त हनाभृत ततः।।८५।।

वेदों में 'मानव आत्मा' को सर्वोच्च आन्नद प्राप्ति का स्रोत माना है 'आन्नद' प्राप्त करना 'मानव आत्मा' का गुण है। शरीर के बन्धनों में बंधी 'आत्मा' अपनी सम्पूर्णता को पहचाने में भूल

कर जाती है, तथा अज्ञान के अन्धकार में समाई होने के कारण अपने अस्तित्व को नहीं पहचानती है। इसलिये 'ज्ञान' ही उसे आन्नद स्वरूप सम्पूर्णता को पहचाने में मदद करता है।

सुकरात भी 'ज्ञान' को उच्चतम मानवीय गुण मानकर उसे 'आत्मा' पर छाये अन्धकार को दूर करने का प्रमुख 'यन्त्र' मानता है।

सुकरात की दृष्टी में ज्ञान ही सदगुण (Virtue) है –

सदगुण (Virtue) की परिभाषा सुकरात ने 'ग्रीक शब्द' वर्चू (Virtue) के प्रचलित अर्थों में की थी, उसके काल में इसका अर्थ किसी 'कला', 'शिल्पकला' को विशेषता से प्राप्त करने को कहते थे। 'सुकरात' ने इस शब्द को मानव जीवन को संवारने में महारथ हासिल करके जीने की 'कला' को (Virtue) सदगुण कहा था। 'मानव जीवन को सही तरह से जीना' ही सर्वोत्तम कला है। यह सुकरात के दर्शन का सार है। यही सार हिन्दु धर्म ग्रन्थ वेदों में वर्णित है। सुकरात की दृष्टि में भी 'सद्गुण' ही ज्ञान है। 'ज्ञान' एक ऐसी कला है जो जीवन को चलाने में निपुणता देती है। ज्ञानी व्यक्ति सद्गुणी जीवन को सुचारू रूप से चलाने की निपुणता को ही एक उच्चतम कला मानता है। जैसे एक योग्य 'राजनेता' सुचारू ज्ञान के गुण से, राजनीति में महारथ हासिल करता है वह राज्य के स्वरूप, उसके प्रशासन तथा उसकी व्यवस्था को 'राजनीति' ज्ञान के बल पर चलाने में सफल होता है, उसी प्रकार जीवन को चलाने में नैतिक सद्गुण का होना आवश्यक है। सद्गुण (Virtue) सुकरात के दर्शन का सार तत्व है। एक 'व्यक्ति' को अच्छाई-बुराई का ज्ञान होना आवश्यक है। उसी के बल पर एक मनुष्य सद्गुण पूर्ण होकर जीवन सागर को सफलता से पार करता है। वह सद्गुण परमान्नद की खोज करता है, तथा 'श्रेष्ठतम' जीवन सुख प्राप्त कर सकता है। आज के, समाज में "सद्गुणों" पर अनेकों व्याख्यान प्रति दिन सुनने को मिलते हैं। साथ ही दूसरों का उपकार करना, सत्य बोलना और सदाचार से रहना आदि सामाजिक प्रभावशाली प्रचलित 'शब्द' हैं, जो रोज-रोज प्रयोग में आते है, और समाज की भलाई भी करते हैं। सुकरात की दृष्टि में नैतिकता और नीति के लिये 'ज्ञान' का प्रकाश अति आवश्यक है। यदि बुद्धि साथ है और ज्ञान का प्रकाश उसे रास्ता दिखा रहा है, तो कोई व्याक्ति गलत मार्ग पर नहीं चल सकता है। 'अरस्तु' इस सिद्धान्त में, सुकरात की आलोचना भी करता है। 'अरस्तु' कहता है "सभी जानते हैं बुरा रास्ता क्या है? सभी जानते हैं 'पाप' क्या है? फिर भी लोग पाप करते हैं।" सुकरात के दर्शन में वह कमी बताते हुये वह आपत्ति करता है, कि बुद्धि का प्रयोग करते हुये भी मनुष्य अनैतिक हो जाता है, क्योंकि मनुष्य में एक भावात्मक पक्ष भी है जो बुद्धि के होते हुये भी तथा ज्ञान के होते हुये भी प्रयोग किये जाते हैं। कभी-कभी मनुष्य'भावात्मक ढंग' से पाप की तरफ बह जाता है। नैतिकता का ज्ञान और बुद्धि का प्रकाश होते हुये भी कभी-कभी मनुष्य भावात्मक आवेश में 'पाप' या 'बुराई' की ओर बढ़ जाता हैं। सुकरात कहता हैं **'ज्ञान' ही सद्गुण है, एक 'मनुष्य' सद्गुण के अभाव में अधूरा है। 'सद्गुण' के अभाव में मनुष्य 'पूर्ण' मनुष्य नहीं है। अतः सुकरात जीवन को महत्वपूर्ण ढंग से तभी स्वीकार करता है जब वह सद्गुणों से पूर्ण है। सुकरात सुन्दर तथा स्वस्थ समाज की रचना में सद्गुणों की पूर्ति करने पर बल देता है, वह उसी प्रकार 'दुर्गुणों को समाज को विकृत करने का कारण मानता है। सुकरात का कथन था 'अज्ञान' बुराई की जननी है। भारतीय वेदान्त भी बुराई को दूर करने के लिय 'ज्ञान' के प्रकाश को फैलाने पर जोर देते हैं।**

ज्ञानी कौन है? हमने 'आत्मज्ञान' को सुकरात की भाषा में 'जाना' उसकी व्याख्या भी करने की कोशिश की। लेकिन यह ज्ञान क्या है? यह प्रश्न सामने खड़ा है। सुकरात का ज्ञान

केवल कोई 'जानकारी' या किसी वस्तु या सिद्धान्त का ज्ञान होना ही नहीं है। **सुकरात के ज्ञान का 'अर्थ' सरल भाषा में मानवता का 'शुभ' है! जो हमारी "आत्मा" द्वारा प्राप्त होता है। वह ही इसकी पहचान करती है, जब 'आत्मा' के नेत्र खुल जाते हैं तब हमें 'शुभ' का आभाष हो जाता है।** 'आर्मट्राग' के शब्दों में 'सुकरात' का 'मानव शुभ' आत्मा की आँख से पहचाना जाता है। जब किसी को आत्मज्ञान हो जाता है, तब उसकी आत्मा केवल मानव सुख ही नहीं अपितु जगत शुभ को पहचान लेती हैं। सुकरात की दृष्टि में 'ज्ञानी' वह व्यक्ति नहीं है, और जो अनेकों तत्वों को जानता है। ज्ञानी तो वह व्यक्ति है, जो अर्न्तदृष्टि से सत्य का ज्ञान प्राप्त करता है, जो सत्य की पहचान से शुभ कार्य करता है तथा सबका 'शुभ चिन्तक" है। अर्न्तदृष्टि होने के कारण एक चेतना की 'जाग्रति' हो जाती है, जिसमें बुद्धि के योग से संकल्प शक्ति में और अधिक प्रभाव बढ़ जाता हैं उसके प्रभाव में वह अनैतिक कार्य नहीं कर सकता है।

भारतीय आध्यात्मिक दर्शन से पूर्ण स्वामी विवेकानन्द ने भी सुकरात की तरह मृत्यु से निर्भिक होकर सामना करते हुये कहा था "हाँ मैं ठीक कर रहा हूँ। अपने सामने मैं अनेकों निर्माण समुंद्र देखा रहा हूँ। बहुत असीम, अन्नत शान्त समुद्र, "माया" की मनचली हवायें या लहर जिसकी 'शान्ति भंग' नहीं कर रही।"

सुकरात का जीवन भी भारतीय चिन्तन जगत की प्राचीन संस्कृति को आत्मा सार करता हुआ, हज़ारों संकीर्णताओं के मध्य, 'सत्य' की खोज और 'शान्ति' और मानवता' के सुख के लिये, सत्य कहते-कहते बलिदान हो गया, फिर भी सत्य की खोज का क्रम निरन्तर चल रहा है और निरन्तर जारी 'रहेगा', क्योंकि 'सत्य-ज्ञान' बलिदान की 'आहुति' के बाद ही प्राप्त होता है।

'ईश्वर' और 'जगत', 'दर्शन' और 'धर्म'

आरम्भिक काल में 'प्रकृति' का विकास धीरे-धीरे अपने विस्तार के फैलाव को विकसित कर रहा था। इस अपार 'जगत' में हर पल में, नये परिवर्तन जन्म ले रहे थे। एक जगत नहीं, अनेकों 'जगत' निरन्तर होने वाली हलचल के साथ एक 'मूलतत्व' से निर्मित होकर या फिर टूट कर स्थापित हो रहे थे। भारतीय दर्शन में भी 'ऋग्वेद' उल्लेख करता है "सृष्टि में सब कुछ अपार अन्धकार से घिरा था तथा अभेद शून्य और अथाह जल इस सृष्टि पर हिलोरे ले रहा था। आरम्भिक सृष्टि जल और जैसा कहा भी जा चूका है कि अन्धकार की गहरी परतों की विशालकाय में समाई थी।" भारतीय दर्शन ग्रन्थ 'वेद' और 'उपनिषद' कहते हैं कि जल सभी तत्वों का मूल है और अन्धकार उसका अतीत है। भारतीय 'उपनिषद' सृष्टि के प्रथम तत्व 'नीर', जिसे जल कहते हैं। ग्रीक तथा भारतीय दार्शनिक इसे पहचानने की पहल करते हैं। अपार सृष्टि के ऊपर जल का अस्तित्व और फैलाव जब अनन्त वर्षों तक बना रहा, तब 'सृष्टिकर्त्ता' कमल-पत्र पर 'प्रकट' हुये। हिन्दु धर्म ग्रन्थ 'विष्णु पुराण' 'विष्णु' सृष्टिकर्त्ता को नीर सागर जल में 'शेष शैय्या' पर शयन करते हुये प्रकट करता है। 'ब्रह्म पुराण' जल के 'सार' को ही 'जगत' की उत्पत्ति का मुख्य तत्व मानता है कि जल में जगत निर्माता ने अपना 'बीज' प्रवाह कर दिया, इसलिये जगत निर्माता स्वयं नारायण कहलाये।

पाश्चात्य दर्शन में भी सुकरात और दार्शनिक 'प्लेटो' 'ईश्वर' को ही 'जगत' का निर्माता मानते हैं। प्लेटो 'परम' तत्व जो 'सृष्टि' के रचने में सहयोग करता है वह 'ईश्वर' है तथा वह ही सृष्टि का पोषण करता है। ईश्वर ही 'जगत' का 'रचियता' है। वही उसका कारण है।

प्लेटो की दृष्टि में, जगत का उत्पन्नकर्त्ता ईश्वर ही है

ईश्वर जगत का 'सृष्टा' है, किन्तु वह केवल निर्मितकर्त्ता है, जगत का उपादान तो 'जड़' तत्व हैं। प्लेटो के दर्शन में जगत के निर्माण में तीन मूल तत्व हैं। एक तो 'प्रत्यय' (Idea) जो पूर्णसत् है, दूसरा आकारहीन द्रव्य, जो पूर्ण असत् है। तीसरा 'ईश्वर' जो उपरोक्त दोनों तत्वों की सहायता से जगत का निर्माणकर्त्ता है। प्लेटो के दर्शन में ईश्वर ही निर्माण कर्त्ता है।

प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय (Ideas; Eidos)

पहले हम 'प्लेटो' के दर्शन अनुसार प्रत्यय को समझने की कोशिश करें। 'प्लेटो' दार्शनिक मानता है कि इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान भ्रामक है, लेकिन प्रत्ययों द्वारा विकसीत ज्ञान 'सत्' है। वह केवल इन्द्रियात्मक ज्ञान पर निर्भर रहने वाले ज्ञान को अधूरा ज्ञान कहता है, तथा 'वह' ज्ञानकर्त्ता माया-मोह में ग्रस्त रहने वाला अज्ञानी ही कहलाता है। ईश्वर और जगत को समझने के लिये शोधकर्त्ता को 'यर्थातवादी' सिद्धान्त के माध्यम से आगे बढ़ना चाहिये। कोई भी शोधकर्त्ता सत्यता पर नहीं पहुँच सकता, जब तक वह 'सत्य' को स्वयं न पहचान ले। यदि वह

'तत्व' स्वयं अस्तित्व में है तो सत्य ही है, उसका वस्तुगत अस्तित्व स्वयं रहता है।

इसी आधार पर प्लेटों जगत के अस्तीत्व को स्वीकार करता है। प्लेटो मानता है कि प्रत्यय (Ideas) द्रव्य स्वरूप होते हैं। 'द्रव्य' से 'प्लेटो' का 'तात्पर्य' आधार से है। वह आधार 'प्रत्यय' (Ideas) जगत के मूल आधार हैं। लेकिन सत्यता यह है कि प्रत्ययों का अस्तित्व स्वयं आधारहीन है। वे निरपेक्ष हैं।

क्योंकि वह स्वयं भू है, स्वयं 'आत्म निर्भर' तथा अपार है। 'ईश्वर' ही रचियता है, स्वयं भू है। वह अपार और अनन्त सत्ता का निर्माण करता है। इसलिये वह स्वयं में उद्देश्य है तथा वह जगत का आधार है। इसलिये उसे जगत का आधार स्वरूप भी कहा जाता है।

प्रत्यय प्लेटो की दृष्टि में, द्रव्य स्वरूप (Ideas are Substance) होते हैं। वह सामान्य गुण भी होते हैं (Ideas of Universals) उनमें एकता (Ideas of Units) भी होती है। उनका सार (Essence) भी होता है तथा 'प्रत्यय' पूर्ण (Ideas of Perfect) भी होते हैं, और वह प्रत्यय अचल और अनश्वर (Immutable and Imperishable) भी होते हैं। इसलिये वह देश और काल से परे होते हैं। प्रत्यय विचार भी होते हैं। वैसे वह वस्तुगत अस्तित्व की आधारशीला है, किन्तु स्वरूप नहीं है, यानि भौतिक वस्तु के समान उनका कोई यर्थात अस्तित्व नहीं है। यह विचार स्वरूप है, लेकिन यह किसी मनुष्य 'मस्तिष्क' के विचार नहीं हैं, यह तो प्लेटो की दृष्टि में स्वतन्त्र अस्तित्व के विचार हैं। यह प्रत्यय असंख्य, भिन्न-भिन्न संख्या युक्त होते हैं। प्लेटो की दृष्टि में प्रत्यय आदर्श स्वरूप है।

प्लेटो की दृष्टि में समस्त 'जगत' प्रत्ययों का आधार है, समस्त 'प्राकृतिक' तत्व 'यर्थात्', 'जल-थल' समस्त प्राणी, समस्त गुण और समस्त मानवीय क्रियाएँ भी प्रत्यय हैं। वृत रेखाएँ और त्रिभुज आदि भी गणितीय प्रत्यय हैं। उसी प्रकार संसार के जितने भी भौतिक तथा अभौतिक तत्व हैं सभी 'प्रत्यय' 'जगत' के अंग हैं। दार्शनिक जगत, प्लेटो दर्शन से प्रश्न करता है, फिर क्या समस्त अशुभ, भय, गन्दगी और हिंसा आदि भी 'प्रत्यय' जगत के अंग हैं ? 'प्लेटो' सफाई से उत्तर देता है हाँ ! यह भी प्रत्यय जगत के अंग हैं। सुकरात इस पर 'सन्देह' किया करता था। 'पार्मेनइडिज' के एक संवाद के वर्णन में, यह बात साफ हो जाती है। क्योंकि सुकरात इस दृष्टिकोण से असहमति प्रकट करता है कि नकारात्मक प्रत्यय भी 'प्रत्यय' जगत के अंग हैं। तब उस काल का वृद्ध दार्शनिक 'पार्मेनाइडिज' उत्तर देता है, कि वह अभी युवा अवस्था में है, जब उम्र, और अनुभव की चेतना उसमें विकसित्त होगी, तो उसकी बुद्धि में सब समझ में आ जायेगा और वह उसे स्वीकार करेगा। शोधकर्त्ताओं का विचार है कि यह उत्तर प्लेटो का ही था, जो उसने संवाद में पार्मेनाइडिज के द्वारा दिलवाया है। क्योंकि प्लेटो का मत था, कि 'आयु' के साथ बढ़ते अनुभव और दार्शनिक पूर्णता, उसे वास्तविक सत्य को पहचाने की शक्ति प्रदान करती है।

प्रत्ययों का संसार (Kingdom of Ideas) एक अलग जगत है, जिसका ज्ञान प्राप्त करना एक कठिन काम है, क्योंकि यह जगत व्यवस्थित जगत तो है, लेकिन बहुत ही कठिन चित्र पहेली (Picture Puzzle) की तरह से है। जिसे शोधकर्त्ता बड़ी तपस्या से 'एकाग्रह' 'बुद्धि' के अनुशासन से, अध्ययन करने पर मंजिल पर पहुँचता है क्योंकि यह बड़े बिखराव में होता है। इसे एकत्र और सजन्य करने में कठिनाई होती है।

प्लेटो का ईश्वर व हिन्दु धर्म दर्शन में समानता

बिल ड्यूरेन्ट ने दर्शन की कहानी में संकेत दिया है, कि यह कहा जाता है, कि प्लटो

(Plato) विश्व भ्रमण के समय जहां वह मिश्र, इटली तथा अफ्रीका गया था, वह भारत भी आया था। उसने गंगा के किनारे बैठकर यहां के 'ऋषि' दार्शनिकों से 'योग साधन' और 'वेदो' का ज्ञान प्राप्त किया था। प्रत्ययों का संसार (Ideas of Kingdom) प्लेटो के अनुसार "यह एक सुव्यवस्थित संसार होता है, जो एक 'परामिड' आकार में बड़े सुन्दर क्रम में समाया रहता है। इसमें समस्त प्रत्ययों का आपसी सम्बन्ध मजबूती से बंधा रहता है, जो विशेष क्रमानुसार ऊपर से नीचे तक अनुबन्धित होते हैं। जिस प्रकार एक वर्ग की समस्त वस्तुओं के ऊपरी भाग पर अनेक सामान्य गुणों के अनुरूप उनके ऊपरी हिस्से पर प्रत्यय होता है वह प्लेटो का 'शुभ' प्रत्यय (The Idea of Good) है।" उसी तरह का 'प्रत्यय' (Idea) है, जिसे Plato प्लेटो 'सिम्पोजियम' में इसे सर्वोत्तम 'सौंदर्य' (Supreme Beauty) के नाम से सम्बोधित करता है। प्लेटो (Plato) के "परम सौन्दर्य" के समान, स्वर्ग में या इस धरती पर कोई दूसरा 'सौन्दर्य' नहीं है। इसकी तुलना न किसी वस्तु से की जा सकती है, न किसी सुन्दर रूपवति कन्या के मुख से की जा सकती है। इस 'जगत' में या दूसरे किसी जगत में, यहाँ तक की 'स्वर्ग' में भी इतना अपार कोई सौन्दर्य नहीं है, जो सम्पूर्ण 'रसो' और अनन्त सौन्दर्य से भरपूर हो, वह केवल प्लेटो का **उच्चतम सौन्दर्य ही है, जो अपार सौन्दर्य है।** यह 'नित्य' तथा अनन्त काल तक समरस है। इसी को (Plato) "प्लेटो अपार उच्चतम शुभ" "Idea of Good" कहता है। इसी को प्लेटो (Plato) **परम सत् भी कहता है, जिसका न कोई रूप है और न कोई आकार है।** उसका कोई 'घनत्व' भी नहीं है। यह सर्वोत्तम शुभ, 'सौन्दर्य' तथा यह परम सत् 'सत्यम् शिवम् सुन्दरम्' के अर्थों में अन्नत अजर-अमर तथा अपार सुन्दरम्-सत्ता की ओर संकेत करता है। 'प्लेटो' (Plato) "नव शुभ" को अपार परम तत्व स्वीकार करता है। वह परम शुभ का अस्तीत्व "ईश्वर" के समान लगता है, लेकिन प्लेटो का 'ईश्वर' केवल सृष्टि का रचनाकार ही नहीं है, वह 'सृष्टि' का व्यवस्थापक भी है, तथा उसका शासनकर्त्ता भी है। इसलिये 'प्लेटो' (Plato) का दर्शन, ईश्वर को "विश्वकर्मा" (Demi-urge) कहकर पुकारता है।

प्लेटो का 'प्रभु' अपार श्रद्धा तथा अनन्त भक्ति का परम केन्द्र है, जो नैतिकता के अनुरूप चलने का निर्देश देता है। यह 'सृजन' करता है। प्लेटो (Plato) सन्देश देता है "कि संसार या कोई भी 'राष्ट्र' उसी समय शक्तिशाली होता है, जब वह ईश्वर में विश्वास करके उसके निर्देशों पर चलता हैं।" 'प्लेटो' के अनुसार ईश्वर एक अपार शक्ति में विश्वास का नाम है तथा जो श्रद्धा तथा अन्नत भक्ति से उपजी भावना है, वह करोड़ों दुखियों का सहारा बनता है, जो दुखी पीड़ित, पद दलित कमजोरों का साहस बनकर, उन्हें, जीवित रखने में सहायता करता है। 'प्लेटो' का मत था, कि ईश्वर में विश्वास आत्मा को बलिष्ट बनाता है उसमें अमरतत्व तथा अपार सुन्दरता जीवन यात्रा को सफल मार्ग की ओर चलने की प्रेरणा देता है। ईश्वर ही मनुष्य को भय मुक्त करता है। उसी से आत्मा का अमरतत्व उसे पुर्नजन्म से विश्वास की ओर ले जाता है।

ईश्वर सर्वश्रेष्ठ इसलिये है कि वह विकार रहित है। वह प्रजा को उत्पन्न करने वाला है। 'ईश्वर' आकार रहित है। वह देहविहीन है। लेकिन 'प्लेटो' यह भी मानता है, कि उसके देहधारी होने पर विचार करने की सम्भावना बनी है, जो 'चिन्तन' के अधूरेपन के कारण ऐसा होता है। इस अवस्था में, जब प्लेटो ईश्वर को देहधारी होने की अवस्था को स्वीकार करता है, तब "भारतीय हिन्दु दर्शन" को 'अवतार वाद' के निकट पहुँच जाता है।

'प्लेटो' के चिन्तन में ईश्वर अपार, अनन्तपूर्ण और अविनाशी तथा सम्पूर्ण गुणों और मूल्यों का अधिष्ठात तथा विश्वकर्मा (Demi-urge) है। 'प्लेटो' का ईश्वर 'सृष्टि' कर्ता है। जगत का व्यवस्थापक है।

हिन्दु धर्म ग्रन्थ

उसी तरह हिन्दु धर्म ग्रथ वेद, पुराण तथा मनु 'स्मृति' भी 'ईश्वर' को सृष्टि का रचियता स्वीकार करती है। वह उसे व्यवस्थापक तथा विधाता के रूप में भी वर्णन करती है। वह ही उसमें 'कर्म प्रेरणा' को प्रेरित करती हैं तथा उसे ही शुभ-अशुभ का रचनाकार मानकर चलती है।

हिस्रहिंसो, मृदुक्रूरे धर्माधर्मावृतानृते।
यद्यस्य सोऽदधत्सर्ग्र तत्तस्य स्वमाविशत् ।।२६।।

हिंसक, अहिसंक कर्म, मृदु (दया प्रधान) कर्म, धर्म, अधर्म, सत्य, असत्य, जिसका जो कुछ स्वयं 'प्रविष्ट' था, 'वह-वह-उस-उस को सृष्टि के समय उसने धारण कराया।।२६।।

पाश्चात्य् दर्शन शास्त्रियों से बहुत 'पूर्व' ही 'वेद' और अन्य हिन्दु धर्म ग्रन्थों में सृष्टिकर्त्ता को शुभ तथा अशुभ का रचनाकार कहा गया है। हिन्दु धर्म ग्रन्थों के अनुसार जगत रचना तथा सृष्टि की व्यवस्था का वर्णन भारतीय ऋषि मुनियों ने, 'ग्रीक' सभ्यता से हजारों वर्ष पूर्व वर्णन की थी। ऐसा भारतीय दर्शन बोलता है कि प्रभु ने दस महर्षियों को, 'प्रजा' को, सृष्टि का ज्ञान देने की इच्छा से उत्पन्न किया था! प्रजा को ज्ञान का प्रकाश फैलाने के लिये प्रभु ने, मरीचि, अत्रि, वशिष्ठ, अगिरस, फुलस्त्य, पुलह, क्रतु, प्रचेतस, मृगु और 'नारद' को उत्पन्न किया और इन्होनें बड़े ज्ञानदाता तथा बड़े क्रान्ति वाले सात 'मनु' तथा देवताओं और ब्रह्मऋषियों को उत्पन्न करके ज्ञान वर्षा की थी। इन महर्षियों (दार्शनिकों) ने ज्ञान गंगा को समस्त पृथ्वी पर फैलाया, जो स्वयं में ज्ञान के जीवित ज्ञान पुस्ताकालय थे। इस अपार 'ज्ञान गंगा' के अपार सागर को भारतीय इतिहास सुरक्षित नहीं रख पाया। 'बर्फ' की ढकी चादर में, वह साफ दिखाई तो पड़ता है, लेकिन उस बर्फ की सतह के नीचे से भारतीय इतिहासकार उसे निकालने का प्रयास नहीं कर रहे।

ग्रीक दार्शनिक प्लेटो भी भारतीय ज्ञान दर्शन के दार्शनिक भन्डार को और शुभ को समस्त दृश्यवान वस्तुओं से ऊँचा मानता है। हमारा बौद्धिक जगत जब 'शुभ' के प्रत्ययों द्वारा प्रकाशमान होता है। तब 'हमारी आत्मा' सत्य को पहचानने में सफल हो जाती हैं।

प्लेटो के 'शुभ' या भारतीय दर्शन के अनुरूप "सत्यम् शिवम् सुन्दरम्" को समझना बड़ा कठिन है। इसे समझने के लिये प्लेटो 'सूर्य' के कार्यों की विवेचना करता है और 'सूर्य' द्वारा जो प्रकाश फैलाया जाता है या जो कार्य उसके द्वारा होते हैं, वह शुभ की सन्तानें कहीं जाती हैं। जैसे चन्द्रमा और सितारों के प्रकाश में वस्तुएँ आँखों को साफ दिखाई नहीं देती हैं, लेकिन सूर्य के प्रकाश में साफ नज़र आती हैं। उसी प्रकार शुभ के प्रकाश से हमारी आत्मा को 'सत्य' साफ दिखाई देता है, जब 'आत्मा' शुभ के प्रकाश के 'अभाव' में अन्धकार से ढकी रहती है तब उसे 'सत्य' दिखाई नहीं देता, लेकिन "परम शुभ ज्ञान" द्वारा प्राप्त 'सत्य' सर्वोच्च है। इसलिये इस परम शुभ से परे कुछ भी नहीं है।

प्लेटो आगे वर्णन करता है कि जिस प्रकास 'सूर्य' सम्पूर्ण और समस्त दिखाई देने वाली वस्तुओं की पहचान का रचियता है। उसी प्रकार शुभ भी समस्त 'ज्ञान' पदार्थों का परिचय कराता है तथा उनके अस्तित्व और सत्ता को देने वाला तथा निर्माता भी वह स्वयं ही है। केवल यही नहीं, उसमें एकता तथा अनेकता दोनों ही समाई हैं।

'प्लेटो' मानव प्रकृति की आलोचना करते हुये अपनी कृति रिपब्लिक में दुख प्रकट करते हुये कहता है, कि मनुष्य 'निम्न' और 'तुच्छ' बातों को ज्ञात करने के लिये तो सावधान रहते हैं लेकिन 'सत्य' जानने के लिये इतने सचेत नहीं रहते हैं।

पाश्चात्य दर्शन ज्ञाता 'जेलर' ने 'ईश्वर' और 'परम शुभ' के सम्बन्ध के विषय में क्रमबद्ध वर्णन किया।

(1) ईश्वर शुभ के 'प्रत्यय' (Idea) का एक कारण हो सकता है।

(2) शुभ का 'प्रत्यय' (Idea) ईश्वर के अस्तित्व का कारण हो सकता है।

(3) दोनों ही अलग-अलग शक्ति रूप में स्वतन्त्र सत्ताधारी एवं अन्त्रिक सत्ताधारी कहे जा सकते हैं, लेकिन वह प्लेटो के ईश्वर के सम्बन्ध में जो सन्देह धारण किये हुये हैं, उसके कारण यह हैं :-

(1) यदि ईश्वर ही 'शुभ' के प्रत्यय (Idea) का सबब है, तो शुभ के प्रत्यय (Ideas) 'सर्वोच्चतम' या 'शीर्षस्थ' कैसे हो सकते हैं ?

(2) यदि यह कहा जाये कि शुभ प्रत्यय, ईश्वर का कारण है, तो 'ईश्वर' का अस्तित्व ही शुभ से छोटा हो जायेगा।

यदि दोनों की 'स्वतन्त्र' तथा "वास्तविक सत्ता" स्वीकार की जाती है, तो इससे 'निराशाजनक दर्शन का जन्म होगा, जो ईश्वर सत्ता को चुनौती देता रहेगा तथा ईश्वर की सत्ता शुभ की सत्ता में भ्रम बना रहेगा।

इस सम्बन्ध में यह तो स्वीकार किया जा सकता है कि 'परम शुभ' और 'ईश्वर' दोनों प्लेटो दर्शन के पर्यायवाची शब्द हैं जिनका अर्थ एक ही है। कहने का अर्थ यह है, कि प्लेटो परम सत्य शुभ को उस स्थान पर ले जाता है, जहां 'परम सत्य शुभ' 'प्लेटो' का ईश्वर लगने लगता, प्लेटो के अनुसार, ईश्वर जगत का रचिता, जगत का कारण उसकी श्रद्धा और 'भक्ति' का केन्द्र, नैतिकता का पथ प्रदर्शक, दुखी पीड़ितों का एक मात्र सहारा तथा आत्मा की अमरता और विश्वास ही है।

जगत की रचना और 'प्लेटो'

प्लेटो दर्शन जगत की रचना पर मौन नहीं है, वह उस काल के विश्व चिन्तन से अलग नहीं हुआ। उसने अपने पूर्व दार्शनिक के समान जगत की रचना के सम्बन्ध में विशेष ढंग से चर्चा की तथा जगत सम्बन्धी ज्ञान को आगे बढ़ाया। वैसे 'प्लेटो' का दर्शन तो एक ज्ञान 'संगम' था, एक अनन्त सागर था, जिसमें अनेकों ज्ञान दर्शन एवं ज्ञान धाराएँ आकर मिल जाती हैं। यदि प्लेटो के दर्शन का मंथन किया जाये तो उसमें 'ईश्वर' और 'जगत' का विषय वर्णन 'ज्ञान सागर' की 'ज्ञान गंगा' के समान है, जिसमें, स्नान करने को बार-बार मन करता है। 'जगत' रचना के विषय में उसके पूर्ववर्ती दार्शनिकों का बहुत अंश देखा जा सकता है। उसमें कहीं 'पाईथागोरस' बोलता नजर आता है, तो कहीं, 'पार्मेनाइडिज' जगत की चर्चा करता नजर आता है, कहीं परमाणुवादी दार्शनिकों की छाप साफ नज़र आती है।, लेकिन 'सुकरात' दर्शन तो प्लेटो की 'आत्मा' पर हर समय छाया ही रहा था। ऐसा उसके प्रत्येक शब्द से आभास भी होता है। **यद्यपि भारत की दूरी ग्रीक से सात समुद्र पार की, लेकिन भारतीय दर्शन प्लेटो के प्रत्येक वाक्य में बोलता नज़र आता है। कहीं-कहीं ऐसा लगता है, कि प्लेटो में ऋषि 'मनु' बोल रहे हों, तो कहीं ऋषि वशिष्ट आदि, 'मारिचि' और 'अगंरस' बोलते नज़र आते हैं। प्लेटो दर्शन पर वेदों की भी पूर्ण छाप मिलती है।** प्लेटो 'सत्य' की तलाश में, 'ईश्वर' के विश्वास के साथ जगत की रचना और संसार की व्यवस्था के प्रत्येक पहलू को समझाते-समझाते पंच तत्व में लीन हो जाता है। प्लेटो, की दृष्टि में 'संत् ज्ञान प्रत्ययों का ही ज्ञान है।' (All knowledge is knowledge through concept) उसी ज्ञान सागर का मन्थन करते हुये दार्शनिक प्लेटो 'जगत' की रचना के 'पर्त' अपने

चिन्तन अनुरूप घोषित करता है, जो उससे पूर्व दार्शनिकों के मंथन का विकसित रूप ही कहा जा सकता है।

वह सत् जगत ज्ञान को प्रत्ययों द्वारा ही मानता है प्लेटो जगत का अर्थ सत् से लगता है। 'प्लेटो' का जगत सम्बन्धी दर्शन भी हिन्दु धर्मग्रन्थ वेदों में वर्णित जगत सम्बन्धी दर्शन के बहुत ही 'निकट' होकर गुजरता है। हिन्दु धर्मग्रन्थ 'वेद' 'जगत' को 'नश्वर' तथा 'नाशवान' मानते हैं, लेकिन उसके अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।

'प्लेटो' दृश्य जगत को अस्तित्वहीन नहीं मानता है। वह उसके निर्माण में 'जड़त्व' तथा 'प्रत्यय' दोनों को आधार मानता है। प्लेटों का 'जड़तत्व' गुण रहित है। लेकिन जगत में जितने भी गुण होते हैं, वह सब प्रत्ययों से प्राप्त होते हैं, इसलिये वह जड़ हैं! अपूर्ण हैं!! तथा नश्वर हैं !!

जगत की रचना में, 'जड़त्व' का रचनाकार 'विश्वकर्मा' "ईश्वर" जड़तत्वों को, प्रत्ययों के सहयोग से, जगत की वस्तुओं का और 'जगत' के आकार का निर्माण करता है।

इस प्रकार 'प्लेटों' द्वारा जगत निर्माण में 'जड़तत्व' को आधार कहा गया है, वह कच्चे माल की तरह है, जिसे प्रत्ययों की सहायता से उसका रचनाकार 'ईश्वर' उसे विभिन्न तरह की आकृति प्रदान करता है।

प्रश्न यह उठता है कि क्या यह "जड़तत्व" कोई स्थान घेरता है ? प्लेटो कहता है, ऐसा नहीं है, यह आकारहीन तत्व है। इसें 'शून्य आकाश' भी कहा जा सकता है, लेकिन यह एक अबौद्धिक तत्व की तरह से है, जिसे 'प्लेटो' 'असत्' कहता है।

प्लेटो के अनुसार संसार में, वस्तुओं में जो अपूर्णता दिखाई देती है, उसका कारण भी 'जड़तत्व' ही है। संसार में जो सौंदर्य दिखाई देता है उसमें सत्यता नज़र आती है, उसका कारण प्रत्यय ही कहे जाते हैं।

ईश्वर ही जगत का निर्माण करता है। प्लेटो का दर्शन भी 'ईश्वर' को ही जगत का रचियता स्वीकार करता है। यह उल्लेख भी किया जा चुका है कि 'ग्रीक' दर्शन शास्त्र के अधिकतर दार्शनिक ईश्वर को ही जगत का रचियता मानते हैं। इस तरह जगत निर्माण के मामले में 'प्लेटो' भी पूर्णतया अपने ढंग से 'ईश्वर' की शरण में चला जाता है। उसका 'दर्शनशास्त्र' दृश्य जगत की रचना में तीन तत्व को आवश्यक मानता है, यह पहले भी वर्णन किया जा चुका है कि एक 'प्रत्यय' (Ideas) जो पूर्ण सत् है, दूसरा आकारहीन द्रव्य है जो पूर्ण 'असत' है, तीसरा 'ईश्वर' है जो उपरोक्त दोनों तत्वों की सहायता से जगत का निर्माण करता है। प्रश्न उठता है **'ईश्वर' का जगत का निर्माण करने का उद्देश्य क्या था ? उसने फिर किस तरह से और किस क्रम में जगत का निर्माण किया ? प्रथम प्रश्न के उत्तर में प्लेटो कहता है जो शुभम् था। उसे प्रकट होना ही था। जगत को तो ईश्वर को रचना ही था, क्योंकि "यह ही शुभम् है और रहेगा" क्योंकि जगत की रचना का उद्देश्य शुभम् की रचना ही है।**

जहाँ तक जगत के निर्माण में 'ईश्वर' ने क्या रास्ता अपनाया उसका उत्तर प्लेटो देते हुये कहता है कि अस्त-व्यस्त बिखरे हुये, आकारहीन पदार्थों को लेकर एक शिल्पकार की तरह से प्रत्ययों के आदर्श, सुन्दर निर्देशन में परम ईश्वर ने इस जगत की रचना कर डाली। प्लेटो मानता था कि समस्त जगत की भी एक 'विश्व आत्मा' है जो जगत को जीवित रखती है। जिस प्रकार जीवित मानव शरीर में एक 'आत्मा' निवास करती है उसी प्रकार जगत की भी एक 'आत्मा' जो समस्त जगत को एक सम्पूर्ण शरीर के रूप में जीवित रखती है। यद्यपि यह जगत आत्मा (World Soul) का कोई 'शरीर' नहीं होता है, लेकिन वह शून्य नहीं है 'जगह' बनाती है, जगत घेरती है,

यह समस्त जगत में जीवन रूपी बेल की तरह से व्याप्त है, यह चारों और सीमित स्थानों तथा सभी दिशाओं में फैली है।

यह पूर्ण ज्ञाता है जो प्रत्यय जगत तथा दृश्य जगत को जानती है तथा पूर्णतया सम्पूर्ण जगत को पहचानती है। यह विश्वआत्मा स्वयं में गतिमान है, उसके साथ-साथ अन्य पदार्थों को गति देकर गतिमान बनाती है।

इस जगत में जो सम्पूर्ण सौंदर्य है, न्याय और उज्जवलता है तथा अपार ज्ञान के सोत्र है और सम्पूर्ण ज्ञान हैं, उसका उत्पादक कारण यह विश्व आत्मा है। वास्तव में यही जीवन है, और यही सर्वोच्च सौंदर्य का कारण है।

प्लेटो के दर्शन के अनुसार जगत रचनाकार 'ईश्वर' प्रथम तो जगत के सौंदर्य, जीवन और ज्ञान आदि की रचना से पूर्व 'विश्वआत्मा (World Soul) की रचना करता है और उसे उपरोक्त सौंदर्य और जीवन तथा ज्ञान से सजाता है और बाद में अनेक जीवआत्माओं की रचना करके समस्त जगत को जीवन युक्त करता है। यह 'जीव' 'आत्मा' जीवित शरीर में 'विराजमान' होती हैं, तब जीवन गतिमान रहता है। लेकिन यह शरीर से एक तरह से बन्धित रहती हैं, उसमें समाई रहती है। लेकिन जब वह शरीर से मुक्त हो जाती है तो अपनी विशालता में समा जाती हैं तथा उसमें समाकर असीम हो जाती हैं। प्लेटो दर्शन के अनुसार ईश्वर जीव आत्मा, विश्व-आत्मा के अलावा देवी, देवताओं की रचना भी करता है। वह 'ईश्वर' की तरह देवी, देवताओं को शरण में भी रहता है, उनसे दूर नहीं हो पाता है। यदि ध्यान से पढ़ा जाये तो वह 'अवतारवाद' में भी विश्वास करता है।

प्लेटो के अनुसार भौतिक जगत का रचनाकार भी ईश्वर ही है। सबसे पहले ईश्वर, पृथ्वी, जल, अग्नि तथा वायु की रचना करता है। जब इन चारों के अस्तित्व आपस में सम्बन्धित हो जाते हैं तब सृष्टि का निर्माण हो जाता है। क्योंकि यह चारों तत्व ही जीवन का आधार हैं। इनके अभाव में जीवन का अस्तित्व हो ही नहीं सकता और फिर ईश्वर अन्य तत्वों और वस्तुओं का निर्माण भी करता है। उसमें प्लेटो का सबसे प्रमुख प्रकाश देवता सूर्य है। **प्लेटो, सूर्य को ज्ञान का प्रकाशक तथा जीवन-दाता मानता है। सूर्य ही गणित का प्रथम शिक्षक है जो दिन रात के घटित होने से गणित का पहला पाठ सीखाता है। हम काल, वर्ष, महीनों का ज्ञान प्रथम गणित देवता सूर्य के द्वारा ही ग्रहण करते है और उसे उसी गणित के आधार पर लिखते हैं। प्लेटों का दर्शन बोलता है** कि ईश्वर ने एक ही जगत की रचना की है, अनेकों जगतों की नहीं। जैसी की सुकरात मानता था, कि ईश्वर ने एक जगत के अभाव में अनेकों जगत की रचना भी की थी। **प्लेटो ने पृथ्वी को ही समस्त ब्रह्माण्ड का केन्द्र बिन्दु स्वीकार किया है। जिसके चारों और अनेकों लक्षण एवं सितारे घुमते रहते हैं। सितारों को वह दैव्य शक्ति मानता है। प्लेटो की भाषा में वह ही दैव्य सत्ता (Drvine Being) कहलाती है। प्लेटो सम्पूर्ण 'ब्रह्माण्ड' तथा जगत की रचना का रचनाकार 'ईश्वर' को ही स्वीकार करता है।**

भारतीय ऋषि मनु और प्लेटो के विचारों में समानता

प्लेटों भी आत्मा (Soul) को अजर और अमर मानता है तथा यही आत्मा जीवन का संचालन करती है। हिन्दु धर्म ग्रन्थों में भी आत्मा को अजर और अमर माना गया है। प्लेटो की तरह हिन्दु ग्रन्थ में भी आत्मा जीवित तत्व मानी है। वह शरीर के बन्धनों में कुछ समय के लिये ही शरीर

में बन्धित है। लेकिन शरीर से मुक्त होने के बाद आत्मा मुक्त हो विशालता में विलीन हो जाती है। हिन्दु धर्म ग्रन्थों के अनुसार 'मनु स्मृति में आत्मा' के विषय में कहा गया है –

"एंतमेके, वदत्यग्निं मनुमन्ये - प्रजापतिम्।
इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शश्वतम्।।१२३।।
एष सर्वाणि भूतानी पन्चभिव्यप्यि मूर्तिभः।
जन्म वृदिक्षयैनित्यं संसारयति चक्रवत्।।१२४।।

अर्थात् "आत्मा को कोई अग्नि कहता है, कोई मन, कोई इन्द्र, कोई प्राण, कोई शाश्वत ब्रह्म कहता है। यह आत्मा सब जीवों को पच्च महाभूतों रूप मूर्तियों से व्याप्त करा़कर नित्य चक्र के समान जन्म वृद्धिक्षचों में घुमाता है।"

"आत्मैव देवताः सर्वाः सर्वमात्मन्यव स्थितम्।
आत्मा हि जनयत्येषां कर्मयोगं शरीरिणाम्।।१२५।।
रवं सन्नि-वेशयेत्खेषु चेष्टनस्पर्शनेऽनिलम्।
पंक्तिदष्ट्यों परं तेजः स्नेहऽपो गां च मूर्तिष।।१२६।।

अर्थात् आत्मा ही सम्पूर्ण देवता है, क्योंकि सब कुछ आत्मा में स्थित है और इन समस्त शरीर धारियों में (जीव आत्माओं) में कर्म योग को आत्मा ही उत्पन्नकर्त्ता है अर्थात् जीवन को 'आत्मा' ही चलाती है।

आकाश में आकाश को सनिविष्ट करे और चेष्टा तथा स्पर्श में वायु को, तथा जठरग्नि तथा दृष्टि में परम तेज को निविष्ट करे, शरीर के स्नेह में, जल को, तथा मूर्तियों में (शरीरों में) पृथ्वी को सनिविष्ट करे। यानि इस क्रम में ध्यानाव स्थित होंवे।

लेकिन प्लेटो आत्मा को प्रत्यय (Ideas) जगत का एक प्रत्येय बताता है। जो कुछ काल के लिये शरीर के बन्धनों में बन्ध जाती है। भारतीय दर्शन के समान ही प्लेटों की मानव आत्मा भी तीन भागों में विभाजित है। प्रथम 'बुद्धि' यह ही वह तेज है, जो सत्य-और असत्य का ज्ञान कराता है। इसका सुरक्षित स्थान मानव का "मस्तिष्क" है। दूसरा "भावनाओं" का रूप है, यह 'संवेगों' का निवास स्थान है तथा यह मानव के ह्रदय में रहती है। तीसरा स्थान इच्छाओं से सम्बन्धित है। इसमें आवेश एवम् रुचि आदि हैं। इसका स्थान 'प्लेटो' मानव की कमर में बताता है। यह भाग भौतिक सुखों से सम्बन्धित है।

भारतीय हिन्दु धर्म दर्शन के अनुरूप प्लेटो भी मानता है आत्मा अमर है, उसका पुर्नजन्म होता है। प्लेटों ने आत्मा की अमरता को बड़े रोचक ढंग से प्रस्तुत किया है। प्लेटो ने अपने फिडी नामक संवाद में जब 'सुकरात' जहर का प्याला पीने के इन्तजार में था। सन्ध्या का समय था, जब सूर्य का रथ धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था। चारों ओर घोर निराशा थी, दुख था, असहनीय पीड़ा भी सभी को थी। क्योंकि सन्ध्या होते ही ज्ञान का प्रतीक सुकरात, जो स्वयं में एक प्रकाश था, वह महान व्यक्तित्व, 'सत्' बोलने पर शहीद होने जा रहा था। सुकरात का अन्तिम समय समीप था, उसी समय सुकरात का एक शिष्य जिसका नाम सिबिस था। सुकरात से दुखी मन से पूछता है "श्रीमान! यह कहा जाता है कि जब आत्मा शरीर त्यागती है, तो वह धूएँ के रूप में फैल जाती है, क्या यह सत्य है ? क्या उसका कोई अस्तित्व बचता है या नहीं बचता ?" सुकरात बड़े धैर्य से उसका उत्तर देता है। सुकरात ने उत्तर दिया **"जिस तरह मृत्यु जीवन से निकलती है, उसी**

तरह, उसके विपरीत जीवन मृत्यु से निकलता है। अर्थात्, एक शरीर के मृत्यु होने पर जीवन या आत्मा उससे अलग हो जाती है लेकिन न वह फैलती है और न वह नष्ट होती है, वह दूसरे नवीन शरीर में प्रवेश कर जाती है। आत्मा पुनः किसी शरीर के बन्धन में बन्धकर जीवित प्राणी बन कर विचरती है, इसलिये आत्मा न 'धुँआ' और न 'शून्य' यह सदा जीवित रहती है।

'सुकरात' फीडो में ही बड़े धैर्य से समझाता है कि "एक 'मनुष्य' था कई बार ऐसे ज्ञान की बातें करता है, जो उसने अपने जीवन में कभी अनुभव नहीं की थी। कभी-कभी तो कोई बालक भी उच्चतम ज्ञान की बातें करता है, जो उसके अनुभव में नहीं आईं थीं। 'निरपेक्ष' समानता का ज्ञान हमें बुद्धि से होता है, वह अनुभव से नहीं मिलता। वैसे ज्ञान की वाहक हमारी ज्ञानेद्रियाँ हैं, जो जन्म से साथ हमें प्राप्त होती हैं लेकिन 'निरपेक्ष' समानता का ज्ञान मनुष्य को जन्म से पहले से ही रहता है। सुकरात जो कहता है, इसका अर्थ साफ है कि मरने के बाद भी 'मृतक' में सब कुछ नहीं मरता, जो शेष बचता है वह 'आत्मा' है। वह किसी प्राणी के जन्म से पूर्व भी रहती है और बाद में भी जीवित रहती है। उसी 'आत्मा' के साथ पूर्व जन्म का कुछ ज्ञान दूसरे जन्म में भी आत्मा के साथ जीवित रहता है, वही नवीन शरीर उसे कभी-कभी आश्चर्य जनक तरीके से प्रकट करता है, और हम उसे विशेष आर्श्चय मान लेते है।

प्लेटो कहता है, ज्ञान 'पुर्नस्मरण' का ही नाम है। सुकरात 'मीनो' नाम के एक व्यक्ति से 'रेखागणित' से सम्बन्धित प्रश्न करता है। वह उसका उत्तर सही देता है जबकि उसने कभी रेखागणित पढ़ा ही नहीं था। यह एक पुर्नस्मरण का प्रश्न है जो 'आत्मा' में पूर्वजनक के कारण मौजूद रहता है। प्लेटो मानता है कि आत्मा मृत्यु के बाद भी नष्ट नहीं हो सकती है, वह सदा एकता में बंधी रहती है तथा उसका बिखराव नहीं होता है।

प्लेटो मानता है कि किसी प्राणी शरीर में जीवन आत्मा द्वारा ही होता है। उसके अनुसार किसी प्राणी का शरीर ही मरता है, जो नश्वर तत्व है, आत्मा नहीं मरती है। प्लेटो द्वारा घोषित किया गया कि आत्मा ही जीवन है। वह जीवन का अमर तत्व है। आत्मा की मृत्यु नहीं होती।

'फीडो' में सम्वाद द्वारा प्लेटो समझाता है, कि यदि आत्मा भी मर जाये तो सबसे अधिक लाभ उसका 'दुष्ट', हिसंक और आतंकी लोग उठाएँगे। उनका कुछ भी नहीं बिगड़ेगा। लेकिन 'आत्मा' के अमर होने पर वह अपने 'कर्मों' का फल दूसरे जन्म में भोगने को मजबूर हैं क्योंकि आत्मा अमर है, और उसे नव जीवन मिलता है।

आत्मा की अमरता के प्रश्न पर प्लेटो भारतीय दर्शन के बहुत निकट आ जाता है। क्योंकि उस काल में यूनानी दार्शनिकों का एक बहुत बड़ा वर्ग या उस काल का यूनानी राज धर्म आत्मा की अमरता को नहीं मानता था। भारतीय दर्शन शास्त्र, प्लेटो पर आत्मा और शरीर के रिस्तों के सम्बन्ध में गम्भीर रूप से छाया हुआ मिलता है। भारतीय दर्शन भी कहता है कि "मनुष्य के शरीर को इन्द्रियाँ भोग-विलास तथा पाप की तरफ ले जाती है। इन्द्रियाँ भोग-विलास की वासना में मनुष्य शरीर परम पिता-परमात्मा से दूर ही जाता है, जो इन्द्रियों को वश में रखता है, वह परमात्मा के निकट रहता है। भारतीय दर्शन के अनुसार शरीर ही मोह की जननी है, जो आत्मा को परमात्मा से मिनले नहीं देता। **'फीडो' में प्लेटो बार-बार वर्णन करता है, कि "शरीर ही आत्मा को दुख देने का कारण है वह उसे मोह पीड़ा में बाँधता है। शरीर ही आत्मा को परम तत्व से मिलने में बाधा पहुँचाता है। शरीर तो आत्मा के लिये एक कैदखाना है। शरीर ही आत्मा को ज्ञान से दूर ले जाता है। वह ही उसे सत्य ज्ञान से दूर रखता है, तथा आत्मा को**

'पथभ्रष्ट' करता है। एक दार्शनिक जब अपनी इन्द्रियों पर काबू पा लेता है, जब अनुभूतियाँ उसे पीड़ित नहीं करती हैं, तब वह परम ज्ञान की ओर बढ़ता है। उच्चकोटि के दार्शनिक, योगी तथा ऋषि, मुनि शरीर को 'आत्मा' से दूर रखने की कला जानते थे इसलिये वह प्रसन्न रहकर अपने विवेक से 'सत्य' की खोज करते थे। ऋषि, मुनि और उच्चकोटि के दार्शनिक मृत्यु को जानते हैं, उसे जीवन का हिस्सा मानते हैं इसलिये वह उससे भयभीत नहीं होते। मृत्यु के नज़दीक आने पर वह मृत्यु का स्वागत करते हैं, जैसा कि दार्शनिक सुकरात ने किया था।

भारतीय दर्शन में 'ईश्वर', आत्मा और परमात्मा तथा जगत के निर्माण के सम्बन्ध में जो दार्शनिक विचार वेदों, उपनिषदों तथा अन्य ग्रन्थों में दिये गये हैं, जिन्हें आज भी हिन्दु दर्शन धर्म का आधार माना जाता है। उसका अधिकांश प्रभाव प्लेटो, सुकरात तथा अन्य 'ग्रीक' दार्शनिकों पर स्पष्ट दिखाई पड़ता है।

अरस्तू का 'ईश्वर'

'अरस्तू' भी ईश्वर की सत्ता में पूर्ण विश्वास करता था। लेकिन अरस्तू का ईश्वर प्लेटो के ईश्वर से कुछ अलग तरह की पहचान रखता है क्योंकि 'अरस्तू' अनेकों देशों में भ्रमण कर चुका था, इसलिये उसके दर्शन में ब्रह्ममाण्डता का विशेष वर्णन है। अरस्तू, विश्व में समाई गति और हर पल होते परिवर्तन को स्वीकार करते हुये, ईश्वर को पहचानता है। लेकिन जब जगत में गति और परिवर्तन है तो परिवर्तन और गति का दाता कौन है? ऐसा दाता तो वही हो सकता है, जो एक स्थान पर बैठा-बैठा सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को चलाता है। जो स्वयं गतिहीन हो, यानि गतिहीन गतिदाता (Unmoved Power) हो। ऐसा सर्वशक्तिमान, श्रेष्ठ गति वाला तो एक ही हो सकता है, उसका नाम ईश्वर है। **अरस्तू की दृष्टि में ईश्वर तान्त्रिक नहीं है, वह यंत्रवादी भी नहीं है। ईश्वर 'परम सत्ताधारी' विचारक की तरह सृष्टि को प्रथम गति देता है।**

अरस्तू का ईश्वर लक्ष्यहीन नहीं, वह सर्वशक्तिमान ईश्वर है, जो सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड का लक्ष्य कारक है। वह स्वयं लक्ष्य को गति देता है। उसके बाद कोई शक्ति नहीं है, वह ही सर्वश्रेष्ठ, सर्व व्यापक लक्ष्य पूरक है। उसके बाद और कोई लक्ष्य भी नहीं है, क्योंकि लक्ष्य ही गति को जन्म देता है, अरस्तू कहता है, "इसलिये बिना लक्ष्य के गति नहीं है। **ईश्वर स्वयं गति न होकर जगत को गतिशील (Lifeful) बनाता है।" वह जड़-चेतन सब का 'गतिहीन गतिदाता' है। वह गतिहीन, पावर हाऊस के समान सम्पूर्ण जगत को गति देता है।**

अरस्तू ईश्वर को 'अन्तिम' द्रव्यहीन स्वरूप में मानता है। वह स्वरूप नहीं बदलता है। इसलिये भी वह अचल है, लेकिन अपार गति-शक्ति का मालिक स्वयं ईश्वर है।

अरस्तू कहता है कि "यदि ईश्वर को गतिहीन-सर्वशक्तिमान गति संचालक न माना जाये, तो फिर गति देने के लिये किसी और शक्ति की जरूरत पड़ेगी या किसी और तत्व की कल्पना करनी पड़ेगी। उससे सृष्टि में अव्यवस्था आ जायेगी, इससे अव्यवस्था का विकार उत्पन्न हो जायेगा। ईश्वर के संचालन से सृष्टि व्यवस्थित और सुचारू रूप से चलती है। इसलिये ईश्वर को सर्वशक्तिमान, गतिहीन, गति संचालक एवम् सर्वश्रेष्ठ माना गया है।

अरस्तू का ईश्वर परम सत् तथा परम सिद्ध भी है। क्योंकि ईश्वर शीर्षस्थ है, इसलिये वही सत् है। अरस्तू प्लेटो के 'प्रत्यया' दर्शन को स्वीकार नहीं करता वह ईश्वर को आकार रहित मानता है। वह आकार की सत्ता में विश्वास नहीं करता है।

अरस्तू का ईश्वर आकार रहित होते हुये भी चित् सरूप है। उसके अस्तित्व पर विचार किया जा सकता है। वह मनन क्षेत्र का विषय है। अरस्तू का ईश्वर विशुद्ध विचारों का विषय है।

अरस्तू कहता है "ईश्वर मनन पर मनन करता है, विचारों पर विचार करता है।"

अरस्तू का ईश्वर तो विचारों का विचारक है। सर्वोच्च ज्ञान का ज्ञानदाता है इसलिये आकार रहित चिन्तक है। अरस्तू के अनुसार ईश्वर निराकार श्रेष्ठतम शुभ चिन्तक है। जो संसार और

सृष्टि को गति देता है।

यहाँ प्रश्न सामने आता है, जब 'ईश्वर' निराकार है, तो उसके प्रति आकर्षण कैसे हो सकता है ? जिसे देखा ही न हो जिसका आकार न हो, उसके प्रति आकर्षण कैसा ? जब ईश्वर का कोई अस्तित्व ही नहीं तब खींचाव कैसा ? तथा उसके प्रति लगाव कैसा ? 'अरस्तू' उसको समझाते हुये एक गुरू के समान दार्शनिक की तरह कहता है, जो विचलित नहीं होते अपनी एक जगह अटल, हैं और जो निश्चित और गतिहीन रहते हैं, वही अपनी ओर अधिक आकर्षित करते हैं। निराकार के प्रति मानव प्यार इन्द्रियींमय नहीं होगा, वह प्यार जो जगत निर्माता के प्रति होता है, वह अथाह तथा परमानन्द देने वाला होता है। वह अपार सत्ता के निकट होता है।" अरस्तू भी अपने गुरू 'प्लेटो' की तरह ईश्वर के संदर्भ में भारतीय दर्शन के बहुत निकट था।

'अरस्तू' कहता है, **"जैसे आकाश में जगमगाते सितारे 'आकर्षण' केन्द्र हैं। वह जगमगाते सितारों को आकाश में जड़ी नक्षत्रों की लम्बी कतारें विलिप्त रहते हुये भी प्राणियों को अपनी ओर खींचती हैं। उसी तरह से एक चमत्कारी चुम्बकीय प्रेम से बंधा प्राणी संसार, उस ईश्वर की ओर आकर्षित होता चला जा रहा है। यह ईश्वरीय प्रेम ही 'गति' का कारण है।"**

'अरस्तू' का ईश्वर आनन्द स्वरूप है। वह परम सिंह है, और 'निरपेक्ष' सत्ता के आन्नद की अवस्था में लीन रहता है। जो आन्नद हमें कभी-कभी बड़ी उपासना से भी प्राप्त नहीं होता, वह 'प्रभु' के पल भर के प्रेम साधना से प्राप्त हो जाता है। वह ही परम आनन्द है। ईश्वर उस अपार आनन्द का स्वयं स्वामी है, तथा अपार आन्नद का मालिक है।

आत्मा और अरस्तू

अरस्तू का कथन था, आत्मा यर्थात् में वास्तविक जीवन का आधार है, उसका बड़ा सम्भाव्य रूप है, जो जीवित शरीर में निवास करती है। आत्मा शरीर का संगठित जीवित आकार है। आत्मा के अभाव में शरीर मृत हो जाता है। आत्मा और शरीर अपृथक हैं। शरीर बिना आत्मा के जीवित रह ही नहीं सकता है। वह आत्माविहिन होकर नष्ट होता है।

अरस्तू, के अनुसार आत्मा शरीर में एक अपार शक्ति है। शरीर और आत्मा अलग-अलग नहीं हैं। उसके अनुसार शरीर के नष्ट होने पर आत्मा भी समाप्त हो जाती है। वह प्लेटो की तरह उसे अमर नहीं मानता है, और न यह मानता था कि उसका पुनः जन्म होता है। अरस्तू दार्शनिक, मानव की आत्मा के साथ-साथ पशु तथा वनस्पति में भी जीव आत्मा का होना स्वीकार करता है। लेकिन इनमें तीनों में अलग तरह के जीव आत्मिय गुण होते हैं।

प्रथम, वनस्पति की 'आत्मा' प्रकृति का पहला संगठित रूप है जो स्वयं अपना पोषण स्वयं गतिहीन होकर एक स्थान पर रहते हुये, जीवन के आरम्भ होने से अपने नष्ट होने तक प्राप्त करती है। उसका लक्ष्य अपने जीवन को स्वयं बचाये रखना है। वनस्पति जीव आत्मा में दो ही गुण हैं, एक अपना पोषण स्वयं करना, दूसरा प्रजनन करके अपने वंश को विकसित करना। पशु की आत्मा, प्रजनन और पोषण के 'अलावा' 'संवेदनशील' होती है। उसमें सुख प्राप्ति के गुण होते हैं, तथा दुख से बचने के प्रयास भी होते हैं। वह जीवन के बचाव के गुण भी रखती है तथा उसकी रक्षा के लिये हिंसा भी करती है। उसी संवेदनशीलता के कारण उसमें 'गति' होती है। वह गति करने योग्य है।

यह 'अरस्तू' के दर्शन की विशेष बात है कि उसने पशुओं के जीवन पर पुस्तक भी लिखी थी, जिसमें उसने 'पशु-आत्मा' के विषय में प्रकाश डाला था।

मनुष्य आत्मा में जहाँ प्रजनन शक्ति होती है, पोषण गुण होता है। संवेदनशीलता तथा गति गुण होते हैं, वहीं वह चिन्तन शक्ति और विचार प्रकट करने की योग्यता तथा समझाने और बोलने की शक्ति भी रखती है। वहीं उसमें 'प्रज्ञया' तथा बुद्धि की शक्ति भी होती है। जिसे अरस्तू 'बौद्धिक आत्मा' (Rational Soul) कहकर पुकारता है। यह बौद्धिक आत्मा मनुष्य में वस्तुओं की पहचान करना तथा उससे विभेद करने की शक्ति प्रदान करती है तथा मानव-मानव में सम्बन्ध बनाने, तथा चिन्तन करके वैज्ञानिक खोज करने का अपार गुण भी रखती है। उसी से मनुष्य सक्रिय मानस बनता है। यह ही सक्रिय 'मानस' है, जो आत्मा को सक्रियता में लाता है। यहां प्रश्न उठता है, कि इस आत्मा का निवास स्थान कहाँ है? **अरस्तू अपने दर्शन में आत्मा का निवास स्थान 'हृदय' को बताता है। मानस के दुख-सुख, प्रेम, सहयोग, नफरत तथा ईर्ष्या आदि सभी सम्वेदनाओं का स्थान हृदय ही माना गया है। हिन्दु दर्शन में भी आत्मा का स्थान हृदय ही को माना गया है।**

अरस्तू की जीवन यात्रा

अरस्तू (Aristotle) की जीवन यात्रा जहाँ 'दर्शन शास्त्र' और ज्ञान की खोज के 'स्वस्थ' पर्यावरण की महकती सुगन्ध के मध्य आरम्भ हुई थी, वहाँ उसने उस काल के राजनैतिक माहौल को आतंक, हिंसा और अंधविश्वास की जहरीली हवाओं को भयानक हिंसक आँधियों में परिवर्तित होते स्वयं देखा था।

अररतू का जन्म 384 में ईसा से पूर्व मेसीडोनिया के स्टेगिरा (Stagira) नामक शहर में हुआ था। जो यूरोप के उत्तर में लगभग 100 मील की दूरी पर था और ऐथन्स से 200 मील दूर था। अरस्तू के पिता निकौमैकस (Niecomachus) उच्चकोटि के डॉक्टर थे, उन्हें यह सौभाग्य प्राप्त था, कि वह 'सिकन्दर महान्' के पितामह 'एमण्डस' के राजवैद्य थे। 'अरस्तू' का दुर्भाग्य था कि उसके पिता की मृत्यु उसके युवा बसन्त में पहुँचने से पहले ही हो गई थी। उसके पिता के एक प्रिय मित्र ने अरस्तू को 'ऐथन्स' में प्लेटो की अकादमी में अध्यन हेतू भेज दिया, जहाँ प्लेटो की ज्ञान फूलवाड़ी में 'अरस्तू' 20 वर्ष तक अध्ययन करता रहा। अरस्तू अपने गुरु प्लेटो का परम शिष्य और कहीं-कहीं उसके दर्शन का घोर आलोचक भी था। अरस्तू प्लेटो की मृत्यु तक निरन्तर उससे सहमत और असहमत होते हुये 'सत्य' जगत और ज्ञान पर शौध करता रहा। दार्शनिक जगत में, अरस्तू को ज्ञाननियों का शिरोमणि भी कहा जाता है।

लेकिन प्लेटो की मृत्यु के बाद, अरस्तू ने 'ऐथन्स' के इस उच्चतम शिक्षा केन्द्र को छोड़ दिया। क्योंकि प्लेटो के एक भतीजे 'सियुसिप्पस ने परिवारवाद का सहारा लेकर उस अकादमी पर कब्जा कर लिंया। लेकिन वह योग्यता की दृष्टि से उस उच्चतम ज्ञान केन्द्र का उत्तराधिकारी होने के योग्य नहीं था। वहाँ यदि कोई व्यक्ति प्लेटो का उत्तराधिकारी हो सकता था, तो वह केवल अरस्तू ही था।

एक अयोग्य व्यक्ति को प्लेटो के ज्ञान मन्दिर का अधिकारी होते देखकर अरस्तू ने अपने 'गुरु' के स्थान को छोड़ दिया।

अरस्तू ज्ञान शौध की प्यास लिये इधर-उधर भटकता रहा।

उस समय राजाशाही की तलवारें राज्य विस्तार का 'स्वप्न' लिये एक दूसरे राजा से टकराने लगी थीं। लोगों का सर काटना उनका पेशा बनता जा रहा था। प्लेटो और अरस्तू जैसे दार्शनिकों के होते हुये भी अन्धविश्वास का आतंक विज्ञान तत्व विद्या शास्त्र (Mataphysis) और तर्क (Logic) शास्त्रों को नकारता हुआ मानवता का रक्त बहा रहा था। 'ज्ञान' की प्यास लिये भ्रमण करता

हुआ, अरस्तू अपने पूर्व सहपाठी मित्र 'हर्मियस', जो लघु एशिया के 'एटरनस' का राजा था, के यहां शरण लेने के लिये पहुँचा। जहाँ वह मुख्य ज्ञान दाता के रुप में सम्मानित भी हुआ था। लेकिन वहाँ का राजा 'हर्मियस', ईरानियों के साथ भयंकर मार-काट में स्वयं ही मारा गया। ज्ञानी दार्शनिक 'अरस्तू' हिंसा की ज्वाला से बचता हुआ इधर-उधर भटकता रहा। उस काल में अरस्तू के ज्ञान की ख्याति दूर-दूर तक फैल रही थी।

अरस्तू, जब उस काल में 'माइट्रिलिन' में था, अचानक उसे मेसोडोनिया के 'राजा' फिलिप ने अपने पुत्र, सिकन्दर को पढ़ाने के लिये निमन्त्रित किया, जो आगे जाकर महान् सम्राट सिकन्दर के नाम से तथा इतिहास के पन्नों पर एक महान् योद्धा के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उसे शिक्षा देने के लिये अरस्तू को निमन्त्रित किया गया। अरस्तू जैसा ज्ञानी अपनी मजबूरियों के कारण फिर अपने परिचित स्थान पर लौट आया और फिर एक महान् ज्ञानी दार्शनिक अरस्तू, यूनान की संस्कृति के अनुसार एक भविष्य के होने वाले सम्राट सिकन्दर को दर्शन शास्त्र और राजनैतिक शास्त्र के ज्ञान की शिक्षा देने लगा। सिकन्दर महान् के 'पिता' उसे एक उच्च कोटि का विद्वान और राजनेता बनाना चाहते थे। लेकिन सिकन्दर को 'विश्व विजय' करने की इच्छा उत्तेजित कर रही थी।

यह अरस्तू का महत्वकांशी शिष्य सिकन्दर दुनिया को विजय करने की इच्छा में, नंगी तलवार लिये लोगों के सर काटता हुआ, रक्त बहाता हुआ, खेतों और खलियानों को घोड़े की टापों से रौंधता हुआ विश्व विजय की 'प्यास' में दौड़ रहा था। दूसरी और दार्शनिक 'ज्ञानी अरस्तू' असहाय सा, अकेला खड़ा हुआ अपने शिष्य की हिंसा प्रवृत्ति से परेशान हो, आँसू बहा रहा था।

दुखी और 'पीड़ित अरस्तू' ने फिर से अपने स्थान मेसोडोनिया को छोड़ दिया। वह घोर अज्ञान के अन्धेरों और हिंसा को मिटाने के लिये 'ज्ञान ज्योति' का 'चिराग' लिये, विश्व में अज्ञानता के अन्धेरों पर विजय प्राप्त करने के लिये निकल पड़ा। यह 'अरस्तू की ज्ञान वर्षा' अपने शिष्य सिकन्दर से कही अधिक ज्योतिमय थी, क्योंकि यह ज्ञान के प्रकाश की अमर ज्योति मानव समाज सुख के लिये थी। अरस्तू की ज्ञान ज्योति आज भी ज्ञान मन्दिरों में प्रकाश ज्यांति के रूप में उजाला दे रही है और अज्ञानता के अन्धेरा को मिटा रही है। लेकिन, सिकन्दर जैसे 'रक्त' बहाने वाले लोगों को कोई भी याद नहीं करता। 'विलडूयूरेट' ने अपनी पुस्तक 'दर्शन की कहानी' में अरस्तू तथा सिकन्दर में अन्तर करते हुये लिखा है **"अरस्तू के ज्ञान क्षेत्र में विजय सिकन्दर की अस्थाई हिसंक, आतंकी तथा क्रूर विजय से कहीं ज्यादा अच्छी थीं।"**

अरस्तू फिर से अपनं गुरु के नगर ऐथन्स में लौट आया और एक अकादमी 'लिसियम' की स्थापना कर वहाँ ज्ञान वर्षा करने लगा।

लेकिन अरस्तू के भाग्य में शान्ति से रहना नहीं लिखा था। वैसे सिकन्दर अपने गुरु अरस्तू की हर तरह से मदद करता रहता था। वह अरस्तू की आर्थिक मदद करता तथा अध्यन हेतू सामग्री और धन की भी व्यवस्था करता रहता था।

लेकिन अपने शिष्य सिकन्दर की मृत्यु के बाद, अरस्तू को भी उसके आतंकी पापों, हिंसा और अत्याचारों का फल भोगना पड़ा।

सिकन्दर महान, लाखों निर्दोश लोगों की हत्या का दोषी था। क्रूरता और बर्बरता की चोट खाये लोग सिकन्दर से नाराज़ थे। उसके आतंकी और हिसंक कहर ने और बेबसों की आहों ने उन लोगों के प्रति घृणा पैदा कर दी थी, जो किसी न किसी रूप में सिकन्दर से जुड़े थे। इसलिये जन आक्रोश के घेरे में अरस्तू भी आ गया, जो सिकन्दर का गुरू था।

सिकन्दर के विरूद्ध घृणा के अभियान का शिकार अरस्तू भी मुख्य रूप से हुआ था। उन

पर अपराध लगाया गया था कि अरस्तू ने हिंसा में सहयोग करके तथा अपने दर्शन के माध्यम से अधर्मिकता को फैला कर लोगों को गुमराह किया है।

ऐथन्सवासियों ने उसके अधर्मी अपराध के लिये उसे सजाये मौत की सजा सुनाई। लेकिन अरस्तू ने सुकरात की तरह जहर का प्याला पीकर जीवन समाप्त करने का साहस नहीं किया। उससे पहले ही अरस्तू वहाँ से निकलकर भाग गया और अपना लिखित सन्देश छोड़ गया, जो आज भी इतिहास की धरोहर कहा जाता है। उसने अपने छोड़े गये सन्देश में लिखा "मैं एक **दार्शनिक के विरूद्ध दूसरी बार क्रूर अपराध करने का मौका आप लोगों को नहीं देना चाहता।"** अपार आंतकी सदमें और हिंसा की हलचल के कठोर व्यवहार से एक महान् दार्शनिक अरस्तू की मृत्यु 63 वर्ष की अवस्था में (321 ई. पू.) एकांकी परिस्थियों में हो गई। कुछ इतिहासकारों ने ऐसा भी लिखा कि "अरस्तू ने समय के कठोर थपेड़ों से घबराकर 'आत्महत्या' कर ली थी। क्या सत्यता थी, यह तो उस समय का इतिहास ही जानता है।

सम्प्रदायवाद का जन्म और 'दर्शन' युग का ह्रास

अरस्तू के बाद, दर्शन शास्त्र की चमक धीरे-धीरे अस्त हो रही थी। सर्कीणता और रूढ़िवादिता के अवशेष अपना विस्तार बढ़ा रहे थे। ग्रीक सभ्यता और दार्शनिक विरासत को सिकन्दर की मृत्यु के बाद वहशी लुटेरों ने रौंध दिया था।

दूसरी ओर 'ज्ञान-दर्शन' अराजक और भोगवादी होकर, बिखर रहा था। उसके परमाणु अस्त-व्यस्त होकर आपस में टकराने लगे थे और उनसे उठी घोर ह़िंसा ने मानव समाज को विनाश की ओर ले जाना आरम्भ कर दिया था। अरस्तू के बाद दर्शन शास्त्र भी स्वतन्त्र नहीं रहा था। दार्शनिक लोग भी भोगी होकर राजदरबारों में चाटूकारिता करते हुये अराजक हो गये थे।

अब प्लेटो के 'दार्शनिक राजा' (Philosopher King) की कल्पना धूमिल हो गई थी। मानवता का नैतिक श्रृंगार अदृश्य हो रहा था। उससे पूर्व, न्याय की उच्चतम परिभाषा, जो समाज को समुच्चय भावनाओं (A Set of Social Relation) में बाँधने की ओर बढ़ रही थी, वह अत्याचारियों के शस्त्रों से घायल हो स्वयं अन्याय करने में सहयोग कर रही थी। अब वह युग आ रहा था कि न तो न्याय लोगों को मिलता था और सामान्य गुण (Genreral Will) का सार भी समाप्त हो रहा था। सदाचार और न्यायोचित (Righteouness) की भावना समाप्त होती जा रही थी। सब कुछ अन्याय और बर्बरता की आग की लपटों में जलने लगा था। ऐसा लगता था कि ज्ञान का संसार घोर अन्धकार में विलिन होने जा रहा था। ऐसा माहौल बन रहा था, कि धर्म-दर्शन का साम्प्रदायिक चलन, नैतिक दर्शन की हत्या करने लगा था, और एक धर्म दूसरे धर्म को आग की लपटों में भस्म करने की तैयारी कर रहा था। ई:वर की पहचान हो गई थी, लेकिन मानवता के साथ अन्याय करने के लिये शैतान भी साथ-साथ चल रहा था। यानि, शैतानियत और इन्सानियत में आपसी टकराव का महा संग्राम आरम्भ हो गया था, जो वर्षों तक आगे आने वाले इतिहास को भी प्रभावित करता रहा है। अनेकों दार्शनिक प्रतिभाओं के होते हुये भी, अरस्तू की मृत्यु के बाद, ग्रीक दर्शन मृत्यु शैय्या पर पड़ा बेचेनी के दिन काटने लगा था।

अरस्तू की मृत्यु के बाद, अनेकों दार्शनिक और उनके साम्प्रदाय, सुकरात, प्लेटो, अरस्तू तथा उनसे भी पूर्व के दार्शनिकों के अपार अध्यामिक दर्शन का केवल बोझ उठाने की रस्म ही अदा कर रहे थे। अरस्तू के बाद ग्रीक चिन्तकों की साधना, सत्य की खोज नहीं कर रही थी, बल्कि आनन्द और भोग-विलास की तृप्ति कर रही थी। अरस्तू के बाद से ग्रीक चिन्तन राह से भटक गया था।

इतिहास बोलता है, कि सबसे पहले 'ग्रीक' ने अपना गणतन्त्र खोया। उसके बाद उसकी स्वतन्त्रता गुलामी की जंजीरों में जकड़ी अनेकों वर्षों तक परतन्त्रता की बेड़ियों में जकड़ी रही। सिकन्दर की विश्व विजय की अभिलाषा का 'शिकार' ग्रीक भी हुआ था। उस काल में, नगर राज्यों का आपसी टकराव नित्य दिन 'रक्तपात' करता रहता था। इसका परिणाम यह हुआ कि 146 ई० पू० से ग्रीक देश रोमन साम्राज्य का अंग बनकर पराधीनता के दिन गुजारने लगा। लेकिन

यह भी सत्य है कि भयानक परिस्थितियों में भी 'ग्रीक' चिन्तन मरा नहीं था। वह निरन्तर चिन्तक शैली को दिशा दे रहा था। यह सत्य है कि उसने दिशा बदल ली थी। समय के परिवर्तन से ग्रीक देश में **'आर्दश राज्य'** की स्थापना की कल्पना का स्वप्न धूमिल जरुर हो गया था। जैसे भारत में आदर्श **'राम राज्य'** की कल्पना पूरी नहीं हुई, उसी तरह से ग्रीक में भी आदर्श राज्य की कल्पना अधूरी रह गई।

उसी काल में ग्रीक दर्शन का एक सम्प्रदाय जिसको 'एपिक्यूरियन' सम्प्रदाय (Epicurean School) के नाम पुकारते हैं, 'सुखवादी' दर्शन का प्रचार कर रहा था। इसका लक्ष्य था 'खाओं, **पियो और मौज करो' (Eat, Drink and be Marry)** सुकरात के बाद ग्रीक में सिरोनिक सम्प्रदाय भी 'सुखवाद' का प्रचारक था।

वैसे 'ऐपिक्यूरियन' सम्प्रदाय का जन्म-दाता 341 या 42 के लगभग ई० पू०, ऐथन्स में जन्मा, दार्शनिक' एपिक्यूरियस' था। उसने अपने लोकप्रिय ग्रन्थों में अपने विचारों को व्यक्त किया था, उन ग्रन्थों का नाम है प्रकृति (प्रनियम) और परम "शुभम्" आदि मुख्य हैं। ऐपिक्यूरियस का कथन था **"सुख मानव के लिये शुभ है।"** उसका कथन था कि, क्योंकि एक सुखमय जीवन वह कहलाता है, जिसका आरम्भ भी सुख से हो और अन्त भी सुख में हो। ("Pleasure is the begining and end of the blessed life.") वह सुख शब्द को शारीरिक सुख से जोड़ता है, जबकी उसकी दृष्टी में आन्नद बौद्धिक सुख की परिभाषा में आता है। वह कहता था, बुद्धिमानी ही परमशुभ है। वह दर्शन से भी अधिक मूल्यवान है।

बुद्धिमान व्यक्ति का सबसे बड़ा गुण यह है कि वह व्यक्ति जो बुद्धिमान होता है, न प्रतिष्ठा का इच्छुक रहता है न दौलत का और न जमीन और ज्यायदाद का इच्छुक रहता है। वह तो सादा और सरल जीवन व्यतीत करता है। उसे राजनीति में कोई दिलचस्पी नहीं रहती, लेकिन समाज सेवा उसका मुख्य लक्ष्य होता है।

ऐपिक्यूरस साफतौर पर कहता है कि **धर्म ही दुख का कारण है। उसका कथन था, "धर्म ही दुख का जन्मदाता है।"**

एपिक्यूरस की दृष्टि में, "धर्म ही मनुष्य को दुख देता है और परतन्त्र बनाता है।" एपिक्यूरस ने वर्तमान और अतित के धर्म सम्बन्धी अन्धविश्वासी चलन को धार्मिक साम्राज्य की 'घोर' हिंसा का कारण बताया था, उसका दर्शन कहता है, **"धर्म ही आतंक का कारण है, वह दुख का जन्मदाता है, जो मानव की स्वतन्त्रता का हनन करता है।"**

धर्म मनुष्य को दो तरह से पीड़ित करता है। प्रथम तो धर्म ने **"ईश्वर को जगत का शासनकर्त्ता बनाकर जगत को और मनुष्य समाज को गुलाम बना दिया है।"** धर्म कहता है, वह हमारे कार्य पर निगाह रखता है, इससे मानव समाज ईश्वरीय सत्ता का दास हो गया। धर्म ने ही ईश्वर को जन जीवन का संचालक बना दिया जो एक सूत्रधार की तरह हमें कठपुतली की तरह नचाता रहता है। क्योंकि वह ईश्वर, स्वयं सर्वश्रेष्ठ है, इसलिये मनुष्य का स्थान धर्म के कारण ईश्वर से निम्न हो जाता है। वह ईश्वर हमारी स्वतन्त्रता का हनन करता है और धर्म, ईश्वर का डर दिखाकर हमें भयभीत करने का काम करता है। इसलिये धर्म ही मनुष्य जाति को भीरू तथा डरपोक बनाने का काम करता है। धर्म, मनुष्य को 'मृत्यु' का भय दिखाकर सदा कमज़ोर करता रहता है। "ऐपिक्यूरस" कहता है, **"धर्म ही मनुष्य को 'मृत्यु' के बाद स्वर्ग और नर्क का भय दिखाकर मनुष्य को अन्धविश्वासी बनाता है।"**

एपिक्यूरस बताता है कि "मनुष्य अन्धविश्वास" की जंजीरों से मुक्ति तभी पा सकता है, जब

वह ईश्वर के अस्तीत्व को मिथ्या सिद्ध कर दे। मनुष्य को, मानव स्वतन्त्रता के लिये आत्मा और 'परमात्मा' की व्याख्या से अलग करना होगा। दोनों को ही असत्य सिद्ध करना होगा। तभी हम मृत्यु के डर से छुटकारा पा सकते हैं।

एपिक्यूरस का दर्शन बोलता है कि "सर्व प्रथम हमें ईश्वर को ही विश्व निर्माता के रूप में स्वीकार की गई धारण को झूठ साबित करना होगा, जिसके पश्चात् मनुष्य को जीवन और मृत्यु का भय नहीं रहेगा।"

एपिक्यूरस ने ईश्वर के अस्तित्व के लिये तत्व मिमासा को पेश किया। उसके लिये उसने दार्शनिक डेमाक्रिटस के भौतिकवादी दर्शन को आधार बनाया। उसने कहा था "कि जगत शून्य आकाश से विचरने वाले जड़ परमाणुओं से बना है।"

इसलिये जगत के निर्माण में किसी चेतन ईश्वर सत्ता की आवश्यकता ही नहीं है। आत्मा भी परमाणुओं से निर्मित होती है। इसलिये वह मृत्यु के बाद स्वयं छिन्न-भिन्न हो जाती है। लेकिन डेमोक्रिटस दर्शन सिद्धान्त से एपिक्यूरस का उद्देश्य पूर्ण नहीं होता है, क्योंकि वह तो दुखों से छुटकारा पाना चाहता था, इसलिये उसने यत्रवादिता को समाप्त करने के लिये एपिक्यूरस जगत की एक अन्य प्राकृतिक निर्माण विधि की कल्पना करता है, जो घूम जाने की शक्ति (Swerved) है, और जो एक तरह से नैसर्गिक आत्म-स्फूर्ति है। वह जगत निर्माण में सहायक होती है। ऐपिक्यूरस डेमोक्रिटक के जगत निर्माण सम्बन्धी दर्शन से अलग हटकर कहता है, "जगत का निर्माण शून्य आकाश में परमाणुओं के चक्रिय गति से (डेमोक्रिटस दर्शन) की तरह नहीं होता, वह उनके लम्बवत् गिरने से होना मानता है।" इसी दशा में यदि परमाणुओं में इधर-उधर हटने की शक्ति न हो तो वे निरन्तर वर्षा के समान गिरते ही जाएँगे तब किसी जगत के निर्माण की आवश्यकता नहीं रहेगी।

दार्शनिक 'एपिक्यूरस' अपने दर्शन में एक नवीन कल्पना द्वारा जगत के निर्माण की प्रचलित धारा से हटकर कल्पना करता है और स्वीकार करता है कि "विशेष आत्म स्फूर्ति की शक्ति की आवश्यकता को प्रतिपादित करता है। जिसमें इधर-उधर घूमने की शक्ति (Swerved) के कारण एक दूसरे पर घात प्रति घात करके जगत का निर्माण करते हैं।" इसमें किसी निर्माणकर्त्ता की जरूरत नहीं है। आत्मा में वह आत्मस्फूर्ति को मानता है, जिसमें किसी संकल्प की शक्ति होती है और वह हमारी आत्मा को स्वतन्त्र रखती है तथा दुख विहिण करती है।

ऐपिक्यूरस न तो परमाणुवादी यान्त्रिक दर्शन को स्वीकार करता है और वह ईश्वर की सत्ता को भी जगत निर्माण में स्वीकार नहीं करता है। यह दोनों ही दर्शन तत्व मनुष्य की संकल्प शक्ति को और संकल्प स्वतन्त्रता को नष्ट करते हैं। इसलिये वह कहता है "मनुष्य के सुख और आनन्द के लिये ईश्वर और परमाणुवादी दर्शन को अपने विचारों से हटाना आवश्यक है, तभी मनुष्य जाति परम सुख और आनन्द अनुभव कर सकती हैं। कहने का अर्थ यह है, कि आगे जाकर विभिन्न सम्प्रदायों में जगत, ईश्वर, की रचना की सत्यता के ऊपर, परमाणुवादी दर्शन और अन्य दार्शनिक चिन्तन परम्पराओं में और आदि काल से चली आ रही देवी, देवताओं की पूजा पद्वति के तौर तरीकों में टकराव आरम्भ हो गया था। ईश्वर सत्य है, वह ही जगत का निर्माता है, या जगत की निर्माता स्वयं प्रकृति है : यह मतभेद धार्मिक जगत में मुख्यतः विवादित हो गये। प्रत्येक दर्शन घोषणा करने लगा "मैं ही सत्य हूँ, दूसरा नहीं।" यह संघर्ष चिन्तन जगत से हट कर युद्ध के मैदानों में एक दूसरे का कत्ल करने लगा। गाँव-गाँव, नगर-नगर में विभिन्न दार्शनिक और धार्मिक भेद मनुष्य जाति के विनाश, आतंक और युद्ध का कारण बन गये।

दर्शन युग का संध्या काल

ग्रीक दर्शन प्रकाश वैसे तो प्लेटो और अरस्तू के बाद विभिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो, अस्त होने जा रहा था। उनके बाद कुछ दिनों तक ग्रीक दर्शन के मुख्य चार सम्प्रदायों का प्रभाव बना रहा, जिसमें प्रमुख एपिक्यूरियन सम्प्रदाय (Epicurean School) स्टोईक सम्प्रदाय, संशयवादी सम्प्रदाय (Stioci School) तथा नवप्लेटोवादी सम्प्रदाय (New Platonic School) माहौल पर छाने की कोशिश करता रहा, लेकिन उनके बाद पाश्चात्य दर्शन जगत में और नैतिक जगत में अन्धेरा ही अन्धेरा था। यूनानी सभ्यता तथा ग्रीक सभ्यता और संस्कृति पर भोगवादी दृष्टिकोण हावी हो गया था। उसी के साथ राजनीति भी दर्शन शास्त्र पर हावी हो गई थी। प्लेटो जैसे दार्शनिक द्वारा स्थापित अकादमी के अध्ययन कार्यों पर 529 ई० में रोमन सम्राट नेस्टीनियन ने प्रतिबन्ध लगा दिया था। प्लेटो के विचारों पर बात करना भी अपराध घोषित कर दिया गया था। यह समय ऐसा दुखद था, जब 'ग्रीक दर्शन' की सरेआम हत्या की जा रही थी। **धीरे-धीरे इसके बाद 'ईसाई धर्म दर्शन' का युग आ गया। रोम का चर्च ईसाई धर्म दर्शन का केन्द्र बन गया, रोम, जो स्वयं में एक शक्तिशाली धर्म-सत्ता केन्द्र था, जिसने समस्त छोटे-छोटे राज्यों को रोम चर्च की सत्ता के आधीन कर लिया था। वह ईसाई धर्म दर्शन का केन्द्र बनकर, एक हज़ार वर्ष तक निरंकुश धर्म सत्ता को वहाँ से चलाता रहा।**

दर्शन युग की समाप्ति और धर्म युग का आरम्भ

ईसा से पूर्व भी घोर अन्धविश्वास का बोल बाला था। **स्वयं 'यीशू' का बलिदान संसार के महानतम् बलिदानों में से एक है। वह सत्य बोलने पर सूली पर चढा दिये गये थे। यह इस बात का सबूत है, कि सत्य बोलने पर कितने कष्ट उठाने पड़ते हैं फिर भी सत्य बोला जाता है। ईसा के सन्देश को मध्य युग में जिन धार्मिक सन्तों ने आगे बढाया, उनमें प्रमुख धार्मिक सन्त तथा दर्शन ज्ञाता सन्त ऑगस्टाईन, सन्त नान स्कॉटस, एरिनेन तथा सन्त बेकन आदि बहुत प्रमुख हैं। इस काल में एक वर्ग ग्रीक तथा यूनान के दार्शनिक दर्शन से प्रभावित था, तो दूसरा वर्ग ईसाई दर्शन ग्रन्थों को लौकिक मानते हुये उसका प्रचार कर रहा था।**

उस काल में प्लेटो भी अपने दर्शन में धर्म से अलग नहीं था उसका चिन्तन **"दर्शन और धर्म का संगम था।"** प्लेटो एक ओर जगत के छिपे रहस्यों की परत उठाते हुये, तत्व चिन्तन करता है तो दूसरी ओर वह हमारे अध्यात्मिक जीवन हेतू मार्ग निश्चित करता है। **लेकिन वह भी अन्ध-विश्वास की परछाई से मुक्त नहीं हो पाता। यही उस काल में उसका मुख्य दोष था। प्लेटो का दर्शन ईसाई धर्म को भी प्रभावित करता रहा। ईसाई सन्तों ने किसी न किसी रूम में, प्लेटो के दर्शन को विशेष रूप से आधार बनाया।**

ईसाई दार्शनिक धर्म प्रचारक बन गये

ग्रीक 'दार्शनिक' धर्म प्रचारक नहीं थे, वह केवल सत्य की खोज करते थे। क्योंकि सत्य के खोजकर्ता दार्शनिकों ने निर्भिकता के साथ अपने प्राण न्यौछावर करके ज्ञान और विज्ञान के रहस्य को प्रकाशित किया था। ग्रीक दार्शनिक उस काल में स्वतन्त्र चिन्तक थे। वह सत्य की खोज करते थे तथा साथ ही साथ स्वतन्त्र आलोचक भी थे।

लेकिन मध्यकाल में दर्शन शास्त्र 'ग्रीक दर्शन' धर्म की परिधियों में बंधता चला गया, वह ज्ञान प्राप्ति के लिये स्वतन्त्र निरपेक्ष चिन्तक नहीं रहा।

धर्म और दर्शन

मध्य काल में एक समस्या विशेष रूप में आ गई थी, कि दार्शनिक जगत ही धर्म और सम्प्रदाओं में विभाजित हो रहा था। लेकिन जैसे-जैसे, सत्य की खोज में दार्शनिक आगे बढ़ते चले जाते थे, वैसे ही वैसे धार्मिक मान्यताओं में भी परिवर्तन हो जाता था। दार्शनिक कहता था **"मैं सत्य के मन्दिर का पुजारी हूँ, सत्य की खोज करता हूँ।"** मध्यकाल में धार्मिक सन्त भी अपने को दार्शनिक कहने लगे। धर्म के संस्थापकों ने अपने को ईश्वर का दूत कहना आरम्भ कर दिया, और आदेश दिया कि ईश्वर के आदेश से "वहीं सत्य कहते है" बस उसी पर चलो! जो उन्होंने कहा, उससे आगे कुछ सत्य नहीं है। वही धर्म है, उस पर चलना धार्मिक दर्शन की सत्यता है। उसकी आलोचना करना या उससे आगे सोचना, धर्म को स्वीकार नहीं था।

ईसाई धर्म के दार्शनिक यह घोषणा अवश्य करते हैं, कि ईसाई धर्म में स्वतन्त्र आध्यत्मिक चिन्तन में कोई धार्मिक प्रतिबन्ध नहीं है।

धर्म और दर्शन को अलग करते हुये मध्यकाल के अल्बर्ट ने धर्म और दर्शन का अलग-अलग क्षेत्र बताया। उसके बाद उनके शिष्य संत एक्विनस ने धर्म और दर्शन को बिल्कुल अलग करके धर्म और दर्शन की परिभाषा की थी। संत एक्विनस बताते हैं, कि **"दर्शन तर्क पर आधारित है,** जहाँ एक शौधकर्ता दार्शनिक तर्क का ज्ञान बुद्धि की कसौटी पर कसकर सत्य को पाने की कोशिश करता है। **लेकिन धर्म सत्य की खोज में केवल 'अनुभूति' की ही सहायता लेता है।"**

दर्शन तर्क से प्राप्त होता है, लेकिन धर्म के लिये तर्क वर्जित है। श्रद्धा के साथ विश्वास भी उसके लिये ईश्वर को पाने का साधन है। धर्म पहले ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है, और फिर उसकी खोज में समा जाता है। धर्म पहले प्रत्येक वस्तु को ईश्वर की कृति समझता है और फिर उसका परिचय प्राप्त कराता है। दर्शन वास्तविक जगत और समस्त ब्रह्माण्ड तथा जीव और निर्जीव जगत को समझने के लिये तर्क और वितर्क के माध्यम से उसके मूल में जाने की कोशिश करता है और उसे जो सत्य लगता है, उसकी वह घोषणा निर्भीकता से करता है। वह तर्क के रास्ते से सत्य रूपी ईश्वर को पाता है।

लेकिन 'धर्म' में ईश्वर ही सत्य है, यह धर्म से ही ज्ञात होता है। फिर धर्म, ईश्वर की विशाल सृष्टि की व्याख्या करता है और उसके रहस्य को समझाता है।

संत एक्विनस की दृष्टि में धर्म, दर्शन से श्रेष्ट है वैसे धर्म और दर्शन दोनों एक दूसरे के सहयोगी तो हैं, लेकिन एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। फिर भी मनुष्यों और आचार्यों की दृष्टि में धर्म का स्थान दर्शन से श्रेष्ठ है, क्योंकि दार्शनिक दर्शन-ज्ञान बुद्धि से प्राप्त करता है, वह कई बार उसमें सफल हो जाता है, लेकिन कई बार वह ईश्वर से दूर हो जाता है क्योंकि बुद्धि और तर्क उसे 'ईश्वर' को प्राप्त करने में असफल कर देती है। लेकिन धर्म, दर्शन से इसलिये श्रेष्ठ कहा जाता है क्योंकि धर्म में ईश्वर की प्राप्ति वह श्रद्धामय अनुभूति से करता है, जो ईश्वरीय सत्ता के रहस्य को समझ जाती है। अतः अनुभूति द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान सत्य है, बुद्धि सभी तरह के सत्यों को जानने में सफल नहीं होती, अतः अनुभूति ही ईश्वर को प्राप्त करने का सफल मार्ग है।

जैसे ईश्वर, न्याय तथा अवतारवाद को जानने में बुद्धि या तर्क की सीमा समाप्त हो जाती है।

वैसे ही जगत को जानने में और सत्य को पहचानने में बुद्धि और तर्क के संघर्ष में वर्षों लग जाते हैं। क्योंकि वह विश्वास और श्रद्धा का विषय है। अतः अनुभूति उसे तुरन्त जान लेती है। संत-एक्विनस ने अपनी रचना सूमा कॉण्ट्रा (Summa Contra) में इसका वर्णन बड़ी गम्भिरता से किया है।

ईसाई धर्म और संत ऑगस्टाइन

ऑंगस्टाइन का जन्म 353 ई० में उत्तरी अफ्रीका में हुआ था। उनके पिता पैट्रिक्स गैर ईसाई तथा माता मोनिका ईसाई धर्म को मानती थी। संत ऑंगस्टाइन बहुत दिनों तक ज्ञान की प्राप्ति के लिये भटकते रहे। अंत में माता के प्रभाव से 387 ई० में ईसाई धर्म में दिक्षित हो गये। वह मृत्यु तक ईसाई धर्म प्रचारक बनकर ईसाई धर्म दर्शन को समझाते रहे। उन्होंने अनेकों ग्रन्थ लिखे थे, लेकिन 'कन्फैशन्स' (Confessions)) और 'ईश्वरीय नगर' (The City of God) उनकी बड़ी लोकप्रिय उपलब्धि रहीं। सर्वपल्ली राधाकृष्ण ने जो भारत के पूर्व राष्ट्रपति थे, तथा उच्चकोटि के दार्शनिक भी थे, अपनी पुस्तक "प्राच्य धर्म" और "पाश्चात्य विचार" नामक पुस्तक में लिखा कि "ऑंगस्टाइन, अन्नत श्रद्धा के साथ ईसाई धर्म के मिशनरी के रूप में ईसाई दर्शन की व्याख्या करते रहे, लेकिन वह नवप्लेटोवाद और बौद्धिक दर्शन से प्रभावित होते हुये, बुद्धिमय ज्ञान प्रप्ति को स्वीकार करते हैं। उनका कथन था कि "नव प्लेटोवाद" का धर्म से कोई विरोध है ही नहीं।"

ऑंगस्टाइन ज्ञान का लक्ष्य ईश्वर की खोज और आत्मा की खोज पर लाकर सीमित कर देते हैं। वह कहते थे, "आत्मा और ईश्वर का ज्ञान परमानन्द की प्राप्ति का एक मात्र साधन है।"

धर्म तो श्रद्धा और विश्वास पर खड़ा है। लेकिन 'ऑंगस्टाइन' बुद्धि को भी सत्य जानने का साधन मानते हैं। उनके कथन अनुसार ज्ञान के द्वारा ईश्वर प्राप्त करने में जहाँ श्रद्धा आवश्यक है, वहाँ बुद्धि भी आवश्यक है। श्रद्धा और बुद्धि का संगम ईश्वर प्राप्ति में उच्चतम सहयोग देता है, **ऑंगस्टाईन मानते थे कि "ज्ञान प्राप्त करो! जिसमे तुम विश्दास कर सको। उसमें विश्वास करो जिससे तुम ज्ञान प्राप्त कर सको!"**

ऑंगस्टाईन का 'दर्शन' आध्यात्मिक साधना का ही रूप है। जो बुद्धि को भी स्वीकार करती हुई चलती है। ईश्वर को वह अजर, अमर और नित्य मानते थे। उनका कथन था कि ईश्वर नित्य है और सदा से रहा है, इसलिये जगत का सृजन कब हुआ, यह प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि ईश्वर नित्य है, सदा से है, जबकि जगत तो नित्य नहीं है। क्योंकि ईश्वर सृष्टि करता है। इसलिये पहले से है और वह जगत का भविष्य निश्चित करता है।

ऑंगस्टाईन का दर्शन मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्टतम कृति मानता है। उसके अनुसार मनुष्य "आत्मा और शरीर का मिश्रित स्वरूप है"। अन्य ईसाई दार्शनिकों के समान वह शरीर को भी हीन रूप में नहीं मानता है। उनके दर्शन में मनुष्य को ईश्वर से प्रेम करने के लिये बनाया गया। (To live well is nothing else but to love God) (Confessions)

इसलिये सन्त ऑंगस्टाईन धर्म और दर्शन को अलग-अलग मानते हुये भी उसके समन्वय में विश्वास करते थे।

ऑंगस्टाईन पर धर्म सम्बन्धी विषय के सम्बंध में संत एमब्रोस, सन्त जॉन और गॉस्पेल तथा बाईबिल आदि के प्रभाव को स्पष्ट देखा जा सकता है।

आँगस्टाईन भी जीवन का उद्देश्य परमानन्द को प्राप्त करना स्वीकार करते हैं। लेकिन उनका परमानन्द प्राप्त करना भौतिक पदार्थों में या बौद्धिक आनन्द में नहीं था। वह तो 'परमात्मा' की प्राप्ति में ही परमानन्द की प्राप्ति मानते थे। उनका मानना था, "मनुष्य के श्रेष्ठ जीवन का हिस्सा वही है, जिसमें हम ईश्वर के नजदीक रहते हैं।" मनुष्य को सुख और शान्ति ईश्वर की प्राप्ति में है। मनुष्य तो बना ही ईश्वर को 'प्यार' करने के लिये है।

मध्य युग ईसाई धर्म के अनुसार

ईसाई धर्म मानता है, कि ईश्वर के निदेश को मानना मनुष्य का कर्त्तव्य है। ईसाई धर्म कहता है, ईश्वर के निर्देश की अवहेलना का फल मनुष्य जाति आज भी भुगत रही है। मसीह धर्म दर्शन, सन्त आँगस्टाईन से भी बहुत पूर्व ईसा के 'बलिदान' के बाद, एक श्रेष्ठ धर्म के रूप में स्थापित हो चुका था। 'सन्तपाल' जो टोरस निवासी थे, ईसाई धर्म दर्शन के प्रकाश की ज्योति को जन-जन तक ले जाने की कोशिश आरम्भ कर चुके थे। ईसाई धर्म दर्शन के तत्वमीमांसक अध्ययन का श्रेय सन्त पाल को ही विशेष रूप से जाता है।

फिर बाद में ज्ञानवाद (Grostic) और धर्ममण्डक (Apologist) तरह की दो विचार धाराएँ ईसाई धर्म के दृष्टिकोण से विकसित हुई थीं। जिसमें प्रज्ञानवाद (Grostic) के मानने वाले, 'पुरातन ईसाई धर्म दर्शन' के अनुरूप, ईसाई धर्म दर्शन के आधार पर धर्म को विकसित करने का प्रयास कर रहे थे, जिसमें सेरिन्थर्स सैण्टनिनस और बैलेण्टाईन के धर्म प्रमुख हैं। दूसरे, धर्म मण्डक (Apologist) थे, जो ईसाई धर्म दर्शन को स्वतन्त्र रूप से विकसित कर रहे थे। इसमें प्रमुख, ऐथेनेगोरस, थपोपाइलस और हिप्पोलिटस मुख्य थे। ईसाई धर्म का लक्ष्य जो मध्यकाल के आरम्भ में और उससे पूर्व जो स्थापित किया गया था, उसमें शान्ति और मानवता को मुख्य स्थान दिया गया था। उनका कथन था :–

"मनुष्य ही श्रेष्ठ ईश्वरीय कृति है"

ईसाई धर्म में, मानवता को मुख्य स्थान भी दिया गया है, ईसाई धर्म में "मनुष्य को ईश्वर की सर्वश्रेष्ठ कृति माना गया है" तथा उसे ही श्रेष्ठ मानकर उसे समस्त सृष्टि पर शासन करने का अधिकार भी दिया गया है।

ईसाई धर्म के अनुसार "ईश्वरीय निर्देश की अवहेलना पाप की जननी है।"

ईसाई धर्म कहता है, कि मनुष्य को जो शक्ति दी गई थी, वह ईश्वर की दी गई प्रतिभा और शक्ति है। इसलिये मनुष्य को यह समस्त शक्ति संसार की भलाई में लगानी चाहिये।

मध्यकाल में जब तक ईसाई धर्म 'उच्चकोटि' के दार्शनिक संरक्षण में विकसीत होता रहा तब तक उसका आधार मानवीय और विश्वशान्ति का पोषक रहा। ईसाई धर्म दर्शन का लक्ष्य है, कि **"सृष्टि जो प्रभु ने बनाई है - उस पर दया करो!" मनुष्य को ईश्वर की श्रेष्ठ कृति होने के फलस्वरूप उसकी शान्ति और सुरक्षा की रक्षा करनी चाहिये !!**

"My place I give you
My place I leave with you"

(Lord Jesus)

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर (God) ने समस्त सृष्टि का निर्माण एक सुन्दर और व्यवस्थित ढ़ग से किया था, ईश्वर ने मनुष्य को अपनी समस्त सुन्दर प्रतिभा से तथा श्रेष्ठता से श्रेष्ठतम प्राणी बनाया था, साथ ही साथ उसे अपार स्वतन्त्रता और योग्यता भी प्रदान की थी। लेकिन उस पर एक ही प्रतिबन्ध था जिसकी आदि मानव के प्रथम जोडे ने अवहेलना करके 'पाप' (Sin) को जन्म

दिया था। ईसाई धर्म ग्रन्थ कहता है कि "अपार स्वतन्त्रता, सुन्दरता और बौद्धिक शक्ति के साथ, जिस प्रथम मानव जोड़े को स्वच्छता से प्रभु ने बनाया था, उसने ईश्वर की आज्ञा की अवेहलना कर दी थी। ईश्वर की अपार स्वतन्त्रता, मानवीय समानता, और सुन्दरता और श्रेष्ठा के प्रथम प्रतिरूप मानव जोड़े को निर्देश दिया था, कि वह स्वतन्त्र तथा अपार आनन्द से रहे, लेकिन उस मानव जोडे को निर्देश था कि वह किसी विशेष पेड़ के फल को न खाये। लेकिन उसने सृष्टिकर्त्ता की आज्ञा की अवेहलना करके फल खा लिया और 'पाप' को जन्म दिया, जिसके परिणामस्वरूप केवल मनुष्य जाति ही नहीं, बल्कि सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वरीय आज्ञा की अवहेलना का फल भुगत रही हैं। ईसाई धर्म के अनुसार, यह, "अन्धकार, गरीबी, हिंसा, दुष्टता, आतंक उसका ही परिणाम हैं।"

"When God created the first couple on earth, He gave them unlimited freedom but one small restriction. They were not eat the fruit of particular tree. This requirement was actually a test of man's obedience and consequently his sumission to God."

The Christianity says "that man's authority was a delegated authority in relation to the rest of creation. He was ruler, but in relation to the God, he was the creation who had to submit to the authority of the creator God.

Genesis "Chapter III has a simple account which shows how man fell into 'sin'. Temptation came in the form of a serpent and spoke to the women that in eating the fruit man and woman would be like God. Man was also diluded and tampted to relief against God. The cost was awful creation itself."

ईश्वर के सत्य निर्देश की अवहेलना करने से और शैतान के बहकाने पर मनुष्य ने 'पाप' की डगर पर पैर रख दिया, जिससे ईश्वर से, जो मनुष्य का सीधा सम्पर्क था, वह पाप के अन्धेरों में खो गया। ईश्वरमय, विश्व कुशलता और सुधार सुख और शान्ति से वह दूर होता चला गया तथा बुराई और हिंसा तथा आतंक के अपार अन्धकार में वह डूबता चला गया। एक उर्दू के शायर ने ठीक ही कहा —

लमहों ने ख़ता की थी।
सदियों ने सज़ा पाई।।

'पाप' बढ़ता चला, हिंसा ने मानव की दूसरी पीढ़ी में ही अपना प्रभाव दिखाना प्रारम्भ कर दिया, तथा शैतान की शैतानियत द्वारा किये गये अपराध की पीड़ा मानवता को जन्म से लेकर आज तक डसती चली आ रही है। **लेकिन ईश्वर ने मनुष्य से नाता नहीं तोड़ा। वह उसे प्यार करता रहा। शान्ति, सुरक्षा, न्याय और निरपेक्षता ईश्वर के मनुष्य को सर्वोच्च उपहार हैं। यीशू को प्रभु ने, शान्ति और मानव की प्रतिभा को सुरक्षित रखने के लिये, समानता और अहिंसा को संसार में विकसित करने के लिये ही दुनिया में भेजा था। यीशू संसार में, आध्यात्मिक और लौकिक ईश्वरीय कृपा और सुख और शान्ति का सन्देश लेकर धरती पर आये थे, ऐसा ईसाई धर्म मानने वालों का विश्वास है।**

"To see Him more clearly,
To love Him more dearly,
To follow Him move nearly,
Day by Day."

ईसाई धर्म के अनुसार ईश्वर को स्वच्छ आत्मा से जानो, पवित्र हृदय से ईश्वर को प्रेम करो, और हृदय की गहराइयों से उसकी पवित्रता अपने हृदय में दिन प्रतिदिन ग्रहण करो ! यह यीशू का पवित्र सन्देश था। ईसाई धर्म कहता है, कि "सत्य की खोज और उसकी विजय मानवता का

लक्ष्य है" अर्थात् **"सत्य मेव जयते"**।

ईसाई धर्म मानता है, "सत्य मेव जयते" के लिये तथा मानव जाति के सुख के लिये यीशू ने शूली पर चढ़कर, अपने प्राणों को मानवता और अहिंसा तथा सत्य के लिये, न्योछावर कर दिया था।

यीशू स्वयं शहीद हो गये, जिससे मानवता जीवित रह सके। दूसरों के पापों के प्रायश्चित के लिये, ईश्वरीय संकल्प के साथ, **यीशू का बलिदान, हिंसा पर अहिंसा की विजय थी।** यीशू के सन्देश के अनुसार, "चर्च' आध्यत्मिक दृष्टि जाने लगे। वास्तव में 'चर्च' वह स्थान है, जहाँ संत लोग ईश्वर को जानने तथा अपने को दया स्नेह, सेवा और अहिंसा तथा मानवता का व्रत और संकल्प लेने के लिये धरती पर आते हैं। लेकिन दुख की बात यह है, कि मध्यकाल में 'चर्च' उस नैतिक तथा आध्यत्मिक दर्शन से दूर होकर सत्ता और शक्ति का केन्द्र हो गया। ऐसा इतिहास बोलता है। **ईसाई धर्म के अनुसार एक सच्चे पादरी की ईश्वर से यही प्रार्थना रहती है। कि वह मानव कल्याण के लिये कार्य करे जिससे संसार को पाप से मुक्ति मिल सके।**

मध्य काल में यूरोप, ईसाई धर्म का आदेश और प्रभु का निर्देश भूलकर अहंकार स्वार्थ, हिंसा और आतंक तथा अन्धविश्वास की डगर पर चल पड़ा, जिसका फल मानव समाज आज भी भौतिकता की प्यास में खोया हुआ, हिंसा आंतक और चिन्ता का शिकार हो रहा है।

मध्य काल में धर्म, दर्शन का अहंकार मानव समाज को जाति, धर्म, ऊँच-नीच तथा धनी और निर्धन वर्गों में विभाजित करता था। आज तो ऐसा लगता है मानव हृदयों में शैतान का विस्तार तेज़ी से हो रहा है। ईश्वर के निर्देश की अवहेलना पग-पग पर हो रही है। धर्म का प्रकाश भौतिकता के संसार में धूंधला पड़ गया है।

'भारत भूमि, सनातन, विविध धर्मों की भूमि है

भारत भूमि सनातन विविध धर्मों की जननी है। भारत एक अपार प्राकृतिक सम्पदा से पूर्ण ऊँचे-ऊँचे हिमालय जैसे पर्वतों की विराटता की परिधि में समाया देश है। भारत देश, अपना एक गम्भीर और दार्शनिक अतीत लिये हुये है। साथ ही साथ ज्ञान, धर्म और मानवता में समष्टि के महान् आदर्शों को अपने में प्रतिष्ठ किये है। भारत एक वृद्ध सन्यासी की तरह धर्य से बैठा है, वह बड़े धर्य से अपने इतिहास का मनन कर रहा है। भारत की सुन्दर, कल-कल करती नदियाँ, हिमगिरी की स्वच्छ निर्मल धाराओं के रूप में बहती रहती है। उसके छलकते झरने निरन्तर आगें बढ़ते रहने को, मानवता को प्रेरित करते रहते है। भारत के दूर तक फैले विशाल रेगिस्तान जीवन की कठोर शून्यता का आभास कराने के केन्द्र बिन्दु से नज़र आते हैं तथा गंगा, यमुना जैसी अनेकों नदियों की पवित्रता मनुष्य समाज के जीवन में खुशहाली का लक्ष्य घोषित करती हुई सदा बहती रहती हैं।

भारत एक विराट तपस्वी की तरह से इतिहास को अपनी सांसों के साथ आगे बढ़ते हुये देखता चला आया है। उसका धर्म-दर्शन, आध्यात्मिक, साहित्य, सांस्कृतिक धरोहर और राष्ट्रीय अस्मिता का आदर्श आकाश को स्पर्श करता रहा और अनेकों बार अध-पतन की चरम अवस्था में भी समा गया, लेकिन उसे भारत के दार्शनिकों और ऋषियों ने पुनः स्थापित किया, ऐसा इतिहास बोलता है।

जैसा कि उल्लेख किया गया कि, भारत भूमि विविध धर्मों की दर्शन जननी कही जाती है। भारत के 'ज्ञान जिज्ञासु' मन की साधना ने जगत की रचना का सर्वप्रथम चिन्तन यहीं किया था। ऐसा कुछ ग्रीक दर्शन के वर्णन के संर्दभों के पृष्ठों पर कहाँ भी जा चुका है।

स्वयं मनु ने भी भारत की पवित्रता को नमस्कार करके भारत भूमि पर विभिन्न धर्मों का वर्णन किया था।

स्वयंमुवे नमस्कृतय ब्रह्मणेऽमिततेजसे।
मनु-प्रणीता-न्विविधान्धमन्विक्ष्यामि शाश्वतान्।।१।।

भारतीय दर्शन में 'वेद' सम्पूर्ण ज्ञान, जगत रचना तथा विद्या के भण्डार कहे गये हैं। वेदों से अन्य ज्ञान गंगाएँ भी निकली हैं।

यः कश्चित्कस्यचिद्धर्मो मनुना परिकीर्तित।
सर्वोऽमिहितो वेदे, सब ज्ञान मयों हिसः।।२।।

भारतीय प्राचीन दार्शनिकों एवं ऋषियों के जगत और ईश्वर सम्बंधी चिन्तन में तथा पाश्चात्य ग्रीक चिन्तन में बहुत कुछ समानता है। लेकिन भारतीय दर्शन मूक होकर मनु या अन्य

किसी के चिन्तन को पूर्णतया स्वीकार नहीं करता। मनु की सृष्टि उत्पत्ति सम्बंधी वर्णन पर कई टीकाकारों ने मनु के वर्णन पर प्रश्न किये थे, कि मनु ने धर्म और जगत की उत्पत्ति सम्बंधी दर्शन को एक जगह क्यों वर्णन किया है ? मनु से ऋषियों ने जब धर्म की परिभाषा मालूम की थी, तो मनु ने सृष्टि की रचना का वर्णन क्यों आरम्भ किया ? मनु दर्शन पर टीकाकारों में मेधातिथि, सर्वज्ञनारायण, कुल्लूक, राघवन और नन्दन प्रमुख हैं।

उनका कहना है, कि सृष्टि का वर्णन करना साग्डोपाग्ड धर्म का वर्णन बन जाता है। इसका अर्थ साफ है कि सभी धर्मों में ब्रह्म-ज्ञान की अधिकता होने से परमात्मा से जगत की उत्पत्ति माना जाना साबित होता है। भारतीय प्राचीन धर्म-दर्शन ईश्वर को जहाँ सृष्टि का रचियता स्वीकार करते हैं, वहीं, ईश्वर को सर्वशक्तिमान तथा सर्वव्यापक मानते हैं। इसलिये ईश्वर भारतीय वैदिक दर्शन में सर्वमान्य अपार शक्ति है, जो विश्व को निरपेक्ष होकर संचालित करती है।

हिन्दु धर्म दर्शन-वेद का अर्थ, ज्ञान (Sacred Knowledge) ही है

हिन्दु धर्म को वैदिक धर्म तथा सनातन धर्म के नाम से भी पुकारा जाता है। सभी ने ईश्वर की महानता और व्यापकता को पूर्णतया स्वीकार किया है। **वैदिक धर्म ईश्वर को 'ओ३म्' के नाम से भी उचारण करता है। जिसमें "अ - का अर्थ है, विराट, अग्नि, विश्व आदि। उ - का अर्थ है, हिरण्यगर्य, वायु, तजस आदि। म् - का अर्थ ईश्वर, अदित्य प्राज्ञ आदि।"** इसलिये, ईश्वर बहुत प्रकार से जगत को प्रकाशित करने वाला ज्ञान स्वरुप सर्वज्ञ है, जो आकाश पृथ्वी, जल, अग्नि, और वायु में प्रविष्ट हुआ है, तथा जो सूर्य जहाँ तेज वाले पदार्थों की उत्पत्ति का निवास स्थान है। ईश्वर सब चराचर जगत का धारण करता है तथा जीवन देता है और 'प्रलय' करता है। ईश्वर ही स्वयं प्रकाश स्वरूप है तथा तेजस्वी सभी लोकों में प्रकाश करने वाला है। ईश्वर सामनृर्यवान ! आदित्य तथा प्राज्ञ है, जो जगत के व्यवहार को पूर्णतया जानता है।

ईश्वर के गुण और कर्म

वैदिक धर्म की मान्यता है, कि ईश्वर निराकार है, वह सर्वव्यापक है, वह सूक्ष्म में भी है और सर्वव्यापक भी है। कोई भी अणु उसकी उपस्थिति के बिना नहीं रह सकता है। ईश्वर अन्तर्यामी है। ईश्वर अजन्मा है तथा अन्नत तथा अनादि है। ईश्वर आन्नद स्वरूप भी है तथा परमान्नद भी है। ईश्वर निर्विकार है। ईश्वर काम, क्रोध, लोभ, राग, द्वेष आदि विकारों से मुक्त है। हिन्दु-धर्म के अनुसार ईश्वर अनुपम है, उसके समान कोई दूसरा नहीं है। ईश्वर महा कृपालु है।

ईश्वर की प्रार्थना करते समय भक्तजन कामना करते हैं –

अरक्तों मा सद्गयम।
तमसो मा ज्योतिर्मिमय।
मृत्योमां अमृत गमय ।।

हे, ईश्वर आप हमें असत् मार्ग से हटाकर सत्य मार्ग पर ले चलो। अज्ञान रूपी अन्धकार को दूर कर ज्ञान रूपी सूर्य को प्रतिष्ठ कीजिये, तथा मृत्यु दोष से बचाकर हमें मोक्ष के अमृत का आनन्द दीजिये।

हिन्दु धर्म में, ईश्वर ही समस्त सृष्टि का रचियता है। इसलिये, न्यायकारी है, दयालु, अभय, निर्विकार तथा पवित्र है। वह ज्ञानवान है, अभय तथा सर्वशक्तिवान है। वह प्रकाश स्वरूप है। इसलिये मनुष्य को भी ईश्वर का भक्त होने के नाते न्यायकारी दयालु ज्ञानवान होना चाहिए।

आत्मा

भारतीय प्राचीन 'हिन्दु' ग्रन्थों में आत्मा (Soul) के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है। ग्रीक दार्शनिक प्लेटो के दर्शन में भी आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार किया गया है उसी वर्णन में गत पृष्ठों पर, 'आत्मा' की परिभाषा का वर्णन भी किया गया।

हिन्दु धर्म दर्शन शास्त्र कहते हैं, विशेष रूप से न्याय दर्शन कहता है, कि "आत्मा को जानने के लिये छः गुणों का वर्णन होना आवश्यक है - ज्ञान, प्रयत्न, इच्छा, द्वेष, सुख, दुख" इन्हीं गुणों से आत्मा का 'ज्ञान' प्राप्त किया जाता है। यह गुण आत्मा का आभास कराते हैं। कहा गया है कि आत्मा स्वयं में पवित्र है, यह हृदय में एक सूक्ष्म अणु के रूप में रहती है, लेकिन इसका नियन्त्रण सम्पूर्ण शरीर पर रहता है, यह ही चेतना और जीवन का स्वरूप बनाये रखती है। इसी के अस्तित्व से जीवन चलता है। "आत्मा विहिन " शरीर केवल माटी समान है। आत्मा ही 'प्राणों' की चेतना है। आत्मा को ही जीवन का स्रोत माना गया है, जो स्वयं पवित्र है और उसकी पवित्रता में ईश्वर का निवास है। उपनिषदों में वर्णन किया गया है कि आत्मा अति सूक्ष्म अणु है, उसका आकार बाल के अणु भाग के हज़ार वें भाग के बराबर माना गया है और उसके भी अति सूक्ष्म अणु समान आत्मा का आकार है। लेकिन धर्म ग्रन्थ बताते हैं, कि शरीर के अभाव में 'आत्मा' का भी कोई अस्तित्व नहीं होता है। जीवन और मृत्यु का यह क्रम है। पुराने शरीर को छोड़ आत्मा, नये शरीर में प्रवेश पा जाती है। आत्मा को शरीर रूपी दूसरा 'घर' तैयार मिलता है। ऐसा सृष्टि का जीवन 'चक्र' बना रहता है।

**"ननयते ग्रियते या विपश्चिन्नयं।
कुतश्चिन्न भमूण कश्चित्।
अणो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणों,
न हन्यते हन्यमाने शरीर।
(कठोपनिषद)**

आत्मा न उत्पन्न होती है, न मरती है, न यह किसी कारण से उत्पन्न हुई है, न उत्पन्न हुई थी। यह अजन्मों से है, नित्य है, निरन्तर है।

इस तरह 'गीता' में कहा गया है –

**"नैनं छिन्दान्ति नैनं दृति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्तयापो न शोषयति मारुतः।।"**

"आत्मा को शस्त्र काट नहीं सकते, आग जला नहीं सकती, जल इसे गला नहीं सकता और वायु भी इस पर कोई प्रभाव नहीं डाल सकती अर्थात् आत्मा 'नष्ट' नहीं हो सकती है।"

श्वेताश्वरो उपनिषद् में कहा गया है –

**"नैव रजी न पुरूनेष न चैवायं नपुंसकः।
यद्यच्छरीरमादत्ते तेन तेन स युज्यते।।**

"आत्मा न स्त्री है, यह पुरुष भी नहीं है, न यह नपुंसक है, जैसा-जैसा शरीर धारण करती है, वैसे-वैसे ही इसका जीव अस्तित्व बन जाता हैं।"

हिन्दु धर्म में 'मन' को 'आत्मा' से अलग माना गया है। मन तो आत्मा का साधन मात्र है। 'मन' ऐसा स्वचालित यंत्र समान है जिसके द्वारा 'आत्मा' की इच्छित क्रियाएँ सम्बद्ध होती हैं।

कभी-कभी हम देखते हैं, 'मन' कहीं और होने पर हमारी ज्ञानेन्द्रियाँ उसे अनदेखा कर देती हैं, सुनने पर हम अनसुने रह जाते हैं।

मन की चेतना होने पर ही 'ज्ञान' का सम्बंध आत्मा से होता है। इसलिये 'ज्ञान' आत्मा का गुण है। मन का नहीं है।

यजुर्वेद में वर्णन किया गया है –

"यस्मान् कृते किज्वन कर्म क्रियते।"

अर्थात मन ऐसी शक्ति है, जिसके अभाव में कोई काम नहीं होता है।

'मन' का निवास स्थान 'आत्मा' के निकट ही होता है। 'वेदों' में इसे 'हत्प्रतिष्ठम' कहा गया है अर्थात् यह ह्रदय के पास ही निवास करता है।

आत्मा से मन जुड़ा रहता है। मन का सम्बन्ध आत्मा से जन्म जन्मान्तर से है।

"मन की मृत्यु होने पर वह आत्मा के साथ ही जाता है। 'मन' अमृत पीये हुये है, इसलिये अमर है। हिन्दु धर्म के अनुसार मन जड़ पदार्थ है। यह संस्कारों का कोष कहा गया है।"

सभी संस्कार मन पर पड़ते हैं, लेकिन वह दिखाई नहीं पड़ते हैं जो ऊपर दिखाई देते हैं। अन्दर से ढके संस्कार हमें दिखाई नहीं देते हैं।

हिन्दु धर्म और पुनः जन्म

हिन्दु धर्म की मान्यता है कि 'आत्मा' अजर और अमर है, वह शरीर के नाश होने पर अपने कर्मों के अनुसार दूसरे नवीन शरीर में प्रवेश कर जाती है।

आत्मा का चरित्र है कि वह कर्म करने में स्वतन्त्र है, मनुष्य के शरीर में होते हुये उसे कर्म करने की स्वतन्त्रता है, लेकिन आत्मा को उसके पिछले जन्म के कर्मों का फल भोगना पड़ता है। वह नये शरीर धारण करने पर नये कर्म भी करता है, इसलिये मनुष्य शरीर को भोग योनि और कर्म योनि कहा जाता है। (यह वर्णन 'प्लेटो' के दर्शन की व्याख्या करते समय भी वर्णन किया गया है।)

अन्य जीव योनियाँ भोग योनिया हैं, क्योंकि उनमें जीव स्वतन्त्र होकर या विचार करके कर्म नहीं करता है। वह पराधीन होकर कार्य करता है अथवा स्वभाव से काम करता है। मनुष्य की अवस्था अन्य योनियों की अवस्था से भिन्न है। मनुष्य से 'अन्य' योनियों की अवस्था 'तलवार' जैसी है जैसी मनुष्य तलवार से अच्छा और बुरा काम लिया जाता है। तो उसका 'फल' भी अच्छा या बुरा मनुष्य को मिलता है, तलवार को नहीं मिलता है।

अतः यदि 'आत्मा' अच्छे कार्य करती है, तो उसे 'देव' योनि मिलती है और यदि बुरे कार्य करती है, तो पशु-पक्षियाँ, ऊँट अन्य जीवों की योनि मिलती है।

मनु के अनुसार आत्मा रूपी जल में जैसा रंग डाला जाता है, जल उसी रंग का स्वरूप धारण कर लेता है।

गीता में कहा गया है –

वासांर्ष जीर्णानि, यथा विहाय।
नवानि गृहाति नरोऽपाराण।।
तथा शरीरणि विहाय जिर्णनि।
अन्यानि संयति नवनि देही।।

जिस प्रकार मनुष्य फटे, पुराने कपड़ों को उतार कर नये वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा जीर्ण (कमज़ोर) शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण कर लेती है।

नये, शरीर और पुराने शरीर में अन्तर होता है। मनुष्य का स्वभाविक ज्ञान सदा आत्मा के साथ बना रहता है लेकिन नैमितिक ज्ञान घटता और बढ़ता रहता है। आत्मा के अस्तित्व का 'ज्ञान' स्वभाविक ज्ञान है। लेकिन किसी नाशवान शरीर का प्राप्त ज्ञान नैमितिक ज्ञान है। नैमितिक ज्ञान वेदों के अनुसार तीन कारणों से उत्पन्न होता है। प्रथम देश, दूसरा काल और तिसरा वस्तु। पूर्व जन्म का ज्ञान पूर्व शरीर के वियोग होने से उसी के साथ छूट जाता है, क्योंकि वह उसी शरीर की ज्ञानेन्द्रियों द्वारा प्राप्त हुआ ज्ञान है। वह नैमितिक ज्ञान दूसरे शरीर के साथ नहीं रहता, लेकिन स्वभाविक ज्ञान उसके साथ सदा रहता है। इसी के साथ भूलना (Law of Forgetting) आत्मा का प्राकृतिक गुण है। वह भी जन्म-जन्मों तक चलता रहता है। ('पूर्व जन्म के ज्ञान' का वर्ण ग्रीक दर्शन शास्त्रियों ने भी किया है, ऐसा पिछले पृष्ठों पर लिखा जा चूका है।)

हिन्दु धर्म में, शुद्धता, पवित्रता और मानवीयता को धारण करने का नाम ही धर्म है। जीवन में ऐसे भौतिक सिद्धान्त जो अध्यात्मिक, सामाजिक और उन्नति तथा मानव समाज और सृष्टि के शुद्ध विकास और शान्ति और अस्तित्व के आधार होते हैं, धर्म कहलाते हैं।

मनु स्मृति में कहा गया है –

"धृति क्षमा दमोऽस्तेयंम शौचम् इन्द्रियानिग्रटः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म लक्षणम्।।"

मनु ने धर्म के दस लक्षण बताये हैं –

१. सुख, दुख, हानि, लाभ, मान, अपमान में धैर्य रखना।

२. **क्षमा व सहनशीलता :** शक्तिशाली होने पर भी 'बदला' न लेना क्षमा कर देना 'सहन शीलता' कहलाता है। सहन-शीलता ही क्षमा करने को प्रेरित करती है।

३. **दम :** मनुष्य जब बुरे चिन्तन से हटकर अन्दर के अहंकार को त्याग कर, शुद्धता तथा दूसरों की भलाई का चिन्तन करता है, मन को भलाई में लगाता है, तो वह शुद्ध धर्म को 'धारण' करता है।

४. **अस्तेय :** अन्याय, शोषण, पाप से धन न कमाना 'अस्तेय' कहलाता है।

५. **शौच :** शरीर के अन्दर की गन्दगी को बाहर निकालना तथा मानसिक अपवित्रता (गन्दगी) को त्यागना 'शौच' क्रिया कहलाती है।

६. **इन्द्रिय निग्रह :** हाथ, पैर, मुख तथा समस्त इन्द्रियों से समाज उपयोगी अच्छे कार्य करना तथा उनका सही उपभोग करना इन्द्रिय निग्रह कहलाता है।

७. **धी :** बुद्धि को विकसित करना, उसका विकास करना अर्थात् मानसिक बल, और तेज बढ़ाना 'धी' कहलाती है।

८. **विद्या :** सूक्ष्म अणु से लेकर ईश्वर तक सभी तत्वों पदार्थों तथा सृष्टि का ज्ञान, प्राप्त करना 'विद्या' कहलाती है।

६. **अबोध :** धर्म में क्रोध का कोई स्थान नहीं है। क्रोध से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है। क्रोध का त्याग करना धर्म कहलाता है।

१०. **सत्य :** ज्ञान से प्राप्त होता है, ज्ञान की पवित्रता के आधार पर निरिक्षण करके सत्य को स्वीकार करना चाहिये।

मनु स्मृति में कहा गया है –

'आचार' परमो धर्मः शुभ गुणों के आचरण का नाम ही धर्म है।
वेद कहते हैं–'मनुभर्व' "ऐ मनुष्य तू वास्तव में मनुष्य बने।
मानवता को ग्रहण करना, शुद्ध अहिंसक गुणों को अपनाना ही धर्म है।"

हिन्दु धर्म दर्शन, वैदिक धर्म "संस्कृति" के मूल से उपजा "धर्म दर्शन" है, जो वेदों, में कहा गया है, वही मुख्य धर्म है, जिसे हिन्दु धर्म ने स्वीकार किया है। उसी के साथ अनेकों प्राचीन और नवीन धाराएँ आकर हिन्दु-धर्म ज्ञान गंगा में मिलती चली गयीं।

मनु स्मृति में कहा गया है –

विद्रभ्र्द सेवित साम्दि नित्यमद्वेषरगिमिः।
ह्वदयेनाभ्यनुज्ञातों यो धर्मस्त निबोधत।।१।।
मामात्मता न प्रशस्त न वैवेहास्त्यकामता।।२।।

अर्थात् "वेद के ज्ञाता एवं राग रहित महात्माओं ने, जिस धर्म को शुद्धता तथा मन से जाना और समझा है, तथा उसे सुना है, वही पवित्र धर्म है। वेद कहते हैं! **मन में न तो कामात्मा का होना अच्छा है, और न ही केवल निष्काम होना ही अच्छा है। क्योंकि वेदों से ज्ञान प्राप्ति करना तथा वेदोनुसार कामना करना ही श्रेष्ठ है।"**

हिन्दु धर्म और दर्शन

हिन्दु धर्म की मान्यता है कि धर्म समस्त जगत को आश्रय देता है। इसलिये कि धर्म सुख के रहने और दुख और कठिनाइयों से मुक्ति पाने का श्रेष्ठ मार्ग बनाता है। 'धर्मेण' सुखमासीत का बोध कराती है। जैसा की बताया भी गया है धर्म शब्द 'धृय' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'धारण' करना ! हिन्दु धर्म कहता है किसी भी वस्तु का मूल चरित्र उस वस्तु को धारण करना है। जैसे अग्नि का मूल तत्व आग पैदा करना है। जलाने की शक्ति ही अग्नि की परिभाषा बनाती है। इसी तरह मानव जीवन में 'मानव' के गुणों और उसकी क्षमताओं तथा उसका विवेकपूर्ण आचरण की संहिता ही उसका धर्म बताती है।

इतिहास बोलता है कि भारत भूमि पर सृष्टि के आरम्भ से मुनियों ने सनातन और काल धर्म की स्थापना की थी। उन्होंने ही जगत की रचना की दार्शनिक व्याख्या की थी। उन्होंने सामाजिक जीवन को आचार संहिता में अनुबन्धित किया था। हिन्दु धर्म परम्पराओं और विचारों के परिवर्तन के साथ-साथ बनता और बिगड़ता रहा है।

ब्राहाण परम्परोओं में, 'धर्म' का अर्थ धार्मिक कर्त्तव्यों के पालन में बिताने में ही किया गया है। उपनिषदों में धर्म का अर्थ कर्त्तव्य के पालन में किया गया है। रामायण काल में, धर्म का अर्थ अन्याय को मिटाने और कर्त्तव्यों को समझकर पालन करने में ही समझाया गया है। महाभारत काल में धर्म 'अर्थ, अनेकों अर्थों में समझाया गया है। उसमें 'कर्म' करने को प्रेरित किया गया।

महाभारत काल में न्याय युक्त कार्य करना कर्त्तव्यों का पालन करना तथा दूसरों को सुख देना और किसी की हानि न करना ही धर्म की परिभाषा में आते हैं।

मनुस्मृति के टीकाकार घेघातिति ने धर्म के पाँच लक्षण बताये हैं 'वर्ण-धर्म', आश्रम धर्म, वर्णाश्रम-धर्म, नैमितिक-धर्म तथा गुण-धर्म हैं।

महर्षि दयानन्द ने कहा था **"जो पक्षपात रहित न्याय करे, सत्य की खोज करता था विवेक के आधार पर सत्य को ग्रहण कर, असत्य का त्याग करे और शुद्धता से आचरण करे और मानव समानता के लिये काम करे वही धर्म है।"**

दर्शन (Philsophy) शब्द भारतीय दर्शन शास्त्र की परिभाषा के अनुसार 'दृशू' धातु से बना है, इस कारण इसका अर्थ है, जिसके माध्यम से देखा जाये। **'दृश्यते अनेनेति दर्शनम' जिसके माध्यम से ज्ञान प्राप्त किया जाये वह दर्शन है।** ज्ञानेन्द्रियाँ केवल किसी वस्तु का बोध कराती है, लेकिन सत्यता पर पहुँचने के लिये विवेक, बुद्धि (बौद्धिक) शक्ति ही अन्तिम यर्थात को जानने में सहयोग करती है। उसके लिये सत्य को जानने के लिये 'अर्न्तदृष्टि' और तर्क का सहारा लेना पड़ता है।

एक मनुष्य सत्य की खोज में, जब भावात्मक पक्ष रहस्यवादी बनकर, विवेक की सभी सीमाएँ बन्द करके अपार श्रद्धा से समरगुण को समर्पित कर देता है, तो वह धर्म, बन जाता है। वह ही सत्य की खोज, तार्किक बुद्धि के क्षेत्र में दर्शन कहलाता है। (यहां पर धर्म में 'विवेक' का प्रयोग

तो किया गया है, लेकिन उसे 'श्रद्धा' के आधीन कर दिया गया है) धर्म के प्रति समर्पित होने की धारणा आवश्यक है।

1. **हिन्दु धर्म :** ईश्वरीय सत्ता में विश्वास करता है। ईश्वर के अन्दर विश्वास करना, उसकी आराधना करना, पूजा करना, हिन्दु धर्म की विशेषता है।

2. **कर्म सिद्धान्त :** कर्म सिद्धान्त के अनुसार आत्मा अमर है, तथा मनुष्य का वर्तमान जीवन अनेकों जन्मों की श्रृंखला का परिणाम है। हिन्दु धर्म 'आत्मा' को अमर मानता है।

'त्रिदेव' तथा अवतारवाद – हिन्दु धर्म 'देवी' देवताओं के अस्तित्व में विश्वास करता है। उसमें तीन देव प्रमुख हैं। 'ब्रह्मा' (सृष्टी का रचनाकार है।) 'विष्णु' (सृष्टी की रक्षा करता है।) 'शिव' (सृष्टी का संहारक कर्त्ता है।) हिन्दु धर्म की मान्यता है 'विष्णु' ने संसार की भलाई के लिये कई अवतार लिये हैं। 'राम' और 'कृष्ण' को हिन्दु धर्म विष्णु के अवतार के रूप में स्वीकार करता है।

वेद : हिन्दु धर्म, वेदों को 'पवित्र' धर्म ग्रन्थ मानता है। उसके साथ 'गीता' और 'रामायण' पर भी विशेष श्रद्धा तथा विश्वास रखता है तथा साथ ही साथ अनेकों धर्म ग्रन्थ हिन्दु-धर्म की व्याख्या करते हैं, उसमें उपनिषद, मनुस्मृति आदि प्रमुख हैं। वेद (Vedas) का अर्थ 'पवित्र ज्ञान' है, जो सृष्ठी की समस्त आध्यात्मिक, प्राकृतिक, सांसारिक तथा वैज्ञानिक सत्यता का परिचय कराता है। ऋग्वेद (Regveda) यजुर्वेद (Yajurveda), सामवेद (Samaveda), अथर्वेद (Atharvaveda) ज्ञान के भण्डार है, जो 15,000 से लेकर 20,000 हज़ार वर्ष पूर्व से ज्ञान वर्षा कर रहे हैं।

हिन्दु धर्म : 'जो' नारी और वृद्ध जनों का सम्मान करता है, 'नारी' को हिन्दु धर्म शक्ति का रूप मानता है।

समाज शास्त्रियों ने हिन्दु धर्म को अनेकों मत, मान्यताओं का एक सनातन धर्म समुदाय घोषित किया है, जो अपने धर्म-दर्शन महासागर में एक विशाल अतीत को समाये हैं।

के० एम० सेन० (K.M. Sen) 'हिन्दु धर्म' (Hinduism) के विषय में कहते हैं, "हिन्दु समाज अनेकों संस्कृतियों और सभ्यताओं की विविधता को अपने में समेटे हुये है।"

हिन्दु समाज एक संस्कार पद्धति का नाम है, जो अपने अस्तित्व में विभिन्न सम्प्रदायों को समाये है। जिसमें शैकवाद, वैष्णववाद और आदिवासी धर्मों को विरासत के रूप में एक युग से दूसरे युग को समर्पित कर देता है। हिन्दु-धर्म का एक निश्चित विधि-विधान है, जो आर्थिक और सामाजिक व्यवस्था को अपनाये है। हिन्दु धर्म में सबसे प्रमुख वैष्णव धर्म है, जिसमें शंकराचार्य, रामानुज, मध्वाचार्य, बल्लभाचार्य, चैतन्य, निम्बार्क, कबीर, राधास्वामी तथा अन्य अनकों आचार्यों द्वारा चलाये गये मत और विभिन्न सम्प्रदाय हैं। दूसरा शैव धर्म है, जिसमें अतीत की प्राचीन परम्पराओं के अनुसार 'शिव या रूद्र' को 'परमब्रह्म' मानकर उसकी भक्ति में जीवन को व्यतीत करने वाले अनेकों मत और सम्प्रदाय हैं। इसके अन्दर 63 शव सन्तों के विचार का अपार ज्ञान महासागर फैला हुआ है।

तीसरा प्रमुख धार्मिक हिन्दु 'धर्म सम्प्रदाय' शक्ति पूजा का है, जिसमें दो प्रमुख मत हैं जिसमें एक माध्यमिका, योगाचार माना जाता है। इसी के साथ-साथ एक 'तन्त्र मार्ग' के माध्यम से उपासना तथा पूजा करता है।

आधुनिक युग में, धर्म समाज, सुधार आन्दोलन के साथ अनुबन्धित होकर कार्य करने लगा, जिसमें 'आर्य समाज', 'ब्रह्म समाज', 'राम कृष्ण मिशन', थियोसोफिकल सोसाईटी, साईं बाबा, आचार्य रजनीश की धर्म व्याख्या, अरविन्द धर्म दर्शन मार्ग स्वामी विवेकानन्द मार्ग, अन्तर्राष्ट्रीय श्री कृष्ण चेतना समाज तथा "हरे कृष्ण" आन्दोलन हिन्दु धर्म का प्रचार कर रहे हैं। इसी के साथ अनेकों नवीन धर्म ग्रन्थ भी लिखे गये हैं।

हिन्दु धर्म और 'सहयोग' दर्शन

हिन्दु धर्म में धार्मिक परम्पराओं और विभिन्न धार्मिक पद्धतियों पर स्वतन्त्रता से चलने कि पूर्णतया छूट है। यदि एक पिता 'शिव' की आराधना करता है, तो पुत्र 'श्री कृष्ण' या 'दुर्गे' की उपासना कर सकता है तथा सभी देवताओं को मानते हुये 'एक ईश्वरवाद' में विश्वास कर सकता है तथा साथ ही साथ सहयोग से एक ही 'घर' में एक ही परिवार की तरह रह सकता है। यह सहयोग और 'सर्व धर्म' सद्‌भाव का अनोखा उदाहरण है। जो हिन्दु समाज में मिलता है।"

श्री कृष्ण ने भगवत गीता में साफ कहा है **"मैं अपने सभी भक्तों को समानता के आधार पर प्यार करता हूँ चाहे वह किसी भी धर्म रूप में समाये हो ! यही धर्म की धर्म-निरपेक्षता का सार है।**

"I accept all my devotees with equal affection. While I happen to be in 'Brahma form'. They may choose mode of devotion, but ultimately the read the path told by me."

भगवान श्री कृष्ण ने जो भगवत गीता में रास्ता बताया वह 'शान्ति' और 'मोक्ष' का रास्ता था। जो सद्‌भावना और स्नेह की ओर जाता है।

ऋग्वेद में कहा गया है : "मानव समाज में सभी समान है, कोई छोटा बड़ा नहीं है। सभी मनुष्य समाज में भाई-भाई हैं। हम सब को मिलकर तरक्की के लिये काम करना चाहिये।"

ऋग्वेद : मनुष्य समाज को चेतावनी देता हुआ, सचेत करता है कि शान्ति के लिये सहयोग और मिलकर चलो !

सं गच्छवं सवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्।
देवा मागे यथा पूर्वे संजानाना उपसने।
(ऋग्वेद)

"ऐश्वर्य और सुख की इच्छा करने वालो मनुष्यों ! तुम आपस में सहयोग से चलो, मिलकर रहो ! प्रेम से बात-चीत करो ! सहयोग से ज्ञान को आगे बढ़ाओ। जैसे पूर्व काल में विद्वान लोग मिलकर सहयोग से अनेकों प्रकार का ज्ञान प्राप्त करते थे। वैसे उन्नति, सुख ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये तुम भी ऐसा ही करो !"

इसी के साथ-साथ हिन्दू समाज समतावाद को आगे बढ़ाते हुये, ऋग्वेद में कहता है तथा वेदों में उपदेश देता है।

"समानो मन्त्र समितिः समानी।
समान मनः यह चिन्तमेषाम्।
समाने मन्त्रममिमन्त्रयः व।
समने न वो हविषा जहोमी।
(ऋग्वेद)

अर्थात्-हमारे विचार समान हों, हमारे लक्ष्य समान हों, हमारे संकल्प समान हों, हमारी आकांक्षाएँ समान हों तथा मानव प्राणी एकता के साथ आगे बढ़े। ऋग्वेद में (प्रकाश) ऊषा समस्त अंधकार को दूर करने और प्रकाश को फैलाने में प्रभु सहयोग करें।

Arise ! the breath, the life, again has reached us; darkness has gone away the light is coming.

मध्य काल में यूरोप, ऐशिया तथा भारत भी धर्म का आदर्श और प्रभु का निर्देश भूलकर अहंकार स्वार्थ, हिंसा और आतंक तथा अन्ध-विश्वास की डगर पर चल पड़ा, जिसका फल मानव समाज आज भी भौतिकता में खोया हुआ, हिंसा आंतक और चिन्ता का शिकार हो रहा है।

मध्य काल में धर्म, दर्शन का अहंकार मानव समाज को जाति धर्म, ऊँच, नीच तथा धनी और शीर्षता के वर्गों में विभाजित करता रहा है। ऐसा लगता है मानव हृदयों में शैतान का विस्तार तेज़ी से हो रहा है। ईश्वर के निर्देश की अवहेलना पग-पग पर हो रही है। धर्म का प्रकाश भौतिकता की संसार बस्ती में धूंधला पड़ गया है।

धर्म स्वयं में निरपेक्ष है

सभी धर्म यह मानते हैं कि ईश्वर जगत का रचियता होने के साथ-साथ वह जगत का स्वामी है। हिन्दु धर्म दर्शन के अनुसार, ईश्वर विभाजित नहीं है। वह अपार शक्ति का मालिक है तथा सब का दाता है। ईश्वर ने सभी को समानता की परिधि में स्वीकार किया है। उसकी दृष्टि में सभी समान हैं। कोई छोटा-बड़ा नहीं है। जब ईश्वर पक्षपात नहीं करता, वह निरपेक्ष है, जो ईश्वर में विश्वास करता है तब उसका कर्त्तव्य है कि वह निरपेक्ष ईश्वर सत्ता को स्वीकार करे। इसी के अनुसार ईश्वर की निरपेक्षता और निष्पक्षता के अनुसार, न्याय करना, सभी धर्मों का मुख्य कर्त्तव्य है। महात्मा गाँधी ने ईश्वर सत्ता के विषय में कहा **"ईश्वर वह जीवित शक्ति है जिसमें विश्व की समस्त शक्तियाँ समा जाती हैं। वह किसी का सहारा भी नहीं लेती और अन्य समस्त शक्तियों की समाप्ति पर भी वह बनी रहती हैं। ईश्वर प्रेम का दूसरा नाम है।"**

(हरिजन सेवक, 28 जुलाई 1942)

'ईश्वर भी धर्म' को धारण किये हुये है। उसका धर्म जगत के लिये सर्वहितकारी और सर्वकालिक है। ईश्वर की निरपेक्षता मानव के साथ धरा पर आई है। वह मानव जीवन का आधार है। ईश्वर सर्वहितकारी है, इसलिये निष्पक्ष समानता का पक्षधर है। वैदिक धर्म कहता है "कि वह सर्वहितकारी है।" धर्म सभी का अधिक से अधिक हितकारी होना चाहिये।

धर्म निरपेक्षता सामाजिक गुण है – ईश्वर ने मनुष्य जाति के अस्तित्व को सुरक्षित रखने के लिये सहयोग की प्रवृत्ति को उसे धारण कराया है। सहयोग के अभाव में मानव जाति का कल्याण तथा उन्नति और विकास नहीं हो सकता है। इसलिये विभिन्नता में भी सहयोग आवश्यक ही है, उसी से समाज चलता है।

धर्म निरपेक्षता सनातन है – प्रभु ने संसार को विविधता से सुसज्जित किया है। विभिन्नता में जीने का 'सलिका' ईश्वर ने सहयोग के बल पर बनाया है। 'धर्म' की विभिन्नता रास्तों की भिन्नता है, लेकिन सब की मंजिल केवल 'ईश्वर' को पाना ही है, साथ ही साथ ईश्वर की बनाई दुनिया को सुरक्षित रखना है। लेकिन वह सब धर्म ईश्वर के अस्तित्व में जाकर समा जाते हैं। इसलिये उन्हें जनहित में धर्म-निरपेक्षता को स्वीकार करना आवश्यक है।

मनु स्मृति बोध कराती है –

अहिंवैय सूताना कार्य श्रेयऽनुशासनम्।
वाक्यैव मधुरा शश्लक्षणा प्रयोज्या धर्मनिच्छता।।
यस्य वाग्डमनसी शुद्रे सम्यगुप्ते च सविधा।
स वै सर्वमवाप्नोति वेदान्तोपगतं फलम्।।६०।।

समस्त प्राणियों को कल्याणकारी अर्थ की शिक्षा किसी को दुख न देकर ही करें, वाणी मधुर ही हो, धर्म की 'इच्छा' करने वाला कठोर भाषण न करे। मिथ्या भाषण से सदा बचे, उसी व्यक्ति को वेदान्त यानि धर्म का फल प्राप्त होगा जो किसी को पीड़ा न देता हो, और सभी से प्रेम करता हो, वही शान्ति और सुख प्राप्त करता है। जो सब का हित चाहता है। क्योंकि धर्म की परिभाषा सर्वहितकारी है, समानता में समाई है तथा सभी अन्य दर्शनशास्त्रों और धार्मिक मान्यताओं का भी आदर करती हुई चलती है। इसलिये सदा वह सर्वस्थ सुखान्त है। हिन्दु धर्मानुसार 'राजा' का भी धर्म होता है वह सब के हित में समाया है।। **राज धर्म वह है –**

"जो विद्या, देश के शासन को चलाने की विधि बताती है। उसे राज-धर्म कहते हैं। राज-धर्म की शिक्षा के स्त्रोत 'हिन्दु' धर्म में वेदों को ही माना गया है। वैसे मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारत के विदुर 'प्रजागर' तथा शान्तिपर्व भी 'राज्य-धर्म' के संकेत देते हैं।

'राजा' और शासक के विषय में (अर्थ-वेद) में कहा गया है –

"ओ३म रक्षा माकिनौ अधशंस ईशत मा दुशंस ईशत।
मा नो अद्य मवां स्तेनो भावीनां वृक ईक्षत।।

"ईश्वर आप (हमारी) प्रजा की रक्षा करे, कोई भी दुष्ट दुराचारी, अत्याचारी, अन्यायचारी हम पर शासन न करे। हमारी वाणी पर (Freedom of Speech) अंकुश लगाने वाला, किसानों की भूमि छीनने वाला, हमारे पशु गौ आदि छीनने वाला व्यक्ति, यानि (Right of Property) छीनने वाला हमारा शासक न हो।"

वेद-धर्म ग्रन्थ यह साफतौर पर कहते हैं कि 'राजा' का धर्म है कि वह प्रजा का पालन, राजा न्याय बिना भेदभाव के करे। 'राजा' तानाशाह, भ्रष्ट तथा अन्यायकारी न हो! वेद तथा हिन्दु धार्मिक ग्रन्थ राज तन्त्र पर प्रजा का नियन्त्रण स्वीकार करते हैं। वेद जन पंचायत को ही राज्य सभा या राज पंचायत के रूप में स्वीकार करते हैं। सभा तथा राजा दोनों के ऊपर प्रजा का शासन है। धर्म ग्रन्थों में, स्वीकार किया गया है। कि राजा पर 'प्रजा' का नियंत्रण आवश्यक है। अत्याचारी 'राजा' के प्रति 'क्रान्ति' करने को वेद उत्साहित करते हैं।

"राष्ट्रमेव विश्याहन्ति तस्माद्रास्द्री विशं धातुक।
विशमेव राष्ट्रावाधां करोति तस्मद्राष्टी विशमत्ति न पुस्टं पशु मन्यत इति।।
('शतपथ ब्राह्मण' से)

यदि राजा पर प्रजा का अंकुश न रहे तो राज-वर्ग प्रजा का नाश कर देगा। जैसे अंकुश विहिन जंगल का शेर हृष्ट-पुष्ट जानवरों को भी मार कर खा जाता है। उसी प्रकार आतंकी शासक प्रजा को नष्ट कर देता है। राजतन्त्र को 'निरपेक्षता' से व्यवहार करना ही सर्वोच्च न्याय विधि की परिभाषा में आता है। इसलिये राजतन्त्र का कर्त्तव्य है कि वह अत्याचारियों, दुष्टों, आतंकियों से बिना जाति, वर्ग, धर्म का भेद किये, पक्षपात रहित हो प्रजा की रक्षा करे तथा उनका उचित न्याय करे।

मनु स्मृति में कहा गया है –

कि राजतन्त्र प्रजा की रक्षा बिना हानि पहुँचाये निष्पक्षता से करे।

यथो दूरति निर्दाता कक्ष धान्य च रक्षति।
तथा रक्षेन्यूपों राष्ट्र हन्याच्वः।।

अर्थात् "जैसे धान में से चावल निकालने वाला छिल्के को अलग कर चावल की रक्षा करता है। उसे टूटने नहीं देता।"

वैसे ही 'राजा' दुष्टों, अन्यायकारियों और बलात्कारियों से प्रजा की रक्षा बिना भेदभाव के करे।

हिन्दु धर्म ग्रन्थ, 'राजतन्त्र' का धर्म बड़ी निष्पक्षता और कुशलता और धर्य से राजा को समझाते है तथा लोकहितकारी, जनकल्याणकारी कार्यों के प्रति मानवीय पक्ष अपनाने को प्रेरित करते हैं।

शान्ति पर्व के अनुसार

यथे हि गर्भिणी हित्वा स्वं प्रियं मनोसोऽनुमम्।
गर्भस्य हितमाधते तथा राज्ञाप्ससंशयमें।।

अर्थात्-राजा एक ग्रहिणी के समान अपनी प्रजा की रक्षा, उसे अपना स्वार्थ त्याग कर प्रजा की सेवा करनी चाहिये। जैसे ग्राहिणी अपना सुख त्यागकर तथा पीड़ा सहकर अपने बच्चे की रक्षा करती है। उसी प्रकार राजा का धर्म है, कि वह प्रजा की रक्षा और उसका हित अपना बलिदान करके भी करे।

हिन्दु धर्म राजतन्त्र को धर्म निरपेक्ष, न्यायप्रिय रक्षक तथा सदाचारी होने का निर्देश देता है। यदि राजा सदाचारी हैं, तो प्रजा भी सदाचारी होगी।

हिन्दु धर्म मानवीय नैतिकता को सर्वप्रथम देता है

हिन्दु धर्म दर्शन का लक्ष्य है, **"धर्म की जय हो, अधर्म का नाश हो, प्राणियों में सद्भावना हो, और विश्व और समस्त सृष्टी का कल्याण हो।" साथ ही साथ अहिंसा, दूसरे के लिये बलिदान, सहयोग और दया और स्वतन्त्रता पर चलने की सलाह दी गई है। यह सिद्धान्त हिन्दु धर्म की आधार शिलाएँ हैं। हिन्दु धर्म नैतिकता और "वसुदेव कुटुम्भ" के सिद्धान्त को मानव जीवन की आधारशीला मानता है।**

हिन्दु धर्म "अर्थ-नैतिकता" और "समाजवादी समाज की रचना" पर ज़ोर देता है

हिन्दु धर्म दर्शन सन्देश देता है कि कोई मेहनत करके खाने वाला निर्धनता के चंगुल में न फँसे। आर्थिक तथा बौद्धिक मेहनतकश शोषण का शिकार न हो। 'प्रजा' को आर्थिक विषमताएँ न सताएँ। किसी पर धन की इतनी कमी न हो की वह अपनी आवश्यकताएँ पूरी न कर सके। उसी के साथ किसी पर इतना अधिक धन न हो, कि वह विलासिता के रंग में रंग जाये और अनैतिक होकर नष्ट हो जाये।

राजा और उसके राजतन्त्र का कर्त्तव्य है कि आर्थिक क्षेत्र में न्याय प्रिय व्यवस्था करे।

"अथर्ववेद कहता है – सभी प्राणी मिलकर अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति करें।

विदूर नीति तो साफतौर पर उस समाज और व्यक्ति को क्रूर मानती है, जो भोजन को सबको बाँट कर नहीं खाता है। उसी के साथ-साथ कोई भी व्यक्ति वस्त्र विहीन न रहे। हिन्दु धर्म रोटी, कपड़ा और मकान सभी की आवश्यकता मानता है।

'अथर्ववेद', स्पष्ट निर्देश देता है कि दरिद्रता पर समाज को मिलकर एकता के साथ चोट करनी चाहिये। यदि समस्त मानव समाज बिना भेदभाव के गरीबी पर चोट करेगा और समानता के साथ भौतिक सम्पत्ति का बटवारा करेगा, तो गरीबी पर निश्चत ही विजय प्राप्त होगी। क्योंकि गरीबी ही मनुष्य को कमज़ोर बनाती है।

अथर्ववेद कहता है–

परोऽपेहास गृह विते हेति नयमसि।
वेद त्वांह निभॉवन्ती नितु दन्तीमावे।।

अर्थात्, हे दरिद्रता तू मानव समाज से दूर हो जा। हम तेरे ऊपर वज्र से प्रहार करते हैं। मानव समाज को अनेकों प्रकार की पीड़ा कष्ट देने वाली गरीबी ही है। इसे मिटाने के लिये मानव समाज को एकता से प्रयास करना चाहिये। 'वेदों' के अनुसार मनुष्य समाज समतावादी समाज है। उसमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है सब आपस में भाई-भाई हैं।

ऋग्वेद में कहा गया है –

"अज्येष्ठाओं अकानिष्ठास एते संभ्रातरो वावृध सोभगाय।

अर्थात् हम में से कोई छोटा-बड़ा नहीं है, हम सब भाई-भाई हैं। हम सबको प्रेम भाव से मिलकर कार्य करने चाहिएँ।

पुरुषार्थ और हिन्दु धर्म

पुरूषार्थ का शाब्दिक अर्थ मेहन्त (उद्यम) करने से लगाया जाता है। "पुरुषैरर्थ्यते" अर्थात्, पुरुषों द्वारा प्राथनिय चाहने वाला लक्ष्य। इसका अर्थ लगाया जाता है। "जीवन का लक्ष्य मोक्ष को

ही माना गया है।" जीवन के मूल चार ही हैं, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें धर्म और अर्थ साधन मूल हैं। काम और मोक्ष साध्य है। इसमें मोक्ष तो जीवन का परम और महत्वपूर्ण साध्य हैं।

'धर्म' - मनुष्य को मोक्ष का रास्ता दिखाता है, वही ईश्वर प्राप्ति का प्रमुख साधन है।

मोक्ष - मनुष्य को आध्यात्मिक अनुभूति का आभास कराता है।

'अर्थ' - मनुष्य में धन, संग्रह की प्रवृत्ति उपभोग की प्रवृतियों से उत्तेजित होती है, तथा मनुष्य को कर्मशील बनाती हैं। 'काम' मनुष्य की भावुकता, सौन्दर्य, सौन्दय प्रियता की सन्तुष्टि का आधार है। जब कभी 'अर्थ' और 'काम' मिल जाते हैं। तब वह संसार के प्रति तथा परिवार के प्रति कर्म को प्रेरित करते हैं, और सांसारिक जीवन को मोह बन्धनों में बाधते हैं। वह दोनों मिलकर जीवन में एक हलचल पैदा करते हैं। उन दोनों को संयुक्त संवेग उसे सफल बनाने में सहयोग करते हैं। धर्म का लक्ष्य काम और अर्थ के मध्य आकर उसे कर्त्तव्य निष्ठता की ओर ले जाना है तथा उसकी पाश्विक प्रवृतियों पर अंकुश लगाना है। 'पुरूषार्थ' मनुष्य जीवन के आध्यात्मिक तथा व्यवहारिक जीवन के पक्षों में सन्तुलन तथा समन्वय बनाने का काम भी करता है।

पुरुषार्थ के चार लक्ष्य हैं। इन्हें चार 'पुरुषार्थ' के नाम से भी पुकारा जाता है।

दार्शनिक उसे 1. धर्म, 2. अर्थ, 3. काम, 4. मोक्ष के नाम से पुकारते हैं।

१. धर्म, प्रथम श्रेष्ठ पुरूषार्थ है। वैदिक जीवन दर्शन में 'धर्म' का प्रयोग पुरूषार्थ के रूप में व्यापक ढंग से किया जाता है। वैदिक ग्रन्थ के अनुसार 'धर्म' का अर्थ उचित कर्त्तव्यों के पालन से है। धर्म का सम्बन्ध ईश्वर से सम्बन्धित न होकर एक आचार संहिता के रूप में माना गया है, जिसके द्वारा समाज पर तथा मनुष्य के सामाजिक व्यवहार पर धर्मानुसार नियंत्रण रखा जाता है।

वैदिक धर्म 'मन' तथा इन्द्रियों पर संयम तथा नियंत्रण रखने का काम करता है।

धर्म के अनुसार जीवन का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है, जिसको केवल धर्म के माध्यम से ही प्राप्त किया जा सकता है। **इस दृष्टि से वैदिक धर्म में धर्म, मोक्ष से कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।**

वैदिक धर्म के अनुसार मनुष्य को "स्वः धर्म, कुल धर्म, राज-धर्म, काल-धर्म तथा देश-धर्म" का सदा पालन करना चाहिये। यह कहा गया है कि धर्म वह साधन है जो मनुष्य को प्रत्येक दशा में अपना कर्त्तव्य पूरा करने को प्रेरित करता रहता है, इसलिये वह आवश्यक है। **अतः 'धर्म' ही श्रेष्ठतम् पुरूषार्थ कहा गया है।**

"धर्मादर्थश्च कामश्च स किमर्थ न सेव्यते।।

अर्थात्, धर्म ही अर्थ और काम को सिद्ध करता है और बाद में मोक्ष की प्राप्ति कराने की ओर ले जाता है। वैदिक धर्म के अनुसार धर्म समाज की आधार शिला है।

अर्थ : 'अर्थ' मनुष्य जीवन का दूसरा पुरूषार्थ है। मनुष्य की आवश्यकताएँ अन्नत हैं। रोटी, कपड़ा, मकान के साथ-साथ सुख-सुविधाओं की पूर्ति के लिये धन या (अर्थ) नितान्त आवश्यक है। इसलिये वैदिक धर्म-दर्शन अर्थ को 'पुरुषार्थ' से सम्बन्धित करता है। शाब्दिक अर्थों में वह समस्त पदार्थ, जो मनुष्य जीवन की पूर्ति के लिये, और सुख सुविधाओं के लिये आवश्यक हैं, 'धर्म' कहलाते हैं। लेकिन 'अर्थ', वैदिक धर्म के अनुसार उन समस्त सम्पत्तियों, सुख सुविधाओं और शक्ति से सम्बन्धित है, जो हमारे वैभव को प्रदर्शित करती है।

अर्थ भी एक अपार शक्ति है ! वह ही सत्ता है !! यह किसी व्यक्ति किसी राष्ट्र और किसी समाज की वैभव शक्ति को प्रदर्शित करती है। यह संसारिक 'सत्ता को और उसकी समृद्धि को प्रकट करती है। 'अर्थ' तो मनुष्य की एक प्रवृत्ति भी मानी जा सकती है, क्योंकि अधिकतर मनुष्यों में धन संग्रह की प्रवृत्ति होती है। **कौटिल्य 'अर्थशास्त्र' तो अर्थ को धर्म और काम दोनों की पूर्ति का आवश्यक अंग बताता है।** 'अर्थ' पर राज्यशक्ति, 'दान' प्रवृत्ति तथा जन सेवा सभी आश्रित हैं।

'अर्थ' की महत्वत्ता जब और भी साफ प्रकट होती है, जब एक ईश्वर भक्त अर्थ के अभाव में प्रभु से कह देता है –

"भूखे भजन न होये गोपाला।

यह रक्खी तेरी कण्ठी माला।।

अतः वैदिक धर्मानुसार पहले अर्थ पुरूषार्थ की पूर्ति की कामना करता है। उसको अपनी साधना से प्राप्त करता है। बाद में "अर्थ" के माध्यम से अपने सभी दायित्वों से मुक्ति पाता है। 'अर्थ' 'सन्तोष' प्राप्त करने, सुख प्राप्त करने का प्रमुख साधन है। इसी से इस भौतिकता का विशेष सुख प्राप्त करने, का प्रमुख साधन भी है। इसी से मनुष्य को भौतिकता का विशेष सुख और आनन्द प्राप्त होता है।

डॉ० राधाकृष्णनन ने अपनी पुस्तक "भारतीय दर्शन में साफ कहा" "अर्थ का सम्बन्ध मनुष्य के आर्थिक एवं राजनीतिक पक्षों से है।" सम्पत्ति की लिप्सा उसकी मौलिक प्रवृत्ति है, जिसकी अभिव्यक्ति 'अर्थ' में माध्यम से होती है। धन एवं सुख प्राप्ति के प्रयास उचित हैं, परन्तु उसे "आध्यात्मिक मुक्ति तभी मिलेगी, जब उसके प्रयास धर्म की नैतिकता के माध्यम से अर्जन और भोग की स्वतन्त्रता पाने के लिये आवश्यक माने जाएँ।" क्योंकि मनुष्य की इच्छाएँ असीमित हैं। मानव जीवन की नियमिता आध्यात्मिक मुक्ति के लिये जरूरी है और धर्म नियमन का माध्यम है, और अर्थ उसका एक साधन है। इस प्रकार धर्मोन्मुख अर्थ एक तरह लोकिकता का साधन है और दूसरी और पारलौकिकता का भी।

दुनिया को ध्यान से सुनना चाहिये, कि भारतीय धर्म कभी भी नैतिक तथा आलौकिक दर्शन में पलायनवादी नहीं रहा। भारतीय धर्म-दर्शन अर्थ के सामने आत्मसर्मपण भी नहीं करता, लेकिन वह अर्थ की महत्वता को स्वीकार भी करता है। भारतीय धर्म दर्शन 'अर्थ' को उत्पादन का स्रोत्र मानता है। उससे अधिक कुछ नहीं मानता। भारतीय दर्शन अर्थ को न्यायोचित उत्पादन की प्रेरणा देने का प्रमुख स्त्रोत है। भारतीय धर्म दर्शन को समझने के लिये वेदों और उपनिषदों को जानना आवश्यक है। उपनिषेद कहते हैं - **"एकांकी मत रहो ! जीवन से पलायन मत करो !! यह समझो धर्म के साथ अर्थ तुम्हें सांसारिक प्रतिष्ठा तो देता है ! लेकिन पूर्ण शान्ति और सुरक्षा नहीं देता है।"** यह माना जा सकता है। दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। धन और अर्थ अर्जन के लिये धर्म और न्यायशास्त्र पर चलना आवश्यक है। बेइमानी, ठगी, चोरी धर्म शास्त्रों में वर्जित है तथा धर्म शस्त्रों में, गलत रास्तों से संग्रह किया धन 'पाप' कहलाता है। उसका दण्ड निश्चित धर्म और न्यायशास्त्र में दिया गया है।

धर्म शास्त्रों के अनुसार अर्थ, जीवन का साधन है, लक्ष्य नहीं है।

धर्म जब नष्ट हो जाता है, तब समाज का नाश हो जाता है।

"धर्म एव हतो हन्ति धर्मों रक्षति रक्षितः।

तस्माद्धर्मो न हन्तव्यों मा ना धर्मो हतोऽवधीत्।।१५।।

वृषो हि मगान्धर्मस्तस्य यः कुरुते ह्यलम्।

वृषल तं विदुर्देवास्तस्माद्धर्म न लोपयत्।।१६।।

(मनुस्मृति)

अर्थात् - "नष्ट हुआ धर्म ही नाश करता है। रक्षित हुआ धर्म रक्षा करता है। इसलिये धर्म को नष्ट नहीं करना चाहिये। धर्म हमारा नाश न करे। भगवान 'धर्म' को 'वृष' कहते हैं। उसको जो नष्ट करता है, उसको देवता 'वृषल' जानते हैं। इसलिये धर्म को नष्ट न करो, उसे 'लोप' मत होने दो। धर्म को सत्य के लिये धारण करो तथा अर्थ को 'धर्म' के आचरण अनुसार उपभोग करो हिन्दुधर्म के अनुसार "धर्म पर चलने से ही मानव समाज का कल्याण होगा।"

काम : हिन्दु धर्म के अनुसार संसारिक जीवन में मनुष्य के लिये 'काम' तीसरा पुरुषार्थ है। काम भी मनुष्य जीवन की एक आवश्यक जन्मजात 'प्रवृति' है। वैदिक धर्म इसे व्यक्ति की मुक्ति का साधन मानता है। "काम को इसलिये पुरूषार्थ की श्रेणी" में माना गया है। क्योंकि काम कामनाओं की पूर्ति को लक्ष्य तक पहुँचाता है।

'काम' का अर्थ भोग-वासना और इच्छाओं की पूर्ति से नहीं है। 'काम' का अर्थ, वैदिक धर्म अनुसार समस्त इच्छाओं का और कामनाओं का वह 'संग्रह' है, जो व्यक्ति को कर्म करने को प्रेरित करे काम (Kama) कहलाता है।

समस्त संसार और जगत अपार सौंदर्य से पूर्ण है। उसकी महकी-महकी सुगन्ध मनुष्य को सौदंर्य प्रियता की तृप्ति के लिये प्रेरित करती है। सौन्दर्य की महकी-महकी सुगन्ध इन्द्रियों की तृप्ति के लिये, जीवन रूपी कर्म के लिये मोहित करती है। वैदिक धर्म में 'भोग' की पूर्ति भी एक स्वच्छ पुरूषार्थ माना गया है। यह जीव की जन्मजात प्रवृत्ति है। इसमें वासना भी है और प्रेम भी। इसमें अज्ञात शक्ति है, जो इन्द्रियों की प्यास की तृप्ति भी करती है और साथ ही साथ एक अज्ञात अपार 'शक्ति' की ओर प्रेरित करती हुई उसको पहचान कर कर्म की ओर मोड़ देती है।

'काम' (Kama) को मानव जीवन का पुरूषार्थ इसलिये माना गया है क्योंकि उसके अभाव में धर्म का पालन नहीं हो सकता और सृष्टि और मनाव समाज आगे चल ही नहीं सकता है। भारतीय धर्म-दर्शन कहता है, अर्थ और काम की प्राप्ति धर्म और नैतिकता की कीमत पर नहीं करनी चाहिये। इसी तरह अर्थ और काम की उपेक्षा कर, धर्म के पीछे नहीं दौड़ना चाहिये।

'काम' के अभाव में सृष्टि नष्ट हो जायेगी। सौन्दर्य का प्याला विष बन जायेगा। लेकिन 'धर्म' के अभाव में भी 'काम शक्ति' का दुरुपयोग सृष्टी और मानव समाज को नष्ट कर देगा तथा व्याभिचार को जन्म देकर मनुष्य समाज को रोगी बना देगा। दोनों के लिये आध्यात्मिक अनुशासन जरूरी है।

इसलिये काम को पुरूषार्थ तो माना गया है। लेकिन धर्म और अर्थ से निम्न माना गया है। प्रकृति की सत्यता यह है, कि काम मानव मन की कोमलता को स्पर्श करता हुआ, सौन्दर्य की व्याख्या करता है। उसे स्नेह बन्धनों में बाँधता है। काम (Kama) प्रेम-स्नेह, सौन्दर्य एवं मानव कला की अभिव्यक्ति का साधन हिन्दु-धर्म में काम भी एक देवता है। वह वासना नहीं एक सृष्टीकार नैतिक सामाजिक बन्धनों में बंधी एक व्यवस्था है।

भारतीय वैदिक धर्म दर्शन, प्रेम को आत्मा का रस मानकर चलता है। प्रेम न तो उन्माद है, न केवल वासना, यह एक तरह से समस्त सौंदर्य रूपी प्रकृति का मिलन है। प्रेम तो भावनाओं और ज्ञान का स्नेहमय संगम है। 'काम' (Kama) के वशीभूत होकर पुरुषत्व और स्त्रीत्व एक दूसरे के प्रति पूर्णतय समर्पित होकर प्रकृति की पूर्णता में समा जाते हैं और अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा एक दूसरे को सौंपकर एकाकार हो जाते हैं। 'काम' (Kama) प्रेम है, काम ही दया है। प्रेम शक्ति है, जो इसी अपार सार्वभौमिक रूप में अभिव्यक्ति, मानव को सेवा की ओर भी प्रेरित करती है। 'काम' (Kama) करुणा भी है और यही सहयोग भी है। इसलिये 'काम' (Kama) एक महानतम योग भी है और भोग भी है। यह अपार सुख प्राप्ति का साधन भी है। काम को धर्म के रूप में धारण करे। यह जीवन को चलाने की कर्त्तव्य निष्ठा क्रिया है, यह भौतिक तथा आध्यात्मिक दोनों तत्व है, जो सहज प्रवृत्ति के सार हैं, लेकिन यह धर्म विहिन होने पर 'नाश' का कारण भी बन जाता है। इसलिये काम के बन्धनों में बंधते समय धर्म और नैतिकत्य को स्वीकार करते हुये, आचरण करें।

प्रत्यक्षं चानुमानं च शास्त्रं च विविधागमम्।

त्रयं सुविदितं कार्यं धर्मशुद्धिमभीप्सता।।१०५।।

आर्ष धर्मोपदेशं च वेदशारजाऽविरोधिना।

यस्तर्केणानुसंघते् धर्मं वेद नेतरः।।१०६।।

अर्थात् - धर्म के तत्वों को जानने की इच्छा करने वालों को प्रत्यक्ष विधि शास्त्र को जानना चाहिये।

ऋषियों के कहे गये उपदेश 'रूपी' धर्म को अविरोधी तर्क से समझना चाहिये, जो सत्य की खोज करता है, वही धर्म को जानता है। अन्य नहीं।

मोक्ष (Moksh) : मोक्ष ही जीवन का अन्तिम पुरूषार्थ है। 'मोक्ष' शब्द के दार्शनिक अर्थ हिन्दू शास्त्रों में बहुत व्यापक हैं। हिन्दु-धर्म दर्शन का लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति ही निश्चित की गई है। मोक्ष प्राप्ति के बाद 'जीव' परमपिता परमात्मा की सत्ता में समा जाता है। वह जीवन, मृत्यु और उसके बार-बार के जन्म चक्र के बन्धनों से मुक्त होकर 'परमानन्द' को प्राप्त हो जाता है। मोक्ष जीवन का अन्तिम पुरूषार्थ है। यह घोर तपस्या और अपार साधना से प्राप्त होता है। इसकी प्राप्ति के लिये सत्य का कठिन मार्ग अपनाना पड़ता है। शुद्ध व्यवहार और धर्मानुसार अच्छे, कर्म, मोक्ष प्राप्ति में सहायक होते हैं। **मोक्ष का अर्थ है जीवन पर छाये अंधेरों को मिटाकर जीवन को अज्ञानता से मुक्त कराना हीं 'मोक्ष' है। मोक्ष प्राप्ति के बाद जीवन को सुख-दुख प्रभावित नहीं करते हैं। मोक्ष भेद रहित है! उसमें अहंकार नहीं है!! 'मेरे-तेरे' 'अपने-पराये' की वेदनाएँ नहीं हैं। मोक्ष प्राप्ति के बाद जीवन में विषमताएँ नहीं होती हैं।**

बौद्ध धर्म इस अवस्था को 'निर्वाण' की संज्ञा से सम्बोधित करता है और जैन धर्म इसे 'केवल्य' अवस्था से पुकारते हैं। गीता में वर्णन किया गया है। **'मोक्ष' कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो किसी स्थान पर रखी हो या उसकी प्राप्ति के लिये किसी अन्य स्थान पर जाना पड़े। जब हृदय अज्ञानता के अन्धेरों से मुक्त हो जाता है, तब उस 'आत्मा' को 'मोक्ष' की प्राप्ति हो जाती है।** जब अज्ञानता के अन्धेरे से मनुष्य मुक्त होकर स्वार्थ और मोह से विरक्त होकर अपार रचनाकार में लीन हो जाता है उसी व्यक्ति को जीवन काल में ही मोक्ष प्राप्त हो जाता है और वह व्यक्ति मृत्यु के बाद जीवन-मरण के बन्धन से मुक्त भी हो जाता है। मोक्ष जीवन का अंग है, मृत्यू का नहीं। अधिकतर 'ज्ञानी' इसे 'मृत्यू' के बाद की प्राप्ति से जोड़ते हैं, लेकिन यह

जीवन के साथ एक ज्ञान साधना का अंग है। हिन्दु धर्म में, मोक्ष ही जीवन का लक्ष्य है। वह अपार परमानन्द की प्राप्ति की अवस्था है।

हिन्दु दर्शन मानकर चलता है कि संसार में चौरासी लाख योनियाँ हैं, जिसमें जीव अपने कर्मों के अनुसार जन्म लेता है। उसमें सबसे श्रेष्ठ योनि 'मनुष्य' की है। जिसमें मनुष्य अच्छे 'कर्म' करके या निष्काम 'कर्म' करके 'मोक्ष' को प्राप्त होता है। मोक्ष की अवस्था में मानव 'जीव' जीवन-मृत्यु चक्र से मुक्ति पाकर ईश्वरीय सत्ता में समा जाता है।

हिन्दु धर्म मोक्ष प्राप्ति के तीन मार्गों की ओर संकेत करता है। १. कर्म मार्ग, २. भक्ति मार्ग ३. ज्ञान मार्ग मुख्य हैं।

कर्म मार्ग : कर्म 'मार्ग' वैधानिक 'मार्ग' कहा जाता है। इसमें मनुष्य को अपनी समस्त जिम्मेदारियों को पूर्ण करना आवश्यक है। इसलिये मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों को निष्ठापूर्वक पूर्ण करना चाहिये। जिससे उसे मोक्ष की प्राप्ति हो जाये।

'कर्म' मार्ग से, मोक्ष प्राप्ति में, वासना नहीं होनी चाहिये, क्योंकि मोक्ष का वासना से गहरा विरोध है। कर्म के मार्ग में वासना नहीं आनी चाहिये।

भक्ति मार्ग : मोक्ष की प्राप्ति के लिये उस परमपिता परमात्मा की भक्ति और अराधना अति आवश्यक है। जिसने मनुष्य को पैदा किया है।

गीता में श्री कृष्ण उपदेश देते हैं **"सच्चा भक्त मुझे सर्वप्रिय है।"** प्रभु के सच्चे भक्त को मोक्ष प्राप्त होती है।

ज्ञान मार्ग : "ज्ञान मार्ग सत्य की पहचान अपनी बुद्धि से प्राप्त करके जीवन के और सृष्टि के रहस्यों को खोलता है। ज्ञान के मार्ग से ही सत्य का पता चलता है, तथा अलौकिक शक्ति की पहचान होती है।"

श्री कृष्ण गीता में कहते हैं "जो मानव ब्रह्म की उपासना समस्त इन्द्रियों पर नियन्त्रण रखकर करता है। वह मानव, बुद्धि के पराक्रम से प्राणियों का हित करते हैं। वह मानव, मुझे (ब्रह्म) को प्राप्त होता है, वह मुझे ही प्राप्त करते हैं।" यदि मनुष्य धर्म का पालन करता है तो वह वर्तमान जीवन में ही सुख पाता है। लेकिन आत्मज्ञान से तो वह परममोक्ष को प्राप्त करता है और जीवन-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पा जाता है।

जब 'आत्म-ज्ञानी' मानव, लाभ, हानि, जीवन, मरण, यश, अपयश, आदि मोह से मुक्त हो जाता है। वह सर्वव्यापी 'प्रभु' की सत्ता का अंग बन जाता है। यही दशा परम मोक्ष कही जाती है। हिन्दु धर्म कर्म को महानतम योग मानता है। 'कर्म' योग ही पूर्ण मुक्ति के मार्ग की ओर ले जाता है।

प्रवृतं कर्म देवाना मति साम्यताम्।
निवृतं सेवमानस्तु भूत्रान्यत्योति पंञ।।

अर्थात् - प्रवृत कर्म करने वाले को देवताओं को साम्य प्राप्त होता है लेकिन 'निवृत' कर्म करने वाले पञभूतों को लांघकर 'मोक्ष' को प्राप्त होता है।

पुरुर्षाथ और संसार

पुरुषार्थ के समस्त क्षेत्र जीवन के इस 'लोक' और 'परलोक' से सम्बन्धित हो, अपना विशेष

महत्व रखते हुये, पुरूषार्थ ही दोनों लोकों को सुधारतें हैं। हिन्दु-धर्म के अनुसार सभी पुरूषार्थ एक दूसरे पर आधारित हैं। पुरूषार्थ जहाँ परलोक सम्बन्धी कार्य की ओर कर्त्तव्यनिष्ठ होकर चलने को प्रेरित करते हैं, वहीं संसारिक जगत में, काम, अर्थ और पुरूषार्थ मिलकर सांसारिक सुख की प्राप्ति और पीड़ा मुक्ति का उपाय बताते हैं। हिन्दु धर्म में पुरूषार्थ मनुष्य की सम्पूर्णता को विकसित करता है।

वह जहाँ भोग की प्रवृति की सन्तुष्टि करता है, वहीं मानव समाज की बहुमुखी प्रतिमाओं को विकसीत करता है। वह जहाँ सौन्दर्य बोध कराकर जीवन की कलात्मक प्रवृति को उज्जवल करता है, वहीं सांसारिक जीवन की तृप्ति के पश्चात् 'प्रभु' की सृष्टि को समझकर 'ईश्वर' में लीन होने के लिये प्रेरित करता है।

मनुष्य जीवन तामसिक और सात्विक प्रवृतियों का एक अनोखा संगम है। उसमें पशुत्व और दैवत्व दोनों का समावेश है। पुरूषार्थ ही एक ऐसा चमत्कारी गुण है, जो मनुष्य को 'दैवत्व' की ओर ले जाता है। क्योंकि वह मनुष्य की समस्त प्रवृत्तियों का समाजिकरण करता हुआ 'दैवत्व' को विकसीत करता है, और मानवीय प्रवृतियों को संगठित करता हुआ मनुष्य को आदर्श जीवन की ओर ले जाता है। यह पुरूषार्थ शक्ति आध्यत्मिक चेतना को विकसित करती हुई, परमात्मा में समा जाने की ओर ले जाती है।

पुरूषार्थ, हिन्दु जीवन दर्शन का आधार है, इसमें 'धर्म' पक्ष अति महत्वपूर्ण है। 'काम' का महत्व धर्म से हीन है, लेकिन 'अर्थ' इन दोनों के मध्य उपस्थित रहता है। वैसे 'मोक्ष' धर्म से बड़ा है, क्योंकि मोक्ष बन्धन मुक्त है। लेकिन 'धर्म' मोक्ष प्राप्ति का साधन, इसलिये यह सबसे महत्वपूर्ण शक्ति है।

हिन्दु धर्म शास्त्रों ने, पुरूषार्थ के माध्यम से एक सन्तुलित सामाजिक जीवन और स्वस्थ आध्यात्मिक और सांसारिक रिस्तों की व्याख्या की है।

पुरूषार्थ धर्म - अर्थ, काम और मोक्ष पर आधारित 'संसारिक जीवन को सुखमय बनाने के लिए सभी तत्वों के समन्वय का संकेत करता है। हिन्दु धर्म शास्त्र कहता है, कि 'पुरुषार्थ' किये फल को प्राप्त करने का मनुष्य समान अधिकारी है। पुरुषार्थ शोषण मुक्त होना चाहिये, किसी भी प्रकार का शोषण, असमानता या 'अन्याय' हिन्दु-धर्म में वर्जित है। उत्पादन और वितरण के सभी अंग मिलकर आपसी सहयोग से जब कार्य करते हैं, तब सही और सन्तुलित उत्पादन और सही वितरण होता है और पुरुषार्थ का सुख मिलता है।

इतिहास के बहुत से पक्ष है, वह सुष्टि का निरन्तर बहता हुआ एक ज्ञान सागर है, लेकिन मनुष्य समाज का वास्तविक एतिहासिक ज्ञान तो धर्म का इतिहास ही माना जाता है, जो अनेकों तरह से वर्णन किया गया है। मानव समाज की विकास यात्रा की आश्चर्यजनक कहानी विभिन्न धर्मों के इतिहास के अध्ययन से ही पता चलती है। 'धर्म दर्शन' का इतिहास ज्ञान का अपार सागर भी है और मानव जाति के विध्वन्स की कहानी भी है। यह आश्यर्च जनक चमत्कार भी है और बेकार की कहानियों का इतिहास भी कहा जा सकता है।

हिन्दु धर्म दर्शन और विश्व

हमारे वर्तमान सें सहस्त्रों शताब्दियों वर्ष पूर्व, जब विश्व चिन्तन क्षेत्र अन्धकार में भटक रहा था और विश्व का आध्यात्मिक ज्ञान नहीं के बराबर थां, तब भारतीय चिन्तन दर्शन आकाश को स्पर्श कर रहा था।

प्रसिद्ध इतिहासकार अर्नोल्ड टायनबी (Arnold Toynbee) ने "वन वर्ल्ड एण्ड इण्डिया" (One World and India) में लिखा "मानवीय दृष्टिकोण के सम्बन्ध में भारतीय, अन्य देशों से सर्वथा भिन्न है, आज जिस संकट में मानव जाति फंसी है, भारतीय दृष्टिकोण ही उसे संकट से निकालने में सहायक हो सकता है। इतिहासकार टॉयनबी (Toynbee) ने हिन्दु दर्शन की छः विशेषताओं का वर्णन किया।

मैत्रीभाव : हिन्दु दर्शन दया धर्म को ही धर्म मानता है। यहाँ तक की पक्षु-पक्षी सभी पर 'दया' करने को प्रेरित करता है। हिन्दु धर्म किसी के प्रति शत्रुता रखने का विरोध करता है। यद्यपि हिन्दु धर्म में 'युद्धों' का वर्णन भी प्राचीन जगत से मिलता है। 'युद्ध' भारतीय राजनीति में घटित होते रहे है।

लेकिन भारतीय 'संस्कृति' ही ऐसी थी। जहाँ युद्ध में नैतिकता थी, और उसके भी निश्चित नियम थे।

अहिंसा : भारतीय दर्शन, अहिंसा को सर्वोच्च धर्म मानता है। अहिंसा ही सनातन है तथा श्रेष्ठतम् मानव गुण अंहिसा ही है। "भारतीय दर्शन में अंहिसा कायर का गहना नहीं है, वह वीर और बलिदानियों का गुण है।"

अहिंसा तो दुष्टता के विरुद्ध निरन्तर चलने वाला संघर्ष है, सच्ची अहिंसा तो शुद्ध निर्भीकता है। अहिंसा सन्यासियों के लिये नहीं है, यह तो एक सामाजिक शक्ति है। हिन्दु-धर्म में अहिंसा व्यक्तिगत नहीं है, यह तो सामाजिक सहयोग की जननी है। हिन्दु-धर्म मानता है कि अहिंसा सर्वकालिक है, तथा 'सर्वभूतहिताय' है। अहिंसक भारतीय दर्शन में क्रूरता को कोई भी स्थान नहीं है।

हिन्दु धर्म पथ अनेकता में विश्वास

भारतीय दर्शन विविधता में एकता की तलाश करता हुआ निरन्तर आगे बढ़ रहा है। भारतीय दर्शन यर्थात् (Reality) को पहचान कर अनेकों अलगाव में सरलता से जीने का मन्त्र जानता है। भारतीय मनीषियों ने सत्य को पहचान कर उस पर विभिन्न रास्तों से पहुँचने की कोशिश की थी। भारतीय दर्शन कहता है, कि "एको सत् विप्रा वदना वदन्ति।" अर्थात् **सत्य तो एक है, परन्तु योग्य जन उसे अनेकों रूपों में प्रस्तुत करते हैं।** हिन्दू धर्म एक 'शोध' कर्त्ता की भाँति यह नहीं मानता है कि सृष्टि रहस्य के विषय में या ईश्वर की सत्ता के विषय या सत्य की पहिचान

के संदर्भ में जो हमने कह दिया वह ही अन्तिम सत्य है। हिन्दू धर्म दर्शन मानता है कि विविधता में एकता की तलाश करना तथा परम सत्य तक पहुँचना ही धर्म साधना का लक्ष्य है। हिन्दु धर्म में अनेकों मत, सम्प्रदाय तथा मतान्तर होते हुये भी वह सांस्कृतिक एकता को कायम रखे हुये है।

धर्मिक सहिष्णुता तथा सह-अस्तित्व

इतिहासकार टॉयनबी कहते हैं "लड़ाकू और आक्रमक दृष्टिकोण प्रकट करने में ईसाई धर्म अकेला ही नहीं है। उन जीवान्त धर्मों और विचार धाराओं की विशेषता है, जिसका उदय संसार के उन क्षेत्रों में हुआ जो भारत के पश्चिम में स्थित हैं। पश्चिमी विचार धाराओं में भी, जो इसाईयत के बाद, उभर कर सामने आई वह घोर हिंसक हो गई। मेरा आशय फासीवाद (Fascism), नाज़ीवाद और साम्यवाद से है। सिन्धु पार परिक्षेत्र के सभी धर्मों की लडाकू प्रवृति के विपरीत, भारतीय धर्म-दर्शन में सहिष्णुता तथा उदारता समाये हुये है। यही वजह है, कि विदेशी धर्मालम्बी अनेकों तरह से भारत आये और यहाँ की सांस्कृतिक एकता के सागर में समा गये और वह सब ही भारतीय संस्कृति का अंग बन गये।"

भारत विश्व की धार्मिक एकता का संगम

भारत समस्त विश्व धर्मों को हृदयता से समाये हुये है। **भारत की धार्मिक 'सहिष्णुता' केवल भारत में जन्मे धर्मों की उत्तराधिकारी ही नहीं है, वरन् वह समस्त विश्व धर्मों की धरोहर को सुरक्षित परम्पराओं के साथ अपनी संस्कृति का अंग बनाये हुये है। वह विश्व धार्मिक परम्पराओं का योग्य वंशज है।** भारत ने अपनी सांस्कृतिक विरासत में कभी भी दीन भावना से काम नहीं लिया, उसने बदले की भावना से प्रेरित होकर किसी भी धर्म के साथ कटुता का व्यवहार नहीं किया। भारत का समतावादी सांस्कृतिक दर्शन मानता है। "समस्त धरती एक कुटम्ब ही है, फिर कौन अपना और कौन पराया है।" भारत दर्शन का उत्तर साफ है कि सभी प्राणी प्रेम करने योग्य हैं। आज भौतिक दृष्टीकोण से 'मानव' समाज बहुत करीब आ गया है, लेकिन मानसिक रूप से उसमें अभी बहुत दूरियाँ बनी हुई हैं। ऐसे में भारतीय संस्कृति का अनुगमन ही मानव कल्याण का मार्ग है। वैसे भारतीय हिन्दु संस्कृति की यात्रा बहुत लम्बी है। यह विभिन्न और विशिष्ट विविधता का कलात्मक संसार सृजित करतो हुई अपनी निरन्तरता पर गर्व कर सकती है। अनेकों आधियाँ इसके अतीत की ऐतिहासिक परम्पराओं से इसे अलग नहीं कर पाई। इसकी विशेषता यह है कि इसका अतीत वर्तमान में मिलकर भविष्य की ओर वेग से बढ़ रहा है। इसकी निरन्तरता के साथ विभिन्नता और सहअस्तित्व की विशेषता ही इसकी पहचान बनी हुई है।

भारतीय हिन्दु संस्कृति का अतीत वर्तमान के साथ गतिशील बना हुआ है और वह अनेकों बाधाओं और संकीर्णताओं को सहता हुआ उज्ज्वल भविष्य की ओर बढ़ रहा है। भारत की सांस्कृतिक विरासत कल भी गतिशील थी और आज भी है तथा कल भी रहेगी।

मैक्स मुलर (Max Muller) ने भारतीय दर्शन के विषय में लिखा। "अगर यह मालूम किया जाये कि मानवीय वैदिक विकास किस खुले आकाश में विकसित हुआ है, जिसमें गम्भीरता से अध्ययन करके जीवन की अहम् समस्याओं का निस्तार्ण किया है। जिन्होंने प्लेटो (Plato) और काण्ट (Kant) से भी आगे बढ़कर मानवीय दृष्टीकोण को प्रेषित किया है तो मैं अवश्य ही भारत भूमि की ओर संकेत करूँगा। अगर मालूम किया जाये, क्या यूरोप में कोई ऐसा साहित्य है, जिसने मुख्यतः रोमन (Roman) तथा ग्रीक (Greek) दार्शनिक विचारों को संचित किया है और उसे

विकसित किया है। जिसने सम्पूर्णतया के साथ, आन्तरिक, विश्वव्यापी विशेषता से सम्बन्धित मानवीय समस्याओं को केवल बाहरी ही नहीं आन्तरिक जीवन दर्शन में भी संवारा और संजोया है, तो मैं फिर संकेत करूँगा कि वह देश भारत ही है।"

If I were asked under what sky the human mind has most-fully devloped some of its choicest gifts, has most deeply pondered on the greatest problems of life, and has found solutions of some of them which well deserve, the attention even of those who have studied Plato and Kant. I should point to India; and if I were to ask myself from what litrature we here in "Europe", We have been nurtured almost exclusively on the thoughts of Greeks and Romans and of one Semitic race the Jewish may draw that corrective which is most wanted in order to make our inner life more perfect more comprehensive, more universal in fact more truely human a life not for this life only, but transfigured and enternal life-again I should point to India."

''जर्मन दार्शनिक' सचोपैनहेयर (Schopenhouer) ने हिन्दु दर्शन सम्बन्धित उपनिषदों में वर्णित दर्शन के विषय में कहा है –

उपनिषदों का प्रत्येक वाक्य शब्द 'भारतीय दर्शन' की गहरी आध्यात्मिक पवित्रता शुद्धता की आत्मा को प्रकट करते हैं। सम्पूर्ण जगत में भारतीय दर्शन की महकती आध्यात्मिक हवाएँ हमें घेरे हुये हैं और भारत का जीवित और सत्य दर्शन इतने वास्तविक ढंग से लाभकारी है कि कोई और उसकी समता नहीं कर सकता है जो 'उपनिषदों में वर्णन किया गया है। लगभग 17वीं शताब्दी में ही 50 उपनिषदों का परशियन (Persian) में संस्कृत भाषा से अनुवाद किया गया है।

सर एच० एस० मेन (Sir H.S. Maine) ने अपने विज्ञान के सम्बन्धी 'रेड लैकचर (Rede Lecture)' जो विलेज कोम्यूनिटी में प्रकाशित हुआ था, कहा था "भारत ने संसार को तुलनात्मक दर्शन (Comparative Philosophy) और तुलनात्मक आध्यात्मिक दार्शनिक पक्ष का जो वर्णन किया है, वह जगत को एक नवीन वैज्ञानिक पद्धति से परिचित कराते हैं, जो दुनिया की विभिन्न भाषाओं के चिन्तन को और अधिक मूल्यवान बनाते हैं। इसको हम केवल तुलनात्मक न्यायशास्त्र भी नहीं कह सकते हैं, क्योंकि यह उससे कहीं अधिक महत्वपूर्ण विज्ञान है, जो कानून क्षेत्र से अधिक विशाल है। यह आर्य (Aryans) की भाषा में सबसे पुरातन वैज्ञानिक विचारधारा है, जो हमारे पूर्वजों की मातृभाषा में वर्णन किया गया है। इसका दार्शनिक पक्ष बहुत ही साधना और तपस्या के मंथन से छनकर मानव समाज को समर्पित किया गया है। यह समस्त दुनिया में फैले आर्यों की संस्थाओं, रीति रिवाजों, आर्यों की न्याय व्यवस्था, आर्यों के दार्शनिक विचारों और आर्यों की सांस्कृतिक पक्ष की व्याख्या, उसके उत्पत्ति काल से, यानि मानव समाज के आदिकाल से विकसित होकर, भारत में धरोहर के रूप में सुरक्षित रखी हुई है।"

"India has given to world comparative Philology and Comparative Mythology; it may yet give us a new science not less valuable than the sciences of language and of folk lore. I hesitate to call it comprative jurisprudence because it ever exists, its area will be so much wider than the field of law. For Indian not only contains (or to speak more accurately, did contain) an Aryan language older than any other descendant of the comman mother tongue and variety of names of natural objects less perfectly cryslalized than elsewhere into a Fabulous personages, but includes a whole world of Aryan institutions, Aryan custom's, Aryans laws, Aryan ideas, Aryan's beliefs in a far earlier stage of growth and development than any which survive beyond its borders."

वैदिक दर्शन शास्त्र विज्ञान का जन्म दाता है

ज्योतिष जगत का महान शास्त्री, "विलियम हण्टर" (William Hunter) ने कहा था "ज्योतिष विज्ञान विशेष रूप से जो अतीत काल से ही दार्शनिक और उच्चकोटि की पकड़ रखता है। वह ब्राह्मणों की देन है, जिसे बाद में ग्रीक दार्शनिकों ने ग्रहण किया था। वह वैज्ञानिक क्षेत्र में, उच्चकोटि की ख्याति की बात है। भौतिक विज्ञान को भारत के ब्राह्मणों ने उच्चकोटि का जो वैज्ञानिक दृष्टीकोण दिया था, वह ग्रीक दर्शन से कहीं अधिक प्रभावशाली और सत्यनिष्ठ से सम्बन्धित है। भारत के भौतिक शास्त्र की ख्याति जब पश्चिमी देशों में पहुँची, तब वह वहाँ से समस्त यूरोप में फैल गई। 8वीं तथा 9वीं शताब्दि में 'अरब' देशों के बहुत से दार्शनिक भारतीय ज्योतिष विज्ञान से प्रभावित हो, उनके शिष्य बन गये।

An India Astronomy the historian the same (Hunter) says :

The astronomy of Brahmans has formed alternately the subject of excessive admiration of misplaced contempt..... In certain points the Brahmans advanced beyond Greek astronomy.

Their fame spread throughout the west and found entrance into the **"Chroicon Paschale,"** in the 8th and 9th centuries. The 'Arabs' become their disciple.

(Sir William)

इतिहासकार सर विलियम का मत था कि "एल-जबरा (Al-zebra) और गणित (Arthmatic) में, भारत के ब्राह्ममणों का ज्ञान स्वतन्त्र रूप से पश्चिमी जगत के गणितशात्रियों से अधिक उच्च श्रेणी का था। उस काल के भारत के गणित पण्डितों का नुमरिकल (Numerical) और डेसिमल (Decimal) पद्धति सम्बन्धी ज्ञान महानतम था। 'अरब' लोगों ने भी यह ज्ञान भारत के हिन्दुओं से प्राप्त किया था और उन्होंने इस ज्ञान को यूरोप में पहुँचाया था।" सर विलियम (Sir William) का मत था कि भारत के ब्राह्मणों का औषधि विज्ञान भी (Madician Science) स्वतन्त्र रूप से विकसीत हुआ था, जिसका वर्णन पैनीनी 'ग्रामर' (Grammer) में पूर्ण वर्णन किया गया है। औषधि विज्ञान मैडीकल (Madical Science) की उन्नति भारत में 350 BC में ही बहुत ख्याति प्राप्त कर चुकी थी। 'अरब' लोगों ने उसे संस्कृत भाषा से ग्रहण किया था तथा बाद में 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में यूरोप ने उसे 'अरब' से ग्रहण किया था। इतिहास बोलता है, योरोप में उस काल में अधिकतर औषधि विज्ञान भारतीय भाषाओं में ही प्रकाशित हुआ था।

इतिहासकार हण्टर (Hunter) ने "इण्डियन एम्पायर (Indian Empire)" में लिखा कि "ग्रीक राजदूत (Greek Ambassador) मैंगस्थीन (Megasthen) जब प्राचीन भारत भूमि पर आया था, तो उसने पाया कि 'दास प्रथा' जैसी अमानवीय प्रथा भारत में नहीं थी। नारी जाति का विशेष सम्मान किया जाता था। वीरता भारतीय का गहना था। भारतीय पुरुष साहस के गुण से पूर्ण थे। वह घर में ताले नहीं लगाते थे। भारतीय झूठ नहीं बोलते थे। वह अच्छे किसान थे तथा बहुत मेहनती भी थे। उनका विशेष गुण गम्भीरता था। वह न्यायप्रिय तथा कानून का पालन करते थे तथा अपने 'सरपंच' के नेतृत्व में शान्ति प्रिय जीवन व्यतीत करने में विश्वास करते थे। उनका ग्रामीण जीवन अपार स्नेह पूर्ण था, जो ग्रीक पुरातन इतिहास में वर्णित 'स्वतन्त्र' ग्रामीण व्यवस्था जैसा था।

एम० लोयस जैकोलियट (M. Louis Jacolliot) ने कहा था "प्राचीन भारतीय संस्कृति मानवता का पालना है, उसकी प्राचीन सभ्यता अनेकों क्रूर आक्रमणों के बाद भी समाप्त नहीं हो पाई, उसकी चमक उसी तरह प्रकाशमय है। जैसी आदि काल में थी। भारतीयों में प्राचीन साहित्य

और विज्ञान के प्रति आस्था, कविता के प्रति रुचि, निरन्तर बनी रही है और अजर और अमर है।"

M. Louis Jacolliot Says "Soil of ancient India cradle of humanity, hail ! Hail venerable and efficient nurse whom centuries of brutal invasions have not yet buried under the dust obilvion hail, father land of faith, of love, of poetry and of Science ! May we hail a rivival of thy past in our western futrure !"

(M. K. Gandhi open Letter)

भारत में कला दर्शन ही ईश्वर की सरल व्याख्या है

भारतीय प्राचीन दर्शन के साथ-साथ कला, विज्ञान, साहित्य, चित्रकला तथा वस्तुकला का यर्थात चित्रण भारत के कण-कण में समाया है। भारत की कला और संगीत तथा आध्यात्मिक दर्शन, अपनी विविधता को लेकर विश्व सभ्यता का अमर दर्शन बन गया है। कभी वह सागर की लहरों के साथ, कभी बहती हवाओं के साथ और कभी-कभी ज्ञान जिज्ञासुओं के साथ बहता हुआ सभी देशो की संस्कृति का अंग बन गया है। कुछ ने भारत से कुछ लिया और कुछ ने भारत को कुछ दिया। यह कला का आदान-प्रदान संसार की निरपेक्ष धरोहर है। यही सर्वमान्य मानव-धर्म की पहचान है। भारत का कला और साहित्य दर्शन मानता है कि जगत में मानव का स्वभाव ही कला प्रेमी है। वह सर्वोच्च सौन्दर्य ही है, वहीं शिव है। भारत कला दर्शन सहृदयता से घोषणा करता है कि सौन्दर्य में ही सत्य और सुख निहित रहता है। सौन्दर्य का मूल तत्व कला ही है। कला को अपार सुख की जननी भी कहा जाता है। संस्कृत में 'क' शब्द का अर्थ 'ब्रह्म' है। ('क' का अर्थ सुन्दर कोमल और मधुर आदि भी माने जाते हैं।) परन्तु, भारतीय कला प्रेमी इन परिभाषाओं को अधूरा मानते हैं, इससे पूर्णतया सहमत नहीं हैं। रविन्द्र नाथ टैगोर जो कला के प्रति समर्पित थे उन्होंने कहा **कला का अर्थ सहानूभूति की अभिव्यक्ति ही कही जाती है। कला मनुष्य की भावनात्मक अभिव्यक्ति भी कही गई है।"**

भारतीय दर्शन शान्ति और सुख देने वाली कला को मानव आत्मा की श्रेष्तम् अभिव्यक्ति स्वीकार करता है। कला ही सत्यम्-शिवम्-सुन्दम् है ! यह भी कहा गया है "क (आनन्द) इति कला" है, अर्थात् 'कला' वह है, जो आनन्द को प्राप्त कराती है। आनन्द ही आत्मा का गुण है। आत्मा को आनन्द की चाह होती है। लेकिन उसका भाव सुख से पृथक है। कला भी आत्मा की तरह अमर है, अनश्वर है।

यदि कला को दर्शन इतिहास से पृथक कर दिया जाए तो मानव जाति के सम्पूर्ण अतीत एक निरजीव मरुस्थल के समान दिखाई पड़ेगा। उसमें आत्मा नहीं रहेगी। इसलिये भारतीय दर्शन कला को निरपेक्ष, व्यापक तथा अनश्वर मानता है। उसके द्वारा ईश्वर की अभिव्यक्ति करता है, ईश्वर के नाम रखता है। उसे 'एकता' और व्यापकता को समर्पित करता है और 'सत्यम्-शिवम्-सुन्दरम्' का आदर्श स्वीकार कराता है। भारतीय प्राचीन दर्शन मानता है, मूर्ति कला, चित्र कला, वस्तुकला, ईश्वर और उसकी सृष्टि की व्याख्या का सर्वोच्च माध्यम है। कला, वर्ग, जाति, क्षेत्रिय विवाद से बहुत दूर है, यह सत्य है, इसलिये विवाद विहिन है।

आधुनिक दार्शनिक चिन्तक थोरो भारतीय प्राचीन दर्शन से बहुत प्रभावित था। उसने भारतीय दर्शन के विषय में कहा था "दार्शनिक विचार रखना या किसी 'पंथ' की स्थापना करना मात्र ही 'दर्शन' नहीं है, बाल्कि 'प्रज्ञान' से प्रेम करना है और उसके आदेशानुसार सादगी स्वतन्त्रता

उदारता और आस्था का जीवन व्यतीत करना ही दर्शन कला है। दार्शनिक 'पाइथागोरस' स्वयं 'दर्शन को सर्वोच्च संगीत के रूप में देखता है।' हमें दर्शन और धर्म को सर्कीणताओं और नियम निष्ठाओं में ही नहीं देखना चाहिये। बल्कि ईश्वर और सृष्टि की कलात्मक 'सत्य' निरपेक्ष अभिव्यक्ति के रूप सौंदर्य की सर्वोच्चता मानते हुये, उसे आन्नद का स्त्रोत मानकर उसमें समा जाना चाहिये। उसे रचना और निर्माण में लगाना चाहिये। विध्वन्स में नहीं ! यह दर्शन का उद्देश्य है, और मानव कल्याण का सत्य मार्ग है।

भारत और उनके निवासी

भारत के उत्तर में प्रकृति ने हिमालय बनाया है, जो एशिया से उसे अलग करके उसकी सीमाएँ भी निर्धारित करता है। दक्षिण में पठारी क्षेत्र हैं, जो तीन तरफ से हिन्द महासागर से घिरा हुआ है, भारत के पश्चिम में 'अरब' सागर है और पूर्व में बंगाल की खाड़ी के नाम से सामुहिक इतिहास को अपने में समेटे है। भारत के सीमावर्ती क्षेत्रों में उत्तर पश्चिम में पाकिस्तान है, जो कभी भारत का ही हिस्सा था और साथ-ही-साथ अफगानिस्तान भी है। उसके उत्तर में चीन, नेपाल और भूटान है।

भारत की मुख्य भूमि चार खण्डों में विभाजित है। 'पर्वतीय क्षेत्र', सिन्धु और गंगा के मैदान, रेगिस्तान के क्षेत्र और दक्षिण प्रायदीप हैं।

भारत अनेकों नदियों तथा झरनों का देश है। भौगोलिक दृष्टि से भारत की प्राकृतिक विविधता ने भी भारत की विविध-संस्कृति और सभ्यता के निर्माण में एक अनोखी भूमिका अदा की है। भारत की विभिन्न प्रकार की जलवायु ने भारत की आर्थिक तथा सामाजिक संस्कृति को अनेकों विभिन्न प्राकृतिक रंगों से सजाया और उज्जवल किया है।

भारत के प्राचीन इतिहासकार मानते हैं कि 'अगस्त्य ऋषि' ने 'आर्य संस्कृति' को उत्तरी भारत से विन्धांचल पर्वत तक फैलाने का कार्य किया और सम्पूर्ण दक्षिण को 'आर्य संस्कृति' से 'सजाने' और उसे फैलाने का प्रयास किया। 'श्री राम' ने भी सम्पूर्ण देश को सांस्कृतिक भारत का 'एकीकरण' करने का कार्य किया था। श्री राम ने सम्पूर्ण देश में भ्रमण करते हुये, भारतीय संस्कृति की विविधता को एकता में बाँधने का प्रयास किया था।

भारत का 'इतिहास' विभिन्न जातियों और जन-जातियों की सांस्कृति विरासत को अपने अस्तित्व में संभाल कर रखे हुये है। अति प्राचीन काल से आर्य, यूनानी, शक, हूण, अफगान, तुर्क, मुगल तथा अनेकों पश्चिम जगत की विभिन्न जातियाँ भी भारत में आती रही। उसी के साथ-साथ द्रविड़ सभ्यता भी भारत के अतीत की मूल संस्कृति से जुड़ी मानी गई है। भारत के आदिवासी आज भी भारत की मूल सभ्यता से सम्बन्धित माने जाते हैं। इतिहासकार डी० एन० मजूमदार ने भारत के आदिवासियों को भारत का प्राचीन मूल निवासी माना है।

आर्यों के भारत में आने से पूर्व, भारत में जो लोग थे, उन्हें 'अनार्य' माना जाता था। ऋग्वेद में उन्हें 'अव्रत' (व्रत न) करने वाले (अग्रत) यज्ञ न करने वाले तथा 'मृदुवाच' अस्पष्ट बोलने वाले तथा 'अनास' चपटी नाक वाले आदि शब्दों से पुकारा जाता था। ऐसा माना जाता है कि भारत में (सर्व प्रथम विदेशियों को) 'कालो-काचार्य' ने शंकों को, उज्जैन पर आक्रमण करने के लिये बुलाया था। ऐसा कहा जाता है कि ईसा से पूर्व में प्रथम शताब्दी में शकों ने पार्थयन साम्राज्य का उन्मूलन करने के लिये भारत में प्रवेश किया था।

उन दिनों उज्जैन का राजा गर्दमिल्ल बड़ा अत्याचारी राजा था, उसके क्रूरता और आतंक

से तंग आकर कालोकाचार्य ने शकों को उज्जैन पर आक्रमण करने का निमन्त्रण दिया था। शकों ने उज्जैन पर अधिकार करके भारत में चार राज्य स्थापित किये, जो सिन्ध, पश्चिमोत्तर भारत का (शककुल), महाराष्ट्र का 'शक क्षत्रकुल' तथा गन्धार का शककुल थे। इसी शताब्दी में कुषाण का भी प्रवेश भारत में हुआ। 'कुषाण' सम्राट ने अपना साम्राज्य अफगानिस्तान, सिन्ध, पार्थिया, वैकिट्रया तथा पंजाब से लेकर उज्जैन तक स्थापित कर लिया था।

प्राचीन काल से आज तक "भारतीय संस्कृति" का प्रत्येक विचार, आचार, विश्वास और प्रचलन सामाजिक और धार्मिक आदर्श और संस्कार विविध जातियों और प्रजातियों के सुन्दर साम्राज्य और समन्वय विभिन्नता के आधार का मानते हुए रचे गये थे।

विद्वान हर्बट रिसन्ले ने तो भारत को विभिन्न जातियों और प्रजातियों का अजायबघर ही कह डाला था।

समाजशास्त्रियों और विभिन्न कोटि के इतिहासकरों की राय है कि भारतीय किसी एक 'प्रजाति' के 'वंशज' नहीं हैं, वरन् विभिन्न प्रजातियों के वंशज हैं, जो सांस्कृतिक तौर पर इतने घुल मिल गये हैं, कि उनकी अलग से पहचान करना कठिन है।

भारत की संस्कृति में आर्यों का सर्वोत्तम योगदान है। उसी के साथ-साथ द्रविड, मंगोल और आदिवासी जन का भी बहुत बड़ा समन्वय है।

भारत की संस्कृति में अध्यात्मकवाद और उसका धार्मिक दर्शन आर्यों की देन है। उन्हीं की परम्पराओं ने उसे वर्तमान तक पहुँचाया है। यहाँ की अतिप्राचीन धार्मिक और सांस्कृति परम्पराएँ आर्यों से भी पूर्व से, हजारों वर्ष से चले आ रहे संस्कारों से सम्बंधित हैं। यज्ञ करना, सर्प नाग पूजा, मूर्ति पूजा करना, वृक्ष पूजा, मातृशक्ति की पूजा, देवी-देवताओं की पूजा और आराधना करना भारत में, ईसा से हजारों-हजारों वर्ष से चली आ रही है। उसके बाद भारतीय भूमि पर बुद्ध धर्म के जन्म के साथ ही एक नवीन सांस्कृति दर्शन का जन्म हुआ, जो अहिंसा और जाति निरपेक्ष दर्शन को चीन, जापान तथा अधिकतर एशिया के देशों में साथ ही साथ, पश्चिम देशों तक अपने प्रभाव को स्थापित करने में सफल हुआ। उसी के साथ 'जैन धर्म' के उदय के साथ भारतीय संस्कृति में कठोर तपस्या और शुद्ध अहिंसा पर आधारित संस्कृति, भारत के जन मानस पर छा गया। इसी तरह समय आगे बढ़ता गया, और उसके बाद इस्लाम भारत में आया उसका प्रभाव भी भारतीय संस्कृति पर साफ दिखाई देता है। उसके बाद, ईसाई धर्म का आधुनिक काल में, प्रभाव एक नवीन सभ्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है।

रविन्द्र नाथ टैगोर ने सुन्दर शब्दों में कहा था "आर्य, अनार्य, मंगोल, मुगल, पठान, पश्चिम, पूर्व से सभी देशों से लोग भारत में आये। जो सभी भारतीय संस्कृति के महासागर में विलीन हो गये, उसमें समा गये।"

भारतीय संस्कृति, वैदिक संस्कृति के नाम से भी जानी जाती है। उनका आधार 'चार' वेद हैं। उसके बाद उपनिषद, गीता, पुराण आदि हैं।

ऋग्वेद सबसे प्राचीन आर्य ग्रन्थ है। लेकिन आर्य संस्कृति का समन्वय होता चला गया। स्वामी दयानन्द और आर्य समाज को मानने वाले दर्शन शास्त्रियों का मत है कि आर्य भारत के ही मूल निवासी थे। वह किसी दूसरे देश से नहीं आये। वर्तमान में प्राचीन भारत की सांस्कृतिक परम्पराएँ, पूजा और आराधना पद्धति तथा उसके साथ, धर्म की परिभाषा ही वर्तमान में, हिन्दु संस्कृति कहलाती है।

जैसा की कहा जा चुका है ईसा से बहुत पूर्व, भारत में बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म की स्थापना हुई थी। जिसने उस काल की कर्म काण्ड पद्धति तथा प्रथा और यज्ञों में दी जाने वाली 'बलि' प्रथा का विरोध किया था। यह धर्म और कर्म प्रधान दर्शन पर विश्वास करते हुये, भारतीय संस्कृति में एक तरह से भारत में ही समा गये। लेकिन लंका, चीन, जापान में बौद्ध धर्म आज भी करोड़ों लोगों का धर्म है।

भारतीय संस्कृति का रचनात्मक काल 'मौर्य' काल से आरम्भ होता है। इसे मौर्य सांस्कृति काल के नाम से भी जाना जाता है। चन्द्रगुप्त मौर्य से पूर्व सिकन्दर का आक्रमण भारत पर हुआ था। उसी के साथ-साथ अनेकों यूनानी दार्शनिक भारत आये थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के गुरु चाणक्य (विष्णु गुप्त कौटल्य) ने अपनी राजनितिकं, सामाजिक और आर्थिक उन्नत व्यवस्था का वर्णन कौटल्य अर्थशास्त्र में सुन्दर ढ़ग से किया है। उस काल में धर्म सामाजिक तथा आर्थिक और वैज्ञानिक दर्शन की विशेषता को ज्ञात कराता था। इसलिये गुप्त काल को स्वर्ण युग के नाम से पुकारा जाता है।

यह काल जहाँ दार्शनिक दृष्टि में महत्वपूर्ण काल था, वहीं महाकाव्यों, पुराणों तथा धर्म दर्शन के अनेकों ग्रन्थों का युग भी था। उस काल में भारत में एक तरह से वैज्ञानिक युग भी था, जहाँ नवीन विज्ञान, गणित, खगोल, चिकित्सा शास्त्र तथा रसायन शास्त्र का विशेष युग रहा था। उसी काल में भारत के प्राचीन वैज्ञानिक दर्शन शास्त्र पंचाग (ज्योतिष शास्त्र) का भी विश्वव्यापी रूप निखर कर आया था। उसी काल में वस्तु कला और ललित कला का विकास भी हुआ था।

बौद्ध धर्म की 'अहिंसा' में यूनान की शक्ति विलीन हो गई

एक काल ऐसा था, जब मौर्य सत्ता का ध्वज बड़ी शान से भारत में लहरा रहा था। उस काल में समस्त 'भारत' में एकता और एकीकरण का 'रथ' निरन्तर आगे बढ़ता जा रहा था। इस काल में (200 ई० पू० से 300 ई० तक) भारत का इतिहास आँचलिक राज्यों की स्थापना का इतिहास रहा था। मौर्य काल के 'पतन' के बाद बौद्ध और 'गुप्त काल' के उदय तक उत्तर और पूर्व में भारतीय मूल शंक कण्व एवं श्रंदि वंश का झण्डा लहराता रहा। उसी काल में विदेशी आक्रमणों का जोरदार सिलसिला आरम्भ हुआ। भारत में हूण, यूनानी, ग्रीक, पार्थियन, शक, कुषाण लड़ाकू आक्रमकों के रूप में आये थे, लेकिन वह लोग बाद भारतीय संस्कृति में समा गये।

यही नहीं, समय के प्रभाव में डेमेट्रियस और सेल्यूकस जो सिकन्दर का प्रमुख सेनापति था और भारत को विजय करने की अभिलाषा लेकर भारत आया था, वह भी यहाँ की संस्कृति से प्रभावित हो, उसमें रम गये। यद्यपि डेमेट्रियस प्रथम यूनानी शासक था, जिसने भारत में सिन्ध और पंजाब में अपना साम्राज्य स्थापित किया था।

उसका प्रतिद्वन्दी उसी का सेनापति 'यूकेट्राइडज' था। उसके बाद मिनेण्डर (मिलिन्द्र) जो बहादुर और शक्तिशाली राजा भी था, जिसने १५ ई० पू० तक शासन किया था। उसने भी बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। उसके विशाल साम्राज्य में उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश, अफगानिस्तान, पंजाब और सिन्ध मौजूद थे। उस काल में उसकी राजधानी "साकाल" थी, जो वर्तमान में सियालकोट कहलाती है।

इसके बाद शक, पार्थिनियों, यूनानियों ने भारत में पैर जमाये। माओज, एजेज, सेजिलिस आदि 'शक' शासक प्रमुख थे, और उसी काल में 'रुद्रदमन' जो प्रथम शासक था, उसने यहाँ

आकर ब्राह्मण धर्म को ग्रहण कर लिया था। वह भी एक शक्तिशाली वीर शासक था, जिसने 'सात वाहनों' को पराजित किया था। उस काल में उसकी राजधानी उज्जैन में थी। वह समय था जब शक राजाओं ने बौद्ध धर्म अपनाकर अपने को भारतीय संस्कृति का अंग बना लिया था। इन्होंने अपने शासन काल में, संस्कृत भाषा, ज्योतिष शास्त्र, संगीत तथा कला को विकसीत किया। कुछ इतिहास खोजकर्त्ताओं का मानना है, कि 'सलवार, 'अचकन' तथा घुटनों तक के बूट 'शक' राजाओं की ही देन थी।

इसी तरह पार्शियन (पारसी) भारत में (पारस) ईरान से आये थे। वह भारत में 'पहलव' और शक पहलव के नाम से पहचाने जाते थे। वह भी भारत में शंकों के साथ ही आये थे। उन्होंने ही शासन व्यवस्था को ठीक करते हुये, प्रान्तीय गर्वनरों की व्यवस्था प्रणाली शुरु की थी।

उसी समय, मिथेडेट्रस और 'गोडों फनीज' दो महत्वपूर्ण पार्शियन शासक हुये थे। पार्शियनों व शंकों को कुषाण ने हरा दिया तथा 'गुप्त' शासकों ने तो इनका राजनैतिक अस्तित्व ही मिटा दिया था। उसके बाद यह सब भारतीय सांस्कृति का अंग बन गये।

कुषाण – कुषाण वंश को मौर्य के पतन और गुप्त के उद्‌गम के मध्य काल में शासन करने वाला एक प्रभावशाली वंश माना जाता है। कुषाण चीन की 'यूची' जन जाति से सम्बन्धित लोग थे। सम्राट 'कनिष्क' को उस काल का सब में महत्वपूर्ण तथा शक्तिशाली सम्राट माना जाता है। उसने कला, साहित्य की जहाँ पूजा की थी वहीं उसकी प्रगति और विकास के लिये साहित्यकारों तथा कलाकारों को विशेष सहयोग दिया था। उसके समय में आर्थिक प्रगति भी बेमिसाल रही। उसने अपनी तलवार के बल पर कश्मीर, पाटलीपुत्र और साकेत जैसे राज्यों पर शासन किया। उसने चीन पर भी आक्रमण किया, लेकिन पहले प्रयास में उसे सफलता नहीं मिली, लेकिन दूसरे प्रयास में उसे काफी हद तक सफलता प्राप्त हुई। यही नहीं उसने सारकन्द और खोतान पर अपना आधिपत्य स्थापित किया। उसने पुरुषपुर (पेशावर) को अपनी राजधानी बनाया था। लेकिन युद्ध के आतंक से पीड़ित होकर तथा युद्ध क्षेत्र की कत्लोगारत से उठी दर्द और पीड़ा तथा हिंसा को देखकर उसने 'बौद्ध' धर्म ग्रहण कर लिया था। उसने बौद्ध धर्म के प्रचार के अथाह प्रयास किये। सम्राट कनिष्क की यह विशेषता थी कि वह सभी धर्मों का आदर करता था। उसने बौद्ध धर्म की शुद्धता के लिये कश्मीर के 'कुण्डलवन' नामक स्थान पर 'बौद्ध संगति' का आयोजन किया। उसमें बौद्ध धर्म में बढ़ती हुई बुराईयों को दूर करने के प्रयास भी किये गये। लेकिन उसमें वह पूर्णतया सफल नहीं हुआ।

उसके समय में ही भारतीय कला और यूनानी कला का समन्वय हुआ और विश्व प्रसिद्ध कान्धार कला का युग भी सम्राट कनिष्क के प्रयास से ही हुआ। उसके शासन काल में अनकों विदेशी साहित्य कला, संस्कृतियाँ भारत की संस्कृति के महासागर में समा गयी थीं।

इसी तरह हूण (जिन्हें हियुन-यू) भी कहा जाता है। मध्य चीन से भारत आये थे। इतिहास बताता है कि वे बड़े क्रूर और लडाकू थे। हूणों ने 165 ई० पू० यूचियों को हराकर पश्चिमी चीन पर अपना राज्य स्थापित कर लिया था। भारत पर हूणों ने सर्वप्रथम 455 ई० के आस-पास आक्रमण किया था, जिसे भारतीय सम्राट स्कन्दगुप्त ने बुरी तरह परास्त करके भगा दिया था। उसके बाद हूण भी भारतीय समाज का एक अंग बन गये।

हजारों-हजारों वर्षों से भारत की संस्कृति का महासागर न जाने कितने भयंकर तूफान देख

चुका है। साथ-ही-साथ अनेकों धर्म, संस्कृतियाँ चलन, प्रचलन, कला और साहित्य उसके अंग बन गये। जापान, श्रीलंका, रोम, यूनान, मिश्र, इण्डोनेशिया, मध्य एशिया की सांस्कृतिक परम्पराएँ, रीति और रिवाज भारत की संस्कृति का अंग बन गये थे। ऐसा नहीं था कि यह धर्म और संस्कृतियाँ आसानी से एक दूसरे में समा गई थी। इनमें आपस में, कई बार भंयकर युद्ध हुये, जिससे धरती रक्त से लाल हो गई। कभी धर्म से धर्म टकराया और कभी जातियाँ और सम्प्रदाय तलवार लेकर युद्ध के मैदान में एस दूसरे का गला काटने लगे, लेकिन फिर शान्ति के लिये, बुद्ध की अहिंसा का अंग बनकर मानवता के पथ पर चल पड़े, और अहिंसा ही परमो धर्म बन गया। क्योंकि अहिंसा ही कला और सृजन की जननी है।

धर्मनिरपेक्षता बनाम धार्मिक आतंकवाद

आधुनिक युग इतिहास की घटनाओं की एक निरन्तर बहने वाली धारा के साथ भविष्य की ओर बढ़ रहा है। लेकिन यह अपने में न जाने कितने प्राचीन संस्कार समेटे हुये है। किसी भी ऐतिहासिक उत्तरदान (Legacy) को यथार्त में जानने से पूर्व, हमें उसकी अर्जित सम्पत्ति को जो हमारे वर्तमान तक बहकर आई है, और जिसे आगे भी बढ़ना है, उसे समझने के लिये, हमें जानना चाहिये कि उसे अनेकों युग संघर्षों और 'अग्नि' परीक्षाओं के मध्य से होकर गुज़रना पड़ा है और हो सकता है कि आगे भी गुज़रना पड़े।

इतिहास में एकता होती है। वर्तमान की जड़ें में गहराई तक समाई हैं, इसलिये गुज़रे जमाने का वर्णन किये बिना वर्तमान को ठीक से नहीं समझा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भी घटना चक्र निरन्तर चलता रहता है। उसी के साथ-साथ विचारधाराओं में परिवर्तन होता रहता है। लेकिन बहुत से संस्कार, धारणाएँ और सास्कृतिक प्रचलन हज़ारों वर्षों से इतिहास के प्रवाह के साथ-साथ बहती चली आई हैं, जो हमें साफ-साफ दिखाई देती हैं। प्रत्येक युग परिवर्तन अवस्था में से होकर गुज़रता है, वह अपने वक्ष-स्थल में भूत के पदचिन्हों को तथा भविष्य के लिये निश्चित परिवर्तनों के लक्षणों को अपने हृदय में छिपाये रहता है। कुछ 'नवीन' को देखकर हम चकित हो जाते हैं, लेकिन वह अचानक नहीं घटित होता है, वह तो आवाहन प्रतीक है, कि अतीत का इतिहास, नवीनता के साथ वर्तमान में समाता जा रहा है और नवीन युग नई समस्याओं के साथ जन्म ले रहा है। इतिहास 'कालचक्र' के बढ़ते हुये कारवां के पदचिन्हों को देखकर यह कहना कठिन है कि घटनाएँ कैसे घटीं? और क्यों घटीं? यह कब हुआ! क्यों हुआ? उसकी व्याख्या करना तथा सीमा में बांधना एक कठिन कार्य है। इतिहास तो विज्ञान के नियमों की तरह क्रमबद्ध तरीके से निरन्तर चलने का नाम है, और चलता ही रहेगा। इतिहास की गति अविराम (Continuous) है। वह धारा के रूप में बहती रही और बहती रहेगी।

आओ देखें ! कि 'धर्मनिरपेक्षता' का जन्म कैसे हुआ, वह अस्तित्व में कैसे आई और कहाँ तक अपने लक्ष्य में सफल हुई। पहले हम यूरोप की ओर चलें।

यूरोप के इतिहास में, धर्म और राजनीति के रिश्ते

'धर्मनिरपेक्षता' शब्द का आरम्भ वास्तव में 'यूरोप' के इतिहास के निरन्तर चलने वाले धार्मिक सुधारवादी आन्दोलन की निरन्तरता एवं राजनीति और धर्म के मध्य विकसित हुये संघर्ष की ही देन मानी जाती है। उसकी विरासत विविधता में एकता और एकता में विविधता में समाई है। यह शब्द भी आज विश्व राजनैतिक संस्कृति का अंग बन गया है। आज का विश्व विभिन्न राष्ट्रों के ऐतिहासिक विकास चक्र से अलग भी नहीं हो सकता, और संसार पूर्णतः उसे स्वीकार भी नहीं कर सकता। राजनीतिक दर्पण ही एक ऐसा ऐतिहासिक दर्पण है, जहाँ विश्व

अपने-अपने असली चेहरों को आसानी से देख सकता है। यह राजनैतिक दर्पण साफ और इतना खुला व्यवहार करता है, कि आसानी से अपने अतीत के संस्कारों को देखते हुये उससे सबक लेकर वर्तमान को संवार सकता है। आज विश्व संस्कृतियों का मिलन, एक समारोह की तरह से अपने स्वयंवर रचाते रहते हैं और एक दूसरे में समा जाते हैं। वर्तमान में, राजनीति की भी एक 'विश्व संस्कृति' होती है, जो अविरल धारा के रूप में युगों से चले आ रहे, अपने अच्छे बुरे संस्कार को नये संस्कारों के साथ ग्रहण किया जाता है। यह सत्य है कि विश्व राजनैतिक-संस्कृति पर 'पश्चिम' की राजनैतिक-संस्कृति वर्तमान पर पूर्णतया हावी है। विश्व के आपसी सम्बन्ध सूत्रों की ऐतिहासिक प्रकृति, हिंसा की कठोर धरातल को पार करती हुई, विश्व सम्पर्कों में आई और अपने डरावने स्मरण संकेत समेटे विश्व राजनीति पर वर्तमान में हावी हो गयी।

पश्चिम का 'इतिहास' अविरल संघर्षों के बाद धार्मिक और राजनैतिक रिस्तों के आपसी सम्बन्धों के विषय में, एक निष्कर्ष पर पहुँचा कि राजनीति से धर्म को अलग किया जाये। इस परिभाषा ने धर्मनिरपेक्षता नामक शब्द को वर्तमान में जन्म दिया। एक युग था जब यूरोप में, "धर्म" राजनीति पर पूर्णतया हावी था। यूरोप ही क्यों संसार भर की राजनैतिक धरातल पर राजा के माध्यम से धर्म पूर्ण रूप से राजनिति पर अंकुश रखता था। धर्मतन्त्र और राजतन्त्र की चलती हुई चक्की-पाटों के मध्य यदि कोई पिसता हुआ चला जाता था, तो वह थी, प्रत्येक देश की और प्रत्येक छोटे-बड़े 'राष्ट्र' की बेचारी जनता और वह भी निर्धन जनता जिसका गला राजनैतिक तलवार सदा काटती रहती थी, जिसके अवशेष, आज भी विशेष रूप से मानव समाज में हिंसा फैला रहे हैं।

यदि ध्यान से विश्व इतिहास को पढ़ा जाये तो ज्ञात होता है, 'धर्म'. सम्प्रदाय, जाति, नस्ल और ऊँच-नीच की परम्पराओं को जन्म देने वाला संसार का इतिहास चक्र ही है। इतिहास यह तो बोलता ही है कि मानव समाज की समानता और एकता को धर्म के नाम पर उठाई गई तलवारों ने, सरेआम बड़ी बेरहमी से 'कत्ल' किया है, और उस काल से आज तक असंख्य-निर्दोष लोगों के 'शरीर' से बहते हुये रक्त की अविरल धारा को यदि ध्यान से देखा जाये, तो उनके रक्त का एक ऐसा महासागर नजर आयेगा, जो वर्तमान में कई समुद्रों के बराबर बनकर, मानवता पर बरसे 'कहर' की दास्तान को स्वयं कहेगा। विश्व इतिहास के पन्नों के हवा से उड़ते हुये पृष्ठ धार्मिक कहे जाने वाले आतंक की बर्बर कहानियों से भरे पड़े हैं, लेकिन उसके आंतक से भयभीत बुद्धिजीवियों को भी साहस नहीं होता कि "कोई उस पर आसानी से कलम चलाये, और जग ज़ाहिर करे।" कुछ ही सहासी महापुरूषों ने धार्मिक और राजनैतिक कहे जाने वाले आतंक के विरूद्ध अपनी लेखनी को चलाने का साहस किया। यह भी सत्य है कि उन्हें मृत्यु का सामना करना पड़ा।

मध्य काल की भूमिका

मध्य काल में, और उससे पूर्व जो धारणाएँ थीं, वह आधुनिक काल की तथ्य सम्बन्धी धारणाओं से मूल रूप में (Fundamentally) भिन्न थीं। यूरोप की वर्तमान में आधुनिक राज्य व्यवस्था राष्ट्रीयता की भावना पर निर्भर है, लेकिन यूरोप में मध्यकाल में लोगों को इस बात का ज्ञान नहीं था कि, राज्य ही एक राष्ट्र है, और एक स्पष्ट सामाजिक इकाई है। यूरोप के

लोग संसार की राजनीतिक व्यवस्था का अर्थ यह ही समझते थे कि समस्त संसार का राज्य, विश्वव्यापी-साम्राज्य (Universal Empire) का अर्थ दुनिया के समस्त ईसाई प्रदेश को मिलकर एक अकेला साम्राज्य समझा जाता था, **जिसके दो मुखिया होते थे - एक (धर्म गुरु) 'पोप' दूसरा 'सम्राट'।** इसका अर्थ साफ था **"धर्म गुरु और सम्राट" दोनों मिलकर यूरोप के इतिहास पर हावी थे।** विश्वव्यापी सत्ता पर काबिज होने की यह भावना धर्म की आड़ में खुले आम तलवार लेकर यूरोप को और सम्पूर्ण पश्चिम को और बाद में एशिया और अफ्रीका की गरीब जनता को रौंधती चली गई। धर्म की आड़ में आतंकी शोषण परम्परा का कत्लों-गारत का निरन्तर चलने वाला सिलसिला थमने में नहीं आ रहा था।

मध्यकाल में तलवार के बल पर 'रोम' की प्राचीन संस्कृति को तबाह कर दिया गया था, उसे मिटाने में बर्बरता की पराकाष्ठा हो गई थी। यद्यपि रोमन साम्राज्य का भौतिक अस्तित्व (Material Existence) मिटे हुये बहुत दिन हो चुके थे। फिर भी इतिहास की बहती हुई धारा उसके कुछ सांस्कृतिक अवशेष मध्यकाल तक वहा लाई थी।

मध्यकाल में, यूरोप में धर्म तन्त्र और राज तन्त्र की निरकुंश और कठोर व्यवस्था में, सामन्त-शाही और जागीरदारी की प्रथा का बोलबाला था। अस्तित्व के दृष्टीकोण से यह प्रथा अर्ध कृष प्रधान तथा अर्ध सैनिक प्रधान संस्था के रूप में थी। अपने अतीत पर अधिक घमण्ड करने वाला यूरोप भी मध्यकाल में एक ऐसी व्यवस्था की परवरिश कर रहा था जो 'मानवता' को नौच-नौच कर खा रही थी।

मध्यकाल में 'ईसा' की वास्तविक 'पवित्र शिक्षाएँ' केवल 'गिरजाघरों' की पवित्र पुस्तक तक ही सीमित रह गई थीं। नैतिकता, सत्य की खोज, शान्ति और व्यवस्था का लक्ष्य अन्धकार के साये में बहुत पीछे छूट गया था। वैसे उस काल में 'गरीब' को भाग्य के सहारे छोड़ दिया जाता था। यूरोप में उस काल खण्ड में मानव समाज की केवल दो ही जातियाँ थीं (1) एक सामन्तगण, (2) दूसरी (चाण्डाल) निर्धन प्रजा, जो उसकी आसामी थी, तीसरे यूरोप का मध्यकालीन समाज जातियों और वर्गों से बना समाज था। जहाँ यूरोप का प्रत्येक व्यक्ति एक निश्चित पेशे से बाँध दिया गया था। वह जीवन भर एक निश्चित पेशे से बँधा प्राणी था।

मध्यकालीन यूरोप में ज्ञान क्षेत्र में दृष्टिकोण बड़ा ही संकुचित था। समस्त यूरोप में रूढ़िवादिता द्वारा आई धार्मिक संकीर्णता के अन्धकार में समस्त मानव समाज भटकता रहा था। उस काल में, यूरोप विधि क्षेत्र में भी घोर अवैज्ञानिक, दृष्टिकोण को अपनाये हुऐ था, मानवता पर घोर आतंक मचा रहा था। अन्धविश्वास, ढोंग और भावात्मक तंग-दिली के हल्के विषयों में, लोगों को आनन्द आता था। उस काल में, विधि पर भी चर्च हावी था। उस समय, विधि पर आधुनिक स्वतन्त्र अन्वेषण और वैज्ञानिक आलोचना के लिये भी ज्ञानियों के होंठ नहीं खुलते थे। 'विचार स्वतन्त्रता' तो धर्म-तन्त्र और राज-तन्त्र की तलवार के डर से अपना मुहँ सिये रहती थी और सब लोग, अहंकारी राज्य-सत्ता की आज्ञा का पालन आँख बन्द करके करते थे।

कला, साहित्य और विज्ञान प्रतिभा धर्माधिकारियों के चरणों में लोटी आँसू बहाती रहती थी। 'बुद्धि-विचार' एक बंदी की तरह 'सत्ता' की चाकरी करती रहती थी। **'चर्च'** कोई ऐसा वाद-विवाद नहीं होने देता था, जिससे उसकी बड़ी महत्वता पर कोई प्रभाव पड़े।

सामन्ति का आतंक

अर्थ व्यवस्था के क्षेत्र में 'सामन्त' का अकुंश निरन्तर किसान की पीठ पर पड़ता रहता था। वह अपनी आसामी (चाण्डाल) पर धोर अत्याचार करते थे। आश्चर्य की बात तो यह थी कि वह आसामी सभी तरह 'कर' (लगान) देने को बाध्य की जाती थीं, जबकि सामन्त एक प्रतिष्ठित नागरिक होने के नाते कोई भी 'कर' नहीं देता था। जब इतिहास के पग कुछ आगे और बढे, तो सामन्त और चाण्डाल वर्ग के साथ एक (व्यापारी वर्ग) का उदय हो गया। यह 'व्यापारी' अब सामन्त के साथ मिलकर 'आसामी' (चाण्डाल) पर और भी अधिक कहर ढाहने लगा। इस व्यवस्था को 'चर्च' की पूर्ण मान्यता प्राप्त थी। उस समय एक व्यक्ति को 'अपने' समस्त जीवन सम्बन्धी अधिकार 'नगर पालक' के अधीन कर देने पड़ते थे। किसानों और सेवादारों की आर्थिक दशा बहुत ही दुखद थी, 'उनकी' मेहनत का बहुत बड़ा हिस्सा **'चर्च'**, सामन्त और नगर पालक तथा साहूकार मिलकर हड़प जाते थे। 'सैनिकों को भी उस काल में तथा बाद में 18वीं शताब्दी तक, परिवारों के मध्य रखा जाता था, तथा उसका सम्पूर्ण खर्च भी अधिकतर साधारण जनता को ही उठाना पड़ता था।

ईसाई धर्म का आध्यात्मिक चिन्तन

वैसे ईसाई धर्म विश्व के महान धर्मों में से एक है, जो अपनी आध्यात्मिक जीवन परम्पराओं के लिये और गरीबों के हित के लिये मानव सेवा को सबसे अधिक महत्व देता है। इस धर्म के 'प्रर्वतक' 'ईश्वर पुत्र' यीशू मसीहा थे। जिनका अवतार 4 ई० पू० फिलिस्तीन के गेलीली प्रदेश के नजारथ स्थान में, कुमारी मेरी की कोख से हुआ था। उनका परिवार एक गरीब तथा मेहनतकश वर्ग से सम्बन्धित था, जो बढ़ईगिरी का काम करता था। **'यीशू धनियों के अंहकार और अत्याचार के विरोधी थे। वह निर्बलों के लिये अपार करूणा लिये थे। प्रेम, दुखियों की सेवा, शत्रु को क्षमा करना और बिना भेदभाव के सबकी सेवा करना, यीशू मसीह का मूल मन्त्र था।**

'बाइबल' (24) में लिखा है, "जिस परमेश्वर ने पृथ्वी और वस्तुओं को बनाया है, वह स्वर्ग और उसका स्वामी होकर हाथ के बनाये मन्दिरों में नहीं रहता।" (25) " न किसी वस्तु की उसे आवश्यकता है और न किसी वस्तु की पूर्ति के लिये वह मनुष्य के हाथों की सेवा लेता है, क्योंकि वह स्वयं सब को जीवन तथा श्वास और सब कुछ देता है।" (26) " एक ही मूल से, मनुष्य की सब जातियाँ, सम्पूर्ण पृथ्वी पर साथ-साथ रहने के लिये बनाई गई हैं।" 'यीशू' मसीह का सन्देश था, और चेतावनी भी थी कि "झूठे धर्म शिक्षकों से सावधान रहो" "जैसे मैने दुनिया से जाते समय", तुझे समझाया था। धर्म में रहकर, शिक्षकों को आज्ञा है, कि वे ऐसी कहानियों पर मन न लगाएँ जिन पर विवाद होता है। (5) "मेरी आज्ञा का सारांश यह है कि शुद्ध मन से, अच्छे विवेक और निष्कपट विश्वास से प्रेम उत्पन्न होता है। (6) किन्तु कुछ धर्म शिक्षकों ने उसे त्याग दिया है और वह बकवास करने लगे और भटक भी गये। पवित्र सन्देश में कहा गया है **"ऐसे लोगों से दूर रहो"** जो स्वार्थी हों, लोभी, डींगमार, अभिमानी, निन्दक, माता-पिता की आज्ञा टालने वाले हों, कृतघ्न, अपवित्र, प्रेम-रहित, क्षमा-रहित, दोष लगाने वाले हों, असंयमी, कठोर, भलाई के दुश्मन, विश्वासघाती, ढीठ, घमण्डी और परमेश्वर को नहीं मानते हों, सुख विलास को चाहने वाले हों!

यीशू का सन्देश

(11) "हम एक दूसरे से प्रेम करें।" (12) "हे, भाइयों यदि संसार तुम से बैर रखता है, तो तुम आश्चर्य न करना।" (14) "हम जानते हैं कि हम मृत्यु से पार होकर जीवन में पहुँचे हैं, क्यों हम अपने भाइयों से प्रेम करते हैं, जो प्रेम नहीं करता वह मृत्यु की दशा में रहता है।" (15) "जो अपने भाई से बैर रखता है, वह हत्यारा है।" (16) "हम प्रेम को इस प्रकार जानते हैं : प्रभु यीशु मसीह ने हमारे लिये प्राण दे दिये।" (17) "यदि किसी के पास संसार की अपार सम्पत्ति हो और वह अपने भाई को गरीब देखकर उस पर दया न करे, तो उस पर परमेश्वर का प्यार किस प्रकार बना रह सकता है?" (18) **"प्रिय बच्चों ! हम केवल शब्दों से और मुँह से प्रेम न करें पर अपने काम और सत्य के द्वारा भी प्रेम करें।"**

ईसाई धर्म के प्रमुख सिद्धान्त

यीशू द्वारा दिये गये उपदेशों और विचारों को उनके शिष्यों द्वारा ईसाइयों के प्रमुख ग्रन्थ बाइबिल (Bible) में संग्रह कर लिये गये, जिसमें प्रमुख सेवा, पाप से घृणा, अहिंसा, पापी से बचना, व्यभिचार न करना, चोरी न करना, पड़ोसी से प्रेम करना तथा पड़ोसी की पत्नि पर बुरी दृष्टि न रखना, किसी की सम्पत्ति पर लोभ न करना, अपने बड़ों का सम्मान करना, प्रायश्चित करना, "शान्ति और प्रेम" में विश्वास करना तथा गरीबों से प्रेम करना। ईसाई धर्म के प्रमुख सिद्धान्त कहे जाते हैं।

मध्यकाल और उससे आगे के समय में यीशू के सिद्धान्त कहीं दूर पीछे छूट गये

यद्यपि इतिहास की गति अविराम किसी निश्चित सीमा चिन्ह की तलाश में थी। वह ज्ञात करा रही थी, कि धर्म जो 'यीशू' ने 'सूली' पर चढ़कर, मानवता को जाग्रत करने और अत्याचारों से छुटकारा दिलाने के लिये अपने मानव धर्म सन्देशों में दिया था, जिसका सारांश कुछ शब्दों में वर्णन किया भी गया, वह सन्देश, दूर-बहुत-दूर शक्तिशाली, निरंकुश शासन के सामन्तों, धनियों तथा छदम-वेष में धार्मिक कहे जाने वाले लोगों के हाथ में कठपुतली बना, आतंकी का साथ दे रहा था। मध्य काल में चर्च और मन्दिर जिसका निर्माण ईश्वर की आराधना तथा मानवता के कल्याण के लिये किया था, और मनुष्य तथा ईश्वर में सामजंस्य स्थापति करने के लिये किया गया था वह ही शोषण का मुख्य केन्द्र बन गया था।

'यीशू' ने कहा था "झूठे धर्म शिक्षकों से सावधान रहो।" अधर्मियों, निरंकुशों, भक्तिहीन, पापियों, अपवित्रों, अत्याचारियों, माता-पिता की हत्या करने वालों हत्यारों से, व्यभिचारियों कमज़ोर पुरूषों और नारियों, मनुष्यों को बेचने वाले, झूठों, झूठी कसम खाने वालों से, विशेष सतर्क रहने की सलाह दी थी, लेकिन उन 'पवित्र' शिक्षाओं पर ध्यान न देकर यूरोप की व्यवस्था अन्धविश्वास की और शोषण की गहरी खाईयों में भटक गई थी।

यूरोप में धार्मिक अन्धविश्वास और उसके आतंक का युग

धर्म देखा जाये तो मानवकृत ही है, लेकिन प्रत्येक धर्म यह सिद्ध करने का प्रयास करता है कि उसके धर्म का जन्म ईश्वर की प्रेरणा से हुआ है। धर्म के मानवकृत होने का सबसे बड़ा सबूत यही है, कि धर्म भिन्न-भिन्न वर्गों में विभाजित है, और उसकी मान्यता तथा आराधना तथा पूजा विधि भी अलग-अलग है। लेकिन भय, अशुभ और प्राण रक्षा की भावना, हमें धर्म के साये में लाकर खड़ा कर देती है। सदियों से धर्म की आड़ में छिपे तान्त्रिक कहे जाने वाले लोग मनुष्य समाज में अज्ञानता का लाभ उठा कर उन्हें अन्धविश्वास के अन्धेरे में धकेलते रहे हैं। अतीत काल से लेकर आज तक यूरोप भी इस अन्धविश्वास की गहरी छाया से नहीं बच पाया था। उदाहरण के तौर पर अनेकों अन्धविश्वासी प्रथाएँ, धर्म की आड़ में संकीर्ण 'धर्म गुरुओं' के शोषण का साधन बन गई थीं।

उदाहरण के तौर पर मध्यकाल में यूरोप में एक ऐसी अन्धविश्वासी प्रथा से ग्रस्त था, जिसे डान्स हिस्टीरियों ही कहा जा सकता है। उनका विश्वास बन गया था कि कोई प्रेत आत्मा उनके शरीर में, प्रवेश कर जाती है, जिसके प्रभाव के कारण वह सड़कों पर आकर नाचने लगते थे। पागलों की तरह मकानों से बाहर आकर, यहाँ तक कि अपने वस्त्र उतार कर वह लोग नंगे बदन घण्टों तक नृत्य करते रहते थे और बेतहाशा सड़कों पर भागते रहते थे तथा नंगी तलवारे हवा में लहराते फिरते थे। यह एक तरह का सामूहिक पागलपन था। जो अन्धविश्वास से जन्मा था।

"People, asleep or awake, would suddenly jump up, feeling, an acute pain like the sting of a bee, some saw the spider, others did not, but they knew that it must be the tarantula. They ran out of the house into the street, to the market place dancing in great excitement soon they were joined by... others who like them had been bitten or by people who had been stung in previous years .... others would tear their clothes and show their nakedness, losing all sense og modesty .... some called for swords and acted like fencers and other for whips and beat each others............

वास्तव में उपरोक्त व्यवहार-चलन 'ग्रीक' मान्यता के आधार पर 15वीं शताब्दी तक इस इतिहास की धारा के साथ माहौल का हिस्सा रहा। माना यह जाता था कि यह प्रथा ग्रीक प्रथा के साथ आगे भी चलती रही और इस अन्धविश्वास के आधार पर यूरोप समाज में प्रचलित रही।

18वीं शताब्दी तक यूरोप अन्धविश्वास की खाइयों मे डूबा तरह-तरह के भ्रम और घोर अन्धविश्वासों से पीड़ित था, जिसके उदाहरण बड़े ही डरावने तथा रोचक भी हैं। 17वीं, तथा

18वीं शताब्दी तक में यह अन्धविश्वास फैला था, कि किसी पिशाचनी की आत्मा किसी स्वस्थ शरीर में प्रवेश करने पर वह मानसिक रोग से पीड़ित हो जाती है। उस समय लोगों का धार्मिक कारणों से विश्वास था कि यह उसके पापकृत कार्यों के कारण होता है। शैतान उसकी आत्मा में प्रवेश करके उससे अपराध कराता है। इसलिये मानसिक बीमार व्यक्ति को भूतनी की दुष्ट आत्मा से, छुटकारा पाने के लिये उसे लोहे की गर्म सलाखों से जलाया जाता था, उसे तरह-तरह से गर्म लोहे की छड़ों से पीड़ित किया जाता था।

"For during the latter part of the fifteen century beliefs concerning demoniacal possessions took a horrible turn for the worse. It now became the accepted theological belief that demoniacal possessions were of two general types : (1) Possessions in which the victim was unwillingly seized by the devil as the punishment by the God for his sins and (2) Possessions in which the individual was actually in league with the devil. The latter persons were supposed to have made a pact with devil, consummated by signing in blood a book presented to them by Satan which gave them certain supernatural power. They could cause pestilence storms, flood, sexual impotency, injuries to their enemies and ruination of crops and could rise through the air, cause milk to sour, and turn themselves into animals, In short, they were witches.

These beliefs were not confiend to simple serfs, but were held and elaborated upon by most of the important clergymen of that period. No less a man then Martin Luther (1483-1546) came the folling conclusions -

"The greatest punishment God can inflict on the wicked....... is to deliver them over to Satan, who with God's permission, kills them or makes them to under go great calamities. Many devils are in the wood, water, wildernesses etc., ready to hurt, and perejudice people.

When these thing happen, than the philosophers and physicians say it is, it was natural, ascribing it to the planets.

.... I conclude it is merely the work of the devil. Men possessed by the devil in two ways, corporally or spiritually. Those whom he possesses corporally as mad people, he has permission from God to vex and agitate, but he has no power over their souls."

उस काल में अन्धविश्वास की काली छाया धार्मिक मान्यता प्राप्त कर, गहरे अन्धकार के माहौल में, पनप रही थी। उसका आचरण राज सत्ता और न्याय सत्ता पर भी हावी था। वह बीमार तथा लाचार रोगियों पर भी तरस नहीं खाता था और सदियों से चली आ रही, परम्पराओं को, अपने अस्तित्व में रामेटे उसे इतिहास को समर्पित कर देता था।

उपरोक्त धारणा के अनुसार जब शैतान बुरी आत्मा की प्रेरणा से किसी व्यक्ति को सज़ा देने के लिये उस व्यक्ति के शरीर में प्रवेश कर जाता है तो उस शैतानी आत्मा को ताड़ना देने के लिये उसके शरीर को लोहे की गर्म सलाखों से जलाया जाता था। बाद में, 15वीं शताब्दी में, यह प्रथा अन्धविश्वासी ने डायन (witch) प्रथा के रूप मे जानी जाती थी। उस 'काल' में माना जाता था, "आकाश में अनेकों भूतनियाँ घूम रही हैं, जो मनुष्य जाति को हानि पहुँचाती रहती हैं। उनके कारण भयानक तूफान आ सकते हैं, जघन्य अपराध हो सकते हैं, आदमी में नपुंशकता पैदा हो सकती है, तथा अनेकों प्रकार की विपदाएँ आ सकती हैं। इसी से भयभीत होकर लोग 'धार्मिक तान्त्रिक' के पास जाते थे तथा उस तान्त्रिक द्वारा, उस मानसिक बीमार को लोहे की सलाखों से जलाया जाता था। यह प्रथा 'राजा' और 'धर्म गुरु' के संरक्षण में होती थी।

इस प्रथा के मानते हुये 'धार्मिक' गुरु आदेश देते थे, तथा राजा और न्यायाधीश ऐसे में पीड़ित व्यक्तियों को सज़ा सुनाते थे। "सात दिसम्बर 1484 को पोप इन्नोसैण्ट VIII ने एक सन्देश ज़ारी किया जिसमें उन्होंने सभी धर्म गुरुओं को निर्देश दिया कि वह इसे स्वर्गीय आदेश मानकर इसे रोकने के लिये कोई भी कसर बाकी न रखे। कोई भी भूतनी (Witch) बच न पाये।"

"On December 7, 1484 Pop Innocent VIII sent forth his bull 'Summis Desiderantes Affectilibus, in which he exhorted the clergy of Europe especially German to leave no means untried in the detection of witches. The papal bull who theologically based upon the scriptural command. "Thou shalt not suffer a whitch to live." (Exodus 22:18) and although it was not intended as an endorsement of the torture or persecution of the innocent prople, it was to lead to one of the most tragic periods of all human history."

इस धार्मिक आतंक की पराकाष्ठा यह थी कि भूतनियों को समाप्त करने का कार्य पूरा करने के लिये "विच हेमर" (Witch Hammer) तैयार किया गया, जिसे दो मुख्य पादरियों ने, जिनका नाम जॉहन स्पिनगर (Johann Sprenger) और हैनरिच्छ किरेमर (Heinrich Kraemer) था। इस कार्य को तीन भागों में विभाजित किया गया – (1) भूतनियों के अस्तित्व की निश्चितता स्थापित करना तथा उन लोगों का भी पता लगाना जो उस पर विश्वास नहीं करते, कि वह उस भूत आत्मा से पीड़ित हैं। (2) दूसरा आदेश, उनकी पहचान करने के सम्बन्ध में था तथा (3) तीसरा आदेश, उन्हें कानूनी तौर पर दण्ड़ित करने के विषय में तैयार किया गया था।

यह अंधविश्वास के निष्ठुर और 'जालिम' आंतकी प्रहार और घोर अमानवीय अत्याचार धर्म और राजनीति के साये में खुलेआम किये जाते थे। यह दर्द भरी पीड़ादायक यातनाएँ 'आतंक' नहीं थीं, तो और क्या थीं ?

आज के आधुनिक युग में, यह विश्वास नहीं किया जा सकता कि यूरोप जैसे विकसित कहे जाने वाले मानव समाज में, किसी गांव या शहर में, किसी मानसिक रोगी-स्त्री को "सरेआम" लोहे की गर्म सलाकों से जलाया जाता था, तथा वहाँ एकत्र हुये हज़ारों लोग उस अनर्थ को प्रोत्साहित करते थे, उसकी पीड़ा से निकली दर्द भरी आहों से आन्नद उठाते थे।

वह बेचारी अबला यह नहीं जानती थी कि उसे क्यों सताया जा रहा है ? वह 'अज्ञान' पीड़ित महिला धार्मिक अन्धविश्वास के आतंक से शिकार हुई एक ऐसी पीड़ित नारी थी, जिसका दर्द समझने वाला कोई नहीं था। उस दुखी, अबला के साथ न तो धर्म था, न राजतन्त्र था और न उस काल का न्याय था, जो 'स्वयं' ही अन्धविश्वास की नौकरी कर रहा था और जालिमाना हुक्म सुनाकर यह समझ रहा था कि न जाने उसने कितना पवित्र कार्य किया है। अपने सामने 'अग्नि' की सलाखों से जलती हुई, और तड़पती हुई उस नारी की चीत्कारों के मध्य लोग केवल उसे मनोरंजन का साधन ही मानते थे और उसे एक पवित्र कार्य भी समझते थे।

उस पीड़ित महिला को तब तक गर्म सलाखों से उत्पीड़ित किया जाता था जब तक वह यह न कबूल करले, कि वास्तव में वह भूतनी (witch) है और अपने किये हुये पापों की सज़ा पा रही है।

उदाहरण के तौर पर इंग्लैण्ड के जेम्स प्रथम ने भी असंख्य उत्पीड़न द्वारा यह सिद्ध किया कि "उसकी दुल्हन पर प्रेत-आत्मा आक्रमण कर उसके शरीर में प्रवेश कर गई है, जबकि एक दिन तूफानी हवा के चलते, वह डेनमार्क से आ रही थी।

एक स्त्री जो, अन्त में जला दी गई, जिसे 6 वर्ष तक डरावने स्वप्न में, शैतान भयभीत करता था, उस समय भी जब वह अपने पति के साथ बिस्तर पर लेटी हुई होती थी। उसने अपने पति से स्वीकार किया, कि उसने अपनी आत्मा और शरीर को प्रेत आत्मा को समर्पित कर दिया है। इस दुखद जीवन से निजात पाने के लिये और अपनी आत्मा के छुटकारे के लिये वह स्व-इच्छा से मृत्यु स्वीकार करती है।

उस काल खण्ड में 15वीं, 16वीं शताब्दी के अन्धविश्वास के अनेकों कृत्यों के लिये धर्म और राजा की विशेष स्वीकृति की मोहर और भी दिल-दहलाने वाली होती थी। जब आज कोई उस आतंकी यूरोप के अन्धविश्वास को उसके इतिहास के दर्पण में देखता है, तो अनेकों भयानक और डरावने दृष्टान्तों से भरा कुरूप चेहरा उसकी वास्तविकता को बताता नज़र आता है, जो उस काल में, अन्धविश्वासी धार्मिक कहे जाने वाले आतंक से पीड़ित था।

उस काल में फ्राँस के एक न्यायाधीश ने यह दावा किया था, कि उसने 800 से भी अधिक पीड़ित स्त्रियों को 16 साल के न्याय सम्बन्धी इतिहास में गर्म लोहे की सलाखों से जलाने की सज़ा दी थी।

अन्धविश्वासी आतंक की हवाएँ केवल यूरोप तक ही सीमित नहीं रहीं। भूतनी सम्बन्धी अन्धविश्वासी धारणाएँ 17वीं शताब्दी में अमेरीका तक पहुँच गईं थी जो उस समय एक उपनिवेश था। धर्मतन्त्र के साये में इस तरह के अनेकों अन्धविश्वासी प्रचलनों के कहर से मानवता, पर घातक और दर्दनाक प्रहार होते रहते थे।

अफ्रीका, भारत, चीन, जापान तथा एशिया के अन्य देशों में अन्धविश्वासी प्रचलित प्रथाएँ क्रूरताओं और बर्बरता की कहानियों से भरे पड़े हैं। लेकिन हम अभी तक यूरोप की ऐतिहासिक अंधेरी संकीर्ण गलियों में भटक रहे हैं, जहाँ इतिहास के अतीत के पन्नों पर आतंक ही आतंक था।

यूरोप में ज्ञान का उदय

धीरे-धीरे अज्ञानता के अन्धकार की काली परतें 'विज्ञान' की आहट से हट रही थीं। ज्ञान ज्योति के प्रकाश से अंधविश्वास के अन्धेरों की कालिमा, ऊषा की प्रथम किरणों के साथ, सवेरे का आवाहन कर रही थीं। ऐसा नहीं अन्धेरे का अन्त नहीं होता, अन्धेरा सर्वदा नहीं ठहरता है, उसका भी अन्त निश्चित है। लेकिन अभी अन्धेरों की काली परतें, यूरोप के इतिहास पर दूर तक जमी हुई थीं। प्रभात के उदय होने का संकेत तो हो ही रहा था, लेकिन अभी रात की कालिमा बहुत बाकी थी।

ग्रीक साहित्य में लोगों की रुची पहले से ही थी। पहले से ही मौजूद ग्रीक साहित्य के पुरातन अस्तित्व ने जीवन के नये दृष्टिकोण के साथ मिलकर, उस चिन्तन धारा को फिर से प्रकाशित किया, जो भय और आतंक की गर्त में दबी पड़ी थी। ज्ञान के पुनर्जन्म से जीवन-विज्ञान जाग्रत हो उठा, उसने उस समय की जड़ता और अन्धविश्वास पर हल्की चोट भी करना आरम्भ किया। उस प्रयास से धार्मिक क्षेत्र में भी उदारता का संचार हुआ। नवीन ज्ञान ने, उस काल में लोगों के मन में जीवन का एक व्यापक तथा स्वतन्त्र दृष्टिकोण उत्पन्न किया। अब 'संकीर्णता' की जड़ें हिलने लगी थीं, ज्ञान के लिये, नये द्वार खुल रहे थे।

मध्यकाल में भी दैवत्व तथा आत्म-ज्ञान मनुष्य की शिक्षा का महत्वपूर्ण अंग था। उस काल में मानवता का जन्मदाता पेट्रार्क (Petrarch) था, जो पुराने ग्रीक साहित्य को इतना पसन्द करता था कि वह उसका पुजारी बन गया। उसने आत्मविश्वास को बढ़ाते हुये, मानवीय आनन्द और सुखों की प्राप्ति के लिये वैराग्य दर्शन को फीका कर दिया, और जगत में मानवीय पक्ष को चिन्तन का आधार बनाया। 16वीं शताब्दी में मानव प्रकृति का अध्ययन करने वाला "इरेसमस" (Erasmus) था, जो रॉटर्डम (Rotterdam) निवासी था, उसने पैरिस के बाद ऑक्सफोर्ड में शिक्षा प्राप्त की थी और जर्मनी तथा इटली आदि देशों की यात्राएँ भी की थीं। इसी कारण वह अन्तर्राष्ट्रीय जगत का एक जाना-माना व्यक्ति बन गया था। उसका भी मानवतावाद के लिये एक स्वतन्त्र योगदान था। उसने अपनी पुस्तक "मूर्खता की प्रशंसा" (Praise of Folly) में सन्यासियों के अज्ञान और धार्मिक अन्धविश्वास पर बड़ी बुद्धिमानी से आक्रमण किया था। यही नहीं उसने धर्म-ग्रन्थों के अध्ययन में आलोचनात्मक प्रवृत्ति का समावेश किया था, जो उस काल में एक बड़ा ही कठिन कार्य था।

वैसे उसने यह काम बड़ी सावधानी से आरम्भ किया और धर्म सम्बन्धी सुधारों का मार्ग भी विस्तृत करने का काम किया। उस काल के दस्तूर के मुताबिक, वह स्वयं भी चर्च के विरुद्ध खड़ा होने के पक्ष में नहीं था। फिर भी उसने अपनी लेखनी द्वारा 'चर्च' के सुधार के लिये एक पगडण्डी तो अवश्य तैयार की थी।

उस काल खण्ड में, आलोचनात्मक पद्धति का विकास होने के कारण, अन्धविश्वास पर

गहरी चोट करनी आरम्भ हो गई थी। **यूरोप में, मध्य काल में, ज्ञान और कला के विकास में चर्च का भी अहम रोल था, कला और ज्ञान के पुनरूत्थान (रिनेसां) से ज्ञान-साहित्य क्षेत्र में चर्च, का एकाधिकार समाप्त हो गया था। एक तरह से यह एक 'धार्मिक' इन्कलाब ही था, जिससे मानवतावादी दर्शन अन्धविश्वास की आँधियों के मध्य धीरे-धीरे आगे बढ़ रहा था और मानवतावाद को कुछ सुखमय स्थान प्राप्त हो रहा था।** जब मानवता जाग्रत होती है तब निर्माण और विकास का कार्य आगे बढ़ता है, ज्ञान-स्वतन्त्र होकर, निर्भीकता से, अपने पंख आकाश में उड़ने के लिये फड़-फड़ाता है तब कला-साहित्य में लोगों की स्वयं ही श्रद्धा उत्पन्न होती है। लोगों में जन चेतना और जागरण का अच्छा परिणाम सामने आया, भवन निर्माण, मूर्तिकला, संगीत कला, चित्रकला, सुन्दर नक्काशी की अपने-अपने क्षेत्र में उन्नति हुई और विकास का कारवाँ भी आगे बढ़ा।

जब अन्धविश्वास की 'पर्त', ज्ञान के प्रकाश से हटती है तब साहित्य और कला नवीन एक जीवन के साथ नये युग का निर्माण करती है।

उस काल खण्ड में, लियोनार्डी-डा-विनसी, (Leonarda Vinci) माइकेल एंजिलो (Michael Angelo), रैफिल (Raphel), और टिटियन को विभिन्न ज्ञान क्षेत्रों में अपार सफलता प्राप्त हुई जो सदा ही कला के क्षेत्र में उसके जन्म स्थान इटली को प्रकाशमान करती रहेगी। यह 'जागरण कला' थी, जिसे प्राचीन ग्रीक कला प्रभावित कर रही थी। यह ज्ञान और कला के विकास का युग, नये युग के आवाहन का संकेत दे रहा था, जिसमें नैतिक संयम की शान्ति भी कला में से ही उपजी थी।

विज्ञान के उदय से अन्धविश्वास पर प्रहार

उस काल में विज्ञान के उदय से धार्मिक अन्धविश्वास का एकाधिकार धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था और 16वीं शताब्दी में, उपरोक्त, नग्न अन्धविश्वास की काली पर्तें, ज्ञान के प्रकाश से धीरे-धीरे हटाई जा रही थी। वैज्ञानिकों और मानवता-वादी दार्शनिकों के प्रयास से मानवता के विकास के लिये प्रयास तेज़ हो गये थे।

जब कभी अन्धविश्वास और संघर्षों की बंजर भूमि में विभिन्न सम्प्रदाओं के आपसी टकराव के मध्य, जब कुछ 'पल' शान्ति के मिल जाते हैं, तब विज्ञान और साहित्य के अंकुर उपजने लगते हैं। विज्ञान के चमत्कार से अन्धविश्वास का एकाधिकार समाप्त होते ही, 16वीं शताब्दी में, प्राकृतिक विज्ञान तथा प्रयोगात्मक (Experimental) विज्ञान का एक नया युग आरम्भ हो गया था।

16वीं शताब्दी में कोशिश की गई कि नैतिक मूल्यों को फिर से 'धर्म' में स्थापित किया जाये। जिससे धर्म में आतंक की समाप्ति हो और समाज आध्यत्मिक जगत की ओर बढ़ सके।

दूसरे इस आन्दोलन का लक्ष्य था, पोप की अथाह शक्ति को चुनौती देना। लेकिन यदि ध्यान से अध्ययन किया जाए तो, पता चलेगा कि यह आंदोलन एक राजनैतिक आंदोलन भी था, जिसमें पोप की अथाह राजनैतिक शक्ति को विभिन्न 'राज्यों' में अनावश्यक राजनैतिक हस्तक्षेप को रोकना भी था। पोप मानते थे, कि वह आध्यात्मिक जगत के संरक्षक हैं, तथा सर्वोच्च आध्यात्मिक सत्ता के अधिकारी हैं, उन्हें प्रभु की इच्छा से, राजनैतिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करने का पूर्ण अधिकार है।

उस काल में ईसाई धर्म का जो नैतिक पतन हो रहा था, उसे रोकना भी धर्म सुधार आंदोलन का मुख्य अंग था। समय जाग रहा था, देश भक्ति की नवीन धारा अंधविश्वास पर तथा कुरीतियों पर चोट करने के लिए उचित समय की तलाश में थी। धर्म में भी बुद्धिजीवियों का एक बहुत बड़ा वर्ग अब यह मानने को तैयार नहीं था, कि पोप मानवता से ऊपर है और वह सब प्रकार के दोषों से मुक्त है। यूरोप में उस काल में पोपशाही की कुरीतियाँ और भ्रष्टाचार का साम्राज्य यहाँ तक बढ़ गया था, कि पादरियों तक से टैक्स वसूल किया जाता था। पोप सत्ता में, गिरजाघरों तक में धर्म गुरुओं के चारों ओर, चापलूसों की संख्या बढ़ने लगी थी। राज्य-सत्ता की यह शक्ति अब जाग्रत होकर, कोशिश करने लगी थी, कि धर्म सत्ता के आतंक से तथा उसकी निरंकुशता से किसी न किसी तरह मुक्ति पायी जाए।

धर्म सत्ता और राज्य सत्ता में टकराव

धार्मिक सुधारवादियों की दृष्टि में 'धर्म गुरु पोप' आध्यात्मिक पथ प्रर्दशक (Spiritual Guide) होते हुये भी एक तरह से सांसारिक सत्ताधारी शासक के रूप में कार्य करने लगे थे। वह लोग धार्मिक साम्राज्य विस्तार के लिए अपार धन तथा अनेक अंधविश्वासों का सहारा लेते थे। यूरोप का अधिकतर धर्म तन्त्र उस काल खण्ड में एक महत्वाकांक्षी राजनैतिक संस्थान बन गया था। उसका दृष्टिकोण संकुचित रहता था। उनका धर्मतन्त्र अन्धविश्वासों और संकीर्णताओं में ढला सांसारिक सुखों की खोज में भटक रहा था। अपनी सुख-सुविधा के लिए वह वर्ग यूरोप की भोली-भाली जनता को अन्धविश्वास में धकेलकर शोषण करने की आदि हो गयी थी। वह लोग अपनी आध्यात्मिक सत्ता की दुकानदारी कर रहे थे। लेकिन उस काल में ज्योतिष ज्ञान में जो प्रगति हुई, वह प्राकृतिक गोचर पदार्थों के निरीक्षण के आधार पर हुई, दूसरे शब्दों में निगमन विधि (Inductive Method) से हुई थी।" मध्यकाल में प्रचलित आगमन विधि (Deductive Method) से नहीं हुई थी। इसकी पुष्टि करने वाला महान् विद्वान **"फ्राँसिस बेकन"** (Francis Bacon) था, उसका मत था कि कोई भी आम धारणा कायम करने से पहले परिश्रम और प्रयोग के बल पर तथ्यों का निरीक्षण कर लिया जाये, तभी हम सच्चाई पर पहुँच सकते हैं।

इस सिद्धान्त की व्याख्या करने का अर्थ यह है कि अन्धविश्वास के कारण प्राकृतिक आलम्बनों का जो सहारा लिया जाता था, उसमें माना जाता था, कि सूरज, चन्द्रमा, सितारे, आँधियाँ और तूफान अशुभ होने पर लोगों का अहित करने का काम करते थे और सितारे शुभ होने पर उनकी भलाई करने में प्रयोग में लाये जाते थे, उस अन्धविश्वास को जाग्रत ज्ञान जगत ने अस्वीकार करना आरम्भ कर दिया था। अब तक जिसका लाभ ढोंगी, धर्माधिकारी उठाते रहते थे। विज्ञान के चमत्कार ने ढोंग और अन्धविश्वास प्रचलन पर गहरा प्रहार किया।

वैसे मानव-शारीरिक विज्ञान के ग्रीक विद्वान हिप्पोक्रेट्स (Heppocrates) 460-357 B.C. जो आधुनिक औषधि शास्त्र के पितामह कहलाते हैं। उसने बहुत पहले ही अन्धविश्वास की धारणाओं को नकार दिया था। उसने कहा था **"मैं उन तमाम धाराणाओं को नकारता हूँ, जो सिद्ध करना चाहती हैं कि कोई ऊपरी शक्ति मानसिक बीमारियों को जन्म देती है और भय तथा आतंक फैलाती है, मानसिक बीमारियाँ भी अन्य बीमारियों की तरह हैं।**

"I do not believe that the human-body is ever be, fouled by God." महान् दार्शनिक प्लेटो ने भी (Leuis, 1941 page 37 पर) अपने अध्ययन द्वारा सिद्ध किया था कि मानसिक तनाव में किये गये अपराध को असाधारण तौर पर नहीं लेना चाहिये, कि वह रोगी किसी 'ऊपरी शक्ति'

के प्रभाव से कोई कृत कर रहा है, उसे भी साधारण रोगी की तरह लिया जाना चाहिये। प्लेटो ने कहा "अगर वह कोई हानि करता है, तो उससे या उसके परिवार से जुर्माना वसूला जा सकता है, उसका शारीरिक उत्पीड़न करके उसे आतंकित नहीं करना चाहिये। उसी के साथ उसकी देखभाल समाज और उसके परिवार को करनी चाहिये तथा उसके साथ मानवीय दृष्टिकोण से व्यवहार करना चाहिये। प्लेटो ने मानव व्यवहार के अध्ययन के बल पर सिद्ध करने की चेष्टा की थी, कि मनुष्य तथा अन्य जीव अपनी जन्म प्रवृत्तियों के प्रभाव से भी कार्य करतें है, उसी के कारण बहुत से मानसिक तनाव भी जन्म लेते हैं। उसने दार्शनिक फ्रायड (Freudis) की तरह ही विचार प्रकट किये थे, कि जैसे स्वप्न, अतृप्त इच्छाओं के परिणाम स्वरूप ही दिखाई देते हैं, जिसमें मनुष्य स्वप्न में उन्हें प्राप्त करने का आनन्द लेता है। यह कोई देवी संकेत से नहीं घटते। यह तो वासना के प्रभाव से मचलते हैं।

प्लेटो ने रिपब्लिक में (Plato on the Ideal State) वर्णन किया, मनुष्य में बौद्धिक-भेद जन्मजात होते हैं फिर भी सामाजिक पर्यावरण उस पर गहरा प्रभाव डालता है, लेकिन 'प्लेटो' भी पूर्ण रूप से अपने समय के प्रचारित अन्धविश्वास पर पूर्ण-शक्ति से प्रहार नहीं कर पाया, उसने उसे "अर्ध दैविक तथा अर्ध नैतिक" रूप में स्वीकार किया। अरिस्टोर्टल (Aristotle) ने भी अपने गुरु प्लेटो से असहमति जताई।

वैज्ञानिकों ने, जब ग्रीक साहित्य के अध्ययन के साथ, वैज्ञानिक ज्ञान-चेतना के आधार पर अन्धविश्वास की धारणाओं पर अंकुश लगाना आरम्भ कर दिया, उससे वहाँ एक नया संघर्ष भी आरम्भ हुआ था, विशेषकर धार्मिक क्षेत्र में तो एक तूफान सा उठ खड़ा हुआ, जिससे वैचारिक संघर्ष जोर पकड़ने लगा था।

ज्ञान प्राप्त करने के लिये यह भावना भी उत्पन्न हुई कि सरल भाषा में लोगों तक ज्ञान के प्रकाश को पहुँचाया जाये, और अति रुचिकर सामग्री एकत्र की जाये। इसी से लोक साहित्य का उदय हुआ, जिसने अन्धविश्वास पर गहरी चोट करनी आरम्भ कर दी। इटली ने उस पर पथ प्रदर्शक का काम किया। डेण्टे (Dente), प्रेट्रार्क (Petark), बोकैसिया (Boecacia) की कृत्तियों ने नवीन साहित्य युग का आरम्भ किया। इग्लैण्ड के चौसर (Chaucer) ने अंग्रेजी को लोकप्रिय बनाया। जर्मन के मार्टिन-लूथर के धार्मिक सुधार आन्दोलन ने नींव के पत्थर का काम किया, लेकिन वह भी धार्मिक अन्धविश्वास पर पूर्णतया प्रहार नहीं कर पाया। उसने लैटिन भाषा को छोड़कर जर्मन-भाषा को अपनाया तथा बाईबिल का अनुवाद जर्मन-भाषा में करके आधुनिक जर्मनी-साहित्य का महान् स्मारक बनाया। स्पेन के सरवेण्टस (Cervantes) ने अपनी अमर कृत्ति (Donquixote) का लोकार्पण इसी काल में किया था उसी के साथ फ्रैन्स में लोक-भाषा के माध्यम से रैबेल्स (Rabelais) ने व्यंगात्मक रचनाओं से मानव जागृति की नींव मजबूत की थी।

रिनेसां ने, इस काल खण्ड में मध्यकाल के अन्धविश्वास को मिटाने में एक सक्रिय योगदान प्रदान किया जिससे मानवता के अस्तित्व को कायम करने का यत्न होने लगा।

शक्तिशाली साम्राज्यवाद की स्थापना का युग

बारूद के आविष्कार से तलवार और भालों का युग समाप्त हो रहा था। बारूद युद्ध कला ने एक परिवर्तन को जन्म दिया। युद्ध क्षेत्र में एक क्रांति पैदा हो रही थी। सामन्त गग,

मध्यकाल में दुर्गों में रहते थे, समय आने पर वह अपनी सैनिक टुकड़ियों द्वारा युद्ध में सम्राट की मदद करते थे, लेकिन बारूद के अविष्कार ने सामन्तों के महत्व को धरातल में मिला दिया। अब राजा अधिक शक्तिशाली हो रहे थे।

इसी काल में समुद्री-जहाजी ज्ञान का विस्तार हुआ और समुद्री यात्राएँ एक देश को दूसरे देश से परिचय करा रही थीं। इस काल खण्ड में राजनीति का भी चरित्र बदल गया था, अब सामन्तशाही का अन्त हो रहा था और राज्य की निरंकुशता बढ़ रही थी।

अब 'राज्य' एक 'राष्ट्र' के रूप में मान्यता प्राप्त कर गया था, राज्य के उत्कर्ष के साथ-साथ वह राष्ट्र के रूप में अपना स्थान बनाता जा रहा था, अब यूरोप पहले की तरह दो-शासकों द्वारा शासित यूरोप न था, वरन् एक स्वाधीन राष्ट्रों के समूह रूप का यूरोप था, जो राष्ट्र-भावना से भरपूर था। अब एक 'राष्ट्र' अन्तर्राष्ट्रीय जगत का अंग बनता जा रहा था। उस काल में, एक राष्ट्र ने राज्य की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्वता के कारण ही शक्ति-सन्तुलन के सिद्धान्त (Principle of Balance of Power) की नींव भी डाली थी।

किसी भी राष्ट्र को याद रखना चाहिये, कि युद्ध और आतंक के कारण ही, किसी भी समाज की वाणिज्य व्यापार समता नष्ट हो जाती है। यही हाल यूरोप का भी हुआ था, यूरोप का व्यापार भी पांचवीं सदी में हुये आक्रमणों की हिंसा और आतंक के कारण नष्ट हो गया था, लेकिन जब से यूरोप में शान्ति व्यवस्था पुनः स्थापित हुई, तब व्यापार की प्रगति तेज गति से आरम्भ हो गई। व्यापार की प्रगति के कारण, नये शहर बसने आरम्भ हुये। नये वर्गों की खोज हुई। शहरों में नये शिष्ट लोग आकर बस गये, जिसके कारण एक वर्ग, जिसे मध्यम वर्ग कहते हैं, उभर कर सामने आया, यह वर्ग इतना शक्तिशाली बन गया था कि वह सम्पूर्ण यूरोप पर कुछ ही समय में छा गया। यही वर्ग यूरोप का भाग्य निर्धारक बन गया और युग परिवर्तन का साधन माना जाने लगा। इस काल में कृषि क्षेत्र की चमक-दमक धीरे-धीरे धूमिल होने लगी थी, तथा अद्यौगिक जगत की नींव यूरोप में रखी जाने लगी थी।

यही मध्य वर्ग 'चर्च' सुधारों में हिस्सा ले रहा था तथा समाज आन्दोलनों में खुलकर अपना योगदान दे रहा था, धीरे-धीरे सामन्तों का युग अब यूरोप में अर्थहीन हो रहा था तथा राज्य-सत्ता तथा धर्म-सत्ता पर अब प्रश्न चिन्ह भी लगने लगे थे।

यह वर्ग अब समुद्र की तूफानी लहरों पर काबू पाकर साहस के साथ नया इतिहास लिख रहा था, तथा समुद्री लहरों से खेलता हुआ, समुद्र का मंथन कर रहा था। इस काल ने, भविष्य के लिये आधुनिक सभ्यता की नींव रखकर संसार के दायरे को केवल विस्तृत ही नहीं किया, बल्कि उसे एक दूसरे के निकट लाने का काम भी किया। भौगोलिक खोजों ने एक नवीन युग के आगमन की सूचना देकर मानव को निडर होकर कार्य करने की प्रेरणा भी दी और ज्ञान के पुनरूत्थान ने मध्य युग की संकीर्णता और कठोरता से लोगों को अलग रहने का पावन मुक्ति सन्देश भी दिया, जिससे निडर होकर सहासिक कार्य करने की प्रवृत्ति भी जागृत हुई। ऐसा नहीं था, कि उस परिवर्तन ने पूर्णतया अन्धविश्वास को समाप्त कर दिया था। देखा जाये तो समुद्र की लहरों पर लिखा इतिहास बताता है कि समुद्र पर खतरों से खेलने वाले नाविकों के पोतों पर जहाँ किसी राष्ट्र का झण्डा फैराता रहता था, वहीं धर्म पताका भी जहाजों पर फहराती रहती थी। धार्मिक-विश्वास उन्हें भावनात्मक प्रेरणा देता था, तो कहीं अन्धविश्वास व्यापारिक लाभ में हिस्सा लेने के लिये, उनमें कई तरह के आपसी टकराव भी कराता रहता था।

माझी युग का इतिहास अवगत कराता है कि कुस्तुन्तुनिया पर तुर्की अधिकार हो जाने पर तुर्की साम्राज्य अपना खोफ बढ़ाता चला गया था, इसी कारण यूरोप में भूमध्यसागर को जाने वाले सभी रास्ते बन्द हो गये थे।

ऐसी दशा में यूरोप की चिन्ता स्वाभाविक ही थी। अब यूरोप चाहता था कि पूर्वी देशों से आने वाली सामग्री प्राप्त करने के लिये वे नये रास्ते खोजने के शौध कार्य में लग जाएँ। जिसमें भारत जाने का एक नया मार्ग भी खोजना सम्मिलित था, जो भूमध्य सागर से अलग होकर पूर्वी दुनिया का पता लगायेगा। इन खोजों का नेतृत्व पुर्तगाल और स्पेन ने किया। ध्यान देने योग्य बात यह थी, कि इसके पीछे धर्म प्रसार करना भी उनका मुख्य लक्ष्य था। उनकी खोज कलाओं में यह भावना भी कार्य कर रही थी, कि भारत जैसे देश में जहाँ मूर्ति पूजा होती है, वहाँ ईसाई-धर्म का प्रसार भी आसानी से किया जा सकता है। उस समय 1460 में एक पुर्तगाली राजकुमार हेनरी का नाम प्रसिद्ध है, जिसने अपना सम्पूर्ण जीवन अपने देशवासियों द्वारा नई खोजों को प्रोत्साहित करने में लगा दिया। वह अपने देश के मांझियों को हर तरह से प्रोत्साहित करता था। यह मांझी लोग अनजान समुद्र में आगे ही आगे बढ़ते रहे, इसका परिणाम यह निकला कि 1468 में पुर्तगालवासी वास्कोडिगामा ने भारत की खोज पर भौगोलिक दुनिया में एक नये इतिहास को जोड़ने का कार्य किया। नई खोजों में स्पेन भी पीछे नहीं रहा। उसी काल में कोलम्बस ने 1462 में नई दुनिया की खोज कर दुनिया का दायरा और आकार बढ़ा दिया।

बदलता यूरोप तथा आतंक

एक ओर धर्म अपना परचम लहरा रहा था, दूसरी ओर दुनिया के विस्तार का इतिहास चक्र के आधार पर कुछ नई राज्य शक्तियाँ जन्म ले रही थीं। कुछ पुराने राज्यों की शान-शौकत धराशाही हो रही थी। फ्राँस शत वर्षीय युद्ध (Hundred years war) के थपेड़ों की मार से घायल हुआ एक वैभवशाली राष्ट्र धीरे-धीरे स्वस्थ होकर खड़ा हो रहा था। वह आन्तरिक शासन कायम करने के प्रयास के साथ-साथ राज्य विस्तार के स्वप्न साकार करने की ओर भी बढ़ रहा था। इटली पर अधिकार जमाने के लिए, फ्राँस और स्पेन के मध्य जो युद्ध चल रहा था, वह कभी रूक जाता था, तथा कभी तेज हो जाता था, यह भयानक आतंकी युद्ध अनेकों लोगों के प्राण ले चुका था। यह संघर्ष पचास वर्षों तक तो निरन्तर चलता ही रहा था, जो हज़ारों लोगों की हत्या के लिये जिम्मेदार माना जाता है। यही वह काल था जिसमें स्पेन भी अपनी प्रभुसत्ता जमाने के लिये सबसे अधिक आतुर रहता था। इन्हीं कारणों से सम्पूर्ण यूरोप, युद्ध के आतंक से भयंकर रूप से पीड़ित था।

दूर तक अन्धकार था। उस काल में भय और आतंक के साये में तड़पती मानवता जिन दो चक्की के पाटों में दम तोड़ रही थी, वह पक्ष अधिक दुखदायी था। एक तरफ धर्म का आतंक उसका गला काट रहा था तथा दूसरी तरफ 'राजतन्त्र' की संकीर्णता के खंज़रों से मानवता लहु-लुहान हो रही थी, फिर भी यूरोप नये सवेरे की इन्तज़ार में था।

इंग्लैण्ड भी 15वीं शताब्दी के मध्य तक घरेलू युद्ध से पीड़ित रहा, जो उसको कमज़ोर बनाता रहा, लेकिन अब वह सामन्तों का सहारा छोड़कर एक मजबूत राष्ट्र के रूप में विकसित हो रहा था। उसने इसी काल में कोर्ट ऑफ स्टार चैम्बर (Court of Star Chamber) स्थापित करके समाज की उच्छंखलता और मनमानी पर रोक लगाने का कार्य करके, एक नये युग का प्रारम्भ किया।

उस काल से पूर्व सिद्धान्त में, 'रोमन सम्राट' को ही सर्वश्रेष्ठ पवित्र राज्य सत्ता माना जाता था, जो धर्म गुरुओं के इशारे पर चलती थी, लेकिन वास्तविक रूप में दो शक्तियों के रूप में विभाजित थी जो एक-दूसरे से ईर्ष्या रखते थे, तथा मनमानी करते थे। यह लोग आपस में टकराते रहते थे। यह नगर राज्यों के रूप में तथा सामन्त राज्यों के रूप में बिखरे रहते थे, जो राज्य नहीं एक झुण्ड थे। इसके बाद, जैसा कि संकेत दिया जा चुका है, बड़े राष्ट्रों का विकास हुआ, जिससे आधुनिक युग के स्थापना की नींव रखी गई जो नये-नये संघर्षों के साथ आगे बढ़ती रही।

धर्म उस काल में धर्म न रहकर आर्थिक शोषण का साधन बन गया था। वह पवित्रता से बहुत दूर हो गया था। समय के साथ-साथ इन दुर्घटनाओं के विरूद्ध धर्म सुधारकों ने मुँह खोलना आरंभ कर दिया था, जो नवीनता के साथ धर्मनिरपेक्षता के लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था।

जैसे-जैसे राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो रहा था, वैसे-वैसे यूरोप के लोग अपने-अपने राष्ट्रों की प्रभुसत्ता के मामले के लिए सचेत हो रहे थे। वे किसी भी तरह का धार्मिक हस्तक्षेप राज्य के मामलों में नहीं चाहते थे।

ज्ञान और विज्ञान के बढ़ते हुए कदमों की आहट ने धर्म की कुरीतियों और विकारों पर धर्म, सन्तों ने ही आक्रमण करना आरम्भ कर दिया था। इटली में विद्या और ज्ञान का चमत्कार केवल साहित्य तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि इटली के उत्तर में, ज्ञान ने व्यावहारिक क्षेत्र में प्रवेश किया और सामाजिक और धार्मिक कुरीतियों के प्रति जागरूकता उत्पन्न करने का संकल्प लिया। उस काल में मानवतावादी विद्वानों ने धर्म सुधारकों की तरह भी ध्यान दिया। उन्होंने अपनी लेखनी द्वारा मौजूद दोषपूर्ण व्यवस्था पर आक्रमण किए। जर्मन के मानवतावादी विद्वान 'रश्किन' और 'इरेमस' जैसे जर्मनी बुद्धिजीवी खुलकर धर्म सुधारों की पूरी तैयारी के साथ वकालत कर रहे थे। लौकिक धर्म संस्थान की अन्धविश्वासी तथा दोषपूर्ण व्यवस्था पर हमला कर रहे थे। यह लोग चाहते थे कि धर्म की लौकिक पवित्रता (Original Purity) का युग फिर से वापिस लाया जाए। 'तटजेल' (Tatzel) नामक सन्त जो सेण्ट डोमिनिक सम्प्रदाय का सन्त था, अंधविश्वासी प्रथा क्षमा पत्र बेचने पर आपत्ति उठा रहा था। मार्टिन लूथर अपने प्रसिद्ध पिच्चानवें प्रसंगों (95 thesis) द्वारा इस प्रथा पर गहरी चोट कर रहा था। यही नहीं उसने पोप के विरूद्ध झण्डा बुलन्द कर दिया था। ऑक्सकोर्ड सुधारवादी विद्वान कौलेट (Colet) तथा सर टामस आदि ने जिन प्रवृत्तियों के सुधार का बीड़ा उठाया था, वह मार्टिन लूथर से कुछ भिन्न प्रकार की प्रवृत्तियाँ थीं।

यह लोग केवल चर्च में सुधार ही नहीं चाहते थे, बल्कि चर्च में पवित्रता तथा उसमें नैतिक सत्य का समावेश भी चाहते थे। यह लोग चाहते थे कि धर्म पवित्र हो तथा धर्म गुरु नैतिक मर्यादाओं का पालनकर्ता हो। यह लोग केवल धर्म सुधारक थे, लेकिन मार्टिन लूथर जैसे क्रांतिकारी केवल धर्म सुधारक नहीं थे, बल्कि समाज सुधारक भी थे। मार्टिन लूथर ने केवल चर्च में फैले रोगों पर ही आक्रमण नहीं किया, बल्कि यह कहने का साहस भी किया कि महान् पोप तथा रोम का चर्च भी दोष रहित नहीं है। महात्मा आगस्टक वर्ग का यह शिष्य आध्यात्मिक विद्या का पण्डित, कठोर धार्मिक अनुशासन का पालन कर्त्ता, आतंरिक शांति की खोज में अध्ययन कर रहा था। अध्ययन की प्यास में, जब वह रोम गए तो उन्होंने यह महसूस किया कि पोप का 'दरबार आध्यात्मिक धार्मिक केन्द्र संस्थान' नहीं था, उसमें विलासिता, उदासीनता तथा भ्रष्टाचार का साम्राज्य पैदा हो गया था। उसे देखकर उसके मन में एक धार्मिक क्रांति ने जन्म लिया जो उसे प्रेरित कर रही थी और संकेत दे रही थी कि उस व्यवस्था के विरुद्ध आवाज़ उठायी जाये।

उस काल चक्र में, परिवर्तन का रथ तेजी से, यूरोप के धार्मिक जगत की धरातल पर आगे बढ़ने लगा। ईसाई धर्म में मान्यता थी, कि मनुष्य संसार में जो पाप (Worldly offeness) करता है, उन पापों का दण्ड उसे मृत्यु के बाद दूसरी दुनिया में अवश्य भुगतना पड़ता है। धर्म मान्यता देता था, कि चर्च के पुण्य कार्यों के लिए धन दान देने पर मनुष्य उस दण्ड को कम कर सकता है। यह एक तरह का जुर्माना था, जो पापों की मुक्ति के लिए चर्च वसूल करता था। यह एक तरह के 'क्षमा पत्र' प्रमाणित सर्टिफिकेट (Certificate) थे, जो मुक्ति प्रमाण पत्र कहलाते थे। मार्टिन लूथर की विचार धाराओं के अनुसार, पोप के इस प्रचलन का लज्जाजनक

दुरुपयोग बताया गया। जब टेटजेल (Tetzel) प्रमाण पत्र बेचने आया, तब मार्टिन लूथर ने विद्रोह कर दिया। मार्टिन लूथर का मत था, कि पापी को क्षमा पत्र देने से पूर्व 'पश्चाताप' करना आवश्यक है। लेकिन उस समय धर्म व्यवस्था ऐसा नहीं कर रही थी, बल्कि अन्धा धुन्ध धनों-उपार्जन का साधन बनती जा रही थी, जब जर्मन में टेटजेल (Tetzel) क्षमापत्र बेचने आया तब 'मार्टिन लूथर' ने विश्वविद्यालय की रीति पर चलकर चर्च के दरवाजे पर अपने 95वें प्रसगों को टांग दिया और सभी आने वालों को खण्डन करने की गम्भीर चुनौती दे डाली। **यह घटना प्रोटेस्टेन्ट चर्च (Protestant Church) की स्थापना की जन्मदाता कही जाती है। यही नहीं आगे जाकर यह धर्म संस्था खुले आम सन्देहजनक धार्मिक प्रचलनों की निन्दा करने लगी, यह धार्मिक विद्रोही वर्ग यहाँ तक आगे बढ़ गये कि 'पोप' को भी 'दोष' रहित मानने से इन्होंने इन्कार कर दिया। उन्होंने ईसाई धर्म के पवित्र धर्म ग्रन्थ की शिक्षाओं को फिर से स्थापित करने पर ज़ोर दिया और 'बाइबिल' के प्रभुत्व को स्थापित करने का प्रयास आरम्भ किया "मार्टिन लूथर" अब खुलकर 'पोप' साम्राज्य के सामने आ गये, और उन्होंने पोप को बलापहारी (Usurper) तक कह डाला।**

अब धार्मिक संघर्ष तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। एक ही धर्म आपस में भयंकर टकराव की स्थिति में आमने-सामने आ गया था। उस काल के 'पोप' लियो दशम भयंकर रूप से उत्तेजित हो उठे, उन्होंने लूथर को धर्म-च्युत कर दिया।

मार्टिन भी चुप नहीं बैठे, संघर्ष के लिये आगे बढ़े और उन्होंने भी 'पोप' के घोषणा पत्र को सरे आम आग के हवाले कर दिया। मार्टिन ने खुले-आम संघर्ष की घोषणा भी कर दी। अब धर्म युद्ध आरम्भ हो गया था।

अब 'राज-तन्त्र' भी पोप की हिमायत में, सामने आ गया, धर्मतन्त्र-राजतन्त्र पर उस काल में भी हावी था। राज्य परिषद् में सम्राट चार्ल्स पंचम ने मार्टिन लूथर को अपनी जिम्मेदारी पर, राज्यपरिषद की सभा में उपस्थित होने की आज्ञा दी, यहाँ पर लूथर से अपने विचार त्यागने के लिए कहा गया। लेकिन मार्टिन लूथर ने ऐसा करने को मना कर दिया। इस पर उसके विरूद्ध आदेश दिया गया कि उसने धर्म विरूद्ध और न्याय-विरूद्ध कार्य किया है। जिसे "आचरण की डिक्रि" (Decree of out-lawry) कहते हैं। उसकी जिन्दगी जब्त (Life Forfeit) कर दी गई जो वर्म्स राजाज्ञा (Edict of worm) के अन्तर्गत दी गई। अब मार्टिन लूथर की जिन्दगी को खतरा बढ़ गया। उसके 'मित्र' परेशान हो गये और उसे गुप्त रूप में वार्टवर्ग (Warthurg) के दुर्ग में ले गये।

यहाँ से इतिहास ने नया मोड़ लिया, 'राजतन्त्र', अब 'धर्मतन्त्र' से अलग होने की राह तलाशने लगा। जर्मन में जो राष्ट्र भावना जाग्रत हुई थी, उसने अपना करिश्मा दिखाया। 'लूथर' का प्रभुत्व जर्मन के दिलों-दिमाग पर 'राष्ट्रीयता' के माध्यम से छाने लगा। जर्मन में धार्मिक मठ तोड़े जाने लगे। जर्मन के पुरोहित ने अपने को पोप की सत्ता से बाहर कर लिया। अब लेटिन भाषा को त्यागा जाने लगा और अपनी मातृ-भाषा (राष्ट्र-भाषा) का युग आ गया, जिस समय लूथर वार्टवर्ग के दुर्ग में था, उस समय धर्म सुधारवादियों ने उत्तेजना में आतंक का सहारा भी लिया तथा गुस्से के समावेश में वह लोग, उत्तेजित रास्ते पर चल पड़े, उसमें कुछ अधिक कठोर हो गये। वह लोग धार्मिक जोश का फायदा उठाकर कुछ कट्टर प्रोटेस्टेण्टों ने शक्ति के बल पर हिंसा करना आरम्भ कर दिया। लूथर उस समय चिन्ता में पड़ गये, और

सोचने लगे कहीं उनकी योजना और लक्ष्य हिंसा के कारण असफल न हो जाये, इसलिये वह दुर्ग से निकल भागे।

जब तक मेहनतकश जनता धर्म के फंदों में फंसी रही थी। धर्मतन्त्र और राजतन्त्र मिलकर उस पर कहर ढाता रहता था। उसी काल में जर्मन के किसानों ने धर्मतन्त्र तथा राजतन्त्र की अन्धविश्वासी सीमाओं को तोड़कर विद्रोह कर दिया। लेकिन धर्मात्मा लोगों ने यहाँ तक मार्टिन लूथर तक ने, जो धर्म सुधार का परचम लिये फिर रहे थे, शासक वर्ग का साथ दिया। धर्मतन्त्र के सहयोग से राजाओं ने अपनी सैनिक शक्ति के बल पर मेहनतकश किसानों का निर्दयता से दमन कर दिया।

'मार्टिन लूथर' जैसे धर्म सुधारक व्यक्तित्व का किसानों के दमन के समय राजाओं का साथ देना यह सिद्ध करता है कि धर्म सुधारकों का लगाव भी राजतन्त्र के साथ था, उसे निर्धनों गरीबों के आँसुओं की बहती हुई धारा दिखाई नहीं दे रही थी। उस वेदना पर पर धर्म सुधारक भी-मौन थे। ऐसे उदाहरण इतिहास में और कई अवसरों पर देखने को मिलते हैं। सामाजिक तौर पर जब मार्टिन लूथर जैसे धार्मिक सुधारक भी मेहनतकश आन्दोलनकारियों के प्रति सहानुभूति नहीं रखते थे, तब अत्याचार की लाठी और भी कहर बरसाती थी। उससे पूर्व भूतनियों के प्रसंग के तहत जब दुखी पीड़ित महिलाओं को जलाया जाता था, तब भी मार्टिन लूथर ने जर्मन में मौन रहकर अन्धविश्वास को मौन समर्थन दिया था। ऐसा कुछ इतिहास बोलता है।

सामाजिक 'शोधकर्ता' यह मान सकते हैं कि मार्टिन लूथर ने किसानों के हिंसक विद्रोह को समर्थन इसलिये नहीं दिया था कि उनके समर्थन से किसान आन्दोलन और भी हिसंक हो उठा, लेकिन मार्टिन केवल धर्म सुधार तक ही सीमित रहना चाहते थे, जिसके लिये वह राजाओं के भी सहयोगी रहे। वास्तविकता तो यह थी कि धर्मतन्त्र राजाओं के शोषण के विरूद्ध आवाज उठाने में सदा ही उदासीन रहा। धर्मतन्त्र आम आदमी को भाग्य के सहारे छोड़कर ही सन्तुष्ट हो गया और राजा की चाकरी करता रहा। यूरोप में भी ऐसा ही हुआ कि लूथर का राजाओं का साथ देने से शोषणकर्ता राजाओं की शक्ति और भी बढ़ गई। लेकिन राजाओं के दमन का साथ देने पर, लूथर को जनता में, अपनी लोकप्रियता से हाथ धोना पड़ा। गरीब जनता पर जो उसका प्रभाव था, वह अब जाता रहा। अब मार्टिन राजाओं पर ही निर्भर रह गये, जनता से बहुत दूर हो गये, जिसके परिणामस्वरूप उनकी बढ़ती हुई लोकप्रियता और धर्म सुधार को गहरी ठेस लगी। मार्टिन लूथर किसान वंश से सम्बंधित होते हुये भी उन्होंने किसानों का साथ नहीं दिया था। उसके कुछ ओर भी कारण हो सकते है। इतिहास बढ़ता चला गया घटनाएँ घटित होती रहीं। राज-घराने आपस में टकराते रहे, धर्मतन्त्र कभी किसी राजा के साथ हो जाता था, कभी किसी राजा के साथ युद्धों में हिंसा का ताडण्व देखता रहा।

इन्सानी लाशों के ढेर लगते रहे। यूरोप के इतिहास में लिखा है कि इन समस्त युद्धों का कारण धर्म में फैला अन्धविश्वास तथा धर्मगुरुओं की व्यक्तिगत महत्वकांक्षा ही नज़र आती थी। ऑडसवर्ग जैसी संधियाँ हुई, समझौते भी हुये, जिसका अर्थ है "राजा जिस देश पर शासन करे, वह वहीं के धर्म का पालन भी करे"। राजतन्त्र के प्रभाव से चर्च बांटे गये। धार्मिक निग्रह सिद्धान्त जैसे सिद्धान्त लागू किये गये। धर्म संघर्ष और बढ़ गये और यही संघर्ष बढ़ते-बढ़ते तीस वर्षीय युद्ध में परिवर्तित हो गये।

आगे जाकर सब कुछ उल्टा हो गया था। पहले धर्म के हाथ की कठपुतली राजा होता था, लेकिन अब जर्मन, में धर्म राजा के हाथ की कठपुतली बन गया था। लूथर ने राजा की भुजाओं को इतना शक्तिशाली बना दिया था कि धर्म उसके अधीन हो गया था। मार्टिन लूथर अब अपनी लोकप्रियता से हाथ धो बैठे थे।

अब धर्मतन्त्र का प्रभाव धीरे-धीरे राज्य सत्ता से दूर हो रहा था ! 'धर्म था' लेकिन वह राजतन्त्र पर हावी नहीं था। फिर भी धर्मतन्त्र और राजतन्त्र जनता के शोषण के मामले में कहीं कहीं एक हो जाते थे, और कभी–कभी अलग हो जाते थे। यह खेल यूरोप के इतिहास में निरन्तर चल रहा था।

उदाहरण के तौर पर 'चार्ल्स' जो स्पेन के राजा फ़र्डिनेड का नाती था, 'चार्ल्स' प्रथम के नाम से गद्दी पर बैठा, वह एक बड़े राज्य का शासक था। जिससे नई दुनिया अमेरीका का भी उत्तराधिकारी शासक हो गया, जो उस समय स्पेन के साम्राज्य का ही हिस्सा था। पिता की मृत्यु के बाद वह निदरलैण्ड्स का शासक भी बन गया, अपने बाबा मैक्सिमिलियन की मृत्यु के बाद, वह आस्ट्रिया का शासक भी हो गया था। उसके साथ आस्ट्रिया के अधीन जितने भी राज्य थे, वह भी उसी के अधीन हो गये। धर्मगुरुओं के सहयोग से उसने अपने को सम्राट घोषित करा लिया। अब वह सम्राट चार्ल्स (पंचम) हो गया।

अब उसके साम्राज्य में भिन्न-भिन्न जातियों, विचारों का बोलबाला था। उसको सबसे पहले विभिन्न सम्प्रदायों के लोगों को साथ लेकर चलने की कठिनाई भी सामने आई। विशाल ईसाई सात्राज्य का राजा होने के नाते, उसे तुर्कों से लड़ना पड़ा। स्पेन का राजा होने के नाते उसे समुद्र में अपनी नौकाओं की रक्षा हेतु, 'मूर जाति' के, समुद्री आक्रमणकर्त्ताओं से युद्ध करना पड़ा। उसके सामने समस्या थी कि भिन्न-भिन्न जाति, रिवाज़ और धर्मों वाले साम्राज्य को किस प्रकार चलाया जाये। यूरोप को प्रथम बार इस तरह की समस्या का ज्ञान हुआ। दूसरी ओर इटली में अपनी खोई हुई स्थिति को कायम करना था तथा जर्मन में नये धर्म प्रोटेस्टेण्ट पर अपनी मोहर भी लगवानी जरुरी थी। उसी के साथ अनेकों शत्रु उससे बदला लेने की कोशिश में थे। अब चार्ल्स के सम्राट चुने जाने पर जो संघर्ष आरम्भ हुये थे, वह 15वीं सदी तक, निरन्तर चलते रहे थे। कहने का अर्थ यह है कि धर्म गुरु, कभी चार्ल्स का साथ देते तो कभी उसके विरोधी बन जाते थे, लेकिन वास्तविक शक्ति अब राजतन्त्र के हाथ में ही थी। सम्राट अब धर्म सम्प्रदाय के मामले में अपना हित देखते थे। चार्ल्स भी चाहता था, धर्म में एकता हो ! उसने आम सभा भी बुलाई, लेकिन प्रोर्टस्टेण्टस आम सभा की सत्ता को मानने को तैयार नहीं थे। चार्ल्स ने स्पेन में प्रजातान्त्रिक संस्थाओं को धर्म-द्रोह के नाम पर कुचल दिया। वह जनता की आज़ादी का दुश्मन बन गया। वह धर्मद्रोह की आड़ में विवेक शून्य होकर जनता पर जुल्म कर रहा था। वह इतना क्रूर होकर, मूरों तथा यहूदियों पर कहर बनकर अत्याचार करता रहा कि धरती कांप उठी। उसने स्पेन के जन-जीवन को अपनी तलवारों के बल पर क्षीण कर दिया। लेकिन अन्त में जब जन-आक्रोश उबल पड़ा तो विवश हो, उसे 1556 में गद्दी छोड़नी पड़ी।

यूरोप में धर्म ने ही सम्प्रदायों को जन्म दिया

जब धर्म में, अन्धविश्वास की भावना अधिक बलशाली हो जाती है, तब विभिन्न सम्प्रदाय, धर्म की व्याख्या करने के नाम पर तथा धर्म सुधार के नाम पर जन्म लेते हैं। यही नहीं, कभी-कभी एक ही धर्म कई 'मतों' और धर्मों में विभाजित हो जाता है। 16वीं शताब्दी में यूरोप में यही हो रहा था। उस काल में धर्म-सुधार का प्रतिरोध भी आरम्भ हुआ। यह आन्दोलन यूरोप के इतिहास में, 'पुनर्विधान का प्रतिरोध, के नाम से, तथा "प्रोटेस्टेण्ट" आन्दोलन के विरूद्ध 'कैथोलिक' प्रतिक्रिया स्वरूप चलाया गया था। इसका उद्देश्य प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन को अवरूद्ध करना था। लूथर बड़ी तेज़ी से 'चर्च' में आये दोषों का प्रचार बड़ी द्रुत गति से कर रहे थे। उसका सामना करने के लिये कैथोलिक चर्च ने धर्म की प्रभुता को बचाने के लिये आन्दोलन का सहारा लिया।

यूरोप के प्रोटेस्टेण्ट आगे जाकर, एक दूसरे से, ईर्ष्या रखने वाले तीन सम्प्रदायों में विभाजित हो गये। जिनके नाम लूथर सम्प्रदाय (2) कॉल्विन सम्प्रदाय (3) जिवगली (Jwingli) सम्प्रदाय था। उस काल में अधिकतर "ईसाई धार्मिक सुधारवादी" सम्प्रदाय राजनीति से प्रेरित हो गये थे। स्कैंडिनेविया के देशों में, जैसे डेन्मार्क, नार्वे और स्वीडन में धर्म सुधार आन्दोलन 'राजनीति' द्वारा ही परवरिश पा रहा था। अधिकतर राजनीति अमीरों के प्रभाव में थी। डेन्मार्क ने तो धरती को लहू लुहान करने के बाद प्रोटेस्टन धर्म कबूल किया था। इनमें आपसी विवाद तेज़ी से बढ़ते चले गये, जो प्रोटेस्टेण्ट आन्दोलन को कमज़ोर कर रहे थे। इन सभी साम्प्रदायिक मतभेदों के कारण प्रभु 'यीशू' का शान्ति सन्देश बहुत पीछे छूट गया था, लेकिन "कैथोलिक चर्च" अब नई प्रेरणा के साथ अपने में सुधार भी कर रहा था। लेकिन वास्तविकता यह थी, कि धर्म का लक्ष्य आन्तरिक तथा राजनैतिक अशान्ति की भेट चढ़ गया था। जिसके कारण राजनैतिक हिंसा अपना खेल-खेल रही थी, और धार्मिक सम्प्रदाय आपस में टकरा रहे थे, जिसके कारण मध्य यूरोप की गरीब जनता जुल्म की चक्की में बेतहाशा पिस रही थी।

इसी काल में एक और सोसाईटी का जन्म हुआ जो (जेसुएट सोसाइटी) 'आर्डर ऑफ जीसस' यानी (ईसा मसीह का संघ) कहलाती थी। जिसे एक सैनिक ने स्थापित किया था, जो सेना से एक गहरे घाव लगने के कारण लंगड़ा हो गया था। यह सैनिक स्पेन के एक कुलीन वंशी खानदान से सम्बन्धित था, जिसका नाम "इगनेशियस लायोला" (Ignatius Loyolla) था, जो अपंग होने पर निराश तो हुआ, लेकिन अपना नेक इरादा बनाकर ईसाई धर्म के प्रचार में लग गया। उसने पेरिस में धर्मशास्त्र का अध्ययन किया और मुसलमानों के मध्य जाकर ईसाई धर्म का प्रचार करने लगा, लेकिन बेमिस और तुर्कों के मध्य होने वाले युद्ध के कारण (1534) में वह अपने लक्ष्य में अधिक कामयाब न हो सका।

उसने अपनी सोसाईटी को सेना की तर्ज़ पर बनाया था, जो एक सैनिक संगठन की

तरह ही था, जिसके सदस्य अनुशासन के साथ अपने धर्म-अधिकारियों की आज्ञा का पालन करते थे। उसमें नौजवानों को अधिक ठोस और मजबूत बनाया जाता था। उन्हें कैथोलिक धर्म के लिये सब कुछ कर गुज़रने के लिये तैयार किया जाता था। जहाँ उसमें वृद्धजनों को उपदेश देकर आध्यात्मिक बनाया जाता था, वहीं नौजवानों को कैथोलिक कूटनीति से पूर्ण किया जाता था। यहाँ तक की उसके सदस्य षड़यन्त्रों को रचने में भी नहीं चूकते थे। वैसे इनका लक्ष्य प्रोटेस्टेण्ट के बढ़ते हुये प्रभाव को रोकना ही था, जिसके लिये वह सब कुछ कर गुजरने को तैयार रहते थे।

एक ओर यूरोप में, नये सम्प्रदाय और पंथ आपस में टकरा रहे थे, तो दूसरी ओर 'धर्मतन्त्र' और राजतन्त्र दोनों ही संघर्षों, और आपसी युद्ध में भयंकर रूप से फँसते चले जा रहे थे। यह सभी साम्प्रदायिक कहे जाने वाले पंथ, युद्ध और आतंक को रोकने के बजाय यूरोप को युद्ध की भयानक आग में झोंक रहे थे। पाश्चात्य देशों में, उस काल, में आध्यात्मिक तथा नैतिक मान्यताओं पर गहरी धुन्ध की काली परत और भी जमती चली जा रही थी।

उस समय ईशानी (Essenee), स्ताविक (Stavik), सडुशियन (Sadduceans), पालिस्टियन रोमन्स (Romans), ईसाईयों में तथा इस्लामी धर्म अनुयायियों में, और यहूदी धर्म मानने वालों में, जो आपसी संघर्ष उत्पन्न हो जाते थे, वह अनगिनित लोगों की जाने ले रहे थे। **यह ऐसा आतंक था, जो धर्मान्ध लोगों की संकुचित तथा सकीर्ण मनोवृत्ति के विकारों से उपजा था। यह सभी पंथ अपनी निजी प्रतिष्ठा बढ़ाने के लिए तथा अपने अनुयायियों की संख्या बढ़ाने की होड़ में लगे हुए थे। इनमें से बहुत से कट्टर-पंथी धर्मान्ध लोग दुराग्रह, क्रोधी तथा हठी मानसिक्ता के शिकार हो गये थे, तथा इनमें इतना अलगाव बढ़ गया था कि एक पंथ दूसरे पथ को मिटाने पर तुला हुआ था। देखा जाये तो यही मानसिकता आगे जाकर आतंक का कारण बन गई थी।**

धार्मिक न्यायालयों का कहर

इसी काल में यूरोप में एक धार्मिक न्यायालय बनाया गया था, जो धर्म विरोधियों का पता लगाकर उन्हें दण्ड देने का काम भी करता था। इस न्यायालय के अधिकार असीम थे तथा यह न्यायालय बड़ी कठोर तथा निर्दयता से धर्म विरोधियों को सज़ा देता था। लेकिन जैसे-जैसे राजतन्त्रात्मक तथा राष्ट्रीय राज्यों का उत्थान हो रहा था, वैसे-वैसे मध्यकालीन की विश्वव्यापी धार्मिक साम्राज्य की मान्यता कमज़ोर हो रही थी। राजतन्त्रात्मक उत्थान धर्म-शक्ति का सहयोग तो चाहता था, लेकिन उसके अधीन रहने की भावना से पूर्ण छुटकारा चाहता था।

उस समय में ट्यूटोनिक जाति (Tuetonic Race) के अधिकांश राष्ट्र जैसे इंग्लैण्ड, स्काटलैण्ड, उत्तरी जर्मनी, डेन्मार्क, नार्वे और नीदरलैण्ड के अधिकतर भाग रोम के चर्च से स्वतन्त्र होकर राष्ट्रीय रूप में विकसित होने लगे थे।

अब यूरोप का आम आदमी भी धार्मिक मामलों में बाइबिल की शिक्षाओं पर विश्वास करता हुआ नजर आता था। वह परम ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करने लगा था। अब आँख मूँद कर चर्च की आज्ञा पालन करने का युग धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था। उसमें धार्मिक कट्टरवाद से छुटकारा पाने की कोशिश आरम्भ हो गई थी। अब पाश्चात्य समाज, धार्मिक सहिष्णुता और व्यक्तिगत नैतिकता तथा स्वतन्त्रता की मान्यताओं की ओर बढ़ रहा था। उस काल में यूरोप में, इसाई धर्म को ही 'राष्ट्र' धर्म माना जाने लगा था। उस काल में 'राष्ट्रीयता' का धार्मिक

प्रतीक ईसाई धर्म ही था।

इससे पूर्वकाल में, (1574 से लेकर 1600 शताब्दी) के लगभग यूरोप में, आपसी धार्मिक कलह राजघरानों में अन्दर तक फैल गयी थी। उदाहरण के तौर पर 1574 में इंग्लैण्ड के एडबर्डवण्ट ने प्रोटेस्ट धर्म अपना लिया, तब इंग्लैण्ड की धार्मिक धाराएँ (42 Articles of religion) को सबके लिए मानना अनिवार्य हो गया था। उस समय चर्चों की वेदिकाएँ, मूर्तियाँ तथा चित्र सभी तोड़ डाले गए। कैथोलिक धर्म को जड़ से उखाड़ने के लिए "गिल्ड" भी तोड़ डाली गयी, जो इंग्लैण्ड में (यूरोप में) अतीत के पुरातन स्मारक थे और अधिकृत राज्य के अन्तिम अवशेष थे। उस काल में राजा के धर्म परिवर्तन पर, राजनीति भी बदल जाती थी। धर्म भी बदल जाते थे, और राजाओं के ईमान भी बदल जाते थे। मेरी के शासन काल में इंग्लैण्ड में फिर कैथोलिक धर्म की पुनः स्थापना हुई। उसने पार्लियामेण्ट बुलाकर, इंग्लैण्ड के चर्च को रोम के चर्च के अधीन कर दिया। 'पोप' के दूत कार्डिनल रजीनाल्ड पोल (Cardinal Reginald Pole) को इंग्लैण्ड में बुलाकर 'मेरी' ने क्षमा मांगी और अपने को आदर से पोप के चरणों में समर्पित कर दिया। 'मेरी' ने अपने को 'पोप' से, धर्म विरोधी कार्यवाही से मुक्त कराया। उस काल में, फिर से आम जनता धर्म के नाम पर अत्याचारों का शिकार हुई। क्योंकि मेरी ने, अपने शासन काल में प्रोटेस्टेण्ट लोगों पर क्रूर अत्याचारों की झड़ी लगा दी। यहाँ तक की लोगों को बन्दी बनाया गया तथा विरोधियों को बेरहमी से कत्ल किया गया। जनता पर घोर अत्याचारों के कारण मेरी को **'खूनी मेरी'** के नाम से पुकारा जाने लगा।

राजा की तलवार और धर्म का संरक्षण

धर्म के नाम पर राजाओं की तलवारें तथा उनके जहरीले खन्ज़र निर्दोशों का गला काट रहे थे। कभी एक पंथ के नाम पर तथा कभी दूसरे पंथ के नाम पर भोले-भाले लोगों का कत्ले-आम किया जाता था।

(1558 से 1606) एलिजाबेथ ने तो अपने को ही 'चर्च अधिष्ठाता' के स्थान पर प्रधान शासक घोषित कर दिया। उसने जनता को चर्च में इतवार (Sunday) में जाने की प्रथा को अनिवार्य कर दिया। उसके शासन काल में, इतवार (Sunday) को उपासना में न जाने पर लोगों को सज़ा दी जाने लगी। समय का रथ आगे बढ़ रहा था। धर्मतन्त्र और राजतन्त्र के आपसी झगड़े तथा व्यक्तिगत स्वार्थ देश के अपार धन-जन का विनाश कर रहे थे। इसका सबसे बड़ा उदाहरण तीस वर्षों तक चलने वाला युद्ध ही कहा जा सकता है, जो युद्ध 1618 से लेकर 1648 तक निरन्तर चलता रहा। तीस वर्षीय युद्धों में अनेकों बार राजाओं के खजाने खाली हो गए, और लाखों की तादाद में निर्दोश लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। बोहेमिया के स्थानीय झगड़ों से इस युद्ध का आरम्भ हुआ था, जो धीरे-धीरे पूरे जर्मन में फैल गया था। बाद में जाकर यह धार्मिक संघर्ष न रहकर दो राजवंशों अर्थात हैन्सवर्ग वंश तथा बुअर्वन वंश के बीच होने वाले राजनीतिक झगड़े की जड़ बन गया। इसमें फ्राँस, स्वीडन तथा अन्य यूरोपीय देश भागीदार हो गए। अमानुषिक अत्याचारों में जर्मनवासियों पर यातनाओं की कहानी बड़ी लम्बी है।

युद्ध के भयंकर परिणाम के फलस्वरुप अशान्ति और हत्याओं के कारण, जब मानवता क्रन्दन करने लगती है, तब कहीं न कहीं से दया और अंहिसा के अंकुर भी फूटते रहते हैं। यह सिद्ध करती है कि मानवता भी एक धर्म है जो युद्ध, अहंकार, अशान्ति, विध्वन्स के मध्य

इतिहास के विकास के साथ विकसित हुआ है। यह हो सकता है, और ऐसा हुआ भी है, कि जब मानवता ने जाग्रत होकर जीने का रास्ता दिखाया है। इतिहास में यह खेल वर्षों से चलता आ रहा है। **मानवता कभी मरती नहीं है, चाहे उस पर कितने ही प्रहार किए गए हो,** उदाहरण के तौर पर इटली के युद्ध के बाद आधुनिक कूटनीति और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों ने जन्म लिया। इटली में नगर रियासतें बड़ी संख्या में अस्तित्व में थीं, वह आपस में निरन्तर संघर्षरत रहती थीं। प्रतिद्वन्द्विता तथा इर्ष्या के कारण युद्ध के बाद समझौते होते थे। यहाँ तक की युद्ध के दौरान भी कूटनीति का प्रयोग करना पड़ता था। उसी युग में, अतः अभयदान पत्र (Pass-Port) की प्रथा का उदय हुआ। उसी काल में शस्त्रधारी-सेना और आम जनता में, युद्ध के दौरान अन्तर करने की प्रथा भी आरम्भ हुई। ताकि युद्ध के दौरान बेचारी निर्दोश जनता पर, जो अत्याचार किए जाते थे, उसे रोकने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून बनाने की प्रथा भी आरम्भ की गई।

युद्ध में, जिस निर्लज्ज-पाशविकता और कठोर निर्दयता तथा हिंसा का प्रदर्शन होता था, उससे विवेकशील व्यक्तियों को गहरा आघात लगता था। उस काल के, दार्शनिक समाज ने ऐसे नियम बनाने पर ज़ोर दिया, जिनके द्वारा युद्ध काल में युद्ध से अलग रहने वाली साधारण जनता की रक्षा हो सके, जिससे साधारण जनता की लूटमार तथा उनका शोषण और निर्दोष लोगों की हत्याओं को रोका जा सके। उस काल में एक सबसे अधिक महत्वपूर्ण और उपयोगी पुस्तक लिखी गई, जिसका नाम **"आन दी लॉ ऑफ वार एण्ड पीस" (On the Law of War and Peace)** था। यह पुस्तक 'गिरोटियस' (Grotious) द्वारा लिखी गई। 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में जहाँ एक ओर अभी धार्मिक तथा राजनैतिक संघर्ष प्रभुसत्ता पर प्रभुत्व कायम करने के लिए चल रहे थे, वहाँ 'दार्शनिक समाज' और चिन्तक जगत दुनिया में, 'मानवधर्म' को स्थापित करने का प्रयास भी कर रहा था।

यूरोप में 17वीं तथा 18वीं शताब्दी में, दो मुख्य परिवर्तन महसूस किये गये। 17वीं शताब्दी के मध्य भाग तक 'पोपशाही' एवं रोमन साम्राज्य की सम्पूर्ण शक्ति, यथार्थ में दम तोड़ रही थी। दूसरी ओर तीस वर्षीय युद्ध ने 'सम्राट' को 'छायामात्र' बनाकर छोड़ दिया था। लेकिन एक नया 'निरंकुश राजतन्त्र' जन्म ले रहा था, जो राज्य को राष्ट्र शक्ति के रूप में संगठित कर रहा था। यह निरकुंश राजतन्त्र, राजनैतिक, सैनिक तथा आर्थिक तौर पर अपने-अपने 'राष्ट्र' को शक्तिवान तथा निरंकुश बना रहे थे। यह निरंकुश राजतन्त्र देश में ही नहीं विदेशों में भी अपनी शक्ति बढ़ाने लगे थे।

यूरोप में आतंक ने निरंकुश राजतन्त्र का सहारा लिया

समय की चाल के कारण युद्ध और आतंक ने अब निरंकुश राजतन्त्र का सहारा ले लिया था। अब वह धर्मस्थलों से निकलकर यूरोप के राजघरानों में आ छिपा था, और अपना देश और उसकी संकीर्ण राष्ट्रीयता, उसका भावनात्मक 'जय घोष' हो गया था। सम्राट की प्रतिष्ठा, उसका सम्मान और अहंकार उन्हें आपसी संघर्ष के लिए विवश करने का काम करने लगा। अपने झण्डे की शान और बान, अपने 'राष्ट्र' के लिए दूसरे 'राष्ट्र' को मिटाना, युद्ध और आतंक का कारण बनने लगे। युद्ध और आतंक का शैतान अब यूरोप के धर्म स्थलों को छोड़कर, और छोटी-छोटी रियासतों से निकलकर, बड़े राजघरानों के आरामदायक महलों में अपना 'करतब' दिखाने लगा था। यूरोप में, 16वीं शताब्दी तक 'धर्म' ही युद्ध का कारण बना रहा लेकिन 18वीं शताब्दी के युद्ध और आतंक का कारण, राजवंशी अहम और राज्य विस्तार की प्यास ही युद्ध के मुख्य रहे थे। धर्म-युद्ध का आतंक यूरोप की भोली-भाली जनता पूर्ण रूप से देख चुकी थी। लेकिन अब 'चर्च' धर्म की पवित्रता और मानव कल्याण की शिक्षा के केन्द्र बनने लगे थे।

उस काल में, जो युद्ध अब तक धर्म और पंथ की प्रतिष्ठा कायम करने के लिए लड़े जाते थे, वह अब राजवंशों की शान-शौकत और उनकी प्रतिष्ठा, राजकुमारों की शादी के लिए, उत्तराधिकारी के प्रश्न के लिये, युद्ध का कारण होने लगे। अब युद्ध और आतंक का शैतानी रूप भेष बदल कर, मानवता को रौंद रहा था। यह युग अपने राज्य के विस्तार का युग भी था, जो अपने राज्य का विस्तार, युद्ध और आतंक के द्वारा फैलाना चाहते थे। इसी के कारण 'स्पेन' के उत्तराधिकारी का युद्ध हुआ, राजसिंहासन की रक्षा करने के लिए 'विलियम तृतीय' का युद्ध लड़ा गया। 'लुई' के बाद, 'आस्ट्रिया' तथा 'पौलैण्ड' के युद्धों के यही कारण रहे।

इसी काल में फ्राँस ने, राष्ट्रीयता की भावना की शक्ति पर अपनी प्रभुसत्ता का विकास किया। यही नहीं, फ्राँस ने बौद्धिक शक्ति का विकास भी राष्ट्रीयता की भावाना के कारण किया। इन दो शताब्दियों में, फ्राँस ने यूरोप को बौद्धिक विकास की 'कला' सिखाई तथा शिष्टाचार, नीति और समाजशास्त्र की परिभाषा का ज्ञान भी समस्त यूरोप को कराया।

दूसरी ओर यह युग, 'प्रजातन्त्र' की स्थापना का युग भी कहा जा सकता है। जिसमें इंगलैण्ड की संसद (Parliament) ने राजा के अधिकारों पर नियन्त्रण भी किया। इतिहास में, प्रथम बार पार्लियामेण्ट ने चुनौती स्वीकार करके अपनी जन शक्ति को दिखाया, और राजा तक को फाँसी के फन्दे पर लटका दिया। चार्ल्स प्रथम को देशद्रोही और अत्याचारी घोषित करके मृत्यु दण्ड दिया गया। आओ! थोड़ी देर के लिए इस घटना की वास्तविकता की तलाश में यूरोप के इतिहास के पन्नों को पलट कर देखें, तथा इंग्लैण्ड के राजमहलों में होने वाली 'कुटनीति' के खेलों से सबक लें।

1603 की बात है, ट्यूडर वंश की अन्तिम उत्तराधिकारीणी एलिजाबेथ की मृत्यु, के बाद

जेम्स प्रथम, जो 'मेरी स्टुवर्ट' का पुत्र था, इग्लैण्ड की गद्दी पर बैठा। जेम्स स्काटलैण्ड का शासक तो पहले से ही था, लेकिन उसके इंग्लैण्ड की गद्दी पर बैठने के कारण दोनों देशों की मित्रता और भी सुदृढ हो गई। लेकिन जेम्स राजा के दैवी अधिकारों में यकीन करता था, इसलिये इंग्लैण्ड की संसद में और 'राजा' में तनाव हो गया। 'जेम्स' अपने को राजकोष का भी पूर्ण अधिकारी समझता था। पार्लियामेण्ट ने राजनैतिक चेतना के आधार पर उनका दृढ़ता से विरोध किया। इंग्लैण्ड में यहीं से ही संसदीय प्रणाली का युग आरम्भ हुआ, प्रजातन्त्र को विकसित करने की ओर बढ़ना आरम्भ हो गया था। यहाँ से ही राजा और पार्लियामेण्ट का विवाद भी आरम्भ होता है। यह घटना संसद को विधि निर्माण की शक्ति प्रदान करने की ओर बढ़ाती है, और राजतन्त्र पर अंकुश की 'प्रवृति' प्रखर होकर प्रकट होती है। यद्यपि 'राजा' और इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट के मध्य संघर्ष का निर्णय नहीं हो पाया था लेकिन इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट अपने अधिकारों के प्रति सचेत हो गई थी, और इंग्लैण्ड की संसद ने, राजतन्त्र से पूर्णतः स्वतन्त्रता प्राप्त करने के लिए अपनी कोशिश आरम्भ कर दी थीं। वास्तविकता यह भी थी, कि उस काल में, 'धर्म शक्ति' अभी भी राजनीति से अलग नहीं हो पाई थी, उसने 'हैम्पटन कोर्ट' में जेम्स से जो समझौता किया था, उसके कारण प्यूरिटन और कैथोलिक दोनों ही उससे नाराज़ हो गए थे। कैथोलिकों ने तो क्रोध के आवेश में 'बारूद का षड़यन्त्र' उस पर, रच डाला था। उसका परिणाम भयानक ही निकला। उसके बाद जब चार्ल्स प्रथम गद्दी पर बैठा, तो वह अपने पिता की भाँति अपने अधिकारों को असीम समझता था। इसी कारण 'पार्लियामेण्ट' और राजा का आपसी संघर्ष पराकाष्ठा की सीमा पार कर गया था। दूसरे 'कैथोलिक धर्म' के प्रति उसका पक्षपात देखकर जनता उसकी घोर विरोधी हो गई थी। उस काल में, उसका एक विश्वासपात्र मंत्री बकिंघम (Buckingham), जो अयोग्य और भ्रष्ट भी कहा जाता था, जनता की आलोचना का पात्र बना हुआ था। पार्लियामेण्ट उसे हटाना चाहती थी, लेकिन राजा का कृपापात्र होने के कारण उसे नहीं हटाया गया, इस पर पार्लियामेण्ट ने 'राजा' को धन की स्वीकृति नहीं प्रदान की थी। उसी के कारण, क्रोध में चार्ल्स (प्रथम) ने पार्लियामेण्ट को ही विसर्जित कर दिया। संघर्ष बढ़ता चला गया। इस मध्य, उसे केडिज़ (Cadiz) में स्पेन के विरूद्ध पराजय का मुँह भी देखना पड़ा तथा उसकी 'दूसरी' सेना जो फ्राँस के ह्यूजेनाट्स की सहायतार्थ ला-रोशले (Lakochelle) युद्ध की ओर भेजी गई थी, वह भी वहाँ युद्ध में नष्ट हो गई। चार्ल्स की राजनीतिक अयोग्यता ने इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा को खाक में मिला दिया। परिस्थितियों से मजबूर होकर उसे पार्लियामेण्ट को बुलाना पड़ा और उसके सामने नतमस्तक भी होना पड़ा।

चार्ल्स को विवश होकर 1628 में, अधिकार पत्र (Petition of Right) पर भी अपने हस्ताक्षर करने पड़े। अब राजा को पार्लियामेण्ट की स्वीकृति के बिना, जनता से बलात् धन वसूल करना अवैध घोषित हो गया। **इसके बाद संसद में कानून पास हो गया कि बिना कारण बताये किसी को बन्दी नहीं बनाया जा सकता था, तथा 'प्रजा' के निवास स्थान पर सैनिकों को रखने की प्रथा भी इस अधिकार पत्र के बाद निन्दा का पात्र बन गई थी।**

धीरे-धीरे मानव अधिकार अपना सुरक्षित स्थान बनाते जा रहे थे। 'जनतन्त्र' के अंकुर सम्पूर्ण यूरोप में फूटने लगे थे, लेकिन अभी मंजिल बहुत दूर थी। उस काल में, यूरोप में, न तो धर्मनिरपेक्षता 'राजतन्त्र' पर पहुँच बना पाई थी और न ही पार्लियामेण्ट पूर्णतः 'जनतन्त्र' की हितैषी बन पाई थी।

इसके विपरीत राजा और पार्लियामेण्ट का संघर्ष तेजी से आगे बढ़ रहा था। पार्लियामेण्ट 'राजा' की अवैध वसूली पर अंकुश लगा रही थी, जबकि राजा युद्ध की आग में इंग्लैण्ड, को बार-बार झोंक रहा था। राजा को, प्रथम बिशप युद्ध (First Bishop War) में, फिर से हार का मुँह देखना पड़ा, जिससे इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट का 'हाऊस ऑफ कामन्स', उसके कार्यों से बेहद नाराज़ हो गया। इसी तरह, दूसरे 'बिशप युद्ध' में तो राजा की करारी हार ने, इंग्लैण्ड की प्रतिष्ठा की धज्ज़ियाँ ही उड़ा दीं। जब सन्धि द्वारा द्वितीय बिशप युद्ध का अन्त हुआ, तब उसके अनुसार चार्ल्स को 'स्कॉट' सेना के लिए 850 पौण्ड प्रतिदिन, दण्ड स्वरूप देने का वचन देना पड़ा, इसी धन प्राप्ति के लिए उसे 1640, ई० में दीर्घकालीन पार्लियामेण्ट बुलानी पड़ी।

उसके बाद, राजा और पार्लियामेण्ट के संघर्ष में और भी तेज़ी आ गई, जब राजा के दो निरंकुश, अत्याचारी कर्मचारियों का पार्लियामेण्ट ने वध करा दिया, तब राजा बेहद उत्तेजित हो उठा। 'राजा' बार-बार विधान बदलने का प्रयास कर रहा था। जिसका 'हाऊस ऑफ कामन्स' के सदस्य एकता के साथ उसका विरोध कर रहे थे, लेकिन धार्मिक विवादों ने साज़िश करके फिर से 'हाऊस ऑफ कामन्स' की एकता में मतभेद पैदा कर दिये।

पार्लियामेण्ट घोषणा कर रही थी, कि उसकी स्वीकृति के बिना उसे भंग नहीं किया जा सकता। मेम्बर ऑफ पार्लियामेन्ट जोर दे रहे थे कि 'पार्लियामेण्ट' का अधिवेशन कम से कम हर तीसरे वर्ष होना अनिवार्य हो। 'स्टार-चैम्बर' और 'कोर्ट-ऑफ-हाई कमिश्नर', जैसी निरंकुश अदालतें तोड़ दी जाएँ। अवैध कर वसूल नहीं किये जाएँ। लेकिन राजा चार्ल्स धार्मिक मतभेदों का लाभ उठाते हुये मनमानी करने की कोशिश करने लगा। उसने आतंक फैलाने के लिए पांच पार्लियामेण्ट के सदस्यों को बन्दी बनाने का प्रयास भी किया, जिससे जनता में तूफान उठ खड़ा हुआ। अतः परिणामस्वरूप 1642 में इंग्लैण्ड गृह-युद्ध की आग में जलने लगा। इस युद्ध में, पहले तो शाही सेनाओं की विजय हुई, लेकिन 'क्रामवेल' की सैनिक योग्यता ने मार्स्टन-मूर नैसबे (Marston Moor and Nasbey) में, राजा की सेना को बुरी तरह परास्त कर दिया। हार के बाद 'चार्ल्स' स्काटलैण्ड भाग कर चला गया। परन्तु 'स्कॉटों' ने उसे पकड़कर पार्लियामेण्ट को सौंप दिया। चार्ल्स का आत्मसमर्पण हो जाने के बाद सेना और पार्लियामेण्ट में भी एक नया विवाद पैदा हो गया। राजा ने दोनों के साथ गुप्त समझौता करने की कोशिश की पर उसे सफलता नहीं मिली। राजा के कपटी स्वभाव को देखकर कर्नल 'प्राइड' ने ही कार्य को अंजाम दिया। प्रथम तो हाऊस से 'प्रेस्विटेरियन' सदस्यों को निकाल दिया। क्रामवेल ने जब यह महसूस किया कि पार्लियामेण्ट और राजा सन्धि की बात कर रहे हैं, तब 'क्रामवेल' ने शक्ति का प्रयोग किया, क्योंकि क्रामवेल और उसके साथी राजा को दण्ड देना चाहते थे। 6 दिसम्बर 1648 को कर्नल 'प्राईड' के नेतृत्व में सेना की एक टुकड़ी को, लाल वर्दीधारी सैनिक दल के साथ लेकर पार्लियामेण्ट भेजा गया, जिसने शक्ति के बल पर हाऊस ऑफ कोमन्स के 143 सदस्यों को भीतर जाने से रोक दिया। इस (Prides Purge), सफाई अभियान के बाद, पार्लियामेण्ट में केवल 90 सदस्य ही रह गये। दूसरे उसने एक 'हाई-कोर्ट-ऑफ-जस्टीस' की स्थापना की, जिसमें चार्ल्स पर अभियोग चलाया गया तथा उसे अत्याचारी और देशद्रोही बताकर प्राणदण्ड की सज़ा देकर मौत के घाट उतार दिया गया।

इंग्लैण्ड के इतिहास में यह समय बहुत कठिन था। जहाँ राजा की हत्या के साथ-साथ 'पार्लियामेण्ट' की प्रतिष्ठा की भी फौजी तानाशाही ने सरे-आम धज्जियाँ उड़ा दी थीं। पार्लियामेण्ट

की जनशक्ति को सैनिक शक्ति के बल पर समाप्त कर दिया गया था। उस काल में कुछ धर्म गुरू, राजा को अत्याचारों के लिये उकसाते रहते थे। अधिकतर धर्म गुरु भी उस काल में, युद्ध और आतंक के प्रेरणा स्त्रोत बने हुये थे। इंग्लैण्ड का हाऊस-आफ-कॉमन्स भी 'धर्म तन्त्र' के प्रहारों से भयभीत था। उस काल में सेना पर भी कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट के आपसी संघर्ष की पूर्ण छाया दिखाई देती थी। वह ऐसा समय था, जब 'राष्ट्रीयता' 'अपरिपक्वता' के साये में मौन खड़ी थी।

यह 'क़ाल' जहाँ राजा का गला काटा जा रहा था, वहीं सैनिक तन्त्र, जनता पर शोषण की बर्बरता का इतिहास लिखता रहा था। आपसी धार्मिक संघर्ष अपनी चरम सीमा पर थे। धर्म-संघर्ष के नाम पर जो आतंक फैला था, वह भंयकर खून-खराबे की दुखद घटनाओं से भरा पड़ा था।

राजा चार्ल्स की हत्या तथा 'पार्लियामेण्ट' का सेना के सामने आत्मसमर्पण, यह सत्य प्रकट करता है, कि इंग्लैण्ड की सेना को राजनीति में आनन्द आने लगा था। उस काल में, इंग्लैण्ड में 'धर्मतन्त्र' मौन था, राजतन्त्र शैय्या पर पड़ा विलाप कर रहा था तथा पार्लियामेण्ट सैनिक शक्ति से निर्देश ले रही थी। वह सब साथ मिलकर उभरते हुये 'लोकतन्त्र' का गला घोट रहे थे। जहाँ तक प्रश्न 'धर्मनिरपेक्षता' का है, वह उस काल में यूरोप में कहीं भी नज़र नहीं आती थी।

यह साफ जाहिर हो गया है कि क्रॉमबेल और उसकी सेना राजनीति में भाग लेना चाहती थी। पार्लियामेण्ट जितनी कछुआ चाल से सुधार करने की तरफ बढ़ रही थी, उससे क्रॉमबेल भी खुश नहीं था।

राजा की हत्या के बाद, इंग्लैण्ड के 'संसदीय' इतिहास में 'एक काला दिवस भी आया। जब सैनिक तन्त्र "पार्लियामेण्ट" की गारिमा को बूटों की ठोकरों से रौंधता चला गया। एक दिन, क्रॉमबेल सादे कपड़ों में अपनी सैनिक टुकड़ी के साथ ही पार्लियामेण्ट भवन में प्रवेश कर गया, और उसने 'स्पीकर' को कुर्सी से खींचकर जमीन पर पटक दिया और उसके स्थान पर स्वयं भाषण देने लगा। यही नहीं, उसने पार्लियामेण्ट के सदस्यों को शक्तिबल पर पार्लियामेण्ट से बाहर फेंक दिया, तथा पार्लियामेण्ट के दरवाज़े फौजियों ने बंद कर दिये।

उस काल खण्ड में, किसी ने भी इस आतंकी घटना के विरुद्ध आवाज़ उठाने का साहस नहीं किया, क्योंकि उस काल में, संसद की कमज़ोरी के साथ-साथ राजनैतिक आतंक तथा धार्मिक आतंक से लोग तंग़ आ गये थे।

अब, इंग्लैण्ड सैनिक शासन के अधीन था क्योंकि एक नये विधान की स्थापना की गई थी, जिसे **'इन्स्ट्रूमेण्ट ऑफ गवर्नमेण्ट'** (**Instrument of Government**) कहते थे। इस विधान के अनुसार **क्रॉमबेल लार्ड प्रोटेक्टर** (**Lord Protector**) नियुक्त किया गया। उस समय, वहाँ न राजतन्त्र था, वहाँ पार्लियामेण्ट भी मृत प्राय थी, वहाँ चारों ओर सैनिक आतंक था। साथ-ही-साथ धर्मतन्त्र अपने अहंकार में समा गया था। उस काल में अन्य सामाजिक शक्तियाँ निराशा में डूबी हुई थीं, जबकि सैनिक तानाशाही क्रॉमबेल के इशारे पर आतंक मचा रही थीं।

अब इंग्लैण्ड में सैनिक तानाशाही के जुल्म से जनता की कमर टूट गई थी और वह त्राहि-त्राहि कर रही थी। बेचारी जनता, गरीबी की मार और शोषण से बेहाल थी।

उस काल तक यूरोप ने अपनी आँखों से धर्मतन्त्र-राजतन्त्र तथा सैनिक-तन्त्र के अशिष्ट आतंकी आघातों के प्रहार को देखा था। निष्ठुर दुष्टता मानवता को जगह-जगह पीड़ित करती आ रही थी। इतिहास के पन्ने 17वीं शताब्दी के मध्य तक लोग इन मनोवृत्तियों के शिकार रहे थे।

यूरोप का 'निष्ठुर युग'

यूरोप अनेकों उज्ज्वल प्रतिभाओं के प्रकाश से प्रभावित होते हुये भी अन्धेरी, संकीर्ण गलियों में भटक रहा था। 16वीं शताब्दी तक के 'यूरोप' को, यदि अन्धविश्वास, बर्बर, बन्ज़र तथा निष्ठुरता का युग कहा जाये, तो अनुचित नहीं होगा। **उस काल तक यूरोप में धर्म तो था, लेकिन आतंक और हिंसा की अनिष्ठा के माहौल को परवरिश कर रहा था। इंग्लैण्ड में पार्लियामेण्ट थी, लेकिन वह राजा तथा पंथ और धार्मिक-सम्प्रदाओं की चाकरी कर रही थी। सेना थी, पर अत्याचार की तलवार लिये निर्दोशों का गला काट रही थी। दुख की बात तो यह थी कि, उस काल में, 'जनता' को अयोग्य समझा जाता तथा साधारण 'व्यक्ति' को व्यक्तित्व-हीन समझा जाता था। धनवान तथा 'शिष्ट' वर्ग भोग-विलास 'विलासिता' को ही जीवन का सर्वोच्च आनन्द मानते थे। उस काल में, जो बौद्धिक प्रतिभाएँ उभर रही थीं, उनको बाधा पहुँचाना तथा मृत्यु दण्ड देना ही कट्टरपंथियों का काम था। जब 'राजा', धर्मगुरु, 'सैनिक', तथा अतिविशिष्ट आतंकी और हिंसक हो जायँ, तो इतिहास से जो 'धारा' प्रवाह राह बनायेगी, तब उसके कुछ न कुछ 'अंकुर' तो बहकर भविष्य तक भी पहुँच जाएँगे, जो 'अनिष्ट' करते रहेंगे।**

क्रान्तियाँ जन्म लेती रहीं हैं

कहा जाता है कि 17वीं शताब्दी जागृति का युग था, 18वीं शताब्दी को 'वौद्धिक' युग के नाम से पुकारा जा सकता है। 19वीं शताब्दी 'विज्ञान की प्रगति के नाम से सम्बोधित की जा सकती है। जहाँ तक प्रश्न 20वीं शताब्दी का रहा है, वह तो 'चिन्ता' के युग के मध्य ही गुज़री है, 20वीं शताब्दी का आरम्भ तो 'आतंक' के लौटते हुये 'कहर' से सम्बन्धित है।

वर्तमान युग में भी मानव जीवन के सुख की खोज इतनी सरल नहीं है। आज का मानव भी व्यक्तिगत, धार्मिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक गहन समस्याओं से केवल पीड़ित ही नहीं है, वह बेहद आतंकित भी है। आज की दुनिया में चारों ओर, हर समय, हर पल मौत की छाया ही मण्डराती रहती है, जैसा कि अतीत में गुज़रा था। उसकी डरावनी छाया आज भी, कहीं न कहीं मानवता को रौंदती रहती है।

'आतंक' केवल युद्ध के रूप में ही नहीं दिखाई देता है। हिंसा का केवल एक ही रूप नहीं होता है, उसके अनेकों रूप हैं। भारत में आतंक सामने से दिखाई पड़ता है, लेकिन अन्य आतंकी समस्याओं को और उनकी जड़ों में फैले ज़हर को हम अनदेखा कर देते हैं। इतिहास के अध्ययन से हम कोई सबक नहीं लेते हैं, उन घटनाओं को, जिन्होंने वर्तमान तक को दोषित किया है, उन्हें हम भुला देते हैं।

17वीं शताब्दी जागृति युग की ओर-यूरोप का उपनिवेशवादी आतंक

हां! हम यूरोप के अतीत में विचार रहे थे। इतिहास में बड़ी विचित्र घटनाओं का जिक्र

भी है, अमेरिका की क्रान्ति, उपनिवेशवाद के विरुद्ध, नये युग के प्रवेश के लिये, 'स्वतन्त्रता' का प्रथम दौर ही कहा जायेगा। धर्म-तन्त्र और यूरोप के राजतन्त्र की उपनिवेशवादी शोषण मनोवृत्ति का शिकार सर्व-प्रथम अमेरिका, भारत, अफ्रीका तथा एशिया के अनेकों देश हुए थे।

यूरोप का उपनिवेशवादी 'आतंक' उस काल खण्ड में, आर्थिक शोषण की चरम-सीमाएँ पार कर गया था। फ्राँस और इंग्लैण्ड दोनों ही भारत, अमेरिका तथा अफ्रीका में अपने-अपने उपनिवेश बना रहे थे। यह तो इतिहास में साफ लिखा है कि दोनों की उपनिवेशवादी प्रतिद्वन्द्वता के कारण दोनों देशों को भयंकर युद्ध की पीड़ा से अनेकों बार गुजरना पड़ा था। उस काल में, युद्ध में विशेष रुचि लेना इंग्लैण्ड का विशेष चरित्र बन गया था और फ्राँस भी उससे पीछे नहीं रहा था। दूसरे देशों में आतंक मचाकर, उनका शोषण करना, इंग्लैण्ड और फ्राँस की विशेष मनोवृत्ति बन गई थी।

अमेरिका की क्रान्ति भी उन परिस्थितियों का परिणाम थी, जो उस समय के सप्तवर्षीय युद्ध के कारण उपस्थित हुई थी। इंग्लैण्ड अपने स्वार्थ के लिये युद्ध करता था तथा धन की प्राप्ति के लिये उपनिवेशों पर 'टैक्स' लगाता था। क्योंकि फ्राँसीसी कनाडा में जमे हुये थे, इसलिये इंग्लैण्ड को अपने उपनिवेश बचाने का भय सदा बना रहता था, लेकिन एक समय ऐसा आया, जब कनाडा अंग्रेजों के हाथ आ गया तो वह निर्भय हो गये। उसी समय, धन प्राप्ति के लिए इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट ने 'स्टैम्प टैक्स' के, रूप में, एक 'एक्ट' पास कर दिया, जिसमें उपनिवेशों पर, 'स्टैम्प एक्ट' के अनुसार यह नियम लागू किया गया, कि हर दस्तावेज, पर एक सरकारी टिकट लगाया जायेगा। इंग्लैण्ड ने बहाना यह बनाया, कि उससे प्राप्त होने वाले धन को वह अमेरिकी उपनिवेश के रक्षार्थ खर्च करेगा।

अमेरीकी उपनिवेशों ने इसका जोरदार विरोध किया। उनका कहना था, कि "जब उपनिवेशों का कोई भी प्रतिनिधि इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट में नहीं है, तब उन्हें टैक्स लगाने का अधिकार ही नहीं है।" जोरदार विरोध के फलस्वरूप टैक्स तो हटा दिया गया, लेकिन वह 'एक्ट' बना रहा, जो किसी न किसी रूप में 'उपनिवेशों' के शोषण का माध्मय् बना रहता था। अमेरिकी जनता इस शोषण को सहन करने को तैयार नहीं थी, इसलिये संघर्ष जारी था। एक दिन जब 'ईस्ट इण्डिया' कम्पनी के जहाज 'चाय' ला रहे थे, उस समय, जब जहाज 'बोस्टन' 'बन्दरगाह' पर पहुँचे, तो उपनिवेशों में रहने वाले लोग 'रेड इण्डियन' का भेष धारण करके जहाजों में घुस गये, और उन्होंने समस्त 'चाय' उठाकर 'समुद्र' में फेंक दी। यह घटना इस बात की 'गवाह' है, कि इंग्लैण्ड शोषण द्वारा, उपनिवेशों का जो रक्त चूस रहा था, वह अब अमेरिकी जनता को बर्दाश्त नहीं था, इस घटना को वहाँ के लोग इतिहास में **"बोस्टन टी पार्टी"** के नाम से पुकारते हैं। यह भी एक जन-आन्दोलन ही था। इंग्लैण्ड की उपनिवेशवादी सरकार जनता पर तरह-तरह की चुंगी लगाकर धन वसूल करती रहती थी। कागज, शीशा, चाय, 'चीनी' सभी पर कई तरह की चुंगी वसूल की जाती थी। शोषण चरम-सीमा पर था। जनता पर अत्याचार किये जाते थे। उसी कारण बोस्टन में उपद्रव हो गये, जो एक तरह का 'इन्कलाब' ही था। उपनिवेशी शोषणकर्त्ताओं के आतंकी जुल्म के विरुद्ध, इन्कलाब के नारों से, बोस्टन जाग रहा था। सभी उपनिवेशवादी शोषणकर्त्ताओं को अमेरिका की जनता, बाहर फेंकनें के लिये तैयार हो रही थी, और वह शोषण और आतंक से पूर्ण छुटकारा चाहती थी। अमेरीका के नौजवानों का लक्ष्य था कि शोषण के सभी दरवाज़े बन्द कर दिये जाएँ। जिसके कारण

लन्दन की सरकार दमन की तलवारें चला रही थी। जुल्म बढ़ता जा रहा था। इंग्लैण्ड जुल्म और आतंक की सभी सीमाएँ पार कर गया था। **ब्रिटिश सरकार ने 'बोस्टन' के सभी 'बन्दरगाह' बन्द कर दिये थे, जिससे अमेरीकी जनता आर्थिक शोषण और भुखमरी का शिकार हो, आत्मसमर्पण कर दे। लेकिन अमेरिका की जनता नें, दमन के विरुद्ध, सन् 1776 में, अपनी 'सम्पूर्ण स्वतन्त्रता' की घोषणा कर दी। साम्राज्यवादियों की दमन नीति के जवाब में अमेरीका में जो सशस्त्र क्रांति उठ खड़ी हुई थी, अब अमेरिका की जनता पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्ति का लक्ष्य बनाये हुये थी।** शुरु में अंग्रेजों को कुछ सफलता मिली पर बाद में फ्राँस अपने पुराने नुकसान का बदला चुकाने के लिये अमेरिका के साथ हो गया। स्पेन और हालैण्ड ने भी फ्राँस का अनुकरण किया। अंग्रेजों को युद्ध के मैदान में तथा जल युद्ध में भी हार का मुहँ देखना पड़ा। सन् 1781 में 'लार्ड कार्न बालिस' ने 'यार्क टाऊन' में अपने हथियार डाल दिये, वार्शेल्स की सन्धि के बाद सन् 1783 में इंग्लैण्ड ने अमेरीकी उपनिवेशों की स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी। **अमेरीकी स्वतंत्रता की इस बेला में जो ज्योति प्रज्ज्वलित हुई थी, उसने विश्व मंच पर क्रांति और परिवर्तन का खुला आवाहन किया और उसके बाद अमेरीका राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक विकास के पथ पर चल पड़ा। फ्राँस में भी अमेरिकी क्रांति की हवाएँ तेजी से बहने लगीं। अमेरिका की सफलता के बाद हालैण्ड में भी जनता में जागृति की लहर उठने लगी, उसकी धरती और आकाश अब सक्रिय होकर जनतंत्र की स्थापना की ओर बढ़ने लगे। उसकी पार्लियामेण्ट भी कानून बनाने की स्वतंत्रता प्राप्त करने के लिये जबरदस्त आंदोलन करने लगी और निरंतर जनजागरण के प्रभाव में, वहां की 'जनक्रान्ति, सफलता की ओर बढ़ने लगी।** उस काल में, डरे और सहमे ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने मजबूर होकर आयरिश जनता की माँग पूरी कर दी। लेकिन राजतन्त्र की धार्मिक शक्तियों से मित्रता, जनतंत्र की स्थापना के मार्ग में परेशानियाँ पैदा कर रही थीं, साम्प्रदायिकता का ज़हर आयरिश जनता की एकता को 'कैथोलिक' तथा प्राटेस्टेण्ट, उपनिवेशों में बांट रहा था और यह साम्प्रदायिक अलगाव, सद्भावना और राष्ट्र एकता पर गहरी चोट कर रहा था।

18वीं शताब्दी तक यह विचार प्रमुख था कि तलवार की शक्ति के बल पर और आतंकी प्रयासों के हमलों से राज्य का विस्तार अधिक से अधिक किया जाये। उस काल में, 'स्वतंत्रता' किसी राष्ट्र की महानता की निशानी नहीं थी, शिक्षित समाज भी प्रतिष्ठता की पहचान नहीं था। लेकिन जो आतंकी राज्य शक्ति, विस्तारवादी मनसूबों को पूर्ण करने के योग्य होती थीं, वही शक्तिशाली राष्ट्र की शान मानी जाती थीं। किसी राज्यों की सीमाएँ आतंक के बल पर बदल दी जाती थीं। राज्यों के बंटवारे तलवार के बल पर कर दिये जाते थे। दुर्बल पड़ोसी राज्यों को रोज़-रोज़ रौंदा जाता था, राज्य की नैतिकता कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती थी। उस काल में, युद्ध के बाद जो संधिया होती थीं, वह छल-कपट से तोड़ दी जाती थीं, उसका उदाहरण अनेकों बार, इतिहास में, अन्तर्राष्ट्रीय अर्धम के रूप में इतिहास के पन्नों पर साफ दिखाई पड़ता है, इस अधर्मी उत्तरदायी राजनीति का उदाहरण 'सिलिसिया' का छीना जाना, पौलैण्ड का बँटवारा भी शक्ति बल के डर से स्वीकार करना पड़ा। तुर्की को विभाजित करने का प्रयास भी इस बात का प्रसिद्ध दृष्टान्त है, जो राजनीति की आपसी घृणा की कहानी कहते हैं।

उस काल में शासकगण प्रायः भ्रष्टाचारी और लालची होते थे और वह दूसरे देशों के

साथ धोखेबाजी करते रहते थे। प्रायः राष्ट्र कल्याण की उन्हें कोई चिन्ता नहीं रहती थी। यही उस काल के आतंक की कहानी के लिखित उदाहरण हैं, जो तलवारों के बल पर रक्त के समुद्र में डूबा इतिहास है। 18वीं शताब्दी के प्रसिद्ध दार्शनिक 'लाक' और माँण्टसक्यू' (Montesquien) जैसे दार्शनिकों की रचनाएँ और उनके क्रांतिकारी विचारों की सुगन्ध अवश्य ही यूरोप को, 'परिवर्तन' और समाज जनकल्याण की ओर ले जाने के लिये उत्साहित कर रही थी। यह सत्य है, कि उस काल में "राजनीति-शास्त्र", धर्म-तंत्र और राजतंत्र पर, कठोर प्रहार करने का साहस कर रहा था। राजनीति शास्त्र का अध्ययन करना दार्शिनिकों का चलन बन गया था, और राजतंत्र भी राजनीति क्षेत्र में दार्शनिकों का आदर करने लगा था। उदाहरण के तौर पर, 'फाड्रिक महान्', 'सम बाल्टेयर' (Votair) का शिष्य बन गया था तथा डिग्रोट (Degerot) के विचारों से, 'कैथेराइन' बहुत प्रभावित हुआ था। इंग्लैण्ड का राजा 'जॉर्ज तृतीय' ने 'वालिंग बुक' के सिद्धान्तों को आदर्श मानकर कई साल तक निरन्तर राज्य किया था। अब राजतंत्र के मन में भी शिक्षा देने, गरीबी दूर करने, नये-नये अस्पताल खोलने, कृषि-दासों को स्वतंत्रता देने तथा देश की आर्थिक वृद्धि के प्रयास होने लगे थे। साथ ही साथ राजतंत्र में भी धर्मनिरपेक्षता की भावना के अंकुर पैदा होने लगे थे। हर जगह चर्च के अनावश्यक प्रभावों को रोकने की कोशिश होने लगी थी। धार्मिक विचारों में भी जनता को अधिक से अधिक स्वतंत्रता देने की भावना बढ़ने लगी थी। यह युग कठोर होते हुये भी जागृति का युग था। लेकिन अभी जनतंत्र मंजिल से बहुत दूर था। उस काल में राजतंत्र लोकप्रिय उत्साह के अभाव में दम तोड़ रहा था। राजतंत्र की भ्रष्टाचारी मनोवृत्ति आम जनता का शोषण करती रहती थी। फिर भी अन्धकार के इस युग में, अभी आशा का एक दीपक जल रहा था, जो अंधेरों की परतों को हटाने के लिये एक सबल क्रान्ति का इंतजार कर रहा था।

क्रांतियाँ केवल हथियारों से ही नहीं लड़ी जाती हैं, वह पहले वैचारिक धरती पर सबल-संघर्ष करने को आगे बढ़ाती हैं। पहले उनमें सिद्धांत-नीतियों का निर्माण करना पड़ता है और वैचारिक शक्ति के बल पर अनुशासन के साथ जनतन्त्र की नींव रखते हुये, लक्ष्य प्राप्ति के लिये, क्रान्ति युद्ध में कूद पड़ना पड़ता है। उसी प्रयास से उस काल के लोग आगे बढ़ रहे थे।

फ्राँस की राज्यक्रान्ति नये युग में प्रवेश का प्रथम द्वार

'इतिहास' लिखा जा रहा था, समय की 'कलम' कभी तेज़ी से और कभी आहिस्ता से कुछ ऐसे दृष्टान्त लिख देती है, जो इतिहास की बहती हुई धारा को ही बदल देते हैं। हम 'स्वतन्त्रता की जननी' को तलाश रहे हैं। हम शोध कर रहे हैं कि 'धर्मनिरपेक्षता का लोकार्पण' किस काल में हुआ और उसे विकसित करने में कैसी-कैसी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा।

फ्राँस की राज्य क्रान्ति भी हमारे शोध सामग्री के मूल्यवान पृष्ठ हैं, जिसमें हमें सत्यता के बहुत से अंग मिलेंगे। **फ्राँस की राज्य क्रान्ति केवल एक स्थानीय घटना नहीं थी। यह केवल एक 'काल' में भी नहीं समाये रह सकती है। फ्राँस की राज्य क्रान्ति ने जिस सामाजिक और राजनैतिक दृष्टिकोण का प्रदर्शन किया था, उससे दूर तक 'राजनीति' पर ही नहीं, सामाजिक व्यवस्था पर भी गहरा प्रभाव अनुभव किया गया था। फ्राँस की राज्य क्रान्ति ने यूरोप में ही नहीं, विश्व भर की पुरानी व्यवस्था को, तथा अतीत के सड़े-गले संस्थागत-प्रचलनों को भी एक साथ चुनौती दे डाली थी।**

यह एक ऐसी वैचारिक लड़ाई भी थी, जिसने समान रूप से, नवीन दर्शन को, शासन के नवीन सिद्धान्तों को, और, राजनीति की नई व्यवस्था को, वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ विकसित किया था। इस 'घटना' ने, 'मानवजीवन' रथ को, एक नई पगडण्डी पर लाकर खड़ा कर दिया था, जहाँ से दुनिया का नया सफर आरम्भ होता है। विद्वानों ने साफ तौर पर लिखा है, फ्राँस की राज्य 'क्रान्ति' एक नये युग के आरम्भ के साथ-साथ, यूरोप के इतिहास को, एक राष्ट्र और एक घटना के रूप में विकसित कर देती है। वह राष्ट्र है "फ्राँस"! और वह घटना है, फ्राँस की राज्यक्रान्ति !! इस काल ने जहाँ यूरोप की पुनर्व्यवस्था के लिए मार्ग तैयार किया, वहाँ वैचारिक क्रान्ति के अनेकों 'चिन्तन प्रवाह', विशाल दरियाँ बनकर तेज प्रवाह के साथ आगे बढ़ते गये, जो सत्ता पर प्रहार करके, नये समाज की रचना में तल्लीन हो गये।

सच्चाई तो यह थी कि यूरोप में, धर्म पर आधारित राजनीति ने, "शासन तन्त्र" को बिल्कुल निरंकुश बना दिया था। इसलिये वह समय की गति के साथ नहीं चल पा रहा था। उसमें घोर अव्यवस्था का समावेश हो गया था। उस सड़ी-गली व्यवस्था के अधीन जनता पर, अनेकों तरह के अत्याचार होते थे। **लेकिन धीरे-धीरे जब प्रजातन्त्र, समानता और धर्मनिरपेक्षता के क्रान्तिकारी विचारों ने जन-जन को स्पर्श करना आरम्भ किया, और नये विचारों की उठती हुई। ताज़ी हवाओं के मधुर झोकों ने उन्हें शीतलता पहुँचाई तो वह सकीर्ण व्यवस्था व्यग्रहता से अभिभूत होकर लड़खड़ा कर धराशायी हो गई।** नई वैचारिक 'क्रान्ति' भी तेज गति से बह रही थी। वह जनता, जो वर्षों से उस दुर्गन्ध में जीवन व्यतीत कर रही थी, और अनेकों आतंकी प्रहारों का शिकार बनी हुई थी, वैचारिक क्रान्ति के प्रभाव से जागकर खड़ी हो गई। जनता ने नई क्रान्ति को, अपने हृदय-पटल में गहराई तक समा लिया।

यूरोप में कुलीन तंत्रात्मक शासन व्यवस्था थी। थोड़े से ही लोगों को जीने का राजनैतिक हक था, बाकी लोग तो कीड़े-मकौड़ों की तरह जीवन निर्वाह करते थे। इंग्लैण्ड जैसे देश में भी, कुलीन वंशियों का दब-दबा बना हुआ था। 'वेनिस' राज्य रिपब्लिक होते हुये भी एक कुलीन जाति के लोगों के हाथों से शासित होता था।

आस्ट्रिया, रूस, स्पेन, फ्राँस, जर्मन, स्वीडन, इटली तथा प्रसिया आदि जैसे देशों की जनता भी निरंकुश शासनाधीशों के हाथों सताई जाती थी। आमतौर पर शासक दमनतन्त्र तथा आंतक के बल पर राज्य करते थे। उस काल में जनता को किसी प्रकार की भी 'स्वतंत्रता' नहीं थी। 'इंग्लैण्ड' और 'फ्राँस' को छोड़कर, सभी जगह की जनता कुत्सित प्रतिबन्धों के मध्य कृषिक-दास प्रथा की गर्त में डूबी थी। शासन केवल निरंकुश ही नहीं था, बल्कि सिद्धान्त रहित भी था। उस काल में धर्मनिरपेक्षता और गम्भीर मानवता का कोई भी अंश प्रशासनिक व्यवस्था में, तथा समाज में दिखाई नहीं पड़ता था।

कुलीनवंशियों को तथा 'पादरियों' को एक विशेष दर्जा प्राप्त होता था, जो समाज में श्रेष्ठ समझा जाता था, बाकी जनता पद-दलित जनता की श्रेणी में आती थी। दूसरी तरफ सामन्तशाही का अंकुश 'निर्बल' किसानों पर कहर ढाता रहता था। जैसा कहा जा चुका है, कि कृषक दास कठोर जीवन व्यतीत करते थे। अनेकों प्रतिबन्धों के मध्य रेंगती हुई मानव जिन्दगी जीने वाले, यह निर्बल प्राणि, गरीबी और दासता की 'कड़वाहट' में ही सिसकियाँ भरते रहते थे। कभी-कभी जंजीरों में जकड़े दास-कृषकों की कतारें आम-तौर पर यूरोप में देखी जाती थीं।

युद्ध में हार जाने पर पराजित देश के मेहनतकशों को, रस्सों और जंजीरों में, जकड़कर बाजारों में, हजारों की तादाद में बेचा जाता था। कृषक-दासों का व्यापार भी किया जाता था। यूरोप जब अपनी संस्कृति पर 'अहम्' से बोलता है, उस समय भूल जाता है कि उसका 'अतीत' काले-काले 'बदनुमा' धब्बों से पूर्ण था, जो मानवता पर 'कहर' ढाने की 'राक्षसी' मनोवृत्ति का रोगी था।

कृषि-दासों पर क्रूरता का कहर

यूरोप में, उस काल खण्ड में, मानवता की 'बेबसी' और उसकी निर्जीव वेदना की आहें, बेरहम समय की परिधि में सुनी जा सकती थीं। उन कमज़ोर पीड़ित लोगों की 'आहों' का विलाप यूरोप में जगह-जगह सुना जा सकता था। ऐसा क्यों हुआ था ? यूरोप का इतिहास इन अमानवीय घटनाओं पर मौनव्रत क्यों धारण कर लेता है? वह प्रश्न जवाब चाहते हैं। **'सामन्ती' कुलीन, शिष्ट वर्ग के लोग जब घोड़ों की पीठ पर सवार हो, अहंकार में, अपने खेतों और खलियानों में दास-कृषकों पर अत्याचार करते हुए, बन्धक कृषकों पर जुल्म ढाते थे, तो मानवता की आँसुओं की धारा' बहती हुई, सागर बनकर आंतकी इतिहास लिखने में, काली स्याही का काम करती नज़र आती है। इतिहास पर लिखे काले अक्षर कितना ही छिपाने की कोशिश करें, पर साफ नज़र आते हैं! वह बर्बरता की चरम सीमा के सत्य दृष्टान्त, जो निर्बलों की 'आहों' से उपजी कहानी के रूप में इतिहास में वर्णित है, किसी भी तरह से छिपाये नही जा सकते।**

कृषक-दास यूरोप में वह वर्ग था, जो सामन्तों और शिष्ट लोगों की कठोर यातनाओं का

शिकार हुआ, घायल पक्षी की तरह वेदना से तड़पता रहता था। यह भी आतंक था और भयानक आतंक जो गहराई को रौंद रहा था।

यह यूरोप में, 'पर्शिया' के इतिहास के पन्नों पर अंकित है, कि जब बेबस 'कृषक' उन चांदनी रात में, जब चन्द्रमा अपनी सुनहरी शीतल प्रकाश की किरणें, बिखेरता था, तब उस सुनहरी बेला में भी कृषक-दास, सामन्तों के खेतों में सर्दी से ठिठुरते हुये, जंजीरों के बंधनों में जकड़े हुये, और कोड़ों की मार खाते हुये, कठिन परिश्रम करते हुये, बहती 'आंसू' धारा के साथ खेत-जोतते हुये देखें जा सकते थे। वह अनुभव करते थे, कि "इस कष्टदायक जीवन से तो 'मृत्यु' हज़ार गुना रुचिकर है।" वह कैसी बेरहम व्यवस्था थी कि चाहे उसके घर पर नई नवेली दुल्हन ही, उसका इन्तजार क्यों न कर रही हो, लेकिन 'सामन्ती व्यवस्था' में इतना रहम नहीं था, कि वह एक पल को भी उसे निहार सके। क्योंकि छः दिन तक निरन्तर खेत जोतना उसके भाग्य में लिखा हुआ था। सामन्तों की बेगार करना उनके भाग्य में लिखा था। यह धर्माचार्यों की शिक्षा भी थी और 'दीक्षा' भी थी। झुकी गर्दन, जर्जर शरीर और फूलती-सांसे उस कृषक के भाग्य की कठोरता थी जो 'यूरोपियन' समाज ने उसे जन्म के साथ उपहार में दी थीं।

यूरोपियन समाज का यह आतंकी प्रहार, हजारों बारूदों धमाकों की मार से भी अधिक पीड़ा-दायक घाव था, जो उस काल के बन्धवा, दास-कृषक को पीड़ित कर शनैः-शनैः पल-पल समाप्त करता रहता था।

"यूरोपियन समाज रूपी भवन का यह निचला भाग बड़ा होते हुये भी दुःखी, पीड़ित, परतन्त्र, तथा असुरक्षित और अविकसित की तरह जीवन व्यतीत करता था। एक बड़ा मेहनतकशों का यह समुदाय, जानवरों की तरह जी रहा था, जिसके लिऐ वृद्धि एवं सुधार के मार्ग हर ओर से बन्द थे।"

उस काल में, कृपापात्र लोगों को विशेष सुविधाओं के उपहार मिलते थे, तथा गरीबों को वेदना, दुःख और अत्याचार। यही यूरोप के समाज का 'यथार्थ दर्पण' था, जिसमें उस काल का भयानक चेहरा साफ नज़र आता है। उस काल के निष्ठुर आतंक से मानवता कांप जाती थी, जो निरंतर आंसू बहाते हुये, 'क्रांति' का स्वागत कर रही थी।

1786 से लेकर 1815 तक की फ्राँस की 'राज्य क्रांति' भी युद्ध और संघर्षों की पीड़ा के मध्य, 'रक्त' के सागर में डूबी वेदनाओं का इतिहास ही कही जा सकती है, वहाँ, कहीं भी अन्तर्राष्ट्रीय नैतिकता नज़र नहीं आती थी। **उस बाह्य धरातल पर 'यीशू' की अहिंसा का कोई 'पृष्ठ' शान्ति की प्रस्तावना का प्रस्ताव लिये, उस माहौल में नज़र नहीं आता था, बड़े लोग भूल गये थे, कि प्रभु यीशू का सन्देश क्या था? वे भूल गये थे, कि 'प्रभु' ने कहा था, "कि हे प्रिय! भाइयों से प्रेम करो, जुल्म मत करो, प्रेम तो ईश्वर का ही नाम है, प्रेम ईश्वर की ओर ले जाता है, "जो कोई प्रेम करता है, वह परमेश्वर को जानता है, उसी से जन्मा है।" वह काल तो 'शैतान' के समान बना था, जो उस दुष्ट में समाया था, जो अपने भाइयों की हत्या कर रहा था।**

जर्मन, लगभग तीन-सौ-साठ (360) रियासतों का समुदाय होते हुये, और उसके साथ पवित्र रोमन साम्राज्य का अंग होते हुये भी 'पवित्र' नैतिकता से कोसों दूर हो गया था। उसमें ईर्ष्या आ गई थी, साथ ही साथ राजनैतिक क्षेत्र में, न ही सामाजिक क्षेत्र में, नैतिकता और

मानवता कहीं भी नज़र नहीं आती थी। आस्ट्रेलिया, पर्शिया, रूस, इटली, स्पेन, इंग्लैण्ड आदि देश नैतिक विहीन होकर आपसी रंजिश का शिकार हो, ईर्ष्या की आग में जल रहे थे।

यूरोप का समाज, विशेषकर फ्राँस की सामाजिक रचना, धनी वर्ग के शोषण का शिकार थी। समस्त उपाधियाँ और सुविधाएँ श्रेष्ठ वर्ग के सामन्तों को तथा धनियों और विशिष्ट राजघरानों को ही प्राप्त थीं। अधिकार विहीन वर्ग में, नीची श्रेणी के नागरिक थे, जो साधारण जनता की अपार भीड़ ही कही जा सकती थी।

फ्राँस की क्रान्ति के दार्शनिक जन्मदाता

क्रांतियों की जन्मदाता 'बौद्धिक' प्रतिमाएँ ही होती हैं। सन् 1789 में भौतिक क्रांति से पूर्व विचारों की क्रांति ने तहलका मचा दिया था। इस महान् परिवर्तन क्रांति के 'जन्मदाता' माण्टस्क्यू (Montesquie) वॉलटेयर (Voltaire) और रूसो जैसे दार्शनिक थे। लेकिन इसमें माण्टस्क्यू और वॉलटेयर का दर्शन कहीं भी 'जनतंत्र' की वकालत करता नज़र नहीं आता है।

माण्टेस्क्यू (Montesquie) के दर्शन में, कोई अधिक रोमांच तो नहीं था। जनवरी सन् 1689 ई० में शेटो-डी-ला ब्रीडी (फ्राँस) में जन्मा 'माण्टेस्क्यू' की साहित्य कृत्तियाँ ही उसकी रचनाओं का सार है, उसमें 'राजनैतिक दर्शन' की प्रतिमा कम नज़र आती है, मगर समाज-शास्त्र की ज्ञान ज्योति उसमें कहीं अधिक दिखाई देती है। उसका प्रमुख ग्रन्थ "दी स्प्रिट ऑफ लॉ' (The Spirit of Laws) की गणना संसार के प्रमुख ग्रन्थों में होती है।

1721 ई० में, **"रिफलैक्शन ऑन दी काज़ेज और दी ग्रेटनैस एण्ड डिक्लाइन्स और दी रोमनस (Reflections on the Causes of the Greatness and Decline of the Romans)"** प्रकाशित हुई तथा उसके बाद, 1721 में ही परशियन लैटर्स Persians Letters रचना प्रकाशित हुई तो तहलका मच गया। यह कृत्ति कल्पना शैली पर आधारित है, जोकि फ्राँस का भ्रमण करते हुये, दो 'ईरानी' यात्रियों द्वारा अपने मित्रों को लिखा जाना स्वीकार कर लिया गया था, जिसमें उन्होंने फ्राँस के उस काल की समालोचना की थी, जिसमें धर्म, राजनीति और सामाजिक जीवन के अपने यथार्थ व्यवहार को प्रकट करता है। उस 'रचना' के दर्पण में चर्च की अंधविश्वासी गतिविधियाँ, राजनीति का खोखला दम्भ, राजा और देश की प्राचीन संस्थाओं की संकीर्णता की जो व्यंग्यात्मक शैली में, आलोचना की गई थी, वह जनता के हृदय को स्पर्श कर गई, लेकिन उससे राजतंत्र के प्रहरियों की भौंहें चढ़ गईं। धर्म के ठेकेदारों को माण्टेस्क्यू की व्यंग्यात्मक शैली विषैले तीरों के समान चुभन पैंदा करती गई। उसने सिद्ध कर दिया कि साहित्यकार की 'लेखनी' साहस का प्रतीक है, वह जब सत्य का वर्णन करती है, तो वह आतंकी तलवारों की विषैली धार से भी नहीं डरती है। उच्चकोटि के साहित्यकार में, आलोचना करने की शक्ति भी होती है तथा उसे प्रकट करने की निडरता भी होती है। सच्चा व्यंगकार मृत्यु का मुकाबला भी साहस के साथ करता है।

जॉन्स ने माण्टेस्क्यू के विषय में लिखा था, **"माण्टेस्क्यू के राजनीति सिद्धान्त का इतना महत्व नहीं था, जितना उसके सामाजिक अध्ययन पद्धति का महत्व था।"**

भौतिक वातावरण का राजनीति पर प्रभाव

भौतिक वातावरण एक प्रभावशाली प्रतिक्रिया है, जो राजनीति पर प्रभाव डालती है। किसी भी देश का भौतिक वातावरण वहाँ के कानूनी, सामाजिक, राजनैतिक संस्थाओं पर

निर्णयात्मक प्रभाव डालता है। 'माण्टेस्क्यू' ने अपनी कृति "स्प्रिट ऑफ लाज़" में स्पष्ट वर्णन किया है कि किसी देश की जलवायु तथा भूमि, वहाँ के मरुस्थल, और पर्वतों का तथा वर्षा और गर्मी का प्रभाव सामाजिक चेतना तथा राजनैतिक प्रतिक्रिया पर पूर्ण-रूप से पड़ता है। उसके अनुसार किसी 'राष्ट्र' में बहने वाला पर्यावरण, उस देश की भौगोलिक दशा, उस देश की जनता की दैनिक आदतों, व्यवहारों, मानसिक तथा शारीरिक इच्छाओं का निर्धारण करती है। उस देश की हरियाली, धरती की उपजाऊ शक्ति, प्राकृतिक साधनों की उपयोगिता, जनता के धार्मिक, सामाजिक, और आर्थिक तथा राजनैतिक धारणाओं के निर्धारण करने में बड़ी सहायक होती है। 'माण्टेस्क्यू' ने वर्णन किया है – "विभिन्न तरह की जलवायु, वहाँ के रहने वाले लोगों को अधिक स्वस्थ तथा फुर्तीला बनाती है। गर्म जलवायु वहाँ के प्राणियों को आलसी बनाती है। ठण्डी जलवायु स्वतन्त्रता की भावना को विकसित करती है तथा गर्म जलवायु दासता अथवा निरंकुश शासन की प्रवृत्ति उत्पन्न करती है। उसका कथन था – "पर्वतीय क्षेत्र स्वतन्त्र प्रशासन के पोशक होते हैं तथा मैदानी इलाके निरंकुश सरकार की रचना में सहायक होते हैं।" आज के युग में उसकी यह 'दलील' बेकार की कथा सी लगती है। उसकी दृष्टि में 'प्रजा' की राजनैतिक स्वतन्त्रता, उसकी मानसिक शांति का प्रतीक है। यह मनुष्य के अपने आन्तरिक सुरक्षित विश्वास से विकसित होती है। उसकी दृष्टि में सरकार का फर्ज़ बन जाता है कि वह इस प्रकार शासन करे, कि एक व्यक्ति को दूसरे का भय नहीं रहे। जब न्यायपालिका और कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति में समा जाती हैं, तब स्वतन्त्रता की हत्या हो जाती है और उसकी केन्द्रित शक्ति को अत्याचारी होने का भय बना रहता है। उसका कथन था कि "जब क़भी एक ही व्यक्ति को, या एक संस्था को चाहे वह 'सामंत' हो, या 'राजा', अथवा जन-साधारण, कानून बनाने तथा उसको क्रियान्वित करने तथा न्याय भी करने का अधिकार मिल जायेगा तो अनर्थ हो जायेगा। उस समय स्वतंत्रता की हत्या हो जायेगी और उससे आतंक का प्रकोप होगा, **जब न्यायाधीश भी हिंसक और आतंकी हो जायेगा, तब मानवता त्राहि-त्राहि कर उठेगी और क्रान्ति होगी।**

माण्टेस्क्यू की दृष्टि में शक्ति-पृथक्करण का सिद्धांत सरकार को सार्थक बनाने की कसौटी है। उसका पालन करना चाहिये।

'माण्टेस्क्यू' का मत था कि किसी देश का सामाजिक वातावरण, सम्पूर्ण सामाजिक संस्थाओं, और आर्थिक, धार्मिक विचारों के चलते हुये प्रचलनों, आचारों-विचारों तथा विश्वासों का संग्रह मात्र है। वह ऐसा आचरण है, जो समाज का व्यवहार कहलाता है। यह समाज का अति-शक्तिशाली तत्व होता है, जब वह जागृत होता है, और किसी अत्याचार के विरोध में खड़ा हो जाता है या फिर किसी अनैतिक कानून का विरोध करने लगता है, तब वह साकूहिक जन शक्ति बनकर अत्याचार को मिटा देती है और कठोर कानून को निरर्थक कर देती है।

धर्म और राजनीति

धर्म और राजनिति के विषय में 'माण्टेस्क्यू' ने बड़े विचित्र विचार दिये। उसका मानना था कि 'समाज विशेष रूप से' कौन-सा धर्म स्वीकार करे, यह उस देश की विशिष्ट परिस्थितियों द्वारा निश्चित होना चाहिये, जिन देशों में 'सीमित' सरकारें हों, वह ईसाई धर्म स्वीकार कर सकती हैं तथा निरंकुशवादी राज्यों के लिये 'इस्लाम धर्म' सबसे अधिक उपयुक्त रह सकता है। उसने मत व्यक्त किया, कि कैथोलिक धर्म राजतंत्र के लिये उपयुक्त

रह सकता है तथा प्रोटेस्टेण्ट धर्म गणतन्त्र के लिये उपकारी रह सकता है।

उसका यह भी मानना था, कि ऐसा होने पर आपसी संघर्ष कम हो जायँगे और धर्म और राज्य के सम्बन्ध उचित रहेंगे। धर्म और राज्य के रिश्तों के बारे में 'माण्टेस्क्यू' का मत था कि **"धर्म और राज्य को एक-दूसरे के कार्य-क्षेत्र में दखल नहीं देना चाहिय, चाहे परिस्थितियाँ कुछ भी क्यों न हों। राज्य को धर्मों के प्रति उदार तथा सहिष्णु होना अनिवार्य है। शान्ति और व्यवस्था कायम रखने के लिये प्रत्येक धर्म को, दूसरे के धर्म को सहन करने की आदत होनी चाहिये। किसी देश का विकास सार्वजनिक शान्ति को स्थापित करने पर ही हो सकता है। इसलिये, एक धर्म को दूसरे धर्मों का आदर करना 'सीखना' सर्वहित में आवश्यक है।"**

वैसे उसकी रचनाओं से उपजे प्रभाव और उसके व्यंग्यात्मक कटाक्षों से अपने प्रभाव के कारण उसे फ्राँस की जनता को क्रोध का सामना भी करना पड़ा। लेकिन यह भी सत्य है कि उसने 'वैधानिक राजतंत्र' की प्रशंसा में हज़ारों शब्दों में 'क़सीदे भी पढ़े, साथ ही साथ उसने फ्राँस के राजाओं के दैवी अधिकारों की मुक्तियों और निरंकुशता के दोषों पर भी कलम चलाई, जो उस काल में फ्राँस की जनता को अत्याचारों से रौंद रहे थे।

'वॉल्टेयर' ने एक नवीन रचना शैली 'यानि' "व्यंगात्मक उपहास पूर्ण रचनाओं" के माध्यम से फ्राँस की अव्यवस्था का **स्पष्ट चित्र,** जनता के सामने खुले पृष्ठों के रूप में रख कर एक नई शैली को जन्म दिया। **वॉल्टेयर,** जो 'कटाक्ष' लेखन शैली का पण्डित था। उसने अपनी प्रतिभापूर्ण रचनाओं के माध्यम से, उस काल के राजनैतिक आतंक पर और अनैतिकता पर ज़ोरदार प्रहार किये। उसकी रचनाओं ने उसे ऐसे स्थान पर लाकर खड़ा कर दिया जहाँ से वह लेखन जगत में, अनियंत्रित सत्ता का मालिक बन गया।

उसने जनता से अपील की, कि जो तर्क कसौटी पर सत्य साबित न हों, उसे स्वीकार न करें! **'बाल्टेयर'** ने 'तर्क' की प्रधानता पर बल देते हुये जनता से कहा कि "अन्धविश्वासी धारणाओं क़ा त्याग करके, उस सत्य को स्वीकार करो, जो तर्क की कसौटी पर सिद्ध हो सकें" उसने हर चीज पर जो तर्क के सामने न ठहर सके, निर्दयता से आक्रमण किया। 'वाल्टेयर' वह दार्शनिक था, जो अन्धविश्वास पर सीधा आक्रमण करता था। वह 'राजतन्त्र' के दोषों के साथ-साथ धार्मिक कहे जाने वाले 'आडम्बरों', अन्धविश्वासों, तथा चर्च की कुरीतियों पर सीधे तौर पर हमला-बोलता था। चर्च की असहिष्णुता और धार्मिक मामलों में विचारों की संकीर्णता का कहर, जो आम जनता का बलात् शोषण कर रहा था, उससे मुक्ति पाने में, उसके विचारों ने फ्राँस में क्रान्ति पैदा कर दी। उसकी कलम की प्रतिभा से 'चर्च' के कठोर बंधन ढीले पड़ गये थे। लेकिन पाठक इस भ्रम में न रहें कि 'वॉलटेयर' प्रजातंत्रवादी था। 'वॉल्टेयर' का दूर तक भी प्रजातंत्रवाद से कोई सम्बन्ध नहीं था, यह साफ समझ लेना चाहिये कि जब वह प्रजातंत्रवादी नहीं था, तो धर्मनिरपेक्ष भी नहीं था। शासन के सम्बन्ध में वह उदार स्वेच्छाचारी शासन तंत्र का हामी था।

दार्शनिक रूसो का कथन था कि, "सामाजिक जीवन मान", समाज के समझौतों का ही परिणाम है। यह व्यक्तियों का एक समझौता है, उस समझोते के बन्धनों में बन्धकर व्यक्तियों का समाज, अपने समस्त अधिकार समाज को 'अर्पण' कर देता है, समाज का फर्ज़ है कि वह उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता की रक्षा करे। रूसो ने अपनी दार्शनिक रचना सोशल-काण्ट्रेक्ट

(Social Contract) में वर्णन किया, **"सभी मनुष्य समान हैं, समान ही स्वतंत्र हैं।" उसके दर्शन के अनुसार, "शासन, शासित जनता की अनुमति पर ही आधारित हैं" जो जनता की सहमति से ही किया जा सकता है।**

'रूसो' ने जोरदार शब्दों में 'जनतंत्र' के नींव के पत्थर को 'समतावादी दर्शन की माटी' से निर्मित किया। अन्य वाक्यों में, इस दर्शन के विषय में यह कहा जा सकता है कि रूसो ने मनुष्य की समानता तथा प्रजा के 'प्रभुत्व' (Sovereignty of the people) सिद्धान्त की खुले आम वकालत की। इसी आधार पर हम **रूसो को यूरोप में धर्म-निरपेक्षता का प्रथम पारखी भी कह सकते हैं।** रूसो का ध्येय केवल सुधार न था, बल्कि सम्पूर्ण सामाजिक व्यवस्था का पुनः निर्माण करना था, जिसमें समाज का पुनर्गठन अनिवार्य था। रूसो का सोशल कोण्ट्रैक्ट (Social Contract) एक आधुनिक धर्म-ग्रन्थ की तरह से **एक जाग्रत सामाजिक ग्रन्थ है,** जो मानव को व्यक्तित्व और मानववाद की सुरक्षा की गारण्टी देता है। वह 'यूरोप' में समाजशास्त्र का आधुनिक 'मनु' था जिसने प्रजातंत्रवाद, जनता के दैवी अधिकारों और प्रजा के दोष रहित निर्णयों के सिद्धान्त का दार्शनिक पक्ष रखा। वह मानव-अधिकारों के प्रथम अधिवक्ता कहे जाते थे।

'जीन जेक्स रूसो' (Jean-Jaequeous Rousseau) ने सामाजिक अनुबन्धवाद की परम्परा को जॉन-लाक के बाद आगे बढ़ाया था। वह मानता था, समस्त समुदाय की सामान्य इच्छा (General Will) ही अनुबन्धवाद के सिद्धान्त की जननी है, रूसो का सम्पूर्ण जीवन वर्तमान सामाजिक विषमता के कारणों की खोज और उसके निदान का हल तलाशने में व्यतीत हो गया था। वह स्विटजरलैण्ड के जेनेवा शहर में 1712 में जन्मा था, जो 12 वर्ष की आयु से कठोर परिश्रम का आदि हो गया था। वह मातृ-विहीन बालक, माता के वात्सल्य प्रेम से वंचित रहकर, जीवन की कठोरता का स्पर्श बचपन से ही करता चला आ रहा था। जीवन के कठोर अनुभवों, और वात्सल्य स्नेह विहीन संरक्षण के अभाव में, झग्ड़ालू-प्रवृत्ति तथा अनेकों दुर्गुणों का शिकार हो गया था।

वह आवारापन की जिन्दगी, को एक बरसाती 'मेघ' की तरह 14 वर्ष तक, फ्राँस की गलियों और निष्ठुर शहरों मे व्यतीत करता हुआ, निरन्तर घूमता ही रहा और अन्त में केवल निराश होकर पेरिस लौट आया।

रूसो का व्यक्तित्व 'अवारागर्दी' ने संवारा था, समय के थपेड़ों ने उसे भावुक बनाया था। मनचले 'अवारा' खुलेपन ने उसका प्रकृति से निकट का सम्पर्क बनाया था। मां-बाप के संरक्षण विहीन जीवन ने, क्रम-बद्ध शिक्षा के अभाव में, तथा भंयकर वेदनाओं के कहर ने, उसके मानस को विशिष्ट दार्शनिक रचनाकार बना दिया। उसे जीवन भर स्नेह के दो शब्द भी नहीं मिले थे। प्यार की दो बून्दों के लिये वह जीवन भर प्यासा ही रहा था। मां-बाप का दुलार उसके नसीब में नहीं था। उसे स्वतन्त्र हवाओं ने ही परवरिश किया था। यही नहीं, कठोर धरती का बिस्तर उसका बिछौना था, और रोज़-रोज़ के अनजान पथिक उसके साथी थे, फिर भी उसमें 'दर्शन' और जीवन रस की काव्यमय वास्तविक, सत्यता के रूप में जाग्रत हो गई थी, यह उसे प्रकृति की देन ही थी, जिसने उसे गम्भीर मानवतावादी और जनतान्त्रिक दार्शनिक बना दिया। वह सदा ही उन प्रश्नों का उत्तर तलाशता रहा कि "स्वतन्त्र मानव व्यक्तित्व अनेकों बंधनों की संकीर्णता में क्यों अनुबंधित है ? उसे सुखद मुक्ति कैसे मिलेगी ?? और वह परम आनन्दित जीवन कैसे प्राप्त करेगा ??? वह धर्म–निरपेक्षता का जनक हो गया है, और समानता का दर्शन शासी बन गया।

क्रांतियाँ नेतृत्व विहीन नहीं होती हैं

क्रान्तियाँ शक्तिशाली नेतृत्व के साये में विकसित होती हैं, जो जनवादी लक्ष्य की पूर्ति करती है। फ्राँस की क्रांति के नेता भी लेफेएर, मिराब्यू तथा रॉब्स बियर (Robes Pierre) थे, जो जनतंत्रवादी श्रेष्ठता तथा क्रांति में बढ़-चढ़ कर हिस्सा ले रहे थे।

क्रांतियाँ निरउद्देश्य भी नहीं होतीं, उसके पीछे कोई प्रेरक-शक्ति (Motive Force) होती है। इंग्लैण्ड, में जो समय के साथ जनता ने 'विद्रोह' किया था, उसमें प्रेरक शक्ति "धर्मतंत्र और राजनीति" दोनों के ही विरूद्ध, जनता का क्रोध तथा विद्रोह था। उस काल खण्ड में, इंग्लैण्ड में जो आंदोलन जाग्रत हुआ था, वह राजकीय विशेषाधिकारों के निरंकुश प्रयोग के विरुद्ध था। इसमें विशेष बात यह थी कि इंग्लैण्ड की जनता केवल वैधानिक प्रतिबन्धों के द्वारा राजकीय शक्ति पर रोक लगाने से ही सन्तुष्ट हो गई थी, जबकि फ्राँस की क्रांति का कारण सामाजिक और राजनैतिक दोनों ही की दुर्व्यवस्था रही थी। फ्राँस की जनता में क्रांति का उबाल, वर्ग संघर्ष के कारण उठा था, क्योंकि उस काल में राजतंत्र और धर्मतंत्र दोनों ही शक्तिशाली वर्ग का साथ दे रहे थे। फ्राँस के किसानों और कमज़ोर वर्ग के शोषण में यह दोनों, उच्च वर्ग के ही मद्दगार थे। उसी के साथ-साथ सामाजिक असमानता की खाई लोगों में गहराई से बढ़ती चली जा रही थी। **इंग्लैण्ड के राजनैतिक परिवर्तन को क्रांति के नाम से नहीं पुकारा जा सकता है, वह तो एक तरह का राजनीति में वैधानिक बदलाव था। यह एक तरह का समझौता था, जो पुरानी राजनैतिक व्यवस्था को सुविधाएँ देकर पुनः स्थापित कर दी गई थी। उनकी परिवर्तन शैली पुराने और नये सिद्धांतों को मिलाकर वैधानिक अमली-जामा अपनाना ही उनका मुख्य उद्देश्य था, एक तरह से इंग्लैण्ड की राजनीति, अपनी जनता से भी राजनीतिज्ञ व्यवसाय करने में, बड़ी चतुर साबित हुई है।**

फ्राँस की राजक्रांति दूसरी ओर बड़ी ही विध्वंसात्मक, क्रांतिकारी और उग्र साबित हुई थी। फ्राँस की जनता पुरानी शासन पद्धति को जड़ से उखाड़ फेकना चाहती थी। वह मौलिक सिद्धान्तों से युक्त होते हुये भी, निरंकुश सामाजिक व्यवस्था को उखाड़ फेकना अपना ईमान समझती थी। फ्राँस की क्रांति के मध्य असंख्य लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया था। मानव रक्त से लबालब भरे दरियाँ फ्राँस की घरती पर कहीं भी देखे जा सकते थे। उस काल में, फ्राँस में, गरीबी, और भुखमरी का दानव, इन्सानी जिंदगी को निगल रहा था। अराजकता और उपद्रवों का ताण्डव रात-दिन कत्लोंगारत का खेल खेल रहा था। **उस समय फ्राँस की क्रांति फ्राँस का एक घरेलू मामला न रहकर, सम्पूर्ण यूरोप की समस्या बन गई थी। उस काल में, अनेकों घटनाएँ इतिहास के पृष्ठों पर चुन-चुनकर लिखी जा रही थी। अभी इतिहास को अनेकों खूखांर दरिंदों के बर्बर, धर्मान्धता में लिप्त, तथा आतंकवादी आचरण को क्रमबद्ध करके लिखना बाकी था।** लगभग दो शताब्दियों का

गत इतिहास, इस बात का गवाह था, कि निरंकुश राजतन्त्र, आर्थिक, सामाजिक तथा राजनैतिक क्षेत्रों में पूर्णतः असफल रहा था। लेकिन अनहोनी घटनाओं का सिलसिला 1778 से लेकर 1800 ई० तक निरन्तर जारी रहा था।

लुई सोलहवें का वध

घटना बोलती है, कि लेजिसलेटिव असम्बली के भंग हो जाने के बाद 16 सितम्बर 1792 को नेशनल कन्वेन्शन की बैठक हुई थी, क्योंकि लुई सोलहवें को राजकाज से अलग कर दिया गया था। कन्वेंशन का सबसे पहला काम था, राजवंश का खातमा करना। फ्राँस को एक 'रिपब्लिक' घोषित करना! जो लोग देश से भाग गए थे, उन्हें आजीवन भर के लिये, देश निकाला दे दिया गया था। एक क्रांतिकारी कलैण्डर चलाया गया, जिसकी गणना रिपब्लिक जन्मतिथि से की गई थी। उन्होंने विधान बनाने के लिए एक कमेटी का गठन भी किया, लेकिन विधान बनाने का काम गिरोण्डिस्ट तथा माउण्टेन (जैकोबिन) लोगों में आपसी संघर्ष होने के कारण विधान बनाने का काम पूरा न हो सका। दुख की बात यह है कि यह लोग भी क्रूरता की हद को पार कर गए थे।

कन्वेंशन ने एक मत से 'राजतन्त्र' को समाप्त करने का प्रस्ताव पास कर दिया। जब राजतन्त्र समाप्त कर दिया गया, तो क्रान्तिकारियों के सामने प्रश्न खड़ा था कि लुई सोलहवें के साथ कैसा बर्ताव किया जाए? जो राजा रत्नजड़ाऊ चमकते हीरों का मुकुट पहने, शान-शौकत से राजसिंहासन पर बैठा रहता था, वह उस काल में स्वयं बंदी गृह में पड़ा अपने भाग्य पर आँसू बहा रहा था, जो सिहांसन प्रभु की आज्ञा से राजतन्त्र चलाने के लिए, राजा के जन्म सिद्ध अधिकारों का प्रतीक माना जाता था और जिस पर पवित्र जल छिड़क कर उसे पवित्र किया जाता था, वह सिहांसन रक्त के धब्बों से लाल हो गया था। वह स्वयं उस समय की रफ्तार से हत्यारा हो गया था। राष्ट्र सम्मान की प्रतिष्ठा का प्रतीक फ्राँस के राजा का राजमुकुट धरती पर पड़ा धूल चाट रहा था, जो धर्म ग्रन्थों से निकले पवित्र शब्दों के उच्चारणों से राजा के मस्तिष्क को ऊँचा कर देता था और जो हज़ारों रत्नों के प्रकाश से समय को जगमगा देता था, वह मुकुट क्रांति के प्रहारों से, उस काल में, आम जनता की ठोकरों में पड़ा था, जिसे धर्म गुरु श्वेत धवल वस्त्र पहने, उसकी आज्ञा का पालन करते थे, वह उस काल में, असहाय खड़े थे। उस समय रॉग्सपियर के नेतृत्व में (जैकोबिन) लोग तो इस पक्ष में थे, कि बिना मुकदमा चलाए ही लुई सोलहवें को सूली पर चढ़ा दिया जाए, लेकिन गिरोण्डिस्ट लोग चाहते थे, कि पूर्ण राष्ट्र की अनुमति से ही राजा के मामले में निर्णय लिया जाये। अतः राजा पर आरोप लगाकर एक मुकदमें का ढोंग रचा गया और लुई सोलहवें को राष्ट्र की स्वतन्त्रता के विरूद्ध षड़यन्त्र रचने का दोषी करार दिया गया।

परिणामस्वरूप 21 जनवरी 1793 को; फ्राँस के इतिहास का वह दिन था, जब एक राजा लुई सोल्हवें को ग्लोटीन (Guillotire) पर चढ़ाकर 'वध' कर दिया गया।

यूरोप की धरती पर भयंकर आतंक

फ्राँस में हिंसा का ताण्डव रुकने नहीं पा रहा था। राजा के कत्ल के बाद, हिंसा और भी तेज़ी से बढ़ती जा रही थी। फ्राँस की जनता का एक बहुत बड़ा हिस्सा, राजा लुई की हत्या को एक महान् भूल मानकर उसकी घोर निन्दा कर रहा था, जिससे फ्राँस में भयानक

आतंक का साया मण्डराने लगा था। उस काल में, यह प्रचार भी जोरों पर था, कि क्रान्तिकारियों ने राजा का वध करके भयानक 'पाप' किया और इसी भावना से प्रभावित होकर फ्राँस के कई संगठनों ने, 'रिपब्लिक' के विरूद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया था। दूसरी ओर यूरोप के राजतंत्रवादी एवं धर्मतंत्रवादी दोनों मिलकर रिपब्लिक के विरूद्ध तलवार मांझने लगे थे। अतः राजा के वध के बाद विभीषिका काण्ड (Reign of terror) आरम्भ हो गया। फ्राँस में अराजकता फैल गई। जगह-जगह 'नाश' लीला आरम्भ हो गई। राजतंत्र की समाप्ति के बाद, जो राज-विप्लव आरम्भ हुआ, वह हिंसा की समस्त सीमाओं को लांघ कर, आतंक की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। उस काण्ड की विभीषिका (Reign of terror) ने फ्राँस के जन-जन को आतंकित कर दिया था।

अब 'फ्राँस' की प्रजातंत्रात्मक शक्तियों ने, समस्त यूरोप की राजतंत्रवादी शक्तियों को ललकार कर, उनके विरूद्ध संघर्ष का आवाहन कर दिया। उपरोक्त घटनाओं से यूरोप में सिद्धान्तों की लड़ाई आरम्भ हो गई थी। फ्राँस का स्वतंत्रतावाद तथा समतावाद अपना क्रांतिकारी 'ध्वज' लेकर, सम्पूर्ण यूरोप में लहराने का प्रयास कर रहा था। क्रांतिकारियों ने यूरोप को चुनौती दे डाली थी कि **फ्राँस की "कन्वेंशन" यह घोषणा करती है "जो समतावाद और प्रजातंत्रवाद का विरोध करेगा, वह फ्राँस की रिपब्लिक का सीधा दुश्मन होगा।" जो समतावाद और जनतन्त्रवाद को मानने से इन्कार करेगा, वह क्रान्तिकारियों से खुली शत्रुता मोल लेगा।** दूसरी ओर राजतंत्रवादी शक्तियाँ यूरोप में संगठित होकर राजा के विशेषाधिकार को बचाने के लिये एकत्र हो रही थीं। अब जनतन्त्रवाद की राजतंत्रवाद और धर्मतंत्रवाद से सीधी टक्कर हो रही थी। अब यूरोप में एक राजा का दूसरे राजा से युद्ध नही हो रहा था, अब 'जनतंत्रवादी दर्शन' निरंकुश राजतंत्र तथा धर्मतंत्र के विरूद्ध सीधा आक्रमण कर था, जिसकी शस्त्रधारी सेनाएँ, राजतंत्रवादी और रूढिवादियों पर एक साथ झपट रही थीं।

फ्राँस के रिपब्लिक को हाल में मिली सफलताओं ने इतना उत्साहित कर दिया था, कि उन्होंने अन्य देशों की जनता से भी राजतंत्र को उखाड़ फेंकने के लिये, कई संदेश जारी किये, तथा उन्हें सैनिक सहायता देने का प्रस्ताव भी रखा था। 'प्रजातंत्रवादी' फ्राँस ने, राजतंत्रवादी यूरोप के विरुद्ध सिद्धान्तों की लड़ाई खुले आम घोषित कर दी थी, जिसका उद्देश्य सम्पूर्ण यूरोप में निरंकुश राजतंत्र को समाप्त कर, स्वतंत्र-धर्मनिरपेक्ष-जनतंत्र और समतावादी समाजवाद को स्थापित करना था।

युद्ध की आग में जलता यूरोप

लेकिन फ्राँस ने युद्ध की घोषणा करके सम्पूर्ण यूरोप को अपना शत्रु बना लिया। उस काल में फ्राँस युद्ध के लिये युद्ध कर रहा था। युद्ध उस समय उसकी, राजनैतिक तथा आर्थिक आवश्यकता थी, फ्राँस का 'जनतंत्र' उस काल में आतंक के साये में भी सांसे ले रहा था, इसलिये वह नंगी तलवारें लिये 'जनतंत्र' की आड़ में, आतंक मचाता फिर रहा था और सैनिक आतंक से यूरोप को धमकाना चाहता था।

फ्राँस के आक्रमण ने, और लुई-सोलहवें की हत्या ने, सम्पूर्ण यूरोप को फ्राँस के विरुद्ध एकत्र कर दिया था। फ्राँस का युद्ध, आस्ट्रेलिया और पर्शिया के विरुद्ध घमासान तरीकों से जारी था। उन्होंने भारी मार-काट के बाद आस्ट्रेलिया, नीदरलैण्ड अर्थात् बेल्जियम को जीत लिया था। बेल्जियम पर अधिकार होने पर इंग्लैण्ड का चिंतीत होना स्वभाविक ही था। इंग्लैण्ड

ने पहल करके, यूरोप तथा अन्य देशों के साथ मिलकर जिसमें आस्ट्रेलिया, पर्शिया, हालैण्ड तथा स्पेन आदि देश शामिल थे, प्रथम संघ (First Calcification) की स्थापना की थी, जिसका उद्देश्य यूरोप में 'राजतंत्र' की रक्षा करना था।

देशों में युद्ध जारी था, हिंसा जोरों पर थी, यूरोप के प्रथम संघ के सामने, अब फ्राँसीसी लगातार हार रहे थे। उसी काल में फ्राँस ने, हालैण्ड पर आक्रमण किया, पर वह वहाँ से खदेड़ दिया गया। 1793 में आस्ट्रेलिया के हाथों फ्राँस के जनरल डूमरेज (Domoureg) ने करारी हार खाई। इंग्लैण्ड ने डेंकर्क (Dunkirk) को घेर लिया, और स्पेन ने रुसलिनकों को फ्राँस से जीत लिया।

दूसरी ओर फ्राँस के दक्षिण में, राजतंत्रवादियों ने, चर्च की मदद से जनतंत्रवादियों के विरुद्ध विद्रोह कर दिया। उनका आरोप था कि जनतंत्रवादियों ने "निर्दोष लुई सोलहवें" की हत्या की थी। उस काल में, अराजकता की आग में जलता फ्राँस, और युद्ध की विभीषिका में पल-पल तड़पता यूरोप, भयानक आतंक के साये में सांसे ले रहा था।

2 जून 1793 से लेकर जुलाई 1794 तक, 'फ्राँस' भयानक घरेलू-यूद्ध की अग्नि में केवल जलता ही नहीं रहा, बल्कि वहाँ क्रूरता ने मानवता को 'सरेआम' रौंद-रौंद कर नष्ट किया था। राष्ट्र पर संकट को देखकर, जो स्वाभाविक रक्षा समिति (Committee of Public Safty) बनाई गई थी, जिसमें 9 सदस्य थे। जिसका उद्देश्य, देश के बाहरी और अन्दर के दुश्मनों का पूर्णतः सफाया करना था। वह समिति रिपब्लिक के शत्रुओं के साथ कठोर से कठोर कदम उठाने के लिये पूर्णतः अधिकृत थी। फ्राँस को जो असफलताएँ मिलीं, उनके कारण से आपस में भारी तनाव पैदा हो गया था। वास्तव में, गिरोण्डिस्ट उन लोगों को दण्ड देना चाहते थे, जो सितम्बर काण्ड के लिये जिम्मेदार थे। लेकिन जैकोविन ऐसा करना 'राष्ट्र' के लिये खतरनाक मानते थे, क्योंकि उन दिनों देश, बेहद खतरे में था। उन्होंने समझ लिया कि आक्रमणकारियों से देश की रक्षा केवल राष्ट्रीय एकता के होने पर ही हो सकती है, इसलिये उन्होंने मिरण्डिस्टों के विरुद्ध एक विद्रोही व्यवस्था की और पेरिस के मोब (Mob) ने, जोश में आकर कन्वेन्शन के ऊपर आक्रमण कर दिया, और उसके 31 नेताओं को गिरफ्तार करने के लिये बाध्य किया। इस घटना से गिरोण्डिस दल का पतन हो गया। इसके अतिरिक्त भी वे हिंसक नीति का विरोध करके, क्रांतिकारी उद्देश्यों की पूर्ति करना चाहते थे। इस घटना के बाद राजनैतिक क्षेत्र में जेकोबिन दल की प्रभुसत्ता स्थापित हो गई, और उनके सामने कोई विरोधी दल न रहा। अब ऐसी कोई शक्ति न रही, जो उस काल के भयंकर हत्याकाण्ड, को रोक सके। जिनके कारण फ्राँस में रॉब्स-पियर, डेटन और मैरिट जैसे तीन उग्र पुरुषों के नेतृत्व में, विभीषिका काण्ड (Reign of Terror) आरंभ हुआ था ! इस काण्ड का उद्देश्य उन समस्त तथ्यों को उखाड़ फेंकना था, जो क्रान्ति के विरोधी थे, और यही कारण फ्राँस के घरेलू युद्ध की अशांति का कारण भी बना था। वह चाहते थे, कि बाहरी शत्रुओं से फ्राँस की रक्षा की जाये और अंदरुनी क्रान्ति के शत्रुओं को चुन-चुनकर समाप्त कर दिया जाए ! इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए कठोरतम उपायों के माध्यम से भयानक क्रूरता और निर्दयता से, क्रान्ति के दुश्मनों को ठिकाने लगाया गया।

ऐसा नहीं था, कि यह घटनाएँ कोई भीड़ एकत्रित कर रही थीं, बल्कि विभीषिका और आतंक को एक योजनाबद्ध तरीके से अंजाम दिया जाता था, और क्रान्तिकारियों के विरोधियों को चुन-चुनकर आये दिन मौत के घाट उतारा जाता था ! इन उग्र क्रान्तिकारियों का मत था,

कि राष्ट्रीय मुक्ति हेतू उदण्ड उपायों से काम लेना जरुरी था। इस मशीनरी के मुख्य हिस्से थे, "दी लॉं ऑफ सस्पैक्ट" (The law of suspects) जिसमें तनिक भी संदेह होने पर, किसी भी व्यक्ति को केवल बंदी ही नही बनाया जाता था, बल्कि एक क्रान्तिकारी अदालत सन्देहयुक्त व्यक्ति को, एक अदालती कार्यवाही का दिखावा करके, जल्दी ही मौत की सजा सुना कर कत्ल करा देती थी। यह न्याय का एक क्रूर स्वांग था, जो हिंसा की पहरेदारी कर रहा था। इस मशीनरी का अंतिम अंग यह भी था कि यह "एक क्रान्ति का मैदान" (Square of Revolution) कहलाता था, जो चोकोर होता था ! जहा एक लोहे का यंत्र रखा था, जिसे गिलोटीन कहा जाता था। जहाँ अभागे व्यक्तियों को पकड़-पकड़ कर न्याय की ढ़ोग भरी तराजू पर, निर्जीव पत्थरों की तरह तोला जाता था, और इन अभागे व्यक्तियों के सर, उस मैदान में, गिलोटिन द्वारा काट दिए जाते थे !

इस चौकोर मैदान में, अकेले पेरिस में ही दो हज़ार से भी अधिक व्यक्तियों को गिलोटिन पर चढ़ाकर मौत के घाट उतारा गया था ! उस समय आतंक का साया, मौत के राक्षस के रूप में, सम्पूर्ण फ्राँस में जुर्म की घिनौनी हिसंक प्रवृत्ति का परिचय दे रहा था। इन हत्याओं का शिकार केवल साधारण व्यक्ति ही नहीं हुए थे, बल्कि कुछ मुख्य लोग भी हुए थे। जिनमें बंदी रानी मेरिया आण्टॉयनेट, मैडम रोलैण्ड, जो गिरोण्डिस्ट दल की नेता थी, उसे भी गिलोटिन पर रख कर कत्ल कर दिया गया था। शारलाट कॉर्डे (Charlotte Corday) नामक एक लड़की ने, जो नार्मन जाति की थी, अपने देश को 'मैरट' जैसे विकराल राक्षस से मुक्त कराने के अभिप्राय से, उसको छुरा भौंक कर मार डाला था। कहानियाँ अभी और भी हैं, हिंसा की, आतंक की तलवारें, भयंकर घमासान युद्ध करती हुई, जो इतिहास लिख रही थीं, वह उस युग की हिसंक मनोवृत्तियों का इतिहास ही कहा जा सकता है। हमारा उद्देश्य क्रान्ति के मध्य भी हिसंक घटनाओं को छाँट-छाँटकर कारण सहित तलाश करना ही है।

कुछ घटनाएँ छोंड़ते हुए, फ्राँस की क्रान्ति के इतिहास को आगे बढ़ाएँ। वहाँ आन्तरिक खतरों के नाम पर, भयंकर मारकाट चल ही रही थी। वह विभीषिका की हद को पार कर गई थी, दूसरी ओर बाहरी शत्रुओं का सामना करने के लिए युद्ध विभाग 'कार्नट' के हाथों में दे दिया गया था। उसने युद्ध सामग्री इकट्ठा करके सेना की 'व्यूह' रचना का काम बड़ी योग्यता से किया था।

उसने 'गिरोण्टिस्ट' जनरलों को हटाकर, उनकी जगह चतुर 'माउण्टेन' जनरलों को नियुक्त किया था। इस का परिणाम सुखद भी हुआ। फ्राँसीसी सेनाएँ 'प्रथम' यूरोपियन "संघ" के विरुद्ध विजय पताका फहराने लगीं ! अंग्रेज होण्शूट (Honds Shoot) में हार गये, और डकर्कका का घेरा उठाने को मजबूर हो गये !

ऑस्ट्रिया सेनाएँ वेटिन्नीज (Wattingnies) में परास्त हुई। मित्र राष्ट्रों को पीछे, 'राईन' नदी तक की ओर हटना पड़ा ! हालैण्ड को विजय कर, वहाँ रिपब्लिक की स्थापना कर दी गई। इधर फ्लूरस (Fleurus) में ऑस्ट्रिया वालों को हराकर बेन्लिनिम पर पुनः अधिकार कर लिया गया। फ्राँस की सेनाओं ने, अंग्रेजों से टूबूलन फिर जीत लिया ! 1795 ई० में प्रेशिया और स्पेन ने 'वेसूंल' की सन्धि करके फ्राँस के साथ लड़ाई बंद कर दी ! परिणामस्वरूप 'कार्नट युद्ध' का प्रवीण 'दक्ष' पुरुष बन गया और यूरोपीय रियासतों का संघ टूटकर बिखर गया। उस समय केवल इंग्लैण्ड और ऑस्ट्रिया मैदान में जमे रहे।

विभीषिक काण्ड का अन्त भी, सेनाओं की सफलता ने स्वयं ही कर दिया ! अब यह महसूस किया जाने लगा कि व्यर्थ में मानव रक्त क्यों बहाया जाये ? लेकिन माउण्टेन लोग इस प्रश्न पर विभाजित हो गये ! उनमें एक क्रान्तिकारी समुदाय (हेबटिस्ट्स Hebentists) बन गया था। ये लोग 'हेवर्ट' (Hebert) के शिष्य थे ! पैरिस के 'क्मयून' पर वह विशेष प्रभाव रखते थे ! उन्होंने समाज में क्रान्तिकारी परिवर्तनों पर जोर दिया ! उन्होंने धर्मतन्त्र पर जोरदार आक्रमण किया, विशेष रूप से रोमन "कैथोलिक" चर्च पर, क्योंकि उनकी दृष्टि में वह अन्ध ाविश्वास और राजतन्त्र तथा कुलीन तन्त्र की जननी माने जाते थे। इसलिये उन पर जोरदार हमला किया गया। उन्होंने 'तर्क' के आधार पर उपासना करने की घोषणा की तथा एक फ्राँसीसी डिक्रीपास कराके, पेरिस के समस्त उपासना ग्रहों में 'ताला' लगवा दिया। जो लोग अपने को सच्चे क्रान्तिकारी कहते थे, उन्होंने उन्हें क्रान्ति की सीमाओं का उल्लघंन करने वाला बताकर, उनकी घोर निन्दा की ! परिणामस्वरूप रॉब्सपियर ने हेबटिस्टस की बहुत निन्दा की और उन्हें 'नास्तिक' कहकर गिलोटिन द्वारा मृत्यु दण्ड देने की आज्ञा दी !

कहानी आगे और भी है, हेबर्स्टिस् का पतन उनके अतिवादी होने से ही हुआ, लेकिन डैण्टनिस्ट लोगों का पतन क्यों हुआ ? यह सवाल उठता है, क्योंकि वह तो 'सद्भाव' को आगे बढ़ाने में विश्वास कर रहे थे ! वास्तविकता यह थी, कि वह लोग विभिषक और हिंसा के पक्ष में उसी समय तक थे, जब तक कि उसकी आवश्यकता थी ! वैसे वह सद्भाव में विश्वास करते थे।

उनकी दृष्टि में, 'फ्राँस' पर जब कोई खतरा रहा ही नहीं था, तब हिंसा का सहारा लेना, वह लोग उचित नहीं मानते थे ! वह चाहते थे, हिंसा और कठोरता को छोड़कर, सदभाव (Modevation) और दयापूर्ण व्यवहार को अपनाना राष्ट्रहित में रहेगा ! पर 'राब्स पियरे' की दृष्टि में और उनके कट्टरपंथी अनुयायियों की दृष्टि में दया और 'क्षमा' तो राजद्रोह ही थी ! "डैण्टन" की भावना को समझे बगैर ही उल्टे डैण्टन पर सद्भाव की विद्रोही नीति का दोष लगाकर, उसका और उसके समस्त सहयोगियों का वध करा दिया। 'डैण्टन' माऊटेन का सबसे योग्य और प्रिय नेता था। उसी की योग्यता से फ्राँस की विजय हुई थी, तथा 1792 ई० में, प्रासिया आक्रमण से फ्राँस की रक्षा हुई थी ! उसने दलों के आपसी मतभेद दूर करने की कोशिश भी की थी और फ्राँस की राजनीति को जनतान्त्रिक बनाने के लिये, प्रजातंत्रवादियों को संगठित करने की पूर्ण चेष्ठा भी की थी। वह एक योग्य सैनिक की तरह अनावश्यक हिस्सों के विरुद्ध आवाज़ उठाता रहा था। उसके पतन के बाद, 'फ्राँस ने एक योग्य राजनितिज्ञ खो दिया था।

'डैण्टन' के पतन के बाद 'राब्सपियर' एक 'चालाक' तानाशाह की तरह काम करने लगा। वह भय और लोगों के दिलों पर आतंक का प्रतीक बन गया था। अब वह स्वयं धर्म की छतरी के नीचे आ गया था। वह धर्मतन्त्र को फिर से शक्ति देने लगा था। उसने 'तर्क' की उपासना यानि नास्तिकता को पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया।

उसके मत से "ईश्वर" का अस्तित्व स्वीकार किया जाये ! आत्मा का अमरतत्व धारण करना आवश्यक होगा ! लेकिन धर्म की आढ़ में, उसने अंधविश्वास को अपनी ढ़ाल बनाया और उसके पीछे छुपकर राजनैतिक कठोरता को निर्दयता से लागू किया। उसके इशारे पर विधि का शासन पूर्णतया समाप्त कर दिया गया। 'रॉंब्सपियर' एक ऐसे नये धर्म का पुजारी बन गया, जो निष्ठुरता पर यकीन करता था, उसमें दया का कोई स्थान नहीं था। इसी से क्रान्तिकारी

'ट्रिब्यूनल' अपने काम में और भी कठोर और घातक हो गया था। अब किसी आदमी को दोषी ठहराने में किसी सबूत की जरुरत नहीं थी। यह पंचों के विवेक पर छोड़ दिया जाता था। इस नवीन कानूनी व्यवस्था ने फ्राँस की क्रान्तिकारी न्याय-व्यवस्था की धज्जियाँ उड़ा दीं तथा फ्राँस के न्यायिक इतिहास में एक ऐसा काला अध्याय लिखा, जो 'एक व्यक्ति की तानाशाही' और हिंसक प्रवृत्ति का शिकार था, क्रान्तिकारी न्याय व्यवस्था उसके इशारे पर नाच रही थी। ट्रिब्यून पुर्नव्यवस्था हो जाने के बाद 45 दिनों के अन्दर 1376 व्यक्तियों का वध करा दिया गया था।

फ्राँस इस तरह अनेकों भयंकर आतंकी, निर्मम, कठोर, अमानवीय काण्डों से पीड़ित हो सिसक रहा था। क्रूरता और निर्दयता का 'कहर' देखकर लोग भयक्रान्त थे, बड़े-बड़े क्रान्तिकारी और जनवादी भी सहमे-सहमे अपनी-अपनी सांसे गिनते रहते थे। हर घड़ी मृत्यु भय से त्रसित ज़ीवन व्यतीत करना, आतंक की पराकाष्ठा को पहुँच गया था, वह पल-पल डर और भय से 'मृत्यु का साया, ओड़े' चलते-फिरते निर्जीव प्राणी बन गये थे।

अन्त में, रॉब्सपियर के 'विरुद्ध' जन विद्रोह की भावना भड़क उठी। उसके विरुद्ध एक विरोधी दल की स्थापना हुई, उसका परिणाम भी वही हुआ, जो एक 'आतंकी' का होता है। आतंक यही सोचता है कि वह अजर-अमर है, लेकिन जैसे-जैसे वह आतंक की सीमायें बढ़ाता है, वैसे-वैसे उसके जीवन की रेखाएँ मिटने लगती हैं और अन्त में मृत्यु उसे नहीं छोड़ती।

'रॉब्सपियर' के साथ भी ऐसा ही कुछ हुआ था, कंवेनशन ने उसको तथा उसके साथियों को न्याय-रक्षण से बाहर कर दिया। 27 जुलाई को वह बन्दी बना लिया गया, और दूसरे दिन रॉब्सपियर को गिलोटीन पर चढ़ाकर मौत के घाट उतार दिया गया। 'धर्मतन्त्र' का नकाब ही राब्सपियर की क्रूरता का कारण बन गया था।

'रॉब्सपियर' यद्यपि विभिक्षा काण्ड का जन्मदाता नहीं था, लेकिन उसको बढ़ाने में सबसे अधिक हाथ उसी का था। कहा जाता है, कि उसने अत्याचार के लिये ही अत्याचार किये थे, वह ढौंग करता था की, कि वह रिपब्लिक के अधिकारों की पूर्ति के लिये ही अमानवीय अत्याचार कर रहा है। वास्तव में उसकी महत्वाकांक्षा यह थी, कि वह प्रजातंत्रवाद को, माध्यम बनाकर 'धर्म राज्य' की स्थापना करे। उसकी पूर्ति के लिये अंधविश्वास में डूब गया और इस तरह अपने ढ़ंग के राज्य की स्थापना करने के लिये, उसने अमानसिक अत्याचारों को माध्यम बनाया। दूसरी काल्पनिक योजनाओं में उसको रूसो के विचारों का स्थूल रूप भी कहा जा सकता है। 'राब्सपियर' के पतन के बाद धीरे-धीरे फ्राँस राज्य में 'क्रान्ति' का अंत हो गया। लेकिन वह पद्धति इतनी बदनाम हो चुकी थी, कि फ्राँस का जन-जन उससे नफरत करने लगा था। अब वहाँ की जनता क्रान्ति-दर्शन को किसी प्रकार भी स्वीकार करने को तैयार नहीं थी।

फ्राँस की क्रांति पूर्णतः जनतंत्र को स्थापित करने में असफल रही

यद्यपि फ्राँस की क्रांति ने जनतंत्र और धर्मनिरपेक्ष राज्य की स्थापना के द्वार खोल दिये थे। राजनीतिक चिंतन के इतिहास में, क्रांति के महत्व को, परिवर्तन का प्रतीक इतिहास तो कहा ही जायेगा। फ्राँस की क्रांति ने जनता को राजनीतिक सत्ता का मूल स्रोत बनाकर लोकतांत्रिक परम्परा का शंखनाद किया था। फ्राँस की क्रांति ने धर्म-निरपेक्षता, स्वतंत्रता तथा समानता और भ्रातत्व सम्बन्धी सिद्धांतों को, क्रांतिकारी संदेश के रूप में, इतिहास के पृष्ठों पर

भी अपने खून से लिखने का साहस किया था। आज के आधुनिक, लोकतांत्रिक दर्शन की, यहाँ, तक कि समाजवादी दर्शन की, प्रथम प्रयोगशाला फ्राँस की राज्य क्रांति ही थी। फ्राँस की राज्य क्रांति ने अपनी प्रेरणा से राजनीतिक्षेत्र, शिक्षा, धर्म, साहित्य क्षेत्र में, और आने वाले समस्त दार्शनिक चिन्तकों के मस्तिष्क पर अपनी छाप छोड़ी थी।"**यह अतिश्योक्ति नहीं है, कि वर्तमान की राजनीति में, आने वाले सभी मार्गों का प्रवेश-द्वार फ्राँस की राज्यक्रांति ही थी।**

फ्राँस की क्रान्ति के कारण

1780 के लगभग फ्राँस यूरोप का सबसे धनी और विकसित देश था। उसकी आबादी 25 मिलियन (million) के लगभग थी। रूस की आबादी 1780 में 24 मिलियन के लगभग थी। इटली में 17 मिलियन (million), लोग रहते थे। आस्ट्रिया (Austria) 7.9 मिलियन (million), आयरलैण्ड (Ireland) 4 मिलियन (million), बेलजियम (Belgium) 2.2 मिलियन, पुर्तगाल 2.1 मिलियन, स्वीडन (Sweden) 2 मिलियन, हौलैण्ड (Holland) 1.9 मिलियन स्वीटजरलैण्ड (Switzerland) 1.4 मिलियन, डैनमार्क (Danmark) 8,00,000, मिलीयन लोगों की आबादी थी। उस काल में, फ्राँस का शहर पेरिस यूरोप का सबसे बड़ा घनी आबादी का शहर था, जिसमें 6,50,000 लोग रहते थे, जो यूरोप में सबसे अधिक शिक्षित उन्नत लोगों का सुन्दर शहर था।

फ्राँस तीन श्रेणी के लोगों में विभाजित था। प्रथम सर्वश्रेष्ठ पादरीगण, 1,30,000 धार्मिक आत्माएँ कहलाने वाले लोग थे, दूसरे शिष्टगण 4,00,000 उच्च वर्ग से सम्बन्धित नागरिक थे, जो विशेष अधिकारों से पूर्ण थे। उसके बाद निर्धन किसान, मजदूर लोग थे, जो ग्रामीण क्षेत्रों में रहते थे, जो राजनैतिक अधिकारों से वंचित थे।

"The richest class was the Ecclesiast , hierarech-cardinals archbishops, bishops and, abtbots; among the poorest were the pastors and curates of the country sides; here the economic factor crossed the lines of doctpric, and in the revolution lower clergy joined with the commonalty against their own superious. Monastic life had lost its lure; the Benedictines, numbering 6434 in the Franch of 1770, had been reduced to 4,300 in 1773, in 1790 Nine orders of "religious" had been displanded by 1780 and in 1773 the society of 'jesus' (the jesuits) had been dissolved. Religion in general had declined in the Franch cities, in many town the Churchy were help empty; and among the peapantry pagan customs and old superstitions compected activity with the doctrines and the ceremonies of the church. The Nuns, however, were still activity dovoted to the teaching and nursing, and were honored by rich and poor alike. Even in that skeptical and practical age there were thousands of women children, and men who eased the buffets of life with piety, fed their imaginations with tales of the Saints, interrupted the succession ; of toilsome days with the holiday ritual and rest, and found in religious hopes and anodyne to defeat and a refuge tour from bewilderment."

फ्राँस की क्रान्ति की मुख्य बात यह थी, कि धार्मिक अन्धविश्वास और उच्च पदों पर बैठे विशिष्ट धर्म गुरुओं और राजतन्त्र तथा धनी लोगों के विरुद्ध जहाँ आम जनता इन्कलाब का बिगुल बजा रही थी, वहीं छोटे तथा मध्यम श्रेणी के पादरियों ने भी क्रान्ति में अपने उच्च धर्मगुरुओं के विरुद्ध आवाज उठाई थी।

क्योंकि धर्म की तंगदिली से तंग आकर लोग, अन्धविश्वास के अन्धकार से निकलकर,

खुले वातावरण में 'सांस' लेना चाहते थे। **लेकिन 'सेवा' और शिक्षा में लगी धर्मप्रचारक बहनों (sisters) को, क्रान्ति के दिनों में भी लोग श्रद्धा से देखते थे। उनके प्रति अपार श्रद्धा लोगों में पूर्णतः मौजूद थी।**

जनता को यह समझाया जाता था कि पीड़ित दुखीः और गरीब लोग अपने 'पापों' का फल अपने कर्म के अनुसार भोगते हैं, जबकि कुछ लोग धनी और शिष्ट भाग्य के लिखे विधान के कारण उच्च तथा धनी दशा में पहुँचे हैं, लेकिन क्रान्ति के दिनों में, परिवर्तन की लहरों के सामने ऐसे विचार धुंधले पड़ रहे थे।

दूसरी ओर फ्राँस के 'धर्मतन्त्र' के कुछ धार्मिक गुरु और उच्च पदों पर बैठे 'विशप्पस' (Bishops) भौतिक सम्पदाओं से पूर्ण सुख भोग रहे थे। वह लोग राजाओं जैसा भोग-विलास पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे।

यह विशिष्ट वर्ग, राजाओं और धनी लोगों की मदद करने के कारण अपार सम्पदा के मालिक हो गये थे, जबकि निर्धन (धर्मगुरु) पादरीगण (Priests), गरीबी में फँसे कठिनाईयों का जीवन व्यतीत कर रहे थे। निर्धन पादरीगण लोगो को (सख्त) कठोर मेहनत करनी पड़ती थी। इसी कारण निर्धन और कठोर मेहनत करने वाले पादरी गण (Priests) क्रान्ति के समर्थक हो गये थे।

उस काल में जहाँ एक ओर फ्राँस की सरकार कंगाल और दिवालिया होने के दरवाज़े पर खड़ी विलाप कर रही थी, वहीं फ्राँस के पवित्र चर्च की आय 150 मिलियन (million) लिवर्स (livers) के लगभग थी। 'चर्च' अपनी आय का कोई भी हिस्सा टैक्स के रूप में सरकार को नहीं देता था। इसलिये फ्राँस सरकार गरीब थी और पवित्र चर्च धनी था।

उस काल में फ्राँस में अति प्राचीन जातियाँ, अपने आपको 'विशिष्ट' जाति से सम्बन्धित "जर्मन श्रेष्ठ" नस्ल से उदित अपना वंश मानते थे, तथा वह लोग, श्रेष्ठा से रहते थे, उनका कथन था, हम श्रेष्ठ हैं, हमने पांचवीं शताब्दी में 'फ्राँस' पर विजय प्राप्त की थी। इसलिये फ्राँस की क्रान्ति का एक कारण 'जातियों में भयानक आपसी घृणा भी थी, जो आपस में टकराने को मजबूर कर रही थी। यह भावना कमजोर और निर्धन लोगों को मध्यम वर्ग के साथ मिलकर, क्रान्ति के लिये ललकार रही थी।

यूरोप की वर्षो से चली आ रही सड़ी-गली पुरानी व्यवस्था को, फ्राँस की राज्य क्रान्ति ने, एक पल में उखाड़ कर फेक दिया था। फ्राँस के इतिहास के अध्ययन से पता लग जाता है कि वंश परम्परागत दुर्बलताओं ने, फ्राँस की "राज्य क्रान्ति" को जन्म देने में सहयोग ही किया था, तथा उसका कारण भी बनी थी। यूरोप की उस काल की राजनैतिक व्यवस्था, कुलीन तन्त्रात्मक थी, जिसमें भ्रष्टाचार चरम सीमा पर था। उच्च श्रेणी के राज्य पद तथा न्यायाधीशों तक के पद रिश्वत के बल पर बेचे जाते थे।

उस काल में, फ्राँस की राज्य सत्ता और राजनैतिक प्रभुसत्ता, धार्मिक प्रभुसत्ता का समर्थन करती रहती थी, क्योंकि उनकी मान्यता थी कि 'धर्म' कुलीन वंश के लोगों को सत्ता में बनाये रखने में मदद करता रहता था।

फ्राँस की राज्य क्रान्ति से पूर्व राज्य के समस्त अधिकार 'राजा' के हाथ में केन्द्रित होने के कारण, फ्राँन्स की सभी प्रतिनिधि संस्थाएँ या तो नष्ट कर दी गई थीं, या 'राजा' ने उन्हें

अपने अधिकार में लेकर उनका अपहरण कर लिया था। यहाँ तक स्टेट जनरल (State general) का होना या ना होना बराबर ही था, क्योंकि पार्लियामेण्ट में बैठे सामंत आम आदमी के अधिकारों का रोज हनन करते थे।

राजा निरंकुश शासक था, उसका काम था 'आज्ञा' देना और प्रजा का कार्य था केवल "आज्ञा पालन करना"। उस काल में लुई चतुदर्श अनेकों दोषों से भरा था, लेकिन थोड़ा बहुत प्रजा के प्रति दयालू था। उसका उत्तराधिकारी लुई पन्द्रहवां एक निरंकुश, घोर विलासी 'राजा' था, जो हर समय भोग-विलास और मस्ती में डूबा रहता था। वह प्रजा के प्रति कठोर तथा उसका शोषणकर्ता कहलाता था। उसके स्वार्थी दरबारी रिश्वत लेने तथा अत्याचार करने की सभी सीमाएँ पार कर गये थे। अत्याचारों और अपराधों की आंतकी जंजीरें इतनी कटीली हो गई थीं, कि कोई भी-व्यक्ति उसकी नौकीली धार से लहु-लुहान हो जाता था।

लुई (Louis XV) 1774 में बीस वर्ष की उम्र में गद्दी पर बैठा और फ्राँस का अन्नदाता बन गया। वह एक आलसी शासक के रूप में जाना जाता था।

उसके शासन काल में, भयानक अकाल का सामना करना पड़ा, जिसमें हज़ारों लोग भुखमरी के शिकार हुये। उसके समय में, अनाज के एक-एक दाने के लिये और रोटी के एक टुकड़े के लिये खुंखार उपद्रव हुये। लेकिन राज्यसत्ता तमाशा देखती रही, उसने जनता के लिये कुछ भी नहीं किया। राज्य की जनता ने कर प्रणाली के विरुद्ध और राज्य सत्ता के खिलाफ बगावत का झण्डा बुलन्द कर दिया। उसी से राज्य का खजाना खाली हो गया। 1774-76 में, व्यापार बाज़ार व्यवस्था दिवालिया हो गई थी। मुनाफाखोरों ने बाज़ार पर कब्जा कर, अपनी तानाशाही कायम कर ली थी, तथा आर्थिक सन्तुलन बिगड़ गया था। गरीब आदमी का कठिनाइयों का जीवन होते हुये भी, राजतन्त्र का ज़ालिम शिकन्जा आम आदमी, आम व्यापारी, और किसान की ओर खिंचता चला जा रहा था। किसान को कई प्रकार के कर देने पड़ते थे, उसे अपने स्वामी 'सामन्त' को, भूमि कर, 'चर्च' को धर्म कर और राजा को अन्य कई और तरह के कर देने को बाध्य होना पड़ता था। सामन्तशाही व्यवस्था नष्ट हो गई थी, फिर भी किसानों को सामन्तों के लिये अन्य बेगार सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ते थे। सड़कें बनाने, उनकी मरम्मत करने के लिये मजदूरी करना, किसानों के लिये अनिवार्य था। यही नहीं, उसे अपने मालिक के लिये दिन रात मेहनत करके अनाज पीसना भी पड़ता था। उसी के साथ अन्य कई तरह की 'बेगार' भी किसानों को करनी पड़ती थीं। यह दासता की जिन्दगी एक तरह से पल-पल मरने के समान ही थी। काम न करने पर, सामन्तों का 'आतंक' जो उन्हें कोड़ों की सज़ा के रूप में भुगतना पड़ता था और मांगने पर 'रहम' की भीख भी उन्हें नहीं मिलती थी। उनके अपार दर्द की कहानियाँ इतिहास के पन्नों पर अंकित हैं, जो बर्बरता की अनेक तरह की साहित्यिक कहानियों के रूप में फ्राँस के इतिहास में लिखी हैं।

उस काल में, 'यूरोप' के सामन्तों और विशिष्ट लोगों का 'चलन' मानवता के प्रति कितना बेरहम था, यह शब्दों में, वर्णन नहीं किया जा सकता।

सामन्तशाही के जुल्म की कहानियाँ यहाँ ही नहीं समाप्त हो जाती हैं, इतिहास बोलता है, जब सामन्ती लोगों की पार्टियाँ अपनी मौज-मस्ती के लिये, शिकार खेलने जाती थीं तो अपनी घोड़ों की टापों से किसान की हरी-भरी फसलों को रौंदती चली जाती थीं। 'बेचारा' गरीब किसान, अपनी बर्बादी को असहाय हो खड़ा देखता रहता था। उसके हित में न कोई

कानून था और न कोई राज्य व्यवस्था या न्याय व्यवस्था थी। वहाँ कोई भी उनकी फरियाद सुनने वाला नहीं था। उस काल में किसान अपनी खेती को बचाने के लिये खेते के चारों ओर चारदिवारी बनाने का अधिकार भी नहीं रखते थे।

अपने कर्त्तव्यों के भार से दबे ही रहने की जो धर्म उन्हें शिक्षा देता था, वह निर्धन किसान बेबस हो, असहाय से, भूखे, नंगे रहकर भी उन्हें पूर्ण करते रहते थे। इससे बड़ा अपराध और क्या हो सकता था कि स्वयं राजा लुई XV जो शिकार का बेहतर शौकीन था, वह अपनी शिकारी 'टीम' के साथ खेतो को रौंदता चला जाता था। उसे राज करने में इतनी रूचि नहीं थी, जितनी शिकार खेलने में, खेतों को रौंदने में वह आनन्द लेता था। उस काल में अमीरों, सामन्तों और राजाओं के शौक, गरीबों के मौत के कारण बन जाते थे।

प्रकृति का अन्याय : यह दृष्टान्त 1788 का है। उस काल में बहुत ही भयंकर अकाल फ्राँस के जन जीवन की कहानी बन दर्द और आँसुओं से भरी, बेबसी का इतिहास लिख रही थी। हर तरफ मौत ही नज़र आती थी, उस समय 'प्रकृति', ऐसी लगती थी, कि वही अपने 'अस्तित्व को ही निगल रही थी। पेड़, पौधें, खेती और धरती की हरयाली को मौसम की बेरहमी बंजर धरती में परिवर्तित कर रही थी। आदमी, आदमी को खाने के लिये जानवरों की तरह आपस में भिड़ रहे थे। अनेकों लोग भूख से मर गये, तो अनेकों मौत के कगार पर खड़े थे। लोगों के पास खाने को कुछ भी नहीं रहा था। अकाल से पीड़ित फ्राँस की जनता, धर्म और राज्य सत्ता के व्यवहार से तंग आकर उनके विरुद्ध क्रान्ति का बिगुल बजाने को मजबूर हो गई थी। इस पर 'राजशाही' और 'धर्मतन्त्र' तथा सामन्तशाही अज्ञान सी बनी मौज और मस्ती में डूबी आनन्द मना रही थी।

'हॉब्स' (Hobbes) और धर्मनिरपेक्षता : बात, 1588 की है, जब 'हॉब्स' (Hobbes) का जन्म इंग्लैण्ड के दक्षिण तट बसे मेम्सबरी (Maimsbry) नगर में हुआ था। वह काल, भयानक आतंक के अन्धकार में डूबा हुआ था। उसके जन्म से पूर्व वजमेड पर स्पेन की जन्म सेना ने आक्रमण किया था सभी लोग 'युद्ध' की भयाक्रान्त प्रचण्ड आग में जल रहे थे। 'समुद्र' के रास्ते आक्रमण और लूट मार उस काल में एक पेशा बन गया था जिससे यूरोप, उस आंतक के साये में तिल-तिल कर के मर रहा था। उसका अन्दाज़ा इसी से लगाया जा सकता था कि हांब्स जैसे दार्शनिक को और राजनीतिशास्त्र के पण्डित को भी उस भयाक्रान्त वातावरण में जन्मा होने के कारण उसकी आत्मा जीवन भर मानसिक 'ताप' पीड़ा से झुलसती रहीं। उस काल की पीड़ा के संदर्भ के विषय में यही कहा जा सकता है कि भय के साये ने उसका पीछा जिन्दगी भर नहीं छोड़ा। हॉब्स ने उस पीड़ा के समय को अपना जुड़वाँ भाई ही कह कर पुकारा।

जब वह बड़ा हुआ तब भी उसके 'सीने' में भयानक 'धर्मतन्त्र' और 'राजतन्त्र' के संघर्षों की यादें डराती रहती थीं। उसकी इस वेदना से, जिस राजनैतिक 'दर्शन' का जन्म हुआ, वह 'कानून' स्वतन्त्रता तथा प्रभुसत्ता तथा धर्म सम्बन्धी विषयों का सर्वोच्च दार्शनिक दुनिया में बन गया था। उसने साफ कहाँ, आध्यात्मिक शासक जैसी कोई वस्तु नहीं है। प्रभुसत्ता जिसके पास होती है, वही राज्य का सर्वोच्च अधिकारी होता है। उसकी आज्ञा से सभी धर्म अधिकारी अपनी सत्ता हासिल करते हैं, उसने मनुष्य को शिक्षित और बौद्धिक बल बढ़ाने पर जोर दिया। उसका कथन था, **"कि जब मनुष्य लौकिक और अलौकिक शक्ति के सत्य और असत्य के**

चक्कर में पड़ जाता है, तब उससे अन्धविश्वास तथा राज्य में अराजकता और अशान्ति फैलती है। लौकिक और अलौकिक शक्तियाँ ही युद्ध और आतंक को जन्म देती हैं।"

मनुष्य बौद्धिक और तार्किक शक्ति के अभाव में ही किसी अदृश्य शक्ति से भयभीत रहता है अदृश्य शक्ति उसे आत्मा से तथा मनोबल से कमज़ोर बनाती है। हॉब्स का कथन था "अदृश्य शक्ति उसको धर्मसत्ता के ढ़ोंग के चक्र में ले जाकर खड़ा कर देती है। उसी कमज़ोर आत्मा का लाभ धर्म-सत्ता उठाती है।" हॉब्स ने चर्च के विषय में कहा कि "चर्च के समस्त अधिकार राज्याधीन हैं। उसका स्थान अन्य संस्थाओं की भाँति गौण है।" उसका कथन था कि "उसके सभी-स्थान कानून के दायरे में आते हैं। धार्मिक नियम केवल पादरियों तक ही सीमित है, उसने खुलेआम घोषणा की थी कि राज्य का दण्ड विधान सभी पर एक समान लागू होता है, चाहे वह धर्माधिकारी हो या साधारण नागरिक। उसके दर्शनशास्त्र के अनुसार धर्माधिकारी शिक्षक हो सकते हैं, शासक नहीं हो सकते हैं। 'हॉब्स' ने क्रान्तिकारी विचारों को जन्म देते हुये कहा **"मध्य युग की 'पोपशाही' समाप्त हो गई है, अतः 'मुकुटधारी' पोप मृत रोमन साम्राज्य की कब्र पर उसी प्रेतात्मा के रूप में आसन ग्रहण करता है।" उसने धर्मसत्ता के विरुद्ध बिगुल बजाते हुये कहा "धर्माधिकारी अन्धविश्वासों की जननी है, वह उन्हें फैलाकर अन्धकार के काले युग की रचना करते हैं" हॉब्स ने सलाह दी मनुष्य समाज को अन्धविश्वास के अन्धेरों से निकलकर, बौद्धिक शिक्षा और ज्ञान के उजाले की तरफ बढ़ना चाहिये।**

हॉब्स का साफ दृष्टिकोण था, जो उसने उस काल में व्यक्त किया था "सृष्टी की परिभाषा भौतिकवाद की गति सिद्धान्त से की जा सकती है, ईश्वर का वस्तुगत ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता है उसकी 'केवल' पूजा की जा सकती है। ईश्वर के अस्तित्व को आराधना के माध्यम से माना जा सकता है। उसका वास्तविक अस्तित्व पाना असम्भव है।"

'हॉब्स', अपने प्रगतिशील विचारों और तर्क संगत परिभाषा के कारण सम्पूर्ण यूरोप में वैचारिक 'क्रान्ति' के लिये विख्यात हो गया लेकिन वह अपने जीवन में 'धर्म' और 'चर्च' की आलोचना के कारण संकट में पड़ गया। उसे लोगों ने 'धर्म' विरोधी और नास्तिक तथा निरईश्वरवादी कह कर पुकारा। अपने प्रगतिशील विचारों के कारण 'हॉब्स' को अपार कष्टों का सामना करना पड़ा। उस पर 'नास्तिक' और निरईश्वरवादी होने के गम्भीर आरोप लगाये गये। **उस काल के कुछ 'विशप' तो उससे इतने रुष्ठ थे, कि उसको जिन्दा ही जला देने के पक्ष में थे। वह लोग चाहते थे, उसे जिन्दा ही जला दिया जाये।**

प्रो० वेपर ने उसके विषय में कहा "वह सबसे बड़े निरपेक्षवादी रूप में राजनीतिक चिन्तन के रूप में, इतिहास में याद किया जायेगा, इसी के साथ-साथ वह सबसे उच्चकोटि का व्यक्तिवादी था।" उसके दर्शन में आधुनिक धर्म-निरपेक्ष चिन्तन के बहुत से तत्व मिलते हैं। वह इसलिये भी धर्म-निरपेक्ष संस्कृति को आगे बढ़ाना चाहता था, क्योंकि उसका लक्ष्य सर्वसत्तावादी 'राज्य' की स्थापना करना ही था। हॉब्स ने भी 'मानव' को सदैव स्वार्थी, अहंकारी तथा महत्वाकांक्षी माना है। सदा ही धर्म से भयाक्रान्त रहने वाला हॉब्स, धर्म के 'आवरण' को शक की दृष्टि में देखता हुआ चलता है। उसका कहना था, "कि नैतिक उपदेश के रूप में प्राकृतिक विधियाँ कारगर नहीं हो सकती हैं, क्योंकि वह नैतिक नियमों और प्राकृतिक विधियों को मानने वाला जीव नहीं है।"

हॉब्स ने, मानव प्रकृति को जहाँ स्वार्थी कहा है, वहाँ उसने यह भी माना है कि मानव स्वभाव में कुछ उत्तम प्रवृत्तियों के भी आधार होते हैं, जिसमें मनुष्य को शान्ति की 'चाह' भी होती है, साथ ही साथ युद्ध से बचाव की इच्छा भी होती है। लेकिन क्रान्ति का चरित्र हिंसक, आतंकी और डरावना था।

लेकिन यह भी सत्य है कि फ्राँस की क्रान्ति ने समस्त प्रकार के शोषण के विरुद्ध तलवार उठाई थी। वर्षों से पीड़ित, दबी शोषित जनता, समस्त पुरानी अमानवीय परम्पराओं और प्रचलनों को उखाड़ फेंकने पर आतुर थी। लेकिन उसका चरित्र 1793-94 तक पहुँचते-पहुँचते, स्वयं मानवता के मापदण्डों से गिर गया था। छल, कपट, भय और आतंक, उस काल में चरम सीमा पर था। क्रान्ति काल में भी मानव जीवन शान्ति और सुरक्षा से दूर रहा और आतंक की भेंट चढ़ गया। यहाँ तक कि स्वयं क्रान्ति पुत्रों को स्वयं आतंक के साये में एक पल गुजारने को मजबूर होना पड़ रहा था। इससे भयानक दृष्टान्त और क्या होंगे।

दुर्भाग्य से क्रान्ति ऐसे मोड़ पर आ खड़ी थी, कि वह सन्देह, अराजकता के साये में अपने पुत्रों को ही, गिलोटिन पर चढ़ा-चढ़ा कर, एक-एक करके उनका सर कलम कर रही थी। कुछ इतिहासकार इसमें विदेशी हाथ होने का दावा करते आये हैं। जो क्रान्ति को नुकसान पहुँचाना चाहते थे। उस समय फ्राँस में भ्रष्टाचार चरम सीमा पर पहुँच गया था। यहाँ तक कि, सेना को हथियार पहुँचाने के मध्य में भी बेहद भ्रष्टाचार था। **फ्राँस के दक्षिण क्षेत्र में, सेना के कार्यों में तीस हज़ार से अधिक भ्रष्टाचार के केस सामने आये थे। उस काल में मंहगाई और चोरबाज़ारी तथा बेरोजगारी चरम सीमा पर थी। उस समय फ्राँस, में एक लाईन रोटी खरीदने के लिये, साथ ही साथ दूसरी लाईन खुले बाज़ारों में साबुन लकड़ी के लिये तथा मक्खन दूध के लिये, रात के बारह बजे तक देखी जा सकती थी।**

पेरिस में प्रशासन कमेटी अपनी 'अर्थनीति' नीति से भ्रमित हो गई थी, और कमेटी आर्थिक मामलों में अपनी पकड़ खो चुकी थी।

उदाहरण के तौर पर जैसा कहा भी जा चुका है, उस काल में डैण्टनिस्ट लोगों का अन्त इसलिये हुआ था क्योंकि वह लोग सद्‌भावना तथा अपनी एकता चाहते थे। वह विभीषिका के पक्ष में जब तक थे, जब तक की फ्राँस को खतरा था। लेकिन जब फ्राँस को कोई खतरा नहीं था तो लोग सद्‌भावना और मेल मिलाप तथा एकता के इच्छुक थे। जब ब्रिटेन ने शान्ति का प्रस्ताव भेजा तो टैण्टोन उसको मानने के हक में था, लेकिन रोब्सपियर (Robisopierre) ने उसे मानने से इन्कार कर दिया।

कैम्ली डिस्मोयूलिन (Camil Desmellins) जो कभी डेण्टन (Danton) का सचिव था और उसका बहुत बड़ा तरफदार था, उसने विभिषिका के अन्त के विषय में लिखा।

"Liberty is no nymph of the opera, Nor a red cap/nor a dirty shirt and rags. Liberty is happiness, reasone equality. Justice the declaration of rights, your subtime constitution (still hibernating).

Would you have me recognize this liberty, have me fall at her feet, and shed all my blood for her ? Then open the prison doors to the 2,00,000 citezens whom you call suspects.........Do not. think that such a measure would be fatal to the public. It would on the contrary, be the most revolutionary, that you could adopt. Would you exterminate all

your enemies by the goillotine ? But was there ever greater madness? Can you destroy one enemy on the scaffold without making two others among whom family and friends.

I am of very different openion from those who. claim that it is necassary to leave the Terror the order of the day. I am confident that libety will be assured and Europe conquered as soon as you have committee of Clemency."

वैसे रॉवपियरे (Robeopierre), डैसमॉलीमस (Demoulimes) का मित्र था, लेकिन उसकी उपरोक्त प्रार्थना पर, जो उसने स्वतन्त्रता के लिये जेल के दरवाजे खोलने के सम्बन्ध में प्रकट की थी, उसका अभिप्राय सामन्तवादी लोगो को,'पादरियों' तथा धर्मतन्त्रवादिओं को जेल से आज़ाद करने को कहा था, लेकिंन उसका अर्थ होगा, रिपब्लिक का विनाश ! जिससे रिपब्लिक (Republic) तवाह हो सकती थी। रिपब्लिक, को बचाने का केवल एक ही रास्ता था कि समस्त रिपब्लिक तथा स्वतन्त्रता और समानता के शत्रुओं को नष्ट कर दिया जाये, चाहे वह जो भी हो। उनका मत क्रान्ति के शत्रुओं को नष्ट करना था, जो उसके विरुद्ध षड़यन्त्र कर रहे हों। डण्टन (Danton) पर सन्देह था, कि वह उन लोगों से सम्बन्धित था, जो क्रान्ति के शत्रु थे। उनमें से कुछ तो 17 जनवरी को, गिलोटिन पर चढ़ा कर कत्ल कर दिये गये, जैसे फैब्री डी इगलेंटिन (Fabre D. Eglantin) और फ्रैनकोइज़ चाबोट (Francois Chabot) थे, जिन्हें क्रान्ति के शत्रु होने का दण्ड मिला था।

क्रान्ति के रोज नये नेता बनते थे, और किसी न क्रिसी आरोप में गिलोटिन की तेज धार पर रखकर कत्ल कर दिये जाते थे।

इसके बाद रौब्सपियर, जिसकी महिमा उस समय ख्याति सर्व शक्तिमान थी। उसकी ख्याति चरम सीमा पर थी, उसी के इशारे पर नास्तिकवाद को पूर्ण रूप से समाप्त कर दिया गया था। यही नहीं उसने ईश्वर को पुनः मान्यता प्रदान करने का प्रयास किया तथा उसने आत्मा का अमरतत्व स्वीकार किया। वह अपने को सर्वाच्छ और दयालु कहलाने के बहाने अपने नक़ाब को बदलने में, माहिर साबित हुआ, तथा धर्मतन्त्र तथा संकीर्णता पूर्ण पादरियों को पुनः स्थापित करने में आगे बढ़ा, जिससे धर्मतन्त्रधारियों की सहानुभूति प्राप्त करके, अपने को मजबूत कर सके।

वह एक मात्र क्रान्ति नेता रह जाने के बाद, उसके लिये अपने दुश्मनों का वध करना अब और भी आसान हो गया, क्योंकि सभी कानून समाप्त कर दिये गये। दोषी का अन्त निश्चित था क्योंकि उसके लिये अब किसी सबूत की आवश्यकता नहीं थी। क्रूरता चरम सीमा पर थी। 'आतंक' काले नाग की तरह लोगों को 'डस' रहा था। हर तरफ भय तथा आतंक का साया, जो हर व्यक्ति को चारों ओर से मृत्यु भय से पीड़ित जीवन व्यतीत करने को मजबूर कर रहा था।

रॉब्सपियर अब स्वतन्त्र थे, उस पर कोई बन्धन नहीं था। उसका मत था कि ईसाई धर्म बौद्धिक तर्कों द्वारा क्रान्ति को अस्वीकार करने की सलाह दे रहा था।

उसके उकसाने पर, कैथोलिक लोग चर्च (Church) पर प्रतिबन्ध लगाने वाले के विरुद्ध खड़े हो गये थे। मध्य श्रेणी के लोगों ने रविवार (Sunday) के दिन चर्च में जाना आरम्भ कर दिया था। रॉब्सपियर ने कहा "अब क्रान्ति को रूसों के दर्शन के अनुसार, आध्यात्मिकवाद के नज़रिये से परिवर्तित करके, राज्य को पवित्र धर्म के माध्यम से परिवर्तन लाना चाहिये।"

रौब्सपियर का मत बन गया था कि नैतिक तथा आध्यात्मिक गुण सुखद नागरिक और सामाजिक जीवन के लिये सुन्दर और मजबूत रिपब्लिक की नीव रखती हुई चलती है। 4 जून को रौब्सपियर 'कन्वेन्शन' का अध्यक्ष बन गया। विभिषिका के माध्यम से आतंक के जरिये 'गिलोटिन' की तेज धार से लगभग 1,376 पुरुषों तथा महिलाओं को केवल सात सप्ताह में, गिलोटिन पर चढ़ा कर मौत के घाट उतार दिया। 10 जून से लेकर 27 जून 1794 तक सैकड़ों सिर कट-कट कर गिटोटिन की तेज धार से धड से अलग हो गये। फ्राँस की धरती पर अब क्रान्ति, स्वयं नस्तिकों को मृत्युदण्ड दे रही थी। क्रान्ति के उस काल में, नास्तिकों और आस्तिकों में युद्ध जारी था।

'कन्वेन्शन', गिलोटिन के माध्यम से एक 'कत्लगाह' में परिवर्तित हो गई थी। सामाजिक जीवन ठहर गया था। स्वयं कन्वेन्शन के सदस्य ही भयभीत थे, लगता था कि मौत उनके दरवाज़े पर खड़ी दस्तक कर रही हो। और वह डर के मारे भयभीत थे। उदाहरण के तौर पर 750 सदस्य में से उसके आखरी दिन 112 ही सदस्य 'कन्वेन्शन' की सभा में, अपना मत प्रकट करने गये थे, बाकी मारे डर के घरों में ही बैठे रहे। उन्हें डर था, कि न जाने कब रॉब्सपियर का "काऊथन" (Couthon) और सेण्ट जस्ट (Saint-Just) की कुल्हाड़ी उनका सिर कलम कर दे। आखिर वह दिन भी आ ही गया, जब रॉब्सपियर के दिन भी पूरे हो गये। एक मजबूत विरोधी दल उसके विरुद्ध भी पैदा हो गया। रॉब्सपियर का आखरी भाषण इस बात का सबूत है, **कि आतंक का अन्त भी आतंक से ही होता है।** विरोधियों का कहना था कि रॉब्सपियर ने कन्वेन्शन के महत्व को अर्थहीन कर दिया और मनमानी की थी। उस आरोप का उत्तर देते हुये रॉब्सपियर ने कहा —

Citizens:..........I need to open my heart, and you need to hear the truth.......I have come here to dispel cruel errors. I have come to stifle the horrible oaths of discord with which certain men want to fill temple of lirerty..........

What foundation is there for this odious system of terror and slander ? To whom must show o ..lves terror ?..........Is it tyrants and rascals who fear us , or men of good will patriots ?......Do we stike terror into the national convention ? But what are we without the national convention ? We who have defended convention at the peril of our live, who have devoted our selves to its preservation, while detestable factions plot its ruin for all men to see ?..... For whom were the first blows of the conspirators intended ?..... It is we whom they seek to assassinate, it is we whom they call the scourge of France.........Some time ago they declared war on certain members of the committee of public safety. Finally they seemed to aim at destroying one man........ they call me tyrant.......They were particularly anxious to prove that the revolutionary tribunal was tribunal of Blood created by me alone, and which I dominate absolutely for the purpose beheading all men of good will.........

I dare not name (these accusers) here and now. I cannot bring myself to tear away compeletly the veil that covers this profound mystery of crimes. But this I affirm positively : that among the authors of the plot are the agents of the system of vanabity intended by foreigners to deotroy the republic..........The traiotors, hidden here under false exterior, will accuse their acusers and will multiply all stratagems......to stifle the truth. Such is a part of conspiracy. I will conclude that.......tyranny reigns among us, but not that I must keep silence. How can one reproach a man who her truth on his side and who knows how to die

for his country ?"

"नागरिकों, मैं अपना ह्रदय आपके सामने खोलकर रखना चाहता हूँ, आवश्यकता यह है, कि आप सच्चाई को सुनेंगे........मैं यहाँ कठोर भयानक गलती को समाप्त करना चाहता हूँ, जो घृणा के स्त्रोत हैं। अब तक एक डरावनी शपथ मेरे गले को दबा रही थी, उसे त्यागना चाहता हूँ, जिसके माध्यम से कुछ व्यक्ति स्वतन्त्रता के मन्दिर में प्रवेश करना चाहते थे। आखिरकार इस भयानक आतंकी रिवाज के नींव के पत्थर क्या हैं? उन्हें दुष्ट आतंकी और बदमाश डराते हैं, जो स्वच्छ, अच्छे तथा देश भक्त हैं। क्या हम नेशनल कन्वेशन में भी भय और आतंक को प्रवेश करने देंगे? जिसे हमने नेशनल कन्वेंशन में अपनी जान पर ख़तरे के होते हुये भी बचाया है। उन षड़यन्त्रकारियों का प्रथम निशाना कौन है? वह व्यक्ति कौन है? जिसे वह मारना चाहते हैं वह हम हैं, जिसे वह फ्राँस की व्याधा बताते हैं.........

कुछ समय पहले उन्होने कन्वेन्शन के कुछ सदस्यों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की थी। अतः वह लोग केवल मुझे ही आतंकी कहते हैं, वह एक ही आदमी को समाप्त करना चाहते हैं।.......वह सिद्ध करना चाहते हैं, कि "क्रान्तिकारी ट्रिब्यूनल, खूनी ट्रिब्यूनल है।" जिसे केवल मैने ऐसा बनाया था, जिसे मैं ही सन्चालित करता हूँ।

मैं यहाँ पर उन लोगों के मुख पर ढका पर्दा नहीं फाड़ना चाहता हूँ, जो इस षडयन्त्र के पीछे छिपे हैं, और इस भयानक अपराध के लिये जिम्मेदार हैं। लेकिन मैं सुनिश्चित हूँ, कि कुछ विदेशी शक्तियाँ और उनके दलाल, इस षडयन्त्र के सूत्रधार और रचनाकार हैं, जो गणतन्त्र को तबाह करना चाहते हैं।

यह गहरा षडयन्त्र है, कि आतंकी पर्दे के पीछे छिपे रहें है और वह उन्हीं को दोषी ठहरा कर बचे रहें, जो उन्हें दोषी बता चुके हैं। मैं यहाँ पर ही अपना भाषण समाप्त करना चाहता हूँ। हम आतंक के मध्य हैं, और हम आतंक में जी रहे हैं, लेकिन सच्चाई हमारे साथ हैं। हम जानते हैं, कि देश के लिये कैसे मरा जाता है। रॉब्सपियर (Robespiarre) का यह अन्तिम भाषण था।

रॉब्सपियर ने जिस तरह से जल्दबाजी में "डेण्टन" के विषय में दुखद निर्णय, अपने स्वार्थ, अहंकार तथा उत्तेजना के वशीभूत होंकर लिये थे, तथा उसने कन्वेनशन की शक्ति और क्रान्ति के उद्देश्य को नुकसान पहुँचाया था, साथ ही साथ एक निरंकुश, कठोर आतंक के माध्यम से सभी नियम कानून तथा मानवता के सिद्धान्तों को त्यागकर, 45 दिनों तक निरन्तर जो क्रूरता और आतंक का विकराल वातावरण पैदा किया था, वह क्षमा योग्य नहीं था। उसी अपराध के लिये, उसे भी उसी तरह मृत्यु से मिलना पड़ा, जैसा उसने अन्य लोगों के साथ किया था। उसके भाग्य में वह दिन निश्चित था, जो मृत्यु का सामना करने के लिये आ ही गया। 27 जौलाई को, रॉब्सपियर और उनके साथियों को बन्दी बनाया गया था, और दूसरे दिन 29 जौलाई 1794 को उसे गिलोटिन के हवाले कर दिया गया था, जहाँ एक भारी भीड़ उसकी मृत्यु दृश्य को देखने को बड़ी बेचैनी से इन्तज़ार कर रही थी। वहीं उसी स्थान पर, जहाँ अन्य क्रान्तिकारियों का उसने वध कराया था। बड़ी बेरहमी से गिलोटिन की धार से उसका सर भी कल्म किया गया।

देखा जाये, तो उपरोक्त आतंक और विभीषिका काण्ड का कारण, नास्तिकतावाद, और कैथोलिकवाद के आपसी संघर्ष ही थे उसके अवशेष अंकुरों ने और इतिहास के संकीर्ण बचे

हुये, सड़े-गले तौर तरीकों ने ही 'क्रान्ति' के लक्ष्य को आपसी तनाव में बदल दिया था। जिन्होंने क्रान्ति को आंतकी साये में पहुँचा दिया था। इन सब के पीछे देश भक्ति का आवरण पहनकर कुछ लोग, उस काल में जो फ्राँस के शत्रु थे, तथा 'क्रान्ति' और 'गणतन्त्र' के दुश्मन थे उन आतंकी कार्यों को अनजाम दे रहे थे। ये सामन्तशाही और धर्मतन्त्र तथा राजतन्त्रवादियों और षड्यन्त्रकारियों द्वारा बिछाई गई विषैली सुरंगों द्वारा विस्फोट ही कहा जायेगा, जो, क्रान्ति लक्ष्य को विस्फोट कर मार्ग से हटा रही थी।

जिसका परिणाम आतंकी विभीषिका वातावरण का पैदा होना था और उसमें क्रान्ति को समाप्त होना था।

जौलाई 29, 1794 से 26 अक्टूबर 1795 तक का समय चक्र तेज़ी से बदल रहा था। भयानक हिंसा ने क्रान्तिकारियों के समस्त अरमान ठण्ड़े कर दिये थे। 29 जौलाई को पेरिस 'कम्यून' के 17 सदस्यों को मृत्यु दण्ड दिया गया। इसके बाद विभिकाषिका कानून (Tyrannical law) अगस्त को समाप्त कर दिया गया। पब्लिक सेफ्टी और जरनल सिक्योरिटी (Public safety and general security) अपने अस्तित्व में तो रही थी, लेकिन उनके पंख तराश दिये गये थे। अब वह आतंक के घमण्ड में उड़ नहीं सकती थी। केवल फड़-फड़ा ही सकती थी। रैडीकल जनरल (Radical general) जनता की सहानुभूति के अभाव में दम तोड़ने लगी थी। रॉब्सपियर के विरोधी जो जेल में थे, उन सभी को 'आज़ाद' कर दिया गया था। जैकोविन क्लब (Jacovin clubs), समस्त यूरोप में बन्द कर दिये गये थे। Mountain माऊण्टेन शक्ति विहीन कर दिये गये थे। लेकिन गिरोनडिन (Girondin) पुनः अपने पदों पर बहाल कर दिये गये थे। विशिष्ट वर्ग के लोगों ने फिर से क्रान्ति (Revolution) पर कब्जा कर लिया था।

धर्म की पुनः स्थापना

सरकार ने धर्म की पुनःस्थापना कर दी थी। 15 फरवरी 1795 को शान्ति सन्धि पर वैण्ड़ी (Vandee) विद्रोहियों के साथ समझौते पर हस्ताक्षर हो गये थे। फ्राँस सरकार ने उन्हें पूजा और आराधना की स्वतन्त्रता का वायदा किया था। धर्मनिरपेक्षता के आधार पर 'चर्च' और राज्य को पूर्णतय अलग-अलग कर दिया गया था। वह अपने-अपने क्षेत्र में धर्मनिरपेक्षता के आधार पर कार्य करेंगें, उन्हें ऐसा विश्वास दिलाया गया था।

आर्थिक क्षेत्र में, सबसे पहले सरकार ने उत्पादकों को विश्वास में लेकर उनसे सन्तुलित आर्थिक आधार पर, स्वस्थ स्पर्धा के अन्तर्गत कार्य करने को कहा गया था तथा दूसरी ओर मजदूरों को भी अपनी मेहनत के अनुसार उच्च वेतन का अधिकारी बनाया गया था। किसानों और व्यापारियों को शोषण मुक्त कर न्यायोचित मूल्य वसूली के अधिकार दिये गये थे। उसके 'बावजूद' भी एक अप्रैल 1799 में पैरिस में रोटी की माँग पर भयानक उपद्रव हो गये। 'लाल' क्रान्तिकारियों, द्वारा एक शान्ति पूर्ण ढंग से आन्दोलन किया गया था। जिन्हें माउण्टेन (Mountain) का सहयोग प्राप्त था। उनकी भीड़ कन्वेन्शन की सभा में प्रवेश कर गई। जो 'रोटी' की माँग कर रही थी और मंहगाई को रोकने की माँग भी कर रही थी। 'कन्वेनशन' ने उनकी माँगें तो मान ली लेकिन "नेशनल गार्ड की शक्ति" से भीड़ को शक्ति के बल पर हटा दिया गया।

उस काल में क्रान्ति रुकी नहीं थी, मंहगाई और रोटी के लिये भयानक उपद्रव हो रहे

थे। लोग सड़कों पर थे, और गोलियों का जमकर सामना कर रहे थे।

20 मई को क्रान्तिकारी महिलाओं ने और हथियारबन्द पुरुषों ने "कन्वेनशन" को घेर लिया। वह लोग क्रान्तिकारियों को, जो जेल में बन्द थे, आज़ाद कराने की माँग कर रहे थे, जिन्हें बन्दी बना लिया गया था। एक 'डिप्टी' की हत्या, भीड़ ने कर दी थी, और उसका सर काट कर 'कन्वेन्शन' में प्रदर्शित किया गया था। उस घटना की उग्रता को देखते हुये। फौज़ को बुलाया गया था। जिसके परिणामस्वरूप आन्दोलनकारी मजदूरों को फौज़ द्वारा घेर लिया गया, और विद्रोही जनता से हथियार डालने को कहा गया।

उस समय 17 माउण्टेन डिप्टीज को गिरफ्तार कर लिया गया था, जिन पर विद्रोह भड़काने का आरोप लगाया गया था। उन सभी को मौत के घाट उतार दिया गया।

अभी भी हिंसा अपना 'ताण्डव' दिखा रही थी, खून की प्यासी आतंकी तलवारें, और बन्दूकों की दनदनाती गोलियों की बौछार माहौल को बेचैन बनाये थी। मजदूर, बेचारे-किसान तथा क्रान्तिकारी और व्यापारी सभी सहमे-सहमे, उस माहौल में सांस ले रहे थे।

वैसे "रॉब्सपियर" की हत्या के बाद 'फ्राँस' में, दयालुता के अंकुर फूट पड़े थे, लेकिन अभी-भी-खूनी जंग जारी थी। वैसे धीरे-धीरे त्रास राज्य का अन्त हो रहा था।

क्रान्ति समय की भयंकर आतंकी क्रूरता और हिंसा ने इस पद्धति को पूर्णतय बदनाम कर दिया था। उस काल में 'थार्मिडोरियन' लोगों की, जिन्होंने रॉब्सपियर को बन्दी करवाया था, प्रधानता स्थापित हो गई थी। विदेशों में भी फ्राँस की विजय के बाद, यह अनुभव किया गया कि कन्वेनशन (Convention) को समाप्त कर दिया जाये।

कन्वेन्शन (Convention) को समाप्त करने से पूर्व, कन्वेनशन ने यह उचित समझकर, प्रजातान्त्रिक विधान बनाने का कार्य पूर्ण किया, जो बहुत दिनों से उपेक्षित था। उसने नये विधान के अनुसार 5 सदस्यों की एक डाईरेक्टरी बनाई और उसे कार्यकारणी के समान ही अधिकार सौंप दिये गये। कानून बनाने का काम दो 'भवनों' को सौंप दिया गया जिसे पांच सौ की सभा तथा पुरातनों की सभा चलाती थी। इस प्रकार वह रिपब्लिक कैलेण्डर के बाईस सैट (22 Set) के तीसरे वर्ष में पूरा हुआ था। इसलिये उसे वर्ष तीन का विधान (The Constitution of the year III) कहा जाता था। जिसके अनुसार मानव अधिकार की घोषणा भी प्रथम बार की गई थी। सितम्बर 22 ("September 22), 1794" को घोषणा की गई :—

"सभी नागरिकों को बराबरी का हक कानून की दृष्टि से दिया जाता हैं" बराबरी का अर्थ था, कानून की दृष्टि में सभी लोग बराबर होंगे, (बिना किसी भेद-भाव के महिलाओं को भी सभी राजनैतिक अधिकार तथा सामाजिक अधिकार तथा आर्थिक अधिकार देने के पक्ष में थे।) लेकिन कुछ लोग उसके विरोधी भी थे। राज्य द्वारा 'आर्थिक' कण्ट्रोल को अस्वीकार कर दिया गया। कन्वेनशन ने धर्म की आज़ादी को कुछ बन्धनों के साथ स्वीकार किया। प्रेस की आज़ादी को भी स्वीकृति प्रदान की गई थी, जो अब तक मध्यम वर्ग के हाथ में थी। अतः सितम्बर 23,1795 को नये विधान को, फ्राँस में लागू कर दिया गया। 'क्रान्तिकारियों' को डर था, कि कहीं चोर दरवाज़े से व्यवस्थापक मण्डल में ऐसे लोग न आ जाएँ, जो राजा और सामन्तवादियों के पक्षधर हों। इस डर से उन्होंने एक राज आज्ञा निकाली, जिसका आशय यह था कि नये व्यवस्थापक मण्डल में दो तिहाई सदस्य वर्तमान मण्डल के डिप्टियों में से चुने

जाएँगे। इस राजाज्ञा के विरुद्ध बुर्जआ और राज्य पक्ष वालों ने विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह 13 वेण्डीमायर अक्टूबर 1795 (13th Vendimiare) (October 1795) के नाम से फ्राँस के इतिहास में प्रसिद्ध है।

उस काल में, 26 वर्षीय युवा नेपोलियन पेरिस में मौजूद था, उसे विद्रोह को दबाने के लिए बुलाया गया। उसे भीड़ के विरुद्ध रक्षा करने का कार्य सौंपा गया। उसने भीड़ को पहले चेतावनी दी, लेकिन भीड़ उत्तेजित होकर हमलावर हो रही थी, तब 'नेपोलियन' ने अपने तोपखाने को गोले दागने का आदेश दिया। एक ही पल में दो सौ से लेकर, तीन सौ तक आन्दोलनकारी मौत की नींद सो गये और अवशेष भाग गये।

वह दिन नेपोलियन के जीवन का प्रथम महत्वपूर्ण दिन था। जिसने उसे साहस दिया तथा इतिहास से उसका परिचय करा दिया। उसका प्रवेश 'वीरों' की श्रेणी में, एक योद्धा महान् के रूप में हुआ। आगे जाकर संसार उसके कार्यों से चकित हो गया। 26 अक्टूबर 1795 को 'कन्वेन्शन' ने अपने को भंग कर दिया।

क्रान्ति का दूसरा काल 10 अगस्त 1792 को आरम्भ हुआ माना जा सकता है, जिसमें राजतन्त्र की समस्त शक्ति अपने विनाश की तरफ बढ़ रही थीं, तथा लुई सोलहवें ने अपनी प्रभुसत्ता को इतिहास के हवाले कर दिया था। उसकी प्रतिष्ठा को उसकी सुन्दर तथा चतुर पत्नि 'मेरिया अण्टाँयर्नट' भी पतन की गर्त में जाते हुये नहीं बचा पाई थी, बल्कि उसकी, सुन्दरता ही उसके लिये घातक हो गई थी। कहानियाँ इस सन्दर्भ में और भी विचित्र हैं, फिर भी परिवर्तन की आँधी के सामने 'राजतन्त्र' के समस्त प्रयास निरर्थक हो गये थे। 'गिलोटिन' पर चढ़ाकर मृत्यु दण्ड देना तथा आतंक को फैलाकर फ्राँस के जन-मानस को भयभीत करने से क्रान्ति की परिभाषा ही बदल गयी थी। फ्राँस के क्रान्तिकारी नेता युद्ध और आतंक के संचालक कहलाने लगे थे। **उस हादसे का शिकार हुये पीड़ित बने एम० रोलैण्ड ने गिलोटिन पर कत्ल किये जाते समय कहा था कि "'फ्राँस' उस काल की सबसे बड़ी कत्लगाह बन गया था।"**

फ्राँस की सेनाओं को आक्रमण और दूसरों की धरती रौंद कर जीने की आदत हो गई थी। जनता से झूठ बोला जाने लगा था। दूसरे क्षेत्रों को लूटकर शोषण करना उस काल के शासकों की आदत बन गई थी।

"नवीन नैतिकता" के, कानून तथा वैधानिक शब्द लूटने और अराजकता फैलाने वालों के सामने बेबस तथा मजबूर से दिखाई देते थे।

फ्राँस में, क्रान्ति के नाम पर 'नागरिक जीवन सुरक्षा', भय और आतंक के सामने, "बध-स्थलों" पर खड़ी दम तोड़ रही थी। अराजकता 'क्रान्ति' नहीं होती हैं।" 'भीड़' स्वतन्त्र के लिये क्रान्ति सेना नहीं होती हैं। लेकिन फ्राँस की क्रान्ति को दूसरे चरण में आतंक ने समेट लिया था। फ्राँस में, लोग 'रिपब्लिक' का अर्थ 'अराजकता' लगा बैठे थे। 'कानून' के 'मौन' हो जाने पर, असामाजिक तत्वों की चढ़ बन आई थी। 'शराबखाने' 'जुआघर', 'वेश्यालयों' की संख्या बढ़ती जा रही थी। यद्धपि, जुआघरों-वेश्यालयों पर 'पाबन्दी' लगा दी गई थी, लेकिन नैतिकता विहीन 'समाज' उसके बढ़ते आकार को रोकने में असफल था। दार्शनिक 'हीगल' ने बड़े मार्मिक शब्दों में फ्राँस की उस काल की चिन्ताजनक दशा का वर्णन किया

था, "कि फ्राँस की राजनीति ने देश की जनता को कुछ नहीं दिया।"

फ्राँस की क्रान्तिकारी सरकार ने पुराने नैतिक दर्शन को एक तरफ छोड़कर नवीन कानूनों की आधारशिला रखी थी। दण्ड देने में नैतिकता, धर्म तथा पुरातन, कानूनी विधान, सभी को त्याग दिया गया था। दूसरी ओर नये विधान के असफल होने पर, तथा नवीन नैतिक दर्शन की नाकामयाबी पर समस्त सामाजिक व्यवस्था टूटकर, चूर-चूर हो गई थी और नेपोलियन के प्रगट होने तक व्यवस्था अराजक तथा भ्रमित बनी रही।

कानून का दृष्टिकोण बदला

यह सही है, क्रान्ति से पूर्व 'कानून', धर्मसत्ता और राज्यसत्ता का गुलाम था। असमानता की परवरिश करना, क्रान्ति से पूर्व के 'कानूनी' ढ़ांचे की प्रवृत्ति बन गई थी। क्रान्ति ने सदियों से चली आ रही अमानवीय प्रथाओं को एक झटके में तोड़ दिया था। 3, अक्टूबर 1789 हज़ारों साल बाद क्रान्ति पुत्रों ने फ्राँस में तथा अपने उपनिवेशों को गुलामी से मुक्त कर दिया तथा उन्हें फ्राँस में नागरिकता के पूर्ण अधिकार दे दिये।

1794 के फ्राँस के 'कानून' के अन्तर्गत कोई भी व्यक्ति गुलाम नहीं कहलायेगा। दूसरे, समस्त सांस्कृतिक समितियों, और धार्मिक संगठनों तथा व्यवसायी समितियों की रक्षा को जायेगी। लेकिन मजदूर संगठनों पर अभी बंधन लगे हुये थे। **'क्रान्ति' की नवीन संस्कृति के कानूनों का उद्देश्य 'राजा' की प्रभुसत्ता को समाप्त कर 'राज्य' की प्रभुसत्ता को विकसित करना था, उसी प्रकार 'विशेष' धर्मसत्ता पर कानूनी अंकुश लगाकर धर्मनिरपेक्षता को मजबूत करना भी था।**

उस काल में पुराने कानूनों की भिन्नता तथा उनके दार्शनिक मतभेदों का प्रचलन मं होना, नवीन 'क्रान्तिकारी' कानूनों के पालन करने में, बाधा डाल रहा था। दोनों व्यवस्थाओं में टकराव जारी था। व्यापारिक पेंचिदगियाँ बढ़ती चली जा रही थीं, जिससे कानूनी अधिवक्ताओं के सामने कठिनाइयाँ बढ़ती चली जा रही थी।

कानूनी क्षेत्र में, क्रान्ति ने मानवीय दृष्टिकोण का विस्तार भी किया था। 'क्रिमिनल कोड' का सुधार कर, व्यवस्था को जनहित में खुलापन स्थापित करने की ओर बढ़ाया गया। कैदियों को जेलों में, अमानवीय यातनाओं से रोकने के लिये 'कानून' खुला बनाया गया। जेलखानों में सुधार किये गये। जो कैदी विचाराधीन थे, उन्हें, उनके सम्बन्धियों से मिलने की तथा एक दूसरे से मिलने की आज़ादी दी गई थी, तथा वह जेलों में 'खेल' खेलने के लिये भी स्वतन्त्र थे। कन्वेनशन ने 26, अक्टूबर 1795 को घोषणा की, कि "शान्ति स्थापित होने पर सम्पूर्ण फ्राँस में मृत्यु दण्ड समाप्त कर दिया जायेगा।"

1789 में डॉ० जोजफ इगने गिलोटिन (Dr. Joseph Ignaee Guillotin) ने जो स्टेट जनरल (State General) का सदस्य भी था, ने एक ऐसे तेजधार वाले ब्लेड़ का प्रबन्ध कराया था जो एक झटके में मृत्यु दण्ड पाये व्यक्ति का सर धड़ से अलग कर दे। उससे पूर्व अपराधी का, जब सर 'कलम' करना पड़ता था, तो व्यवस्था बहुत ही अमानवीय थी। मृत्यु दण्ड़ पाने वाले पात्र को पीड़ादायक तरीकों से मृत्यु दण्ड़ दिया जाता था। उसके स्थान पर अप्रैल 25, 1792 को गिलोटिन की व्यवस्था की गई थी।

सामाजिक नैतिकता और क्रान्तिकाल

क्रान्ति काल में, जहाँ समाज में अनेकों परिवर्तन हुये, वही समाज उद्दण्डता का शिकार भी हो गया। उसके सभी 'नैतिक आदर्श' टूटकर बिखर गये। जिसका सबसे अधिक प्रभाव उस काल की युवा पीढ़ी पर पड़ा।

उस काल में, पारिवारिक स्नेह बन्धन 'तनाव' की भेंट चढ़ गये। युद्ध के मैदानों में अकेले परिवार विहीन नौजवान 'वासना' प्रवृत्ति के शिकार हो, अनेकों तरह के विकारों में पड़, दूषित बीमारियों का शिकार हो रहे थे। माता-पिता का प्यार और दुलार, उस काल में बच्चों को तथा नौजवानों को नहीं मिल पा रहा था। अधिकतर नौजवानों ने पुराने आदर्शों को त्याग करे, सड़कों पर घूमना, मस्त रहना, तथा हर तरह से अपने को 'स्वतन्त्र' समझना आरम्भ कर दिया था। 'सैक्स' सम्बन्धी 'स्वतन्त्रता' फ्राँस में, उस काल में कहीं भी देखी जा सकती थी। नौजवान जोड़े, मैदानों में, पार्कस में, और होटलों में, तथा नाचघरों में 'अश्लील' हरकतें करते सब तरफ नज़र आते थे।

निम्नलिखित पंक्तियाँ हालात की नाजुकता को प्रकट करती नज़र आती हैं, उस काल में, 24 अप्रैल 1793 को दिया गया आदेश इसका साफ उदाहरण है।

"जनरल अस्मबेली यह भावना प्रकट करती है कि जन नैतिकता के ह्रास से, जो दुर्भाग्यपूर्ण शिथिलता की परिस्थितियाँ उत्पन्न हुई हैं, विशेषकर नारी समाज में, अश्लील अनैतिक व्यवहार को प्रतिबन्धित करना आवश्यक है।" उस काल में, नाबालिग बच्चों की शादियों की संख्या भी तेज़ी से बढ़ गई थी, राजनैतिक उत्पीड़न के भय से, कोई भी 'पादरी' धार्मिक विधि से शादी कराने को तैयार नहीं था। क्योंकि सितम्बर 20, 1792 के बाद तो सभी पादरी शादी कराने से प्रतिबन्धित कर दिये गये थे। क्योंकि केवल कोर्ट द्वारा कानूनी ढंग से कराई गई शादियाँ ही मान्यता प्राप्त थीं। यही कारण था, कि मध्यम श्रेणी के, तथा निम्न श्रेणी के युवा जोड़े बिना शादी की रस्म अदा किये ही साथ-साथ रह रहे थे। इसलिये नाजायज़ बच्चों की संख्या बढ़ती चली गई थी।

क्रान्ति काल में ज्यादातर बच्चों पर ध्यान नहीं दिया जाता था। माता-पिता उन्हें सज़ा देने से डरते थे। बच्चों को माता-पिता द्वारा सज़ा देना रिपब्लिक के नियमों के विरुद्ध था। जब कभी 'माता-पिता' बच्चों की गलतियों पर सज़ा देने का साहस भी करते थे, तो उन्हें अपने बच्चों से उत्तर मिलता था "हम स्वतन्त्र तथा समान हैं, 'रिपब्लिक' हमारा संरक्षक है! वह हमारा माता-पिता है !! कृपया आप अपना काम कीजिये।" यह सब नैतिकता विहिन वातावरण के पैदा होने से हो रहा था।

कुछ माता-पिता ने अपने बच्चों को 'चर्च' द्वारा संचालित स्कूलों में फिर से भेजना आरम्भ कर दिया था, जिससे वह बच्चे आचार-विचार और नैतिकता में पूर्ण हो सकें। क्रान्तिकाल में, परिवारों के टूटने के बारे में यह ही कहा जा सकता है कि हिंसा के वातावरण में, उस काल की, यह सबसे बड़ी दुर्घटना थी। क्योंकि "क्रान्ति" फ्राँस में, अराजकता और अनैतिक वातावरण की भेंट चढ़ गई थी।

नारी समाज का राजनीति में प्रवेश फ्राँस की क्रान्ति का एक उज्ज्वल पक्ष था

वैसे फ्राँस का मध्यम श्रेणी नारी जगत दुनिया में, फ्राँस की क्रान्ति से 'पूर्व' भी, उच्चतम

स्थान रखता था। 'नारी' अपने आचार-व्यवहार से समाज को केवल शिक्षित ही नहीं करती थीं, बल्कि समाज को आचार-व्यवहार सिखाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाती थीं लेकिन यह कार्य मध्यम श्रेणी वर्ग तथा उच्चतम समाज तक ही सीमित था। निम्न वर्ग के लोगों में ऐसा नहीं था। 1789 में नारी समाज में, राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश कर अपनी मौजूदगी का अहसास फ्राँस जनमत को करा दिया था, जब अपने अधिकारों के लिये नारी समाज आन्दोलन के रूप में, सड़कों पर उतर आई थी।

जौलाई 1790 को कोनडोरक्ट (Condorect) ने अपने लेख "ओन दी एडमीशन ऑफ वुमैन टू दा राईटस ऑफ दी स्टेट" "On the Admission of Women to the Rights of the State" में फ्राँस में तहलका मचा दिया। दिसम्बर माह में नारी जाति की स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष करने के लिये, एक क्लब (Club) की स्थापना की गई थी, जिसका उद्देश्य था कि नारी जाति को पुरुष के समान ही अधिकारों की माँग के लिये संघर्ष करना ही था। उस समय उनके अधिकारों की माँग जोरदार ढंग से असेम्बली तक में सुनी जा सकती थी, यह जरुर था, कि विभीषिका और युद्ध के वातावरण में उनके आन्दोलनों में कुछ नरमी आ गई थी, लेकिन अब उन्हें अपने संघर्ष द्वारा अधिकारों के क्षेत्र में विजय भी मिली थी। नारी जाति को भी पुरुष की तरह तलाक देने का हक प्राप्त हो गया था। नारी जाग्रति आन्दोलन द्वारा नाबालिग लड़की की शादी के समय केवल पिता की सहमति ही काफ़ी नहीं थी 'माता' की सहमती भी आवश्यक कर दी गई थी। यद्यपि उस काल में भी स्त्रियों को वोट देने का अधिकार नहीं था, लेकिन राजनीतिक क्षेत्र में उसका दबदबा बढ़ता ही चला जा रहा था।

क्रान्ति के साथ, नवीन स्वतन्त्र दृष्टिकोण की शक्ति के साथ स्त्रियाँ राज्य के मंत्री पद की मंजिल तक पहुँचाने पर महत्वपूर्ण भूमिका निभा रही थीं।

नया जमाना

फ्राँस की दुनिया, नई चेतना के साथ, स्वतन्त्र पंखों के बल पर सभी धार्मिक और नैतिक बन्धन तोड़कर, खुले आकाश में उड़ रही थी। प्रेम की कहानियाँ अब प्रणय के नये स्थल तलाश कर रही थी। अब सुन्दर बालाओं के शारिरीक अंग भारी भरकम वस्त्रों के अन्दर नहीं समाये रहते थे। महीन बारीक, रेशमी धागों से बुने रंग बिरंगे वस्त्र यौवन के 'लावण्य' को पारदर्शी बनाकर नशीला बना रहे थे। उस काल का राजनीतिक क्षेत्र भी यौवन की महक से, चारों ओर 'नशीला' हो गया था। सेना के अधिकारी, न्यायाधीश, तथा उच्च्व प्रशासनिक अधिकारी सभी 'नारी की स्वतन्त्र शक्ति' के मोहताज हो गये थे, 'उस काल' में, किसी 'हसीना' का एक इशारा किसी राजनेता के भाग्य को बदल सकता था। यानि, राजनीति में अनैतिकता बढ़ रही थी, जिसने भ्रष्टाचार और अनाचार को और भी बढ़ा दिया था। जिसे फ्राँस का नैतिक समाज पसन्द नहीं कर रहा था।

26 वर्ष की आयु के नेपोलियन ने 1795 में, खुले मन से उस 'आलम' का वर्णन किया, जो 'नारी' जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में महत्वपूर्ण खेल-खेल रहा था। यहाँ तक तक कि पुस्तकालयों के अध्ययन कक्ष में भी सुन्दर छात्राओं के मध्य और विद्वानों तक के मध्य, पेरिस में, प्रणय झलकियाँ देखी जा सकती थीं। प्रत्येक क्षेत्र में 'नारी' का प्रभाव महत्वपूर्ण भूमिका रखता था। वास्तव में उस काल में, 'आदमी' नारी यौवन की सुन्दरता की मधुमस्त महक से पागल सा हो गया था।

नेपोलियन ने आगे वर्णन किया, फ्राँस में, उस काल में, 'आदमी' के चिन्तन के सभी द्वार सुन्दर रूप से महकते यौवन ने बन्द से कर दिये थे। वह जानती थी, उसकी क्या शक्ति है? और लोग उससे क्या चाहते हैं? 'सत्ता' के विशाल दरवाज़े सुन्दर नारी के एक इशारे पर खुल जाते थे।

विज्ञान और फ्राँस क्रान्ति

जहाँ तक 'क्रान्ति' का प्रश्न है, उसने केवल विज्ञान की शुद्धता को ही विकसित नहीं किया, बल्कि जो कुछ क्रान्ति के लिये आवश्यक समझा जाता था, उसे भी विकसित किया। वैसे विज्ञान ही क्रान्ति का जन्मदाता है। क्रान्ति युद्ध का दर्शन लेकर आगे बढ़ रही थी। क्रान्ति विज्ञान द्वारा नवीन शस्त्र निर्माण को तथा उत्तम बारूद के आविष्कार की और ध्यान दे रही थी। उस युग में, उसी ने गिलोटिन (Gullotin) की तेज़ धार के सुधार कार्यक्रमों को मान्यता दे दी थी। मैट्रिक पद्धति की सुचारू रूप-रेखा को क्रान्तिकारी सरकार ने मान्यता प्रदान कर दी थी। कन्वेनशन (Convention) विज्ञानिकों को पूर्ण सुरक्षा प्रदान कर रही थी, तथा उनके चिन्तन को बढ़ावा दे रही थी। उस काल में, लैगरेन्ज (Lagrange), लिगेअण्डर (Legendar) ने 'गणित' अध्ययन में, अपनी अनुपम छाप छोड़ी थी।

लेव्रोईजन (Laveisien) जो आधुनिक रसायन शास्त्र का जन्मदाता कहा जाता है, उसने ही मैट्रिक प्रणाली को उस काल में, विकसित किया था।

अक्स वियर बिचाट (Xavier Bichat) ने 'टिस्यूज' (Tissues) का माईक्रोस्पोकिक (Microscopie) अध्ययन करके, नये आयाम स्थापित किये थे। इसी के साथ-साथ उसने फिजियोलोजी, और सर्जरी पर अनकों व्याख्यान दिये थे। उसने 1801 में अनाटोमीक जनरल (Anatomic General) पर विशेष अध्ययन किया था।

उस काल में यानि (क्रान्ति काल में) दवाइयों पर तथा सर्जरी पर विशेष अध्ययन कार्य चल रहे थे। 'मैडिकल साईंस' शरीर के विभिन्न अंगों के कार्यतन्त्र को वैज्ञानिक चिन्तन के साथ, शरीर के अज्ञात रहस्यों को खोलकर मानव हित में, अध्ययन कर रही थी और उसके साथ ही साथ औषधि विज्ञान के दायरे को विकसित कर रही थी। फ्राँस के लोगों के मनों पर अन्धविश्वास की जमी 'काली पर्त', अब वैज्ञानिक चिन्तन से हटती चली जा रही थी। ज्ञान, विज्ञान के जागरण से सर्जरी क्षेत्र में, तथा मनोवैज्ञानिक क्षेत्र में विशेष प्रगति हो रही थी। लेकिन 'आतंक' और अराजकता के कारण विज्ञान का बढ़ता हुआ कारवाँ कहीं-कहीं रूक सा गया था। उसी के साथ ही साथ नैतिकता के अभाव में, समवेदनाएँ मर गई थी तथा समाज टूट सा गया था। भीड़ (Moll) के आंतक ने भी फ्राँस की जनता की नींद हराम कर दी थी। 'क्रान्ति' अराजकता की भेट चढ गई थी। 1770 में दार्शनिक 'ऐबी-रेनल' (Abbe Raynal) नें 'दार्शनिक क्षेत्र' में विशेष नाम कमाया था। उन्होंने अपने एक पत्र, 31 मई 1791 में 'कौन्सटीयण्ट असेम्बली' के नाम आतंक और अराजकता के विरोध में साहस करके लिखा था। उन्होंने लिखा था कि –

"मैने राजा को उसके कर्त्तव्य के प्रति सचेत किया था, लेकिन आज मैं 'जनता' से उसकी गलतियों का अहसास करा रहा हूँ, आज भीड़ का आतंक और जुल्म इतना अधिक डरावना और निर्मम है, कि उसने राजतन्त्र की तानाशाही के किये हुये जुल्मों को बहुत ही पीछे छोड़ दिया है। क्रान्तिकाल में भीड़ का आतंक, राजतन्त्र की तानाशाही से भी बहुत ज्यादा बेरहम है।"

आतंक के विरुद्ध, क्रान्तिकाल के लेखक तथा कवियों की भूमिका

आतंक के विरुद्ध और जनतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता की स्थापना में, फ्राँस की क्रान्ति काल के कवियों ने तथा लेखकों ने, क्रान्ति की ज्वाला, धधकानें में विशेष योगदान दिया था, उनकी महत्वपूर्ण रचनाओं ने फ्राँस के जनमत को जगाया था। मृत्यु की चिन्ता किये बिना, वह लेखनी को मौत के साएँ में भी निरन्तर चलाते रहे। फ्राँस की क्रान्ति के दो प्रसिद्ध साहित्यकार, उच्च कोटि के प्रसिद्ध रचनाकारों ने मृत्यु का सामना हँसते-हँसते किया था। जो 1794 में, तेजधार के गिलोटिन के चाकू से शहीद कर दिये गये थे।

"फिलिपी, फ्रन्ककोज़ फलिरूड इगलैनटिल (Philippe Francois Falired Eglantine) ने बहुत मोहक कविताओं की रचना की थी। साथ ही साथ नये दृष्टिकोण के नाटकों को लिखकर फ्राँस के क्रान्ति साहित्य को धनी बनाया था। वह साहित्यकार अपने प्रभाव से कौरडिलिमरस क्लब (Cordeliers Club) का अध्यक्ष भी बन गया था। उसने डैण्टन (Danton) के सचिव की हैसियत से तथा कनवेनशन के सदस्य के रूप में अपनी प्रतिभा का सिक्का जमाया था, लेकिन 14 जनवरी 1794 को, भ्रष्टाचार तथा विदेशी जासूसों की मदद करने के अपराध में, उसे गिरफ्तार कर लिया गया, अपने मुकदमें की सुनवाई काल में उसने अपनी रचना की प्रसिद्ध पंक्तियों को भावात्मक ढंग से सुनाया, जो उसके द्वारा, मृत्यु के 'नजदीक' भी गुन-गुनाई जा रही थी " "It to raining , it is raining, shephered brining in your white sheep" 5 अप्रैल 1794 को जब उसे गिलोटिन (Gulotine) पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा था, तब भी वह अपनी कविता की रचनाओं को जनता को बांटता हुआ खुशी से जा रहा था।

"आण्ड्रे मैरीडी-डी चानियर" दूसरा उच्च कोटि का कवि था, जो एक उच्च श्रेणी का नैतिक व्यक्ति भी कहा जाता था। उसके पिता फ्राँस के नागरिक थे, लेकिन माता 'ग्रीक' की थीं। इसलिये उसकी 'साहित्य' रचनायें फ्राँस सभ्यता और ग्रीक दर्शन से प्रभावित रहीं। आण्ड्रे मैरीडी-डी चेनियर (Andre-Mariede de Chenier) ने, 'क्रान्ति' को आंशिक रूप से ही स्वीकार किया था। उसने राज्य और चर्च की शक्तियों को अलग-अलग करने की प्रभावशाली वकालत की थी। वह पूर्ण रूप से धर्मनिरपेक्षता का हामी था तथा बन्धन रहित धार्मिक स्वतन्त्रता चाहता था। उसका दृष्टीकोण था, कि सभी धर्मों को राज्य विकसित होने का सुअवसर प्रदान करें। उसका एक लिखा पत्र जो कनवेनशन (Convention) को, लुईस XVI के बारे में लिखा गया था, तथा 'सितम्बर माह' के किये गये कत्लो-गारत की निन्दा करने पर, उसे सन्देह के दायरे में ला दिया था, उससे सत्ताधारी जैकोविन (Jacobin) की निगाहों में वह अपराधी बन गया और 'बन्दी' बना लिया गया। जेल की दीवारों के मध्य वह एक सुन्दरी बन्दी 'महिला' के प्रेम बन्धनों में जकड़ता चला गया। उस सुन्दर रूपवती 'बन्दी' महिला का नाम "मिली डी कोगनी" (Milee

de Cogni) था, जिसे वह प्यार से "ला जूनी कैपटीव" (La-Jeune Captive) कहता था। जिसकी प्रेरणा से उसकी कविता जाग रही थीं और उसे निर्भीकता से मौत का सामना करने को प्रेरित कर रही थीं।

उसने साहस के साथ, अपनी वकालत करने को साफ इन्कार कर दिया। वह एक भावुक कवि होने के नाते विभीषिका के जुल्म और आतंक को मिटाने के लिये, खुशी से बलिदान हो गया था, जिससे आने वाले समय में, फ्राँस की जनता, आतंक और बर्बरता से मुक्ती 'पा' सके। उस काल में उसने दो ही कविताओं को प्रकाशित किया था, लेकिन 25 वर्ष बाद उसकी लिखी कविताओं का जो संग्रह प्रकाशित हुआ, उसने उसे कीटस "Keats" जैसे महान् कवि की बराबरी में लाकर खड़ा कर दिया। उसकी लेखनी से उपजी कविताएँ एक ऐतिहासिक दार्शनिक भावात्मक कृति बन गईं। वह मृत्यु का सामना निर्भिकता से करते हुये कहता है, **"ओ मृत्यु! तुझे, व्यर्थ में शोर–गुल मचाने की जरूरत नहीं, यहां से चली जा। प्रेम का अपना इतिहास होता है, जीवन का अमर तत्व प्रेम है, मैं उसमें समाया हूँ, मुझे प्रेममय जीवन चाहिये, मृत्यु नहीं।"**

"O death, you need not hoote: begone! begone!
Love has its histoy and the muse has her lays,
I would not die yet."

'फ्राँस की क्रान्ति' सारांश में

क्या फ्राँस क्रान्ति एक राजनैतिक परिभाषा तक ही सीमित थी? यह प्रश्न फ्राँस के इतिहास से दमदार तरीके से किया जा सकता है। इन्कलाब केवल भावात्मक नहीं होता है। वह केवल राजनैतिक दायरे में भी अनुबन्धित नहीं किया जा सकता है। उसका प्रभाव सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में दूर तक नज़र आता है। उपरोक्त प्रश्न का उत्तर इस पुस्तक में देने की कोशिश भी की गई है। 'क्रान्ति' की परिभाषा विद्वानों ने प्लेटो से लेकर आज तक अनेकों पृष्ठों पर वर्णन की है, फिर भी फ्राँस की 'क्रान्ति' का परिणाम क्या हुआ, यह जानना जरुरी है।

खूनी क्रान्ति, जो केवल 'राजनैतिक' दायरे तक हिंसा और रक्त-पात के सहारे राजनैतिक परिवर्तन को जन्म देती है, उसे हिंसक क्रान्ति कहा जाता है। देखा जाये तो, फ्राँस की क्रान्ति सारांश में, राजसत्ता और धर्मतन्त्र की अन्धविश्वासी परम्पराओं तथा चापलूस दरबारियों के विरुद्ध एक खूनी इन्कलाब था। यह समपूर्ण परिवर्तन के लिये विद्रोह था तथा यह एक तरह किसानों का विद्रोह भी था, जो सामंतों के विरुद्ध लाल आँखें दिखा रहा था। साथ ही साथ उस काल की समस्त शोषण संस्थाओं के विरुद्ध फ्राँस की 'राजक्रान्ति' एक 'सशस्त्र' इन्कलाब था, जो सम्पूर्ण आर्थिक सामाजिक तथा राजनैतिक परिवर्तन चाहता था।

'फ्राँस' का इन्कलाब 'चर्चवाद', अन्धविश्वासों और चर्च द्वारा किये गये, आर्थिक शोषण को भी निशाना बनाये हुआ था। फ्राँस की राज्य क्रान्ति का दोष इतना ही था कि वह बाद में अराजकता के हवाले कर दी गई थी। "भीड़" के खूनी आक्रमण ने तथा हत्याओं के असंख्य सिलसिलों ने, 'अराजकता' को जन्म देकर एक निर्मम 'हत्यारा' वातावरण पैदा कर दिया था। जिसके परिणामस्वरूप फ्राँस की धरती 'रक्त' से लाल हो गई थी।

"फ्राँस क्रान्ति" के परिणाम अनेकों तरह की पेचीदगियों से भरे थे, जिसने, 19वीं शताब्दी तक के इतिहास को प्रभावित किया था। फ्राँस की क्रान्ति युग परिवर्तन का संकेत भी थी, लेकिन क्रान्ति के परिणामस्वरूप 'प्रजातन्त्र' की सम्पूर्णता के लिये, फ्राँस में द्वार खुल गये थे, तथा समानता, मानवता का श्रृंगार करने की ओर बढ़ने लगी थी। क्रान्ति के कारण 'सामन्तवाद' अपना विदाई समारोह मना रहा था। भाषण की स्वतन्त्रता ने अपना विशेष स्थान बना लिया था, जिससे विचारों की स्वतन्त्रता मानवता की रक्षा करने का गौरव महसूस करने लगी थी। प्रेस की स्वतन्त्रता निष्पक्ष होकर यथार्थ पर कलम चलाने का साहस करने लगी थी। उसके लिये राजा और रंक बराबर हो गये थे। तथा आराधना तथा 'पूजा' की स्वतन्त्रता, समानता का आवरण पहने, 'अपने'-अपने 'चर्चों' और पूजाघरों की ओर कदम बढ़ा रही थी। धर्मनिरपेक्षता 'क्रान्ति' के बाद, जनतन्त्र का आधार बनती जा रही थी। अर्थशास्त्र की परिभाषा 'राष्ट्र' के 'दृष्टीकोण' के अनुरूप विकसित होने लगी थी। जिसमें निर्धनों की समस्याओं की ओर ध्यान दिया जाने लगा था। 'शिक्षा' के दृष्टीकोण में भी 'इन्कलाब' आ गया था। राष्ट्रीयता का 'जन्म' भावात्मक परिभाषा के साथ विकसित होने लगा था। फ्राँस की क्रान्ति 'राष्ट्र' के लिये सब कुछ बलिदान करने की भावना से पूर्ण हो, निखर कर नागरिकों को उतेजित कर रही थी। प्रत्येक नागरिक फ्राँस की राष्ट्रीयता, पर न्यौछावार होने को तैयार था। जिसका लाभ आगे जाकर नेपोलियन ने खूब उठाया। देश प्रेम की भावना ने 'फ्राँस' के जन-जन को पागल सा कर दिया था। 18वीं शताब्दी एक नवीन सैनिक दृष्टीकोण से प्रभावित थी, जो राष्ट्रीयता के अहंकार से युद्ध क्षेत्र में भी हिंसा का परचम लहरा रही थी। **अतः फ्राँस की क्रान्ति के विषय में कुछ भी परिणाम निकाला जाये, उसकी कमजोरियों और निरंकुशता पर विलाप किया जाएँ, लेकिन इतना अवश्य ही कहा जायेगा, कि फ्राँस की राज्य-क्रान्ति ने भावनाओं पर तथा मानव के स्मृति पटल पर समय की संवेदनाओं के साथ और 'समवेगों' की हलचल के साथ, कला और साहित्य पर, अमिट छाप चित्रित की थी। केवल फ्राँस ही नहीं इटली, ब्राजील (Brazil), इंग्लैण्ड (England) आदि अनेक देशों पर अपने 'लक्ष्यों' की मोहर लगाई थी।**

1848-50 ई० के लगभग माताएँ अपने बच्चों को, क्रान्ति काल के डरावनें नायकों की कहानियाँ और रक्त रंजित दास्तानों से डराकर, सुलाती थीं। कुछ दास्ताने ऐसी थीं, जिसमें 18वीं तथा 19वीं शताब्दी के लोग, क्रान्ति की निर्दयतापूर्ण कहानियों को सुनकर सहम जाते थे।

उसका प्रभाव उस काल के साहित्यकारों पर भी साफ दिखाई पडता था, 'कीटस्' (Keats) लियोपरडिओ (Leopardio), बाईरोन (Byrons) आदि साहित्यकारों को 'समय' ने निराशावादी साहित्यकार बना दिया। जब कि आने वाली अगली शताब्दी आशावान कवियों और सहित्यकारों से पूर्ण थी।

जिसमें, शैली (Shelley), हियूगो (Heigo), बैलजैक गॅयोटियर (Gautier), ब्लेक (Blake) आदि साहित्यकार आशावादी साहित्य जगत की प्रतिभाएँ थीं।

सारांश में, 'क्रान्ति' सभी वर्गों को प्रभावित करती हुई, नये युग को प्रभावित करती रही थी। उसके कड़वे-मीठे अनुभवों से इतिहास भरा पड़ा है। जिससे मानवता सबक ले सकती है।

उस काल में घटित, 26 वर्ष तक की क्रान्ति युग की घटनाओं को, नेपोलियन ने अपने

कृत्तयों की लकीरों से इतिहास में अपनी जो निशान देही बनाई थी, वह इतिहास में आज भी अमर है। उसने एक ऐसा खेल, खेला था, जिससे फ्राँस का इतिहास, हिंसात्मक परिवर्तनों के साथ-साथ सफर कर रहा था, उसे पढ़कर कभी-कभी आधी दुनिया भयाक्रान्त हो जाती थी और कभी उससे प्रेरणा लेती सी नज़र आती थी। कुछ घटनाएँ जो हिंसा की पराकाष्ठा पर पहुँच गई थीं। वह इतिहास में दर्दनाक हैं, लेकिन कुछ राष्ट्रियता से पूर्ण है, जो फ्राँस के इतिहास को बनाते है और उसके भविष्य को निखारते है।

युग परिवर्तन और मानव अधिकार

'धर्म' मनुष्य के लिये, शिष्टा या स्नेह और ममता, के प्रथम द्वार खोलता है। 'मनुष्य' एक बालक के रूप में, माँ' की ममता भरी, और प्यार भरी 'वात्सल्य' की गोद में, स्नेह भरे माता के दुलार के माध्यम से, प्यार के अपार सागर के रूप में दुनिया को देखता है। शायद बच्चा उस प्यार के अपार सागर को ही 'दुनिया' समझ लेने की भूल कर देता है। एक बालक का 'प्रथम परिचय' एक दीपक की प्रकाशमय 'ज्योति' की 'दीप-वाति' से होता है; दीपक की प्रथम 'प्रकाश-लौ' के साथ खेलने में उसे अपार आनन्द होता है। वह सोचता है, यही 'प्रकाश' मेरा जीवन है ! और उसकी तलाश में, 'ज्योतिमय' होना और दूसरों को हँसाना और 'स्नेह' देना मेरा धर्म है।

'लेकिन' वह बच्चा, जो उस समय विशाल 'मानव' धर्म का 'पात्र' नायक होता है, अपने बचपन से निकल कर जैसे ही विकसित होकर, आगे बढ़ता है, उसे विभिन्न धार्मिक बन्धन अपने दायरे में लेना आरम्भ कर देते हैं। **'धर्म' ही उसका नामकरण करता है। धर्म ही उसकी पहचान बनाता है, और जीवन भर के लिये और मृत्यु तक, उसे अपने तरीकों से जीने को मजबूर करता है और बाद में अपने साथ कफन में लपेट लेता है। यहीं तक नहीं ठहरती उसकी जीवन यात्रा, मृत्यु के बाद भी, उसे अंगीकार किये धार्मिक बन्धन उसे चैन की मृत्यु भी नहीं देते हैं। बाद में भी उसकी 'आत्मा' तक को अपनी-अपनी परिभाषा में बाँध देते हैं। 'धर्म' ही उसके निजी रूप का श्रंगार करता है, तथा उसकी विभिन्न वर्गों की पहचान बना देता है। उसके जीवन के रास्ते पीले, गेरवॉ, सफेद, काले, तथा अनेकों तरह के सम्प्रदायों के रंगों में श्रृंगार मय हो जाते हैं। उसके चेहरे की पहचान से लेकर तन-मन की अलग पहचान और उसके 'शीश' तक की पहचान धार्मिक दायरे में से ही होती है। उसके अपने रहने के घर एक से हो सकते हैं। लेकिन उसके "भगवान, देवी, देवताओं, पीर तथा पैगम्बरों तथा ईश्वर के 'इबादत घर' अलग-अलग तरह के होते हैं।** उनकी 'पहचान' दूर से हो जाती है। उसी 'मानव' समाज के विकसित बच्चों के धर्म-ध्वज अलग हो जाते हैं। दूसरी दुनिया को संवारने के लिये, माला आ जाती हैं तो कहीं 'तलवार' आ जाती हैं। एक धर्म 'दर्शन' में उसे इस अपनी दुनिया के 'आपसी रिस्तों' का ज्ञान कम होता है, जबकि दूसरी दुनिया को सवांरने की परिभाषा और उसका गणित अलग-अलग होता है।

महान् साहित्यकार (बैरोन) (Byron) ने अपने साहित्य रचना "Cain : A Mayslery" के प्रथम दृश्य में उसके सामने यह प्रश्न उभर कर आता है कि ईश्वर ने 'मृत्यु' को क्यों बनाया ? (Why God invented Death ?) तथा ज्ञान प्राप्ति की इच्छा एक पाप समझी गई और समस्त जीवधारियों के लिये, मृत्यु का कारण बन गई। यह प्रश्न 'बैरोन' को बहुत परेशान करता रहता था।

"It ever ate of the tree of the knowledge, why did God planted that Forbeden tree so promenently in the garden of Eden. Why should the desire for knowledge be account a sin ? Why in punishment for eveis modest Collection, had the Omenipotent decreed labour as

the lot and death as the fate of all living things ?

इस साहित्यक रचना में एक धार्मिक विश्वास का वर्णन किया गया है। जो सभी धर्मों में जीवन और 'मृत्यु' के मध्य होने के कारणों का वर्णन स्पष्ट खासतौर पर कारण सहित वर्णित है, जिसमें मृत्यु का कारण, ईश्वर के आदेश का निरादर करने की सज़ा है। ज्ञान प्राप्त कने की 'जिज्ञासा' जीवधारियों के 'अमर तत्व' को, मृत्यु में बदल देती है। 'पाप' की उत्पत्ति और उसका फल तथा मनुष्य द्वारा किये गये कर्मों का फल, और उसके परिणाम, प्रत्येक धर्म अपने-अपने ढंग से समझाता है। फिर भी 'पाप' होते हैं।' 'मृत्यु आती है !! और यह सत्य है कि सभी 'धर्म' पाप को मान्यता नहीं देते हैं। उसकी निन्दा करते हैं, फिर भी शक्तिशाली के 'द्वारा' किये गये पापों को 'अनदेखा कर दिया जाता है। हिन्दु धर्म ग्रन्थ महाभारत की रचना में 'द्रोपदी के अपमान' के समय सभी शक्तिशाली योद्धा, धर्माचार्य, राजतन्त्र के महान् ज्ञाता, यहाँ तक कि स्वयं 'राजा', और धर्म गुरु, आदि महान ज्ञाता, सब मौन बैठे रहे, **और सिंहासन पर बैठे राजा और न्यायधीशों और न्यायशास्त्रियों के सामने एक राजघराने की ही 'पुत्र वधु' नारी का अपमान होता रहा। धार्मिक सत्ता और राजनैतिक सत्ता के इस तरह के 'मौन' आचरण ने ही अत्याचारियों के साहस को बढ़ावा दिया है।**

ऐसे उदाहरण जो घृणित हिंसा और 'पाप' से भरे हैं, जो सभी धर्मों के धर्मशास्त्रियों और राज योद्धाओं के सामने होते रहें हैं फिर भी इतिहास उनके कर्मों पर मौन रहा है, जहाँ बेगुनाह, लोगों पर अत्याचार हुये थे, और गरीबों को मारा गया और सताया गया था।

कहीं-कहीं तो यह राजशक्तियाँ, धर्मशक्ति के साथ मिलकर और भी क्रूर हो गईं थीं, जिन पर भयभीत इतिहास मौन रहा है।

यूरोप में इतिहास के पृष्ठों को बार-बार देखने पर पता चलता है, कि मध्यकाल में "राष्ट" की 'परिभाषा' भौगोलिक परीधि में, भावात्मक परिस्थिति में उलझी हुई परिभाषा के साथ स्पष्ट नहीं थी। किसी एक शक्तिशाली 'राज्य' की तलवार किसी दूसरे कमजोर राज्य की सीमाएँ तोड़ती रहती थीं, और राष्ट्रीयता को खण्डित करती रहती थीं। उस काल में 'राष्ट्रीयता' धार्मिक आवरण में अधिक समाई रहती थीं। 'राज्य की' राष्ट्रीयता धार्मिक परिभाषा से अधिक प्रभावित रहती थी। योरोप के लोग मानते थे कि यदि कोई साम्राज्य है, तो वह ईसाई धर्म का, संसार व्यापी राज्य है, जो ईसाई प्रदेशों को मिला कर बनता है। यह साम्राज्यवादी-धर्म की भावना ही उसकी राष्ट्रीयता थीं। और उसमें सम्मलित क्षेत्र जो "धार्मिक-साम्राज्य" में आते थे, ईसाई साम्राज्य के अंग कहे जा सकते थे। ऐसा अन्य 'धर्मों' को धारण किये राज्य सत्ताधारी साम्राज्य भी थे, जो 'धर्म' के पीछे छिपकर अपनी राज्य सीमाओं का विस्तार करते थे, जबकि धर्म से उनका कोई लेना-देना नहीं होता था।

मध्य काल के धार्मिक संगठन ही एक राजनैतिक ईकाई ही कहे जा सकते थे।, क्योंकि अधिकतर सब कुछ धर्म के आधीन ही था। उस काल में, योरोप में 'चर्च' ही सर्वशक्तिमान था। तथा 'धर्म गुरू' श्रेष्ठतम थे तथा समस्त अधिकारों से पूर्ण थे। 'राजा' एक तरह से उसके आधीन ही था। इसके बाद जो योरोप में परिवर्तन हुये, वह राजनैतिक क्रान्तियों और संघर्षों के परिणाम ही थे।

मध्यकाल के योरोप में जो भी 'युद्ध' हुये, उसके अनेक कारण कहे जा सकते हैं, लेकिन एक प्रमुख कारण धर्म का फैलाव ही था। योरोप एशिया तथा अन्य संसार के देशों के एतिहासिक पृष्ठों पर धर्म विस्तार की 'राजनीति' हिंसा करती नज़र आती है। उदाहरण के तौर पर योरोप में, 1453 में 'कुस्तुन्तुनिया' (Constantinople) पर तुर्कों का अधिकार जमाना,

जहाँ 'आर्थिक' तथा राजनैतिक कारण कहा जा सकता है, वहाँ धार्मिक विजय की भावना भी उसमें काम कर रही थी। उस काल में 'तुर्क' सामंत और राजा भयानक विध्वन्सक (Ovtructive) थे, उन्होंने कत्लोगारत का, और तोड़फोड़ का भयानक खेल-खेला था, जिससे भयभीत होकर अनेकों विद्वान भागकर इटली चले गये थे। उस काल में, धार्मिक साम्राज्य को विस्तृत करने की अभिलाषा को लोग "धार्मिक इन्कलाब" के नाम से कहकर आगे बढ़ते थे। उस दौर में, एक धर्म दूसरे धर्मालम्बियों को समाप्त करना भर ही अपना लक्ष्य रखता था तथा 'धर्म-परिवर्तन 'करवाना' शुभ-समझता था। राजा और 'बादशाह' 'तलवार' के बल पर दूसरे धर्मालम्बियों को कत्ल करता हुआ, और वह धर्म-साम्राज्य विस्तार का जुनून लिये बस्तियों को उजाड़ता हुआ, आगे बढ़ता था। यह "कत्लोगारत" करने को, एक तरह से धार्मिक विजय के रूप में प्रयोग किया जाता था। इस तरह के विध्वन्स कृत्यों से योरोप और पश्चिम एशिया का इतिहास भरा पड़ा है। जिसका वर्णन कुछ हद तक किया भी जा चुका है।

ज्ञान-विज्ञान का प्रकाश

योरोप में आधुनिक काल के आने पर तथा विज्ञान की ज्योति का प्रकाश होने पर, धार्मिक अन्धविश्वास को तथा 'धार्मिक' साम्राज्यवादियों को, उस काल के दार्शनिकों ने और विद्वानों ने, यहाँ तक कि कुछ धर्म गुरुओं तक ने भी चुनौतियाँ देना आरम्भ कर दिया था। यद्यपि मध्यकाल और उससे पूर्व भी, अनेकों धर्म गुरुओं और दार्शनिकों ने सत्य कहने की सज़ा भुगतने के कारण, सूली पर चढ़ना कबूल किया या उनकी हत्या कर दी गई थी। लेकिन आधुनिक काल के आरम्भ में ही धार्मिक अराजकता और फासिज़्म को खुली चुनौतियाँ मिलने लगी थीं।

फ्राँस क्रान्ति के आते-आते योरोप में कठोर शोषण युक्त मान्यता को केवल चुनौती ही नहीं दी गई, बल्कि उस पर प्रहार भी होने लगे थे। उदाहरण के लिये एक समय था, जब धार्मिक संस्थाओं के विरुद्ध होट खोलना भयानक अपराध माना जाता था, वहीं आधुनिक काल में, धार्मिक अन्धविश्वास तथा अत्याचारों और शोषण के विरुद्ध सामूहिक क्रान्तियाँ होने लगी थीं।

धार्मिक नैतिकता (Religious Morality) की मान्यताएँ, जिसमें 'स्नेह और भय' (Love and Fear) का सिद्धान्त काम करता है, तथा जिस में दुख और सुख ईश्वर के विधान के अनुरूप फल भोगने पड़ते हैं। वह सब मनुष्य के किये गये कर्मों के फल पर आधारित थे। अब यह विचार बदल रहे थे। आधुनिक काल में 'कानून' के शासन की 'मान्यता' अपना स्थान बनाती चली जा रही थी। 'कानून' की नैतिकता ने, मध्यकाल की धार्मिक नैतिकता को ही सर्वोच्य नहीं माना था। व्यक्ति की प्रवृति (Individual Instincts) ने, जो धार्मिक मान्यताओं को प्रधानता प्रदान कर रही थी, और जो गरीबी, शोषण, भुखमरी, तथा ऊँच-नीच के भेद-भावों को दैविक कह कर, ईश्वर पर छोड़ देती थी, वह समस्याएँ उस काल में, विज्ञान के प्रकाश से मानव जीवन में सामाजिक व्यवस्था के दायरे में आगे की ओर बढ़ने लगी थीं। मनुष्य समाज के अन्दर से धार्मिक कहे जाने वाले अन्धविश्वास की परतें धीरे-धीरे हट रही थी।

आधुनिक युग आने पर 'कानूनी' शासन की ओर कदम बढ़ाया गया। मानव अधिकारी के लिये, राष्ट्रीयता के दायरे में आकर, क्रान्तियाँ होने लगी। स्वतन्त्रता तथा समानता तथा न्याय प्रियता के लिये इन्कलाबी आवाज़ें बुलन्द होने लगीं। आगे जाकर 'पवित्र धर्म' तो रहा, लेकिन धार्मिक साम्राज्यवाद योरोप में दम तोड़ने लगा। 17वीं, 18वीं तथा 19वीं शताब्दी में जहाँ धार्मिक कहे जाने वाले उन्माद के मध्य, समस्त योरोप में 'युद्ध' और भयंकर 'हिंसक' घटनाएँ हुई थीं, वहीं

20 वीं शताब्दी मानव अधिकारों, स्वतन्त्रता तथा समानता की पुकारों से योरोप की धरती हिल गई थी।

पिछले पृष्ठों पर अनेकों धार्मिक कहे जाने वाले आपसी संघर्षों तथा एक धर्म से दूसरे धर्मों से विवादों का वर्णन किया जा चुका है।, **जो इस बात का प्रमाण है, कि धार्मिक कहे जाने वाले अन्धविश्वास ने तथा राजनैतिक कहे जाने वाले धार्मिक उन्माद ने ही 'आतंक और हिंसा' की प्रवृति की परवरिश की थी। योरोप का इतिहास, इस मान्यता को स्वीकार करे या न करे, लेकिन यह सत्य है, कि 'आतंक' के शिशु का प्रथम 'पालना' आतंकवाद के बच्चे के लिये, योरोप में ही तैयार हुआ था। मानवता के दर्द भरे क्रन्दन ने मानव समाज को व्यवस्थित न्याय 'प्रणाली' को जन्म देने के लिये, अनेकों बलिदान देने पड़े थे। आधुनिक युग में, गरीबों का संसार भयंकर पीड़ा को सहन करने के पश्चात्, अन्धकार की कोठरियों से निकलने की कोशिश कर रहा था, जिसे ताड़नाओं के बेहिसाब प्रहारों को सहन करना पड़ा था।**

फ्राँस की क्रान्ति ने, तथा अमेरीका की स्वतन्त्रता ने, जिसमें मानव अधिकारों की घोषणा (The Bills of Rights) की थी। उन्हें अधिकतर राज्यों में 'घोषित' कर दिया गया था, जो दुनिया को सजगता से मानवता को आगे बढ़ाने की प्रेरणा दे रहे थे। जहाँ तक समानता का प्रश्न है, वह तो पूर्णतया आज तक भी समाज को प्राप्त नहीं हुई हैं, उस काल में भी फ्रॉस, अमेरीका और इंग्लैण्ड आदि देशों में वंशाकुल उच्चता, समता के मार्ग में बाधा उत्पन्न कर रही थी, सामन्ती व्यवस्था, उच्च कहीं जाने वाली जातियाँ तथा वर्ग विशेष-अधिकारों को अपना जन्म सिद्ध अधिकार मानते थे।

अनेकों संघर्षों और बलिदानों के बाद, दार्शनिकों ने तथा मानववादियों ने अनेकों कष्ट उठाकर मानव अधिकारों की संरक्षता के लिये कुछ आधार-शिलाएँ रखीं थीं, उदाहरण के लिये अगस्त 27,1789 में, (Declaration of the Rights of a man and of the citizen) मनुष्य और नागरिकों के अधिकारों की घोषणा का यह युग आरम्भ हुआ था, जो मानव अधिकार, महान् दार्शनिक रूसो के (General Will) के दर्शन के आधार पर घोषित किये गये थे। जिसमें कहा गया था, **"तर्क सहित मानव अधिकारों की रक्षा करना, सरकार का प्रथम कर्त्तव्य है", क्योंकि वह प्राकृति न्याय की प्रथम आवश्यकता है।**

फ्राँस क्रान्ति के अन्तरगत, हुये परिणाम में, भारी हिंसा की आग की लपटों की राख के अवशेषों को यदि तलाशा जाये तो उसमें प्रमुख उसका ऐतिहासिक घोषणा 'पत्र' ही है, जिसमें मानव अधिकारों की सुरक्षा की आधार शिला रखी गई थी।

Article (1) men are born and remain free and equal in rights...........

Article (2) The aim of all political association is the natural and imprescriptible rights of man. These rights are liberty, prosperty, security and resistance to oppression .

Articls (3) Liberty Consists in the freedom to do every thing which injures no one's else..... ence the exercise of the Natural rights of each man has no limits except those which assure to the other members of society the enjoyment of the same rights. These limits can be determined only by laws.

1737 में, इंग्लैण्ड का प्रमुख दार्शनिक "टोम पेन" (Tom Paine) जो क्यूकर (Quaker) के परिवार में, टैट फोर्ड, नोरफोक (Thetford, Norfolk) में पैदा हुआ था तथा जो बाद में, अमेरीका चला गया था। उसने उस काल में क्रान्तिकारी कार्य किया। उसने वहाँ की क्रान्तिकारी

गतिविधियों में हिस्सा लेकर अपनी लेखनी से आज़ादी की ज्योति को प्रज्वलित करने में बहुत योगदान दिया था। उसने आज़ादी के दिवानों के मन में उत्साह की चिन्गारी जलाकर एक नया इतिहास लिखा था। उसकी यह पंक्तियाँ क्रान्ति के इतिहास में आज भी अमर "These are times, that try man's soul" इसी तरह उसने "फ्राँस की क्रान्ति" के लिये भी कार्य किया। उसकी लेखनी ने इन्कलाब को उत्साहित करने का जो कार्य किया था। उसे वहाँ का क्रान्तिकारी जगत कभी भी नहीं भुला सकता है। लेकिन दास प्रथा (फ्राँस की कारबीन) (France Carbean) बस्तियों में बहुत दिन तक कामय रही। जब कि कन्वेनशन ने उसे 1794 में समाप्त कर दिया था। ऐसे ही उच्चकोटि के लेखकों कवियों की लेखनी का ही प्रभाव था, जिससे मानवता के 'अंकुर' प्रकट हो रहे थे।

'टाम पैन (Tom Paine) ने धर्मान्धता पर प्रहार करते हुये अपनी पुस्तक 'दी ऐज ऑफ दी रीजन' में अमेरीकावासियों को लिखा था। **"मैं, धर्म के विषय में अपनी राय आपको प्रकट कर रहा हूँ। उसने मन से प्रकट किया "मैं धर्म को नष्ट नहीं, करना चाहता, लेकिन अन्धविश्वास और शोषण से मुक्त समाज की कल्पना करता हूँ।"** उसने आगे लिखा **"धर्म का वह अंग मेरे लिये अर्थ हीन है," जो सामाजिक व्यवस्था को अन्धविश्वासी बनाता है, और असत्य रूप काल्पनिक धारणाओं को जन्म देता है। जिसमें मानवता नष्ट हो जाती है।** उसने कहा था **"वह एक ही ईश्वर की महानता में विश्वास करता है, क्योंकि सर्वोच्च आनन्द उसी के विश्वास में है, किसी अन्धविश्वास में नहीं" वह विभिन्न चर्चों में विभाजित धर्म सम्प्रदायों को भी मान्यता नहीं देता था।**

"I believe in one 'God' and no more, I do not believe in the creed professed by the Jewish church, by Roman church, by the Greak church, and by the Turkish church, by the Protestent church nor by any church that I know. **My own mind is my own church.** All national Institutions of churchs ----- appear to me no other than human inventions, set up to terrify and enclave mankind, and monopolize power and forfit."

'टोम पैन' (**Tom Paine**) **ने विभिन्न धार्मिक संस्थानों और पूजा घरों को, मानवता की एकता को, विभाजित करने की प्रतिक्रिया को निहित स्वार्थ का विषय बताया। उसने 'धर्म' को तो 'पवित्र' बताया, लेकिन उसे स्वार्थ पूर्ति के लिये प्रयोग करना मानवता के प्रति अपराध घोषित किया। उसने संकीर्ण धर्म को मानवता को आतंकित करने की नई खोज बताया, जो रूप बदल कर कमज़ोर वर्ग का शोषण कर रही है।** यह बहुत पुरातन काल से चली आ रही धार्मिक संकीर्णता, मानव शोषण की प्रवृति को संरक्षण दे रही है तथा एक तरह से "सकीर्ण-धर्म' ही, स्वतन्त्रता तथा समानता को हनन करने में सहयोग करता है, वही धर्म के नाम पर आतंक को बढ़ा देता है।"

यद्यपि वह ईसा मसीह को 'महान् आत्मा' के रूप में स्वीकार कर, उनकी अहिंसा तथा **"जियो और जीने दो"** के सिद्धान्त की पूजा करता था, परन्तु ईसाई धर्म में परवरिश पाई अन्धविश्वासी रीतियों का कठोर आलोचक था।

"The trinity of the gods that then followed was no other than a reduction of former plurality, which was twenty or thirty thousand, the status of many succeed that of diane of E'phesue, the defication of heroes, changed into the canonisation saints. **The mythologist had gods for everything, the Christains mythologists had saints for every thing,** the churchs had become on crowded with one as the pantheon had been with the other-------

The Shristian theroy is little else than the idolatry of the anciant mythologists, accom-modated to the purposes of power and revenue, and it yet remains to reason and philosophy

to abolish amphibious fraud."

टाम पैन (Tom Paine) के अनुसार, ईसाई धर्म के दर्शन ने पुरातन काल से चले आ रहे सनातन धर्म के विकसित रूप को स्वीकार किया, जिसमें प्रत्येक कार्य के लिये अलग देवता होते थे, उसने ईसाई धर्म में केवल इतना ही अन्तर किया था कि उसमें प्रत्येक कार्य के लिये अलग-अलग सेण्टस् होते हैं। उसने "ईसाई धर्म" को पुरातन से नवीन का, एक परिवर्तित रूप ही स्वीकार किया।

लेकिन उसने भी अपने धर्म के अलावा, अन्य धर्म के मानने वालों से, कोई धर्मनिरपेक्षता और सद्भावना की बात नहीं कही थी, देखा जाये तो वह भी, अन्धविश्वास की गलियों में ही घूमता रहा। वह अपने धर्म को ही श्रेष्ठतम मानता हुआ, उसे मानव कल्याण का तथा एक 'ईश्वरवाद' का प्रमुख केन्द्र स्वीकार करता रहा। अन्य धर्मों के बारे में वह मौन रहा।

देखा जाये तो उसने अपने अन्तिम दिनों में धर्म की सुधारवादी नीतियों को संवारने में, स्वतन्त्रता तथा समानता के लिये जो क्रान्तिकारियों को सहयोग दिया था, वह धर्म की आलोचनाओं तथा समालोचनाओं में समा गया। इसलिये जब वह 1802 में अमेरीका गया, तो उसको वहाँ के लोगों ने बहुत हल्के ढंग से लिया और उसका कोई भी स्वागत नहीं किया। अधिक शराब पीने के कारण उसकी 1809 में 'न्यूयार्क' में मृत्यु हो गई। उसकी मृत्यु के दस साल बाद उसकी अस्तियाँ अमेरीका से इंग्लैण्ड लाई गईं। सारांश में पाईन (Paine) ईश्वरवादी था, लेकिन उसने 'ईश्वर' को नये आवरण में, 'विश्वव्यापी' दृष्टीकोण से देखा था। उसके परिणाम स्वरूप, ईसाई जगत के कई धर्माचार्यों ने उसके आधुनिक दृष्टीकोण को स्वीकार किया भी था। जिसमें विलियम पाले (William Paley) विशप ने उसके दर्शन पर अपनी मोहर लगाई थी। उसने अपनी 'कृति' "ऐ वियू ऑफ एवीडण्सेस ऑफ क्रिस्चियनिटी" में, 1794 में उसके पक्ष का समर्थन किया था। 'विलियम पाले' की दूसरी कृति बहुत प्रसिद्ध हुई थी, जिसका प्रभाव डार्विन तक पर गहराई से पड़ा था।

उस काल के कई ईसाई, 'पादरी', धर्म के साथ वैज्ञानिक दृष्टीकोणों को आगे बढ़ा रहे थे। जिसे धार्मिक क्रान्ति में, वैज्ञानिक विधि को मान्यता देकर, नये वैज्ञानिक दृष्टीकोण को विकसित किया जा रहा था। 'वैज्ञानिक दृष्टीकोण' की परिभाषा करने वाले पादरियों का दृष्टीकोण भी धर्म की मान्यताओं पर वैज्ञानिक मोहर ही लगाना था, जिससे वह आधुनिक दुनिया में मान्यता प्राप्त कर जाएँ।

मध्यकाल के अवशेषों को छोड़, आधुनिक धार्मिक जगत भी, मानवता की परिभाषा करने लगा था। लेकिन उस काल में भी वह अपने धर्म को ही श्रेष्ठ तथा पवित्र बताते थे, तथा दूसरे धर्म मानने वालों को अधर्मी बताने की संर्कीता प्रकट करते थे। जिसमें दूसरे धर्मों के प्रति सद्भावना के अंश नहीं के बराबर ही थे।

उसी काल में, इस तरह से, विलियम गौडविन (Willium Godwin) ने (1756-1836) में 'न्याय' की परिभाषा में 'मानव' सुरक्षा और व्यक्तिगत सुरक्षा की आवश्यकता पर जोर देकर न्यायशास्त्र में क्रान्तिकारी अध्यय जोड़े। उसने रूसों को मान्यता देते हुये मनुष्य की प्राकृतिक को अच्छाई की मान्यता दी, और रोटी-रोजी की लड़ाई का रिस्ता कलम-दवात से कायम किया। उसने (1793) में अपनी 'पुस्तक' "इन्क्वारी कन्सरनिंग पोलिटिकल जस्टीज एण्ड इट्स इन्फूलेन्स औन जनरल वैर्चू एण्ड हैपीनैस" ("Enquiry concerning political justice and its influence on general virtues and happiness") उसका लेखन कार्य सरकार और राज्य के दार्शनिक पक्ष तथा उसकी समस्या

पर आधारित है, जिसमें धार्मिक मान्यताओं के आधार पर वह स्वर्ग और नर्क को दण्ड और पारतोषिक देना माना जा रहा है। उसे अमान्य करते हुये, उसने राजनैतिक दर्शन को वैधानिक न्याय की ओर बढ़ने को प्रेरित किया था।

उसकी दृष्टि में 'न्याय' नियमों से अनुबन्धित व्यवहार में निहित है, जो मनुष्य और समाज को अधिकतम प्रसन्नता तथा आन्नद देता है।

"Justice, then is regulation of conduct, in the individual and the group, for the greatest happiness of the greatest number. The immediate object of the government is security for the group of the individual. The individual desires of much freedom as a comforts with his security."

उसने, स्पष्ट रूप से, आगे जाकर साफ कह दिया, कि प्रशासन की सबसे बड़ी योग्यता यह है, कि वह 'मनुष्य' की स्वतन्त्रता का हनन किये बिना, उसे सर्वोच्च स्वतन्त्रता प्रदान करना है, वह ही उपयुक्त प्रशासन कहलाता है, जो अधिक से अधिक व्यक्तिगत स्वतन्त्रता देता है। उसने कहाँ "शादी जैसे रिस्तों के लिये 'बालिग' लड़के, लड़कियों के लिये धर्म या सरकार की किसी अनुमति की आवश्यता नहीं है।"

यद्यपि गौडविन (Godwin) स्वतन्त्रता का समर्थक था, लेकिन वह समाजवादी नहीं था तथा सम्पत्ति पर सरकारी अधिकारों में उसकी कोई रुचि नहीं थी। लेकिन वह व्यक्तिगत सम्पत्ति को एक 'पब्लिक ट्रस्ट' के आधीन अवश्य देखना चाहता था। उसका क्रान्ति में भी कोई विश्वास नहीं था।

योरोप का वास्तविक राजनैतिक, सामाजिक चरित्र बदलता जा रहा था। धार्मिक शिकंजे से योरोप की राजनीति धीरे-धीरे खिसककर अलग हो रही थी। मानव अधिकारों और व्यक्ति की सुरक्षा की भावना धर्म तथा शक्ति के प्रभाव से मुक्त होती हुई सत्ता को चेतावनी दे रही थी कि वह धर्म-निरपेक्ष, और पंथनिरपेक्ष होकर मानव स्वतन्त्रता की रक्षा करे। दार्शनिकों, लेखकों, राजनीतिज्ञों तथा साहित्यकारों और कवियों की वाणी इतिहास, को आधुनिक काल की ओर बढ़ाते हुये, न्याय और आत्म सुरक्षा की आवाज़ को बुलन्द करने लगी थी। स्वतन्त्रता, समानता और व्यक्ति की सुरक्षा के अधिकारों की माँग एक 'इन्कलाब' के रूप में आगे बढ़ रही थी। लेकिन योरोप में अंधेरा अभी-बाकी था। अधिकतर सत्ता अभी तक धर्माचार्य के हाथ में थी। योरोप की 'राजनीति' पर 'चर्च' का लोहआवरण, क्रान्ति की चोटों से अवश्य ही ढ़ीला हुआ था, लेकिन रूप बदलकर वहीं अभी दार्शनिक व्याख्याएँ कर रहा था। 'सामन्ती साम्राज्य' और 'राजतन्त्र की तलवार' अवश्य ही 'जंग' खा गई थी, फिर भी माहौल पर उसका आधार बना हुआ था।

माल्थस का दर्शन और सिद्धान्त धार्मिक प्रेरणा से प्रेरित था

18 वीं शताब्दी के आरम्भ में और उसके बाद भी दर्शनशास्त्र और साहित्य पर पादरियों और धर्माचार्यों की ही कलम चल रही थी। यह सत्य है, जैसा वह लिखते थे, उसका प्रभाव जन-मानस पर दूर तक जाता था। 'थामस माल्थस' (1766-1834) (Thomas Malthus) भी एक धार्मिक आवरण से निकला दार्शनिक था। उसके 'दार्शनिक अर्थशास्त्र' का जन्म भी धार्मिक प्रेरणाओं से पूर्ण था। 'माल्थस' के सिद्धान्त में उस काल से आज तक दुनिया भर की शिक्षा संस्थाओं में, जन-संख्या वृद्धि के कारणों और खाद्य पदार्थों के गणित को मान्यता देकर, उसके दर्शन को सत्य साबित करने की कोशिश की गई है। लेकिन जो वर्तमान में आलोचना का विषय भी बन गया है। वास्तव में उसका 'दर्शन, उस काल के धार्मिक-दार्शनिक' प्रभाव को, नये वैज्ञानिक आवरण में परोसने का नवीन तरीका था।

माल्थस (Malthus) का 'चिन्तन' 'स्त्री-पुरुष' की 'वासना' 'प्रवृति' के आधार पर की गई परिभाषा है। उसने (Sex) स्त्री-पुरुष की शारीरिक भूख से उत्पन्न परिणामों की 'वजह' से सामाजिक जगत में प्राकृति उत्पात को न्योता देना स्वीकार किया। उस समय 'चर्च' भी धार्मिक कारणों से, 'वासनात्मक' प्रवृति को, धार्मिक नैतिकता से अनुबन्धित करता था। उससे पूर्व में भी तथा उस काल में भी, धर्म की मान्यता थी, कि स्त्री-पुरुषों के 'सम्भोग' पर नैतिक प्रतिबन्ध लगाना चाहिये।

माल्थस ने गणित के आधार पर उदाहरण देते हुये लिखा, "धरती की उत्पादन शक्ति गणित के आधार बढ़ती है, जैसे, यहाँ प्रत्येक 25 वर्ष में, 1 से 2, 2 से 3, 3 से 4, 4 से 5, 5 से 6 आदि के आधार पर खेती का उत्पादन बढ़ता है। लेकिन मनुष्य की वासना, धरती की वासना से तीर्व है, तथा उसमें अधिक उत्पादन शक्ति रखती है। यदि उसे रोका नहीं गया तो वह एक जोड़े द्वारा अर्थात् (एक पति-पत्नि द्वारा) ज्योमेट्री के आधार पर 25 वर्ष में, 1 से 2, 2 से 4, 4 से 8, 8 से 16, 16 से 32........, के आधार पर जनसंख्या बढ़ेगी। इस तरह, 'खाद उत्पादन' में तथा मानव समाज में, जनसंख्या की बढ़ती हुई संख्या का अन्तर, धरती और मानव समाज का सन्तुलन बिगाड़ देगी। बढ़ती हुई, जनसंख्या को रोकने के लिये समाज कई तरह के उपाय करता है।

उसका कथन था, यदि उसे नहीं रोका गया तो प्रकृति स्वयं अपने प्रकोप से माहमारी, युद्ध, बिमारी, आतंक और अकाल द्वारा मृत्यु को न्योता देती है। प्रकृति उसे स्वयं रोकती है।

माल्थस ने बड़े ही विचित्र अन्धविश्वासी संकीर्ण, 'धर्म तन्त्र' से प्रभावित उपाय भी बताये, जो समस्त गरीब शोषित और मजदूर वर्गों के, हितों पर खुली चोट करते हैं तथा 'पूंजिपतियों' और सामन्तों को शोषण के लिये संरक्षण देते हैं।

'माल्थस' ने कहा 'मजदूरों' के वेतन बढ़ाने से कोई भी लाभ नहीं होगा। यदि मजदूरों के

वेतन बढ़ा दिये गये, तो वह जल्दी ही 'शादी' करेंगे, और कम उम्र में बच्चे पैदा करने लगेंगे और ज्यादा बच्चे पैदा करने लगेंगें। इसके अतिरिक्त भी उसने मजदूरों और किसानों पर कई तरह की पाबन्दियाँ लगाने के सुझाव दिये थे। वास्तव में 'माल्थस' स्वयं अधिकतर उच्च वर्ग तथा सामन्ती और धनी परिवारों से और धार्मिक संकीर्तओं से प्रभावित थे। क्योंकि माल्थस की कलम उच्चवर्ग के लोगों तथा राजा महाराजाओं के प्रति मौन थी। धर्म दर्शन शास्त्रों का अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि "धर्म दर्शन" राजा-महाराजाओं और धनी वर्ग को नैतिक समर्थन देता है और गरीब को ईश्वर और 'भाग्य' की दशा पर छोड़ देता है। 'माल्थस' ने भी यही किया था।

"From this number analysis Malthus drew surprising conclusions. First there is no use of rising the wages of working men, for wages are increased workers will marry earliar and will have more children, the population will grow, the mouths will increased faster than food, and the poverty will be restord. Like wise it is useless to raise the poor rates."

माल्थस (Malthus) अपने अराजकतावादी दार्शनिक (Philosophier)" स्वपन को पूरा करना चाहता था। उसका मत था, "हमको व्यक्तिगत सम्पत्ति की सुरक्षा करनी चाहिये, क्योंकि वह उत्पादन में सहयोग करती है।" कानून के माध्यम से उत्पादक सम्पत्ति की रक्षा करनी चाहिये तथा व्यक्तिगत हिंसा को शक्ति द्वारा दबा देना चाहिये। उसने अपनी जीवन कथा में स्वीकार किया, कि जनसंख्या की अधिकता का सिद्धान्त अपने 'अस्तित्व' के लिये, 'संघर्ष' के दार्शनिक पक्ष के कठोर रास्तों से होकर ही गुजरता है। उसके दर्शन में "Struggle for existance" अपने मार्ग में आने वाले को शक्ति से और अपनी योग्यता से समाप्त करना चाहिये, उसका यह सिद्धान्त उसने, जानवरों के जीवन पर अध्यन करके, मनुष्य की प्रवृति में पाया जाना स्वीकार किया था। यह ही 'सिद्धान्त' आगे जाकर 'आतंकी' प्रवृति और हिसंक मनोवृति का पोशक बन गया!

'चार्ल्स डार्विन' (Charles Darvin) ने भी अपने सिद्धान्त "औन दा ओरिजन औफ स्पेसिस, बाई मीन्स औफ नेचुर्ल सैलेक्शन" "On the Origin of the Species by means of Natural Selection." में डार्विन मनुष्य समाज को शक्तिशाली भेड़ियों के समाने डालकर अपने दर्शन को श्रेष्ट मानता है। वह पूर्णतय भौतिकवादी था तथा मानवतावाद की 'जियो और जीने दो' की प्रवृत्ति से अनजान था। 'डार्विनइज्म' जहाँ भौतिकवाद की पहली सफलता तो है, जो "धर्म और नैतिकता' से अलग हटकर, 'प्राकृतिक' चुनाव को स्थान देता है, वहीं सामाजिक प्रगति को अनदेखा कर देता है, जिससे शक्तिशाली यह समझता है कि 'डार्विनवाद' केवल शक्तिशाली को ही प्राकृतिक तौर पर जीने का और फलने फूलने तथा जिन्दा रहने का हक देता है। एक तरह से डार्विनवाद शक्तिशाली को ही अपने आवरण में 'पनाह' देता है। कमज़ोर को तो वह 'मरने' के लिये, और 'प्राकृतिक' चुनाव के लिये छोड़ देता है। जहाँ वह एक तरह से फिर "भाग्य और ईश्वर की शरण में चला जाता है। वह मनुष्य बच गया तो, ठीक नहीं उसे मरना तो पड़ेगा ही!"

मार्क्स और 'एन्जील' ने भी डार्विन को एक भौतिकवादी दार्शनिक वैज्ञानिक तो माना था, जो राजनैतिक-अर्थशास्त्र की व्याख्या करता हुआ, दूसरे सामाजिक तथा वैज्ञानिक दर्शन विज्ञान की भौतिकवादी आधार शिला रखता हुआ, विकास के नियम से मनुष्य, सहित, जानवरों तथा पेड़-पौधौ की जीवन यात्रा की व्याख्या करता रहा।

"Engels, wrote Just as Darwin discover the law of devlopment of organic nature, so Marx discovered law of devlponent of human history."

(The origin of species) 'दा ओरिजन ऑफ स्पेसिस', में डर्विन, प्राकृतिक आधार पर सामाजिक विकास की व्याखया तो करता है, लेकिन वह जीव विज्ञान के अनैतिक असमाजिक

नियमों को, मानव समाज पर लागू करके और "सबका युद्ध सबके विरुद्ध" की घोषणा करके, 'अराजक' समाज की, तथा पूँजिवादी समाज की आधार शिला भी रखता है। इससे भी, अधिक खतरनाक पहलू यह है, कि डार्विनवाद मानव समाज को भेड़ियों की बस्ती में उसका माँस नौचने के लिये अकेला छोड़ देता है, जिससे कमज़ोर और निर्बल की मृत्यु निश्चित और अवश्यमभावी है। उसका दर्शन आर्थिक क्षेत्र में भी धनवान और पूंजीपति को बल देती हुई, निर्धन की हत्या करती है। डार्विन का प्राकृति, वैज्ञानिक अनुसंधान, फिर से मनुष्य को 'धर्मवाद' के 'भाग्यवादी सिद्धान्त' की शरण में, प्राकृति चुनाव की जंगली बस्ती में, मानवता को रौंद डालता है, जैसा आदि काल में मानवता के साथ हुआ करता था।

'प्रकृति' सुन्दता और अहिंसा की जननी है

माल्थस प्रकृति को हिंसक ही मानता है। जनसंख्या की वृद्धि के भय से प्रकृति (Nature) को केवल विध्वंसक ही मान बैठता है। 'भूकम्प, बाढ़ तथा प्राकृतिक प्रकोप मनुष्य समाज को नष्ट करने का साधन और जनसंख्या कम करने का प्राकृति या 'दैवी' शस्त्र मानकर भयभीत करता है। पशु जगत, तथा पक्षी जगत, केवल हिंसक ही नहीं, है। शिकारी पक्षियों का शिकार करता है अन्य जीवों की भी हत्या करता है। लेकिन वह अन्य जीव शिकारी के डर से अपना दैनिक कार्यक्रम नहीं छोड़ते हैं। 'चिड़िया' अपना मधुर 'संगीत' मस्ती से गाती है। 'पक्षी' कलरव करते हैं, कोयल गाना 'गाना' नहीं भूलती है। मनुष्य जाति की निर्दयता और हिंसक प्रकृति का शिकार होने पर भी पक्षी जगत का मधुर संगीत, पेड़ों पर बैठे रंग-बिरंगे पक्षियों द्वारा गाया जाता है। मनुष्य समाज ही, समस्त हिंसा का प्रतीक बना हुआ है, जंगल के हिंसक जानवर भी भूख लगने पर ही शिकार करते हैं, या हमले के डर से आक्रमण करते हैं। लेकिन 'मनुष्य तो जब हिंसक हो जाता है, तब वह अपने 'शौक' के लिये, 'आन्नद' के लिये हिंसा करता है। मनुष्य ने तो अपने 'शौक' और आन्नद के खातिर कई जंगली जानवरों की वन जातियाँ ही समाप्त कर दी हैं। इसलिये 'डार्विन' का सिद्धान्त अपने कथन में कमज़ोर पड़ जाता है।

माल्थस ने 1824 में अपने लेख "Encyclopaedia Britannica" "इनसाइकिलोपिडिया ब्रिटेनृनिक" में, अपने सिद्धान्त का पुनः अध्यन किया और अपने जनसंख्या सम्बन्धी गणित के डरावने पक्ष को वापस लेते हुये, बढ़ती हुई जनसंख्या की बाढ़ को ही मानव जाति के अस्तित्व के बचाव के संघर्ष के सिद्धान्त पर गहरा प्रभाव अंकित किया। **प्रकृति सुन्दर है, हिंसक नहीं है उसमें सहयोग है और निरन्तर बहने वाला जीवन प्रवाह है। उसमें आनन्द है, मृत्यु नहीं हैं। 'प्रकृति' ने जीवन को बचाने के अनेकों रहस्य छिपा रखे हैं, उसे मनुष्य खोज रहा है। प्रकृति के आंचल में 'अमरतत्व' छिपा है, उसे मनुष्य को खोजना चाहिये।**

वर्षों बाद, डार्विन ने अपनी आत्म कथा में लिखा "अक्टूबर 1818 में, मैंने माल्थस के जनसंख्या के सिद्धान्त का अध्यन किया, जिसमें जानवरों और पेड़ और पौधों के लम्बे निरन्तर अध्यन के द्वारा, इस निर्णय पर पहुँचा कि जो उपयुक्त और उपयोगी है, उसे सुरक्षित रखो ! और जो बेकार है, उसे 'नष्ट' कर दो ! इससे नवीन जीवन शैली का जन्म होगा।"

"In October 1818 fifteen months after, I had begun my systematic enquiry, I happend to read for amusement Malthus on population, and being well prepared to apprecide the strugle for existance-----from long continued observation of the habits of animals and plants. If at once struck me that under these contances favourable variations would Lend to be preserved, once to be destroyed. The result of this, would be the formation of a new speeies.

Here than I had at got hold of theory by which to work." डार्विन ने, विचार की दुनिया में एक नया अध्याय उस समय कायम किया, जब 1859 में The origin of species by means of natural selection. पुस्तक ने 19 वीं शताब्दी में अमिट प्रभाव छोड़ा।

मार्क्स (Marx) की दृष्टि में, डार्विन वैज्ञानिक चिन्तन की नींव रखकर वैज्ञानिक दृष्टीकोण से समाजिक अध्यन के लिये मुख्य द्वार को खोलता है। लेकिन डार्विन मानव समाज को शक्तिशाली के हाथ में, भयानक आतंक के खुले जबाड़े में चबाने के लिये, बेसहारा छोड़ देता है। साथ ही साथ वह मानवता की भलाई के लिये भौतिकवादी, खुशहाली के मार्ग को पार करने का भी कार्य करता है। यह तो सत्य है कि डार्विन का कार्य ज्ञान की गंगा को आगे तो बढ़ाता ही है, चार्ल्स डार्विन ने 1873 में मार्क्स को लिखा –

Dear Sir,

I thank you for the honour which you have done me by sending me your great work on "Capital", and I heartily wish that I was more worthly to receive it by understanding more of the deep and, important subject of a political economy.

Though our studies have been so different, I believe that we both earnestly desire the extention of knowledge and that this in the long run is sure to add to the happiness of mankind.

I remain dear Sir
Your's faithfully
'Charles Darwin'
(from Marx, E'ngeb work P. 13)

ऐसा नहीं था कि उस काल में 'माल्थस' और 'डार्विन' के दर्शन का प्रभाव नहीं पड़ा। माल्थस के दर्शन ने बढ़ती हुई 'जनसंख्या' के 'प्रकोप' से बचने के जो उपाय बताये थे, उससे प्रभावित हो योरोप में सीमित तथा छोटे परिवार अस्तित्व में आने लगे। युद्ध के लिये 'तलवार' और भालों का प्रयोग समाप्त होने लगा तथा युद्ध, में घोड़ों तथा जानवरों के प्रयोग का युग भी समाप्त होने लगा। वैज्ञानिक तथा 'टैक्नीकल' ज्ञान ने तथा बारूदी आविष्कार ने, बड़ी-बड़ी फौजें रखने का प्रचलन कम कर दिया। 19 वीं शताब्दी में राजनैतिक-अर्थशास्त्र (Political-Economy) और 'अर्थशास्त्र' की परिभाषा विश्व भर में बड़े ध्यान के साथ समझाई जाने लगी। राजनैतिक, सामाजिक तथा आर्थिक दुनिया में 'माल्थस' (Malthus) तथा डार्विन (Darwin) पूर्णतया प्रभाव बनाये हुये थे।

वैसे देखा जाये तो 'माल्थस' ने (Malthus Fasinating terror) "फैसीनेटिग" आतंक को स्वीकार किया था। जिसमें 'आतंक और भय' के दैविक दार्शनिक पक्ष पर मनोवैज्ञानिक और वैज्ञानिक विश्लेषण करके मानवजाति को सचेत किया था और साथ ही साथ भयभीत भी किया था कि वह अधिक जनसंख्या वृद्धि न करें।

मनोविज्ञान में "भय", (Terror)" दूर तक मानव समाज पर प्रभाव डालता है। धार्मिक क्षेत्र, में किसी अप्रत्यक्ष शक्ति का भय दिखाकर उसके अनुयायी, किसी धार्मिक प्रचलन को मानने को बाध्य किये जाते हैं। वह बिना किसी आग्रह के उसको धारण ही नहीं करते, आगे भी प्रचलन में लाते हैं। भूत, प्रेत, आत्माओं का प्रकोप, दैविक प्रकोप, अनेकों तरह की पूजा, आराधना को स्वीकार ही नहीं करते, बल्कि उसे सर्वोच्व शक्ति के रूप में मानते हैं, जो बिना किसी दबाव के 'समाजिक रीति-रिवाजों, के अंग बन जाते हैं। कभी-कभी यह धार्मिक मान्यताओं के आधार पर शोषण का अध्याय भी बन जाते हैं।

'जेरमी बैन्थम' (Jeremy Benthum) ने (1748 से 1832) तक अर्थशास्त्र, न्यायशास्त्र और कानूनी महत्वता पर लिखकर 'न्याय' जगत में मुख्य भूमिका अदा की थी। वह एक धनवान परिवार में जन्मा था, जिसको उसके पिता ने उच्च शिक्षा के लिये प्रेरित किया था। वह 'लेटिन' (Latin) और ग्रीक (Greek) भाषा में अपने स्कूली दिनों में ही कविता लिखने लगा था। उसने 15 वर्ष की आयु में ही 'स्नातक' की उपाधि ग्रहण करली थी, तथा बाद में वह कानून का अध्ययन करने लगा और न्यायशास्त्र का पण्डित हो गया। उसका सबसे बड़ा योगदान यह था कि उसने विधि की परीधि में, और शासन व्यवस्था में 'मानवता' के 'दृष्टीकोण' का समावेष किया था। उसका दृष्टिकोण था, कि **यदि "विधि" मानवीय सम्वेदनाओं से परिपूर्ण नहीं है, तो वह मानव समाज का क्या भला कर सकती है?**

उसके मन में मानव सेवा की प्रबल भावना ने ही उसे प्रेरित किया कि वह 'विधि' की परिभाषा में मानवीय मधुरता को विकसित करे, और भय, आतंक और शोषण को समाज से निकाल कर बाहर करे तो यह मानवता की सर्वोत्तम सेवा होगी।

"Have I", he asked himself a genious for every thing" I what can I produce-------what all earthly pursuits, is the most important ? 'Lagislation'. Have I a genious for lagistation. I gave the answer, fearfully and trembling, "yes."

उसने कर्त्तव्यों अधिकारों को सम्मान और शक्ति की परिभाषा की वास्तविकता में लाने की कोशिश की थी। उसने प्रश्न किया "अधिकार क्या हैं ? यह प्राकृतिक हैं, या मनुष्यकृत हैं ?" जैसा की फ्राँस की क्रान्ति के समय घोषित किया गया था। क्या व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को जनहित के आधीन कर देना चाहिये ? "समानता क्या है ? क्या वास्तविक जीवन में इसका आभास होता है ?" आदि, शब्द अब तक संसद, विश्वविद्यालयों और न्यायालों में ही सुनने को मिलते हैं, वास्तविक जीवन में वह दूर तक भी दिखाई नहीं पड़ते और 'बकवास' लगते हैं।

उसने कानून की दुनिया में वास्तविकता को अवतरित करने के लिये, कानून को किसी उच्चतम अधिकारी, धार्मिक दर्शन के, या राजतन्त्र की किसी शक्ति या राजा की 'इच्छा' की पूर्ति का साधन नहीं होना चाहिये, बल्कि कानून के निर्माण में जनता की सर्वोच्च, अधिकतम भलाई का लक्ष्य होना चाहिये। सरकार का कार्य विभिन्न विभागों में जनता की भलाई को, उच्चतम प्राथमिकता देकर विभाजित करना चाहिये।

बैन्थम (Benthum) की नैतिकता और विधि स्वच्छता का मुख्य लक्ष्य उपयोग्यता के सिद्धान्त पर आधारित है।

The guiding principal of legislators must be not the "Will" of a superior but the **"greatest happiness of the greatest number"** of those for whom they legislatic, and proper-test of proposed law is its utility to the end. Here is the famous "principal of utility," was the essence of Benthum's legal and ethical teaching.

बैन्थम मानता था, कि राज्य को मनुष्य की स्वतन्त्रता का दमन नहीं करना चाहिये, तथा राज्य को कम से कम व्यक्ति की स्वतन्त्रता में हस्तक्षेप करना चाहिये। बैन्थम (Banthum) ने "प्रिन्सीपल्स ऑफ मौरल्स एण्ड लैजिस्लेशन में" (1789) में अपने विचार व्यक्त किये और लिखा कि **'विधि' को धर्म के प्रभाव से मुक्त होना चाहिये,** दूसरी तरफ उसने 'क्रान्ति' की भी सख्त आलोचना की थी।

उसका कथन था, कि "विधि और नैतिकता का आपसी सम्बन्ध बहुत महत्वपूर्ण है।" उसका यह भी कथन था, कि "विधि और नैतिकता का केन्द्र एक ही है", लेकिन उसके सम्बन्ध के विषय

में मतभेद हैं ! एक विचारधारा विधि को नैतिकता से अलग रखने में यकीन करती है, तो दूसरी नैतिकता, विधि के मध्य सामजस्यता कायम करने में यकीन करती है।

बैन्थम के विचार में 'नैतिकता' और 'विधि' को मान्यता देना, उसकी मनुष्य के लिये उपयोगिता और भलाई के सन्दर्भ में नापनी चाहिये। उसका लक्ष्य मानव समाज के कल्याण में निहित होना जरुरी है। उसका मानना था, "विधि और नैतिकता" को मानव के दुखों को दूर करना चाहिये, तथा मनुष्य को अधिक से अधिक सुख देना, उसका लक्ष्य होना चाहिये। व्यक्ति कानून से लेकर राष्ट्र और अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों में भी मानव के लिये मनुष्य की उपयोगिता स्वच्छ तथा साफ होनी चाहिये, जो उसके रिश्तों में न्याय-प्रियता को प्रकट करें।

'बैन्थम', आन्नद की परिभाषा बताते हुये कहता है, कि वही वास्तविक आन्नद है, जो 'मानव पीड़ा को कम करे! जब आन्नद, 'परमानन्द' में परिवर्तित हो जाता है, जब वह असंन्तोष और दर्द से मुक्ति दिला देता है, तथा शरीर और मन दोनों को आन्नद से भर देता है। उसकी दृष्टि में उपयोगिता का सिद्धान्त ही आन्नद की जननी है।

"Banthem took it for granted that all organisms seek pleasure and shown pain. Pleasure, he defined as satisfaction, pain as any dissatisfaction of body and mind."

उसकी दृष्टि में अच्छा नागरिक वह है, जो दूसरों को तथा समस्त मानव समाज को अधिकतम प्रसन्नता तथा सुख प्रदान करे। उसकी दृष्टि में, 'उपयोगितावाद', अधिकतम लोगों के सुख से सम्बन्धित दर्शन है। **जो बाईबिल के सिद्धान्त पर आधारित है, कि "अपने पड़ोसी से प्रेम करना ईश्वर से प्रेम करना है।"**

"Thou shall love thy neighbour as thyself."

उसकी दृष्टि में विधि को समस्त धार्मिक और दैविक तथा ईश्वरीय-जंजीरों और बन्धनों से मुक्त होना चाहिये।

"The law must admit no mystical entities like "Right" natural, popoular, of divine, no relations from God, 'Moser, or Mohammed or Christ, no punishments for vergerne, sake every proposal must answer the question "Cui bone" ? For whose good 'will' it before one, or a few, or many, or all ? Law must adjust itself to the incradicable nature and the limited capacities of men, and to the practical needs of society, it must be clear, and peronit of practical enforce it ment, expenditious trial, prompt judicial judgment, and penalities correetive and human."

यर्थात् यह है कि बैन्थम (Banthum) ने, अपने 'न्याय' दर्शन को व्यवहार की उच्चतम कसौटी पर कस कर देखा था। उसका मत था, न्याय-ज्योति स्वयं ही अपनी 'भलाई' का मुख्य न्यायधीश है ! उद्योग क्षेत्र में, व्यापारिक दृष्टि कोण से, तथा राजनैतिक दृष्टिकोण से राजनीति में उसे स्वार्थी बन्धनों की जंजीरों में नहीं जकड़ना चाहिये, बल्कि उसे समाज में व्यवहारिक रूप अपनाकर अपना रास्ता स्वयं ही बनाना उचित रहेगा। समाज का भी यह कर्त्तव्य हो जाता है, कि वह समाज सेवी संस्थानों को प्रोतसाहित करें। उसका साफ कहना था, कि प्रतिसेवी सरकार अपार बुराईयों तथा भ्रष्टाचार के होते हुये, भी अन्य सरकारों से सर्वोतम सरकार है।

बैन्थम (Banthum) धर्म, निरपेक्षता का पक्षधर था। उसका मत था, कि कानून की सर्वोच्च नैतिकता यह है, कि उन्हें धर्म-निरपेक्ष होना अनिवार्य है।

उसकी दर्शन पुस्तक "दी प्रिन्सीपल्स औफ मौरल्स एण्ड लैजिस्लेशन" (The principles of morals and legislation) ने विशेष ख्याति प्राप्त की, तथा 1792 में फ्राँस भाषा में, उसका अनुवाद ही नहीं हुआ बल्कि बैन्थम को फ्राँस की नागरिता भी प्रदान की गई। बैन्थम को विश्वभर के प्रमुख

विश्वविद्यालयों ने सम्मान के लिये निमन्त्रण दिया।

बैन्थम (Banthum) विधि की दुनिया में, न्याय को मान्यता के लिये सुरक्षित पगदण्डी तैयार करने में जीवन भर लीन रहा। उसने 1825 में 'रेशनेबिल ऑफ ज्यूडिसियल एवीडैन्स' (Rationable of judicial evidence) में पुरातक कानूनों को नया आवरण देने का काम किया, तथा "जंगली" कठोर अमानवीय तथा 'पक्षपाती विधि' को बर्बरता से मुक्त कराने का प्रयास किया। **उसका कथन था धर्मबन्धनों में तथा संकीर्ताओं में उलझी 'विधि' मानव 'स्वतन्त्रता' की रक्षा नहीं कर सकती है।**

यर्थात् में बैन्थम (Banthum) का 'विधि दर्शन' तथा 'समाजिक चिन्तन', मताधिकार में गुप्त मतदान, 'स्वतन्त्र व्यापार' तथा न्याय क्षेत्र में सुधार तथा अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों की महत्वता पर विशेष बल देकर मानवता की विशेष सेवा की थी, साथ ही साथ अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर धर्म-निरपेक्षता तथा बन्धन रहित विधि व्यवस्था को विकसित करने में श्रेयकर रहा है, जिसकी छाप संसार में अब भी, न्याय क्षेत्र तथा दर्शन क्षेत्र में देखी जा सकती है।

बैन्थम का मत था, कि **'न्याय' की सतर्कता से तथा 'विधि' की निष्पक्षता' से भी मानव समाज को समस्त प्रकार के आतंक से मुक्त किया जा सकता है। इसलिये 'विधि' का लक्ष्य धर्म-निरपेक्ष 'स्वच्छ' मानव उपयोगी तथा 'निष्पक्ष' और सर्वोच्च विधि का ही होना चाहिये।**

'कलम की क्रान्ति'

पश्चिम हो या पूरब, उत्तर हो या दक्षिण, असमानता, धर्मान्धता, अहंकार, उतेजना और आतंक, उस काल में और आज भी अपनी मानव भक्षी प्रवृति के साथ कहीं न कहीं 'इन्सानी' जिन्दगी' का रक्त पीती रहती है। फ्राँस क्रान्ति से पहले और उसके बाद भी उस काल की हिंसक हत्यारी दानव शक्तियां किसी न किसी 'राजतन्त्र' के विश्राम गृह में पनाह पाये रहती थीं। लेकिन योरोप में तलवार की धार के आतंक के मध्य भी कलम की क्रान्ति (The Revolution of pen) भी मानवता को किसी न किसी रूप में केवल मानव समाज को 'जाग्रत' करती ही नहीं, रहती थी, बल्कि लेखन शैली के माध्यम से 'संघर्ष' करती थी, युद्ध करती थी तथा निरन्तर न्याय पक्ष में चलती रहती थी, चाहे उसे मृत्यु से ही क्यों न लड़ना पड़े।

मुझे अपने छात्र जीवन की एक अंग्रेजी की कविता की पंक्तियाँ याद आ गई, जो विलियम ब्लैक (William Black) (1757-1827) ने लिखी थीं। वह पंक्तियाँ उस काल में तो परीक्षा के दृष्टीकोण से ही पढ़ी गई थीं लेकिन बाद में एक गहरे दार्शनिक दर्शन के रूप में समझ में आईं।

Little lamb, who made thee ?
Dost, thou know who, made thee ?

वास्तव में, यह पंक्तियाँ उसी दूसरी रचना की ब्लैक बॉय (The Black Boy) की आधारशिला थीं। उस कविता "The Black Boy" में एक निग्रो काला बच्चा दुखी होता है, और आश्चर्य भी करता है कि प्रभु ने उसे काले रंग की 'त्वचा' क्यों दी है ? वह कल्पना करता है कि गौरे बच्चे, काले बच्चों के साथ कब खेलेंगे ? ईश्वर ने ऐसी भयंकर भूल क्यों की है ?

काले रंग के 'बच्चे' गौरे रंग के बच्चे के साथ खेलने की अभिलाषा उसकी अन्तरात्मा के आन्तरिक वेदनामय आन्तरिक संघर्ष को व्यक्त करती है। साथ ही साथ नश्लवाद के भयंकर अभिशाप को उजागर करती हैं।

कवि ने 1794 में एक समवेदना पूर्ण कविता द्वारा रंग-भेद से उसे वेदना का जो वर्णन किया है। वह कलम की क्रान्ति का एक प्रमुख उदाहरण ही कहा जायेगा।

कवि के दर्द की गाथाएँ, भावनाएँ उस काल की क्रुरता और पीड़ा को अपनी कविताओं में अपने ढंग से प्रस्तुत करता है।

विलियम ब्लैक (William Blake) वैसे, स्वयं में 'बाईबिल' का पुजारी था, 'ईसा' का परम अनुयायी तथा ईश्वर में यकीन करने वाला व्यक्ति था लेकिन धरती पर होने वाले अन्याय के प्रति संवेदनशील था।

एक छोटे बच्चे को स्वयं 'ईश्वर' शक्ति बचाती है, और उसे उसके घर पहुँचाती है, उस बच्चे को 'धर्माचार्यों' ने आग में इसलिये जला दिया था, क्योंकि वह धर्म के अस्तित्व में विश्वास नहीं करता था। इन इन्नोंसेन्स "Innonocence" "होली थैर्सडे" "Holy Thrusday" जिसे जिसे बड़े मार्मिक ढंग से वर्णन किया और प्रेरणा से समवेदनापूर्ण ढंग से बच्चों के साथ गुन गुनाया।

"Where" as in "songs of innocence" "A little boy lost" is rescued by God' baek rejoining to his home a corresponding. **"Song of experience"** tells of boy burned by priests for acknowledging that he has no religious faith. "In innocence" "Holy Thursday" in experience" ask —

"Is this a holy thing to see
In a rich, fruitful land ?
Babies reduced to misery,
Fed with cold and usurous hand ?
Is that trembling cry a song ?
Can it be son joy ?
And so many children poor ?
It is a land of poverty."

विलियम ब्लैक धार्मिक आतंक के विरुद्ध उठी, 'क्रान्ति' की भाषा और उसके विरुद्ध उठी, हिंसा से वह बहुत भी पीड़ित था, क्योंकि वह हिंसा को उसका उचित उपचार नहीं मानता था और वह मानता था कि **अहिंसा ही आतंक का निदान है। 'हिंसक क्रान्ति' शोषणकर्त्ता आतंकी का सिर तो काटती है, लेकिन उससे वह अधिक आतंकी हो जाती है। वह धर्मवाद के आतंकी तथा भेदभाव पूर्ण व्यवहार से दुखी और चिन्तित तो था, लेकिन भौतिकवादी वैज्ञानिक हिंसा से भी परेशान था।, उसका मत था, कला ही जीवन का वृक्ष है, और विज्ञान मृत्यु का वृक्ष है, ईसा ही प्रभु है।"**

Art is the tree of life, Science is the tree of death, God is far us "

लेकिन वह स्वयं भी बहुत सी अन्धविश्वासी धारणाओं से पीड़ित था। अनेकों, विचित्र अन्धविश्वासी घटनाओं को वह स्वयं सुनाता था जब वह 4 वर्ष का था तो कहता था कि "मैंने देखा, ईश्वर मुझे स्वयं मेरी खिड़की के माध्यम से देख रहा था।"

कुछ समय बाद "परियाँ" उसे स्वयं एक पेड़ पर विचरती दिखाई दी थीं। वह यहीं नहीं ठहरा, उसका कथन था कि उसने पैगम्बर 'एज़कील' (Ezekiel) को स्वयं मैदान में घुमते हुये देखा था। वह सदा ही विचित्र कल्पनाओं में डूबा रहता था। इस तरह 'हिंसक' अराजक वातावरण में उसका बचपन अजीब, बेचैन माहौल में गुजरा था। जीवन के अनेकों उतार-चढाव के मध्य धार्मिक मान्यताओं को स्वीकार करता हुआ, और कभी एक 'बागी' के रूप में साहित्य की सेवा करता रहा। अन्त में, 1827, में उसकी मृत्यु हो गई। उससे साहित्य जगत का एक युग समाप्त हो गया।

उसके बाद लेखनी ने भी, फ्राँस क्रान्ति के प्रभाव में अतीत के समस्त बन्धन तोड़ डाले थे, उस काल के बाद, 'विधि' बदलों, **माहौल पर हावी हो गये थे। इन्कलाब के साथ, उसका चलन**

बदल गया था। विधि पंड़ित अब सामन्तों राजाओं तथा धर्माचार्यों, के हितों की वकालत छोड़कर आम जनता के हितों की, तथा किसान और मजदूरों के हितों के कानूनी ग्रन्थ रचने लगे थे। धर्म का जहाँ गानवीयकारण होने लगा, वहीं प्रजातन्त्र, समानता तथा विधि का धर्म-निरपेक्ष शासन, राजतन्त्र के महलों से निकलकर आम आदमी की सरुक्षा के लिये चिन्तित हो गई थी, धर्म-निरपेक्ष 'कलम' साम्प्रदायक तनाव हटाने लगी थी। फ्राँस की क्रान्ति के बाद 'कलम' की शक्ति निरन्तर शहादत का इतिहास लिख रही थी।

फ्राँस की 'हिंसक' अराजकता ने जनतन्त्र को नहीं, नेपोलियन को जन्म दिया था

लेकिन उस काल में 'फ्राँस की राजनीति' की कोख से प्रजातंत्र नहीं जन्मा था, बल्कि 'नैपोलियन जैसा सैनिक जन्मा था, जिसने तलवार की नोंक से "राजमुकुट" को उठाकर अपने सर पर फिर से रख लिया था। 'नैपोलियन' ने एक नई विचारधारा को जन्म दिया था, जो एक सैन्यदल के रूप में थी। यह एक सम्मानित व्यक्तियों का दल कहा जाता था, लेकिन इसका अर्थ अतीत के चरित्र से भिन्न था, अब तक कोई भी व्यक्ति धनी वंश में जन्म लेने पर सम्मान का अधिकारी था, लेकिन नेपोलियन को ऐसे कुलीन वंश से कोई सहानुभूति नहीं थी, उसकी दृष्टि में कुलीन वहीं था जो गुणवान हो। यह सैन्यदल जिसे लीजन (Legion) ऑफ आनर कहके पुकारते थे, एक नवीन कुलीन तंत्र का जन्मदाता था, जिसकी योग्यता ही उसके बड़प्पन का कारण थी। नेपोलियन ने कहा था, "मैने फ्राँस के राजमुकुट को भूमि पर पड़ा हुआ पाया था, और अपनी तलवार से उसे उठा लिया।" नैपोलियन की तलवार और उसकी धार ने सैन्य-शक्ति के बल पर, उसे एक सीढ़ी से दूसरी सीढ़ी पर चढ़ने का साहस दिया, और उसने शक्ति के बल पर अपने आपको फ्राँस का सम्राट बना लिया। उस काल में जनतंत्र की परिभाषा नेपोलियन के चरणों पर लेटती नज़र आती थी। जनसंख्या का एक बहुत बड़ा हिस्सा और चाटुकार हमेशा उसकी प्रशंसा के पुल बांधते रहते थे। फ्राँस की राज्य-क्रांति के हिंसक होने की पराकाष्ठा ने फ्राँस को एक ऐसी जगह पर लाकर खड़ा कर दिया, जिसका परिणाम सैनिक तानाशाही के रूप में यूरोप में क्रूरता का इतिहास लिख रहा था।

इतिहास बोलता है, कि फ्राँस की रही-सही आर्थिक व्यवस्था को 1788 ई० के पड़े अकाल ने चौपट कर दिया था। भूख, दुर्भिक्ष से पीड़ित, और भूख प्यास से सताये हुये लाखों लोग, व्यवसायहीन होते हुये, पेरिस की सड़कों पर देखे जा सकते थे। भूख से तड़पती मानवता, वस्त्रहीन, नंगी-भूखी, गरीबों की भीड़ अराजकता की चपेट में लूट-मार कर रही थी। यह एक ऐसा युग था, एक ओर जहाँ दार्शनिक और भावुक लोग जनतंत्र, मानवीय परिपूर्णता तथा विश्वबन्धुत्व के ताने-बाने को बुनने में लगे थे, तो दूसरी ओर भूखी जनता फ्राँस की भाग्य विधाता बनने की चेष्टा कर रही थी। उस काल में फ्राँस का जनतंत्र अशिक्षित था, अराजकता और उत्पात करना उसकी आदत का अंग था। ऐसे में राजतंत्र की दुर्बलता, एक अभिशाप बनी थी, और वह अराजकता को दबाने के योग्य नहीं थी। मानवता का अस्तित्व धर्मतंत्र के प्रहारों से तथा भीड़तंत्र के अशोभनीय आचरण से खतरे में पड़ गया था।

जनतंत्र की असफलता और राजतंत्र की हत्या से जो परिणाम सामने आये थे, वह सैनिक तानाशाही के रूप में फ्राँस की जनता और यूरोप को झेलने पड़े थे। इस संकटमय परिस्थितियों में फ्राँस को कई तरह से जीना और मरना पड़ा।

'नेपोलियन' का सम्बन्ध फ्राँस की राज्य क्रान्ति से गहरा था। कहा यह जाता है, जैसा

कि वर्णन भी किया गया है, यूरोप का इतिहास एक, राष्ट्र, एक घटना, और एक पुरुष में मिलकर एक हो जाता है। फ्राँस की राज्य क्रान्ति नवीन युग के निर्माण की सूत्रधार तो कही जाती है, और वह व्यक्ति 'नेपोलियन' ही था, जिसमें समाकर इतिहास एक होकर उसमें ही समा जाता है।

बहुत पहले ही दार्शनिक 'अरस्तू' ने 'क्रान्ति' की परिभाषा करते हुये क्रान्ति को असामान्य और असाधारण की स्थिति का घोतक बताया था, लेकिन दार्शिनिक जीन बोदाँ' ने क्रान्ति का अर्थ सामान्य तथा साधारण तौर पर लगाया था। उसका कहना था कि राजा मानव की भाँति, जन्मचक्र के समान उत्पन्न होता है और विकासगति से पूर्ण परिपक्वता पर पहुँचता है, और समय चक्र की गति के साथ ही समाप्त हो जाता है। दार्शनिक बोदाँ के कथन के अनुसार जब प्रभुसत्ता अपना स्थान बदलती है, तो वह क्रान्ति होती है। जब राज्य अपनी 'व्यवस्था' में कुलीनतन्त्र, राजतन्त्र अथवा 'लोकतन्त्र' में से एक के रूप को छोड़कर दूसरे रूप को धारण कर लेगा, तो वोदाँ के अनुसार उसे 'क्रान्ति' कहा जायेगा। उसने यह भी कहाँ था, क्रान्ति दो प्रकार से होती है, एक तो अन्जान ढंग से, धीरे-धीरे शनैः-शनैः गति पाती है। यह क्रान्ति शान्ति पूर्ण ढ़ंग से होगी, तथा दूसरी असाधारण और हिंसात्मक ढंग से परिवर्तनों का कारण बनती है। 'अरस्तू' ने तो राजनैतिक तथा सामाजिक परिवर्तन के छोटे-छोटे संदर्भो को क्रान्ति की संज्ञा से सम्बोधित किया था। उसकी दृष्टि में 'खूनी' क्रान्ति, (सशस्त्र विद्रोह) अथवा रक्त बहाने से, जब परिवर्तन लाया जाता है तब उसे खूनी क्रान्ति कहते हैं।

मैकलवेन की दृष्टि में 'अरस्तू' की क्रान्ति, राजनीतिक अधिक थी तथा कानूनी दृष्टि में कम थी।

इतिहास के पन्नों पर फ्राँस की क्रान्ति का चरित्र 'जनतन्त्र' की पगडण्डियाँ बनाता हुआ चलता है, तथा साथ ही साथ उसे अराजकता के शस्त्र से उसे नष्ट करता हुआ आगे बढ़ाता है। फिर भी फ्राँस 'क्रान्ति' काल में रखी, जनतन्त्र और धर्म-निरपेक्षता की नींव के पत्थरों को कोई हटा नहीं पाया। 1769 ई० में, अजेसिया नामक स्थान में जन्मा 'नेपोलियन' अपनी सैनिक शक्ति के बल पर 'फ्राँस' का सैनिक सम्राट हो गया। 17 वर्ष के तोप-खाने के एक अफसर ने अपनी 'सैनिक प्रतिभा' का जौहर दिखाते हुये, फ्राँस के 'इतिहास' में, उस काल की प्रभुसत्ता के 'मुकुट' को तलवारों के साये में अपने सर पर केवल धारण ही नहीं किया, 'बल्कि' यूरोप का भाग्य चक्र का निर्माता बन गया, उसने अपनी अनश्वर सैनिक कीर्ति की ध्वजा को यूरोप की अधिकतर प्रभुसत्ताओं को रौंदते हुये, आगे और आगे बढ़ने का कार्य निरन्तर जारी रखा। देखा जाये तो फ्राँस की राज्य क्रान्ति भी काफी हद तक नेपोलियन की जीवनवृत्ति के साथ, उसमें ऐसी समा गई, कि इतिहासकारों को उसे अलग करके देखना ही एक कठिन कार्य हो गया है।

नेपोलियन की 'तलवार' इटली, को अपनी शक्ति का अहसास कराती हुई, 'टयूरिन' के सिंहद्वार पर अपना ध्वज, लहराती हुई, आस्ट्रिया को आँखे दिखाती हुई, वह युद्ध की भीषण ज्वाला की चिन्ता किये बिना, यूरोप में अपना दबदबा कायम करने में सफल रही। नेपोलियन का विजय ध्वज आंतक 'मचाता' वेन्जियम को, 'फ्राँस' में मिलाता हुआ, आयोनिया के द्वीप समूह पर अधिकार जमाता हुआ, आगे ही बढ़ता जा रहा था, उस काल में, फ्राँस में, नेपोलियन की विजय के गीत गाये जा रहे थे।

अब नेपोलियन की 'इच्छा' इंग्लैण्ड को धमकाने की थी, जो उस काल में अपने को सर्वश्रेष्ठ समझता था। उस काल में यूरोप में नई 'राजशक्तियाँ' बन रही थी तथा फ्राँस का

प्रभुत्व स्वीकार करती हुई, नेपोलियन की तलवार के साये में सर झुकाये खड़ी थी। अब नेपोलियन को भी एक 'नव जागृत शत्रु' से मुकाबला करना पड़ रहा था, जिससे यूरोप अब तक अंजान था। उस शक्ति का नाम था, नव जागृत, शक्तिशाली 'राष्ट्रीयता'! जो धर्मनिरपेक्षता तथा जनतंत्र की परिभाषा से पूर्णतया परिचित्र हो, यूरोप में "नवीन राजनैतिक संस्कृति की ओर बढ़ रही थी। वह नेपोलियन का मुकाबला एकता से कर रही थी। वास्तव में यूरोप में राष्ट्रीयता नेपोलियन के आतंकी प्रहारों से जाग रही थी।

आगे जाकर, युद्ध के बल पर नेपोलियन ने घ्नोहर पर कब्जा कर लिया। नेपोलियन आँधी की तरह आगे बढ़ रहा था। उसके सामने बड़ी राज्य-शक्तियाँ 'मिट्टी' की दीवार की तरह धराशाही हो रही थीं। 'युद्ध' की भीषण ज्वाला, मानव रक्त के दरियाँ बहा रही थीं, क्या वह आतंक नहीं था?

लेकिन नेपोलियन का सितारा बुलन्दी पर था। विजय श्री उसके भाग्य में लिखी थी। नेपोलियन की जीवन-वृत्ति बड़े साहस के साथ विश्व-विजय के स्वपन सजोये बैठी थी, इसलिये नेपोलियन समस्त धन और बल साधनों को एकत्र कर रहा था। समय को देखते हुये, वह इंग्लैण्ड से सन्धि करने का इच्छुक भी था। क्योंकि वह अपनी व्यापारिक शक्ति को बढ़ाना चाहता था, लेकिन नेपोलियन की युद्ध प्यास इतनी थी कि, उनमें आपसी वैंमनंस्य आगे बढ़ता जा रहा था। नेपोलियन के आक्रमण-शान्ति काल में भी उतने ही हो रहे थे, जितने युद्ध-काल में हो रहे थे। फ्राँस की यह दशा इंग्लैण्ड की रक्षक बन गई और इंग्लैण्ड ने माल्टा संधि करने से इन्कार कर दिया। क्योंकि भारत के समुद्री मार्ग पर माल्टा का विशेष महत्व था। इससे अमीस की संधि तोड़ दी गई और इंग्लैण्ड और फ्राँस में 1806 में युद्ध छिड़ गया। युद्ध आरम्भ होने पर नेपोलियन ने हनोवर पर कब्जा कर लिया। हनोवर जर्मन में इग्लैण्ड के राजा का मौरूसी राज्य था। नेपोलियन समुद्र में अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, लेकिन इंग्लैण्ड के समुद्री बेड़े की शक्ति के सामने नेपोलियन के स्वप्न चकना चूर हो गये थे।

उस काल में रूस और आस्ट्रेलिया में बड़े विग्रह हो रहे थे। जार इसलिये असन्तुष्ट था कि नेपोलियन ने सम्राट की उपाधि धारण कर ली थी। नेपोलियन की बढ़ती हुई शक्ति से इटली और आस्ट्रेलिया उससे ईर्ष्या रखते थे। नेपोलियन का मुकाबला करने के लिये रूस और आस्ट्रेलिया ने एक नये संघ का निर्माण किया। इस प्रकार फ्राँस के विरुद्ध यह (तृतीय) संघ बना था। इस सूचना को पाते ही नेपोलियन बेचैन हो गया और उसने अपनी ग्रेण्ड-आर्मी (Grand Army) जो उस समय 'ब्लूलेन' में थी, आस्ट्रेलिया के विरुद्ध लड़ने भेज दी थी। परिणामस्वरूप उल्म (Ulm.) नामक स्थान पर, आस्ट्रेलियन जनरल ने आत्मसर्मपण कर दिया। नेपोलियन आगे बढ़ता गया। 1305 में ऑस्टरलिटज (Austerlitz) नामक स्थान पर, आस्ट्रेलिया और रूस दोनों को, नेपोलियन ने बुरी तरह हरा दिया, उसके बाद उनका संघ टूटकर चकना-चूर हो गया।

नेपोलियन ने, रूस का राजनैतिक मानचित्र अपनी तलवार की पैनी धार से बदल दिया और अपने भाई लुई बोनापार्ट को, "हॉलैण्ड का राजा" बना दिया, तथा वहाँ से रिपब्लिक व्यवस्था को बदल दिया गया। उसने अपने एक और भाई 'जोजफ को नेपल्स' का राजा घोषित कर दिया। यह परिवर्तन कथा-कथित फ्राँस के विधान के अनुरूप हुये थे।

उस काल में, नेपोलियन विजय के घमण्ड में आकाश में उड़ रहा था। सैनिक आतंक फैलाना उसका एक 'धर्म' हो गया था। जर्मन में उसने जो नीति बनाई थी उसका अर्थ था, **"पर्वतों को नीचा दिखाना और घाटियों को ऊँचा उठाना।"**

वह जर्मन की छोटी-छोटी रियासतों को तो सम्मान दे रहा था, लेकिन बड़ी रियासतों को चुन-चुन कर रौंद रहा था। इस परिवर्तन से जर्मन की प्राचीन व्यवस्था में एक 'इन्कलाब' आ गया। राइन का संघ (Confederation of the Rhine) के नाम से उसने एक नई राजनैतिक यूनियन बनाई, जिसके अन्तर्गत प० जर्मन की समस्त रियासतें शामिल हुईं। इन रियासतों ने नेपोलियन को अपना संरक्षक स्वीकार कर लिया। पवित्र रोमन साम्राज्य को नष्ट कर दिया गया, जो दुर्बलता और अन्धकारमय होते हुये भी एक हज़ार सालों से स्थित रहा था।

नेपोलियन एक चतुर तानाशाह

'दर्शनशास्त्र', 'दार्शनिकों' के माध्यम से, क्रान्ति की सैद्धान्तिक कल्पना ही करता रहा, उसको यर्थाथ में परिवर्तित करने के लिये चिन्तन धाराओं की लहरों के महासागर में तैरता ही रहा, जबकि उसे कार्यान्वित करने के लिये कोई भी प्रयास नहीं हुआ। उस समय अकाल से 'पीड़ित', भूख और प्यास की मारी निर्धन जनता, बेकारी तथा कष्टों से पीड़ित भीड़ की भीड़ पैरिस में उमड़ पड़ी और क्रान्ति की तलवार लिये क्रान्ति के लिये दुश्मनों के सर काटने लगी। दार्शनिक क्रान्ति की परिभाषा ही लिखते रहे, जबकि गन्दी बस्तियों, और तंग गलियों में रहने वाले लोग अपने मैले-कुचैले कपड़ों में समाये, क्रान्ति के अगुआ बन गये। उनमें से कुछ, उदण्ड, अराजक तत्व भूखे भेड़ियों की तरह पैरिस में उत्पात मचाते रहे। उस काल में राजतन्त्र शक्तिहीन था। सेना के निरंकुश प्रदर्शन ने भीड़ को और भी क्रोधित कर दिया था। क्रोध की आग जलती हुई 'भीड़' बैस्टील पर आक्रमक हो गई थी, आगे के परिणाम सभी जानते हैं, जो फ्राँस की जनता को हिंसा की पराकाष्ठा की ओर ले गये। उन्हीं तमाम कारणों से विद्वानों और दार्शिनिकों का 'क्रान्तिकारी', जनतन्त्र के शासन का स्वप्न टूट कर चकना चूर हो गया। उसके बाद, नेपोलियन की 'तलवार' यूरोप में तहलका मचाती हुई युद्ध और हिंसा की आग में बदल गई।

जब-जब विद्वान वर्ग, दर्शनशास्त्र के पण्डित और नैतिक पुरुष तथा जनतन्त्र के 'चेतनाकार' कोरी कल्पनाओं, के स्वपन लोक की सैर करते हैं, और उस का नेतृत्व भीड़ और अराजक तत्वों पर छोड़ देते हैं, तब भूख से पीड़ित नंगे-भूखों की भीड़ का 'अराजक' होना स्वाभाविक हो जाता है। जब-जब 'राजा' ऊँचे-ऊँचे विलासिता से पूर्ण महलों में बैठा रहता है, और जनता रोटी माँगती है, और जनता की समस्याओं से अनजान उसकी 'रानी' रोटी न मिलने पर 'केक' खाने की सलाह देती है, तब-तब भूखा इन्सान मार-काट और लूट को अपना व्यवसाय बना लेता हैं। यह सब, उस काल में, फ्राँस में भी हुआ था। ऐसे समय में, अराजकता की आग शान्त करने के लिये किसी सैनिक शक्ति की तलाश होती है, और वह सैनिक यदि देखता है, कि नैतिकता कमज़ोर है, धर्मशोषक है, शासक विलासी है, तथा प्रशासनिक अधिकारी भ्रष्ट हैं और जनतन्त्र बुजदिल और आतंकियों के हाथ में है, तो फौजी तानाशाही के बढ़ने की समभावनाएँ और बढ़ जाती हैं। कोई भी 'चतुर' सेना नायक राजमुकुट को उठाकर, तलवार से, अपने मस्तिष्क पर रख लेता है। वह स्वयं जनतन्त्र का लम्बरदार भी बन जाता है। सैनिक तानाशाह, सबसे बड़ा जनतन्त्रवादी और 'प्रजा' के रक्षक हो जाने का नाटक भी करता है।

नेपोलियन उस समय की परिस्थितियों और राजनैतिक पर्यावरण को पूर्णतया समझता था। वह यह भी जानता था, उसे समय अनुसार क्या करना है। विजय पताका लहराते हुये वह उन चुनौतियों को, जो उसके सामने आने वाली थीं, पहले ही आसान कर लेता था। वह जानता था, कि शत्रु को, और उसकी राजनैतिक शक्ति को कहां से ललकारा जा सकता है। उसे आभास

था, कि मुख्य 'शाही' परिवार उसे चुनौती देने में असमर्थ है, जैकोबिन्स (Jacobins) भी उसे चुनौती नहीं दे सकते थे। परन्तु उसे भय था कि यदि उसे चुनौती देने का साहस कर सकते थे, तो वह उसके फौजी सेनानायक ही थे, जो उसकी बढ़ती हुई 'शक्ति' से ईष्या रखते थे, तथा जो उसकी फौजी शक्ति के सहभागी थे। मौरयू (Moreay), पुचेग्रे (Puchegry), वर्नाडोटे (Bernadotta), मूरेट (Murat), माओ मौरयू (Mao Morueau) आदि फौजी अधिकारियों ने, नेपोलियन को अनाधिकार तथा अवैध रूप से कब्जा करने वाला व्यक्ति घोषित किया था। और नेपोलियन को 'ब्लात' सत्ता की ओर बढ़ने वाला महत्वाकांक्षी करार दिया था। जनरल डैलमस (Dalmas) ने तो उसे एक घोषित अपराधी कहकर पुकारा था। तथा वह उसकी दृष्टि में 'स्वयं भू' मठाधीश बन बैठा था। नेपोलियन ने बड़ी चतुराई से तथा होशयारी से काऊंसिल (Council) के सम्मुख जो सैनिकवाद के विरुद्ध 4 मई 1802 को, अपना भाषण दिया था, वह विचित्र रूप से बहुत ही चतुराई पूर्ण भाषण था। जबकि वह स्वयं एक सैनिक तानाशाह बनने जा रहा था, और रिपब्लिक को समाप्त करने का स्वपन मन में संजोये था।

नेपोलियन ने कांऊसिल (Council) में कहा था

"युगों से समस्त देशों में, सैनिक शक्ति भी नागरिक योग्यता से पूर्ण होती है तथा धर्म गुरुओं के सामने फौजी शक्तियाँ सदा ही नतमस्तक हुई हैं। संगीनों की सत्ता भी हमेशा धर्म गुरुओं के सम्मुख झुकी है, और सैनिक शक्तियों का भी बुद्धिमान, और ज्ञानवान व्यक्तित्वों की आराधना में, नतमस्तक होना युगों से चली आ रही प्रथा रही है। अज्ञान दुष्ट व्यक्तियों द्वारा वर्षों से निरन्तर, फ्रॉंस राष्ट्र को कठोरता से तथा निर्दयता से रौंदा गया है। कोई भी सैनिक शक्ति जब तक शासन नहीं कर सकती जब तक कि वह राष्ट्र के जख्मों पर मरहम न लगा दे और उसकी शान्ति व्यवस्था सुरक्षित न कर दें।"

उसने आगे कहा "सभी बात का सार यही है, कि फौजी व्यक्ति का चरित्र शक्ति के अलावा और कोई कानून नहीं जानता, जबकि जन प्रतिनिधि साधारण अच्छाई को पूर्णतया समझता, तथा जनकल्याण की भावनाओं से परिचित भी रहता है। वह किसी भी लक्ष्य पर बुद्धि तथा आपसी 'बहस' के द्वारा पहुँचाता है, लेकिन कभी-कभी वह बहुत भ्रमित करने वाले नतीजे भी होते है।" नेपोलियन ने आगे कहा "मैं अपनी बात की समाप्ति पर यह कहने में संकोच नहीं करूंगा, कि अतः बुद्धिमत्ता और समझदारी जननायक में ही निरन्तर बनी रहती है, यह धारणा भी सदा सत्य नहीं होती। जन नायक भी गलतियाँ कर सकता है। फौजी सिपाही भी नागरिकों के ही पुत्र होते हैं, तथा सेना भी राष्ट्र की सेना ही होती है," वह उसी का अंग है, तथा उसी के लिये समर्पित होती है। वास्तव में, सम्पूर्ण राष्ट्र ही सच्ची और सर्वोत्तम देश भक्त सेना होती है।

"In all countries force yields to civil qualities the baynet is lowered before the "priest'----and before a man who become master by his knowledge ------Never will military government take hold in France unless the Nation has been brutalised by fifty years of ignorence........ If we abstract from the relationships, we perceive that the military man knows no other law than force, reduces every thing to force, see nothing else--- the civil man of the contrary, sees genral good. The character of the militry man, if to will every thing despotically, that of the civil man is to sumit every thing to discussion, rearson and the truth, there are of the deceptive, but meanwhile they bring light----- **I do not hesitate to conclude that eminence belongs incontestably to the civil------the soldiers are the children of the citizens and the true army is the nation.**

नेपोलियन का व्यक्तित्व और चरित्र

नेपोलियन का चरित्र जब हम देखते हैं, तब पाते हैं कि एक छोटे कद का व्यक्ति, जो केवल पांच फिट 6 इंच की ऊँचाई रखता था, जिसकी आँखें स्वयं में आदेश देती नज़र आती थीं, जो सुन्दर हरे चश्मे से ढकी, उसके मुख मण्डल की शोभा बढाती थीं। वैसे स्वयं में, नेपोलियन का व्यक्तित्व इतना प्रभावशाली था कि अच्छे-अच्छे उसके सामने नतमस्तक हो जाते थे। जनरल बेनडेम स्वीकार करते थे, कि "मैं न तो भगवान से डरता था और न ही शैतान से डरता था। लेकिन जैसे ही मै नेपोलियन के सम्मुख पहुँचता था तो मेरे पैर बच्चों की तरह लडखड़ा जाते थे।" उसका 'मुख' तेजवान था, तथा माथा चौड़ा विशाल था। उसके 'मुख' की मांसपेशियाँ तनी रहती थीं, जो उसकी भावनाओं को प्रकट करती थीं। उसके कन्धे उभरे हुये थे, तथा सीना चौड़ा था, जो उसके हृष्ट-पुष्ट होने का संकेत देता था। उसकी वेष-भूषा साधारण होते हुये भी 'स्वच्छ' उत्तम होती थी। वह 'बादशाह' होते हुये भी आभूषण नहीं पहनता था। हां! केवल चमकदार सिल्की जूतों में सोने के फीते अवश्य बाँधता था। वह देखने में एक राजनैतिक दार्शनिक सा भी प्रतीत होता था, जो पुराने जमाने के रोमन की तरह लगता था।

कहा जाता था कि वह गर्म पानी में स्नान करना बहुत पसंद करता था तथा दो घण्टे तक टब में गर्म पानी के अन्दर लेटा रहता था। इस स्नान से उसके 'मस्तिष्क' को तनाव से मुक्ति मिलती थी तथा थकावट दूर हो जाती थी और उसे शारीरिक दर्द से भी छुटकारा मिलता था।

वह सात बजे (प्रातः) अपने कार्यालय की मेज पर आ जाता था। उसकी आदत, निरन्तर ही काम करने की थी, यहाँ तक कि वह खाने की मेज पर भी काम को अंजाम देता रहता था, कभी-कभी उसकी रातें चिन्ता में डूबी हुई होती थीं। लेकिन वह किसी भी समय कहीं पर भी अपनी नींद पूरी कर लेता था। नेपोलियन बहुत चतुर प्राणी था। गोथे (Goethe) ने अनुभव किया कि नेपोलियन बहुत चतुर-बुद्धिमान व्यक्ति था। मैनवैल (Meneval) ने नेपोलियन के विषय में लिखा **"मैने अपने जीवन में जितने भी बुद्धिवान व्यक्ति देखे, उसमें नेपोलियन सर्वश्रेष्ठ बुद्धि का व्यक्ति था। वास्तव में वह बहुत संवेदनशील, प्राणी था, वह आस-पास के वातावरण को कदमों की आहट से पहचान लेता था, तथा अपनी नाक से परिस्थितियों की संवेदनशीलता को सूंघ लेता था। वह इतना चतुर था कि अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिये, अनुशासित ढंग से, अपने चिन्तन और कर्म को व्यावहारिकता में, ढालने में, माहिर था। नेपोलियन के लिये आज़ादी, उसकी तानाशाही के परिपालन में समा गई थी।"**

वह युद्ध की समस्त तैयारी स्वयं करता था, युद्ध की योजनाएँ भी स्वयं ही बनाता था, पहले वह उन समस्याओं तथा दिखने वाली बुराइयों का अध्ययन स्वयं करता था तथा दुर्घटनाओं की सम्भावनाओं का चिन्तन करके उनकी सफलता का रास्ता तलाशता था। नेपोलियन कहता था, **"जब कोई खबर अच्छी हो तो मुझे सोते हुये मत जगाओ। क्योंकि उसके जानने की कोई जल्दी नहीं होती। लेकिन यदि कोई खबर दुःखद है, तो उसे तुरन्त बताना आवश्यक है, क्योंकि उसका निदान तलाश करना उसके लिये जरुरी है।"**

उस कल्पना सागर के मध्य, नेपोलियन की 'आत्मा' एक युद्ध का मैदान थी। जिसके मध्य गहराई से जाकर, वह सूक्ष्म-निरीक्षण, बुद्धि की कसौटी पर रख कर करता था। उसकी कल्पना शक्ति बिजली की तरह से, बादलों के भीतर रहने के समान छिपी रहती थी, जिसे वह कठिन

लग्न से विकसित करके यथार्थ में बदलने की कोशिश करता था तथा वह बादलों को चीरता हुआ, उसे प्रकाश की ओर ले जाता था। युद्ध की चिन्ताओं में डूबे रहने के कारण, वह अन्धविश्वास के बन्धनों में भी बंधा पाया जाता था। कभी-कभी वह ग्रह-लक्षणों तथा जन्म कुण्डली में भी यकीन करता था **और शुभ महुर्त निकालकर बहुत से कार्यों को अन्जाम देता था।**

जब वह इजिप्ट (Egypt) गया तो अनेकों पुस्तकें अपने साथ ले गया, उसमें प्रसिद्ध रचना ला-नोयूवली हैलाईज (La-Nouvelle Heloise)' तथा 'गोथे' (Goethe) की रचना Werther आदि प्रमुख थीं। उसने स्वीकार किया था, कि 'वरथर' (Werther) ग्रन्थ को तो उसने सात बार पढ़ा था। उसी के अनुसार उसकी धारणा बन गई थी कि **"कल्पना ही दुनिया पर शासन करती है।"** "Imagination rules over the world." "नेपोलियन ने यह भी कल्पना की थी, कि वह भारत पर भी विजय प्राप्त करे" तथा सीरिया (Syria) की ओर संघर्ष करता हुआ वहाँ तक पहुँचे। युद्ध द्वारा, तथा हिंसा के शस्त्र द्वारा विजय प्राप्त करने की कल्पना ने, उसे रक्तपाती और हिंसक बना दिया था। वह घोर उन्मादी मृग तृष्णा में लिप्त रहकर एक बेरहम हत्यारा बन गया था, जिसके कारण, उसका अन्त भी बड़ा निराशाजनक रहा। **यह सत्य है! जहाँ वह वीर था, वही वह चतुर और बुद्धिमान तथा योग्य योद्धा भी था। वही, इतिहास उसे कठोर तथा मानवता का हत्यारा और निरंकुश 'कातिल' के रूप में भी पहचानता है।** वह देश भक्त होते हुये भी, शान्ति और मानवता का शत्रु था, जो दूसरों की आज़ादी को रोंदता हुआ, खून की नदियाँ बहाता हुआ, मद-मस्त अहंकारी की तरह विचलित रहता था। नेपोलियन की बेचैन अभिलाषाओं ने उसे सदा ही मजबूर किया कि वह निष्ठुर, निर्दय, और भयानक रक्तपात का इतिहास रचे। उसकी कठोर इच्छा शक्ति की एकता ने उसे अहंकारी स्वप्नदर्शी बना दिया था। नेपोलियन, स्वयं एक सुन्दर, हंसती खेलती हरियाली रंग-बिरंगी धरती की विविधता की मुस्काती मानवता को, मरघट और कब्रिस्तान में बदलने का जिम्मेदार कातिल अधिकारी बन गया था। कभी-कभी, उसका स्वभाव कठोर और क्रोध भरा होता था। वह जरा-जरा सी बात पर उतेजित हो जाता था। उसके खून की गर्मी उसके छोटे कद के आकार को विवेकहीन बना **देती** थी। जिससे, वह उत्तेजनाओं की आग में जलता रहता था। युद्ध और उसकी घटित हिंसा**, उसे** कभी भी चैन से बैठने नहीं देती थी। एक हिंसक सफलता उसे, दूसरी हिंसा को प्रेरित करती थी। नेपोलियन जब कठोर हिंसक हो गया, तब वह उन्मादी हिंसा का शिकार हो अपनी मृत्यु की ओर बढ़ने लगा।

वह अपनी हिंसक इच्छा शक्ति के अहंकार में, मृत्यु की ओर बढ़ता चला गया और जब तक कि वह थक कर चूर न हो गया, तब तक आतंकी तलवार लिये स्वार्थवश राज्य विस्तार के लिये दौड़ता ही रहा।

नेपोलियन, राजनीति, में इतना डूब गया था कि उसका कोई मित्र नहीं रह गया था, उसे दोस्ती निर्वाह करने का समय ही नहीं मिलता था। वह किसी से प्यार नहीं करता था और कोई भी उसका अपना नहीं रह गया था। उस के चारों ओर चापलूसों की भीड़ भी थी, मित्र भी थे और अनेकों प्रेम कहानियाँ भी उसके साथ जुड़ी थी, फिर भी वह हमेशा अकेला ही रहा।

नेपोलियन एक सेनापति के रूप में

नेपोलियन को, उसके शत्रु एक हत्यारे के रूप में देखते थे। उसे कठोर कातिल के रूप में भी सम्बोधित किया जाता था। उसकी सेना में 26,13,000, फ्रेन्च सैनिक थे, जिसमें से बहुत बड़ी संख्या में तो उसकी सेवा काल में ही मृत्यु को प्राप्त हो गये थे। प्रश्न उठता है, क्या वह

उनकी मृत्यु पर दुखी होता था? उत्तर मिलेगा' हां! वह उपरोक्त विषय में कभी-कभी रोने लगता था और दुख से भर जाता था। उसका मत था **"युद्ध का परिणाम ही समस्त सेना के भाग्य का निर्णय करता है।"**

उसका चरित्र, उसका व्यक्तित्व, अनुशासित मस्तिष्क तथा शारीरिक आकार एवं सैनिक दृष्टीकोण, उसके सैनिक स्कूल की शिक्षा द्वारा ढ़ाला गया था। उसे शिक्षित किया गया था, कि "अपने आपको, किसी भी वातावरण में, किसी भी स्थान में, किसी भी मौसम में चुस्त और मजबूत बनाये रहो और वह प्रत्येक तरह की परिस्थितियों में एक दम निर्णय लेने के योग्य रहे। वह शत्रुओं पर आक्रमण करने में तथा अपनी सुरक्षा करके बदला लेने में चतुर था और प्रवीण था। वह फ्राँस के लिये सोचता था तथा उसकी 'विजय' पर प्रसन्न होता था। वह आश्चर्यजनक तरीके से जनता को अपने भाषण से प्रभावित करने की योग्यता भी रखता था।

उसने कहा **"युद्ध करना निरन्तर अध्ययन का नाम है, जो सबसे तथा समय से समझौता करता हुआ चलता है।"** उसने विज्ञान का अध्ययन और प्रयोग अपनी सेना को आधुनिक और मजबूत बनाने के लिये किया। नेपोलियन ने इतिहास का भी अध्ययन किया, ग्रीक तथा रोमन सभ्यता और युद्ध कला को विशेष रूप से पढ़ा तथा उसे उस काल के यूरोप से परिचित कराया। नेपोलियन ने अलैक्जेण्डर (Alexander), हैनीबैल (Hannibal), सीजर (Caesar) तथा (फ्रैडिक दी ग्रेट) (Frederick the Great) आदि के पूर्ण व्यक्तित्व का अध्ययन किया। नेपोलियन कहता था, "महान योद्धाओं के चरित्र के और उनके कार्य के उन पहलूओं को नकार दो, जो उनकी असफलताओं का कारण बनी है।" वह लोगों के ह्रदय और 'मस्तिक' पर हावी रहना चाहता था। वह जीवन को एक 'जुआरी' की तरह हार-जीत के दांव पर लगाने का भी आदि था। वह अपनी सेना को इतना भावुक बना देता था कि वह ('फीदाई' होकर) आत्म बलिदानी होकर मर मिटते थे। उसका कथन था, **"सेना अपने लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये बलिदान होने के लिये ही बनी है" "लक्ष्य के लिये मरना ही सेना का धर्म है। उसके लिये उसको मरना ही पड़ेगा।"**

नेपोलियन के धर्म और राजनीति से रिस्ते

नेपोलियन के रिस्ते, धर्म और राजनीति के मध्य बड़े विचित्र थे। उसका मत था, दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में धार्मिक धारणाएँ और दर्शन 'असत्य' और साथ ही साथ विचित्र भी हो सकता है। **लेकिन राजनीति में धर्म एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। राजनेता का धार्मिक आडम्बर उसे अपनी मंजिल पर पँहुचने को मदद करता है।** फ्राँस पर शासन करते समय, नेपोलियन 'कैथोलिक' बन गया। इजीप्ट को जीतने के लिये नेपोलियन मुसलमान बन गया था। जब नेपोलियन मिस्र पहुँचा, तब वह पश्चिमी प्रभाव से प्रभावित मानसिकता तथा धर्मनिरपेक्षता का आवरण धारण किये हुये था। उसने मुसलिम धर्म के अनुरूप अपने को प्रदर्शित किया। नेपोलियन ने मिस्र में पहुँचते ही अरबी में "अल्लाह" के नाम पर सन्देश दिया और जो घोषणा की उसे महान कृपालु ईश्वर के नाम से सम्बोधित किया।" उसने कहाँ "तुम्हें बताया गया होगा कि मैं (नेपोलियन) तुम्हारे धर्म को नष्ट करने आया हूँ" यह सफेद झूठ है। उसने बुराई करने वालो से कहा "मैं उन्हें अत्याचारियों से बचाने आया हूँ मैं ममलूकों से अधिक अल्लाह-ताला की पूजा करता हूँ और रसूल और कुरानशरीफ का आदर करता हूँ। उसने अमीरों से कहा "फ्राँसीसी भी सच्चे मुस्लमान हैं।" इसका सबूत यह है, कि उन्होंने रोम पर कब्जा करके पोप की रियासत को खत्म कर दिया और माल्टा पर चढ़ाई करके ईसाई नाईटों का खात्मा कर दिया, क्योंकि वह मुस्लमानों को सताते थे। हर समय, फ्राँसीसी मुसलमानों के सच्चे वफादार दोस्त रहे है।"

नेपोलियन ने न्यायप्रियता को बढ़ावा देने के लिये 'फ्राँस' न्याय व्यवस्था के प्रचलन को मिस्र में आरम्भ किया। मुकदमें की सुनवाई के लिये उसने मुकदमें के गवाह तथा सबूत आदि के आधार पर मिस्र की न्याय व्यवस्था को मजबूत किया। अब तक दोषी को तुरन्त ही कत्ल कर दिया जाता था, लेकिन नेपोलियन ने यह दिखाने की कोशिश की थी, कि वह न्याय की दृष्टि से मुस्लमान और ईसाइयों में कोई भेद नहीं करता, उदाहरण के लिये, जब जनरल 'क्लेवर' की हत्या कर दी गई, तो अभियुक्तों पर लम्बा मुकदमा चलाया गया।

उस काल में इस्लामिक जगत में, नेपोलियन ने, धर्मनिरपेक्षता की घोषणा कर वहाँ, एक नई संस्कृति का परिचय दिया। राज्य और धर्म की पृथकता, धार्मिक सिद्धान्तों के त्याग और बुद्धिवाद की लहर नेपोलियन के माध्यम से इस्लामिक जगत में भी सुनी जाने लगी। यही नहीं नेपोलियन के माध्यम से यूरोप जगत की, स्वतन्त्रता तथा समानता का जो परिचय मिश्र में, हो रहा था, उसने इस्लामिक शासकों को चिन्ता में डाल दिया था।

नेपोलियन के प्रभात के विषय में अब्दुल रहमान, अलजबर्ती ने लिखा कि "नेपोलियन के द्वारा बनाये वैज्ञानिक दृष्टीकोण, और अनुसंधानों से, एक नई चेतना जागृत हुई, जिससे नवीन पुस्तकों तथा वैज्ञानिक अनुसंधानों का प्रचलन मिश्र में हुआ। जब एक समय में, फ्राँससियों ने हवा में गुब्बारा छोड़ा तो अपार भीड़ इकट्ठा हो गई और लोगों को आश्चर्य और कोतूहल भी हुआ।

यूरोप की संस्कृति जब मिश्र में प्रवेश कर गई, तब उससे नई इस्लामिक दुनिया पर भी प्रभाव साफ दिखाई पड़ता था। उस काल के सबसे बड़े मिश्र के धर्म गुरु शेख अल-बकरी की-लड़की फ्राँसीसी भेष भूषा धारण किये, फ्राँसीसी लोगों से मिलती-जुलती देखी जा सकती थी, बाद में तुर्की शासन स्थापित होने पर, उसे मृत्यु दण्ड दिया गया था। लेकिन पश्चिमी नवीन हवा के झोंके नई पीढ़ी को प्रभावित करते मिश्र में फैल रहे थे।

नेपोलियन को धर्म को समझने और उस तक पहुचने में एक लम्बा समय लगा, लेकिन उसने समयानुकूल उसका बेहद सदउपयोग किया। इससे यह तो सिद्ध होता ही है कि नेपोलियन को इस्लामिक तथा ईसाई धर्म का अच्छा ज्ञान था, तथा वह अपने राजनैतिक हित के लिये उसे प्रयोग करने की अनोखी क्षमता भी रखता था।

नेपोनियन की धर्मनिरपेक्षता तथा धार्मिक मान्यताएँ अनेकों बार रूप बदल कर प्रकट होती रही हैं।

नेपोलियन ने अपनी मृत्यु से लगभग 6 सप्ताह पूर्व कहा था "मै बहुत ही खुश हूँ" कि मेरा कोई धर्मबन्धन नहीं हैं, यह भावना न मुझे (नेपोलियन को) बहुत शान्ति प्रदान करती है, क्योंकि मुझे कोई भी काल्पनिक भय नहीं है, न ही कोई काल्पनिक आंतक मुझे घेरे है।"

लेकिन जैसे-जैसे मृत्यु उसके नजदीक आती जाती थी वह सत्य को कबूल करने को विवश हो जाता था। उसने स्वयं अन्तिम समय में स्वीकार किया कि 'राष्ट्र-भक्ति' एवं 'देश-भक्ति' के लिये धर्म एक आवश्यक तत्व है।

नेपोलियन ने कबूल किया कि **"धर्म हमारे भाग्य की रचना करता है, देश की माटी, उसके रीति-रिवाज तथा कानून, मानव प्राणी को राष्ट्र के पवित्र बन्धनों में अनुबन्धित करती है, जिससे हम अपनी जन्म देने वाली भूमि को, अपनी-पितृ भूमि कहते हैं। अपनी**

पितृ भूमि के उपकारों और स्नेह को हम कभी नहीं भुला सकते हैं।" नेपोलियन को बड़ी पीड़ा और दर्द हुआ जब उससे कुछ पुराने क्रान्तिकारियों ने कहा "कि वह फ्राँसीसी कहलाने के 'हक' से अपने को अलग करले, और अपने आपको जर्मन या अंग्रेज कहलाने लगे।" नेपोलियन ने इसका सख्त विरोध किया। इसलिये नेपोलियन ने अपनी वसीयत में, फ्राँस के पादरी द्वारा ही अपने अन्तिम संस्कारों को प्राथमिकता देने का आग्रह किया तथा 'फ्राँस' की धरती में, तथा धर्म में समा जाने की इच्छा ज़ाहिर की थी।

मृत्यु के नजदीक आने पर, नेपोलियन अपने बचपन की धार्मिक मान्यताओं तथा खिलौने के साथ खेलते सपनों में समाता चला जा रहा था। बचपन की जिन्दगी और उसका अतीत तथा खेल-खिलोनें में डूबी उसकी स्मृति में, उसका बचपन उसका पीछा कर रहा था। उसने कल्पना की, कि मृत्यु के बाद, वह स्वर्ग में अपने स्वागत के लिये कुछ लोगों को उपस्थित पायेगा जिसमें "क्लैबर (Kleber), लैन्स (Lannes), डैयाहस (Desaix), कौनडे (Conde), कैसर (Calsar), और हैनीबैल (Hannibal) आदि मुख्य हैं।

उसके जीवन में धर्मनिरपेक्षता, कभी-कभी अपने धर्म की आड़ में, युद्ध के मैदान में, अपने सिपाहियों को प्रेरित करने के काम आती थी। कभी वह शान्ति की तलाश में स्वर्ग की कल्पना करती रहती थी, तो कभी भौतिकवाद तथा नास्तिकता की परतों में समा जाती थी। कभी वह धर्मनिरपेक्ष होकर दूसरे धर्मों की व्याख्या कर विजेता की हैसियत से, उसे स्थापित करती थी। और अपनी मातृभूमि तथा पितृभूमि की अन्धी देशभक्ति के लिये प्रेरित करती थी। ऐसा भी समय आता था। जब वह स्वयं अपने धर्म की समाधि में उसे स्वयं में लीन कर लेता था। उस काल में राजनीति क्षेत्र में धर्मनिरपेक्षता, राजनीति के हाथों में, एक कठपुतली की तरह साम्राज्यवाद की नींव पुख्ता करने का काम करती रही थी। लेकिन उस काल में वह धर्म के नाम पर उठी तलवारों से करोड़ों लोगों की हत्या करने की साजिश भी करती रही थी।

नेपोलियन ने अपने जीवन काल के इतिहास को निम्नलिखित शब्दों में वर्णन किया है –

I closed the gulf of anarchy and cleared the chaos. I purified the revolution, degnified nations and established kings. I excited every kind of emulation, rewarded every kind of merit, and extended the limits of glory. The dictatorship was absolutly necessary. Will it be said that I restrained liberty ? It can be proved that licentiousness, anarehy, and the greatest, irregularities still hunted the threshold of freedom. Shall I be accused, having been too fond of war ? It can be shown that I always received the first attack. Will it be said that I aimed at universal monarehy ?----- Our enemies themselves led me step by step to this determination. Lastly, shall I be blamed for my ambition ? This passion I must doubtless be allowed to have possessed, and that is no small degree, but at the same time, my ambition was of highest and noblest kind that ever perhaps existed—that of established and conserating the empire of reason, and full exercise and complete enjoyment of all human faculties. As there the historians will provably feel compelled to regret that such ambition should not have been fulltilled and greatified......... This is my whole history in a few words".

नेपोलियन ने स्वयं ही साहस करके कहा था कि उसने अराजकता को समाप्त कर, क्रान्ति को पवित्र किया था, तथा राष्ट्र के सम्मान को उच्चतम श्रेणी में स्थापित किया था। प्रश्न उठता है, क्या उसने स्वतन्त्रता का हनन किया था? क्या उसने युद्ध की भीषणता को बढ़ावा देकर हिसंक कार्य किया था? क्या उसने अन्तराष्ट्रीय राजतन्त्र को स्थापित करने की

योजना बनाई थी ? उसी के साथ उस पर आरोप था, कि वह बहुत ही महत्वकांक्षी प्राणी था। यह अपराध वह स्वयं स्वीकार करते हुये, कहता है, मेरी महत्वकांक्षाएँ उच्चतम श्रेणी की थीं, तथा पवित्रता को ग्रहण किये थीं तथा वह मानवता को सुख पहुँचाने के लिये, ऐतिहासिक कदम थे। देखा जाये! तो यही उसके विषम में इतिहास बोलता है।

नैपोलियन को इतिहास अपने पर पृष्ठों पर कितना ही 'वीर' स्थापित करे, लेकिन जब उसकी 'आत्मा' का मूल्यांकन किया जायेगा, तो वह 'निर्दयी' व्यक्ति के रूप में भी प्रकट होगा। उसके आतंक और भय से रूस का सुन्दर 'मास्को' (Moscow) शहर जल कर नष्ट हो गया था। मास्को उस काल में योरोप के सब से सुन्दर शहरों में एक था। यह एक पवित्र शहर था जिसमें 340 से अधिक चर्च थे, पत्थरों से बने इन 'चर्चो' में, ईश्वर का सन्देश दिया जाता था। सुन्दर 'महल', सुन्दर बाज़ार तथा सुन्दर मास्को नगरी को इस लिये 'मास्को' प्रशासन ने जला दिया था, क्योंकि मास्कों तथा रूस प्रशासन नहीं चाहता था, कि नैपोलियन जैसा महत्वकांक्षी, आतंकी तानाशाह उनके पवित्र और सुन्दर शहर को स्पर्श भी न कर सके। स्वयं नेपोलियन ने उस सुन्दर शहर की विशाल सुन्दरता को जलते हुये देखकर ग़मगीन तथा दुखी हुआ था। नेपोलियन ने स्वयं 20 सिम्बर 1812 अलेक्ज़डर (Alexander) को दुख के साथ लिखा।

"The proud and beautiful city of Moscow is no more. Rsotopchin has had it burned. Four hundred incendiaries were arrested in the very act; they all declared that they set fire to the place by order of the Governor, the Director of the Police. They have been shot. There houses out of every four have been burned down... Such a deed is as useless as it is atrocious. Was it intended to deprive us of provisions ? These were in cellars that the fire could not reach. Besides, what a trfling object for which to destroy the work of centuries, and one of the most lovely cities in the world! I cannot possibly believe that, with your principles, your feelings, and your ideas of what is right, you can have authorized excesses so unworthy of a just sovereign and a great nation.

I made war on your Majesty without any hostile feelings. A single letter from you, before or after the last battle, would have stopped any advance, and I would willingly have surrendered the advantage of occupying Moscow. If your Majesty still retains some part of your old feelings for me, you will take this letter in good part. In any case you cannot but agree that I was right in reporting what is happening in Moscow."

अलेक्ज़डर ने स्वयं इस पत्र का उत्तर नहीं दिया, लेकिन उसके एक अधिकारी ने जो दुखद उत्तर इस पत्र का दिया, वह बड़ा ही पीड़ा दायक है, उसने लिखा "कौन अपने घर और शहर को जलाता है ?" लेकिन नेपोलियन की सेनाओं की बर्बरता की कहानियाँ, सम्पूर्ण योरोप को याद थी, इसलिये मास्कोवासी अपने सुन्दर शहर 'मास्को' में, नेपोलियन की सेनाओं को, आराम से आन्नद करने के लिये ठहरने देना नहीं चाहते थे।

नेपोलियन ने, मानव अधिकारों का हनन किया था, केवल प्रेस की आज़ादी का ही हनन नहीं किया था, उनको अपनी सफलता के गीत गाने के लिये भी मजबूर किया था। नेपोलियन ने समस्त योरोप को एक क़त्लगाह, में बदल दिया था तथा जनतन्त्र और मानवता की हत्या करके, उसे आतंक के साये में जीने को मजबूर किया था। ऐसे में, वह फ्राँस के इतिहास का एक वीर पुरुष हो सकता है लेकिन स्वयं फ्राँस की धरती उसे अहंकारी आतंकी, तानाशाह भी स्वीकार करती है।

राष्ट्रीयता तथा धर्मनिरपेक्षता के संगठित रूप का उदय

इटली और जर्मन की प्रभुसत्ता, आत्म-सम्मान तथा आत्म शक्ति, उस काल में नेपोलियन की प्रभुसत्ता के सामने सर झुकाएँ खड़ी थी। उन दोनों राष्ट्रों का आत्म सम्मान सम्पूर्ण राष्ट्र को धिक्कार रहा था। क्योंकि 'यूरोप' में कोई भी अन्य राष्ट्र उनकी तरह छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था, तथा विक्षिप्त (Distracted) भी नहीं था। लेकिन उन्होंने जाने अनजाने में नेपोलियन से एक गुण सीख लिया था कि जब कोई 'राष्ट्र' छिन्न-भिन्न प्रवृत्ति में विभाजित हो जाता है तथा निहित स्वार्थ में डूबा रहता है, तो वह मृत राष्ट्र होता है। उसके आर्थिक और राजनैतिक तन को विदेशी नोच-नोचकर चील और कौओं की तरह खाते रहते हैं। 'नेपोलियन' की तलवार ने जर्मन और इटली में हजारों बेगुनाह लोगों का कत्ल किया था। वहाँ की जनता को आतंकित कर जर्मन और इटली की स्वतन्त्रता का सरेआम अपहरण किया था। लेकिन वहाँ नेपोलियन की तलवार की मार से पीड़ित 'आहों' से जो 'राष्ट्रयता' जन्मी थी, वह एक संगठित 'पुकार' बनकर दोनों देशों के जन-जन को जगा रही थी, इसलिये नेपोलियन का शासन 'जाने-अनजाने' में इटली और जर्मन के लिये वरदान साबित हुआ, जो एक शक्तिशाली केन्द्रियकरण की राष्ट्रीय भावना से लबालब भरकर, मजबूत राष्ट्रीयता में परिवर्तित हो गया। अब जर्मन और इटली राष्ट्र का चरित्र ही बदल गया था। अब 'राष्ट्रीयता' एक नये धर्म और ईमान की प्रतीक बन कर अन्य राष्ट्रों को जगा रही थी। अब राष्ट्रीयता स्वयं एक शक्तिशाली "राष्ट्र" धर्म बनकर लोगों को प्रेरित, कर रही थी कि 'जर्मन' और 'इटली' स्वयं में सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र हैं। जिसके लिए वह सर्वत्र बलिदान कर सकते थे। यही भावना आगे जाकर 'जर्मन' को श्रेष्ठ शक्तिशाली राष्ट्र में परिवर्तित कर देती है।

फ्राँस और इंग्लैण्ड के धार्मिक, तथा राजनैतिक शोषण ने उन्हें इतना तबाह कर दिया था कि आगे जाकर रोज़-रोज़ मरने की बजाय, वह एक साथ मिलकर जीना और मरना चाहते थे। अब वह जान गये थे कि 'जर्मन' धर्मतन्त्र तथा राजतन्त्र से छुटकारा पाकर ही 'सबल' होकर, एक राष्ट्र के रूप में, एक साथ मरेगा और एक साथ जियेगा।

'नेपोलियन' की तलवार 1803 ई० में, समस्त जर्मन की धार्मिक रियासतों को नष्ट करने के लिये आज्ञा चाहती थी। इसलिये उसने 1803 में 'इम्पीरियल डाएट' (Imperial Diet) पर दबाव डाल कर धार्मिक रियासतों को समाप्त करने की आज्ञा प्राप्त करली और उसके बाद उनका राज्य (धर्मिक रियासतों का राज्य) बाँट दिया गया। उसी के साथ-साथ उसने 51 स्वतन्त्र नगरों में से 44 नगर शासन नष्ट कर दिये। नेपोलियन ने जर्मन के एकीकरण को जीवन के अन्तिम दौर तक बल दिया।

दूसरी ओर नैपोलियन के भयानक इरादों को अन्य यूरोप के 'राष्ट्र' भी पूर्णतय समझ गये थे।

वेसिल की संधि के बाद, 'प्रशिया' लगभग दस साल तक लड़ाई से अलग रहा। लेकिन जर्मन की हालत देखकर, तथा प्रशिया के साथ दुर्वव्यहार उसे मजबूर कर रहा था कि वह अपनी सुरक्षा के लिए आगे बढ़कर व्यवस्था करे। इसलिये जर्मन से फ्राँसीसियों को बाहर निकालने के लिये, रूस के साथ उसे सन्धि के गठबन्धनों में बँधना पड़ा। लेकिन भाग्य नेपोलियन के साथ था। 1806 ई० में जेना (Jena) में और 'आर्सटेण्ट' (Auerstant) की लड़ाई में प्रेशिया की सेनाएँ हार गईं। परिणामस्वरूप नेपोलियन विजय पताका लहराता हुआ बर्लिन में पहुँच गया।

1807 से लेकर 1815 तक नैपोलियन अपनी शक्ति का प्रर्दशन शान से करता हुआ, आगे-ही-आगे बढ़ता चला जा रहा था। **वह भूल जाता था कि 'युद्ध' के लिये युद्ध करना मानवता की हत्या का दोषी होता है। वह यह भी भूल जाता था कि 'क्रूरता' का इतिहास लम्बा नहीं होता है, वह यह भी याद नहीं रखता था, कि 'शक्ति चक्र' परिवर्तन काल से गुजरता है। किसी भी आतंकी तलवार पर कभी न कभी जंग लगना स्वभाविक है।** समुद्री शक्ति के बल पर इंग्लैण्ड नेपोलियन के बस में नहीं आ रहा था। नेपोलियन ने इंग्लैण्ड की व्यापारिक शक्ति को नष्ट करने के लिये, ब्रिटिश-द्वीप-समूह को विरोधी घोषित कर दिया और उससे समस्त व्यापारिक सम्बन्ध तोड़ लिये। अब समुद्र में एक-दूसरे के माल को लूटने की प्रथा जारी हो गई। धरती का आतंक झूठी-लालची महत्वकांक्षा के अहम् के बल पर, समुद्र में भी उत्पात मचाने लगा। उससे समुद्र की मर्यादा भी छिन्न-भिन्न हो गई, लेकिन नेपोलियन की तलवार के सामने इंग्लैण्ड की समुद्री शक्ति ने झुकना स्वीकार नहीं किया और इंग्लैण्ड साहस से लोहा लेता रहा। इंग्लैण्ड को नष्ट करने के लिये जो फन्दा नेपोलियन ने बनाया था, वह उसी की गर्दन में आकर फंस गया और अन्त में वह फन्दा उसके अन्त का कारण भी बना। उसका समस्त खजाना युद्ध की आग में जल कर नष्ट हो गया, सेना टूटती चली गई, और उसकी सैनिक शक्ति बर्बाद हो गई।

नेपोलियन का रूस पर आक्रमण एक तरह से उसकी बर्बादी का कारण बन गया। जैसा कि लिखा भी जा चुका है कि रूसी नेपोलियन की सेना के आक्रमण से पीछे हटते चले जाते थे, लेकिन वह छोड़े हुये स्थान को पूर्णतय नष्ट करते चले जाते थे। नेपोलियन अपनी अपार दुर्जय शक्ति के सहारे रूसियों को पीछे धकेलता रहा। नैपोलियन ने रूसियों को, वोर्डिना (Bordina) नामक स्थान पर हरा दिया। उसने मास्को पर 1812 में अधिकार भी कर लिया। परिणामस्वरूप रूसी अपनी पुरानी राजधानी छोड़कर भाग गये। परन्तु वह मास्को को आग के हवाले कर गये। जिससे विवश होकर नेपोलियन को पीछे हटना पड़ा। उसकी सेना भूख और प्यास से तथा रूस की छोटी-छोटी टुकड़ियों द्वारा आक्रमण से बेहाल हो गई, अन्त में उसकी अधिकतर सेना विजय के बाद भी नष्ट हो गई। रूस पर आक्रमणी लड़ाई ने, नेपोलियन को समाप्त सा कर दिया।

अब नेपोलियन को एक 'नव जागृत शत्रु' से मुकाबला करना पड़ रहा था। उस महान् शक्ति का नाम था **नव जागृत, शक्तिशाली "राष्ट्रीयता" तथा जो एक धर्म-निरपेक्ष शक्ति के रूप में खड़ी हो गई थी, साथ ही साथ वह नवीन राजनैतिक संस्कृति की ओर बढ़**

रही थी। वह नेपोलियन का मुकाबला एकता से कर रही थी।

यूरोप की इस नव जाग्रत शक्ति का नाम "राष्ट्रीयता" था, जो नेपोलियन की क्रुरता का उत्तर दे रही थी। देखा जाये तो नेपोलियन के पतन का कारण उसकी अतृप्त महत्वाकांशा ही थी। नेपोलियन एक विश्व-व्यापी साम्राज्य की स्थापना करने की प्रबल इच्छा का शिकार होकर लोगों, के सर-काटता फिर रहा था। एक तरह से वह मानसिक विवेक खो चुका था। युद्ध तथा विजय के द्वारा निर्मित राज्यों की जनता उससे घृणा करने लगी थी। क्योंकि उसका शासन युद्ध की महत्वाकांक्षा में आतंकी हो गया था, इसलिये नेपोलियन के प्रति किसी भी राष्ट्र का आदर नहीं था। बल्कि यूरोप के अन्य राष्ट्रों के मन में, उसके प्रति घृणा पैदा हो गई थी। शक्ति और आतंक के बल पर बना उसका शासन और साम्राज्य, एक ऊँची मीनार के समान, एक झटके में टूटकर मिट्टी में मिल गया। नेपोलियन माना की वीर था, पर वह एक आतंकी, निर्दयी, शासक के रूप में भी इतिहास के पन्नों पर अंकित रहेगा। वह स्वतन्त्रता का विरोधी था, फिर भी फ्राँस का इतिहास उसे एक 'वीर' पुरुष और सफल योद्दा के रूप में स्वीकार करता है। चाहे उसने अपने स्वार्थ के लिये, कितना ही रक्त मानवता को नष्ट करने में बहाया हो, और कितने ही 'सर' कलम किये हों। इतिहास ऐसा बोलता है, जो जैसी हिंसा करता है, उसे स्वयं को उसी तरह की हिंसा का सामना करना पड़ता है "History is only a repetition of the same facts applied to diverse men and Time" नेपोलियन जब युद्ध में सभी मोर्चो पर परास्त हो रहा था तथा उसका मनोबल टूट रहा था तथा उसकी हिंसा पूर्ण कार्य उसके सामने आ रहे थे। उसे जनता सम्पूर्ण मानवता को नष्ट करने वाला धर्म हो नष्ट करने वाला, स्वतन्त्रता तथा मानवता का कातिल मान रही थी, योरोप के क्या दुनिया के अधिकत्तर देशों को उसने उजाड़ा था तथा वह अनेको माताओं के सपूतों को कत्ल करने का अपराधी था। उसने घरों में आग लगाई थी तथा उस काल का मानवता का सबसे बड़ा अपराधी था।

आतंक की जड़े

पाश्चात्य दुनिया के इतिहास के पन्नों पर अंकित धार्मिक तथा राजनैतिक आंतक की कहानियाँ रक्त-रंजित खंजरों से ही लिखी गई हैं। जिन्होंने वर्षों तक निरन्तर 'संकीर्ण' धार्मिक 'उन्माद' में, हंसती खेलती दुनिया को मरघटों में बदलने का काम किया था।

476 ई० में, पश्चिमी रोमन साम्राज्य का अन्त नर्मन टूयोटोनिक युद्ध में विजय के साथ हुआ था। देखा जाये तो 500 ई० से लेकर 1500 ई० तक, ईसाई धर्म के आपसी झगड़ों से, पश्चिमी-दुनिया सिसकियाँ भरती रही। धर्माधिकारी तथा धार्मिक संस्थाएँ, लौकिक शासकों और उनके राज्यों पर, अपनी श्रेष्ठा का दावा दिखाने पर, हुये संघर्षों का वर्णन काफी हद तक किया जा चुका है। धर्मश्रेष्ठा के नाम पर जितने युद्ध हुये, उनमें 'आतंक' ही आतंक छाया हुआ था। यह समझना होगा, कि यह केवल धार्मिक युद्ध नहीं थे, जातिय युद्ध भी थे। मध्य युग से पूर्व रोमन साम्राज्य पर जो आकमण टयूटनों ने किये थे, उनमें टयूटनों के कई जाति के लोग थे। उनमें मुख्यतम् फ्राँस, लोम्बबाई, ऐंगल, विसीगॉथ आदि प्रमुख हैं।

पश्चिमी रोमन राज्यों पर इन लोगों के आक्रमण इतने भयंकर रूप से होते थे कि इनकी बर्बरता ने रोमन सभ्यता के समस्त चिन्ह केवल नष्ट ही नहीं किये, बल्कि उन्हें अग्नि के हवाले करके नष्ट भी कर दिया गया। आज जिन्हें फ्राँस तथा इंग्लैंड कहा जाता है वह क्रमक फ्राँक

तथा ऐंगल जाति के लोगों के निवास करने से ही नामांकित किये गये थे। इन्होंने रोमन प्रदेशों पर केवल कब्जें ही नहीं किये बल्कि उनकी सभ्यता और चिन्तन को प्रभावित भी किया। यद्यपि टूयटनों की रोमन सभ्यता, अपने सांसकृतिक अवशेष इतिहास की अविरल धारा में विसर्जित होती गई, जो आगे भी वर्षों तक इतिहास में बहती रही।

उस काल में, यह लोग कबीले के रूप में आक्रमण करते थे, प्रथम यह कबीले वहाँ की सभ्यता को नष्ट करके, अधिकतर जनता का शोषण करते थे और जनता पर तरह-तरह के अत्याचार करते थे।

निष्कर्ष यह निकलता है, प्रथम टूयटनों ने 'रोमन' साम्राज्य को ध्वस्त किया फिर अपनी धारणाओं और विचारों को थोपने का कार्य भी किया। विजेता एक साथ कई तरह से पराजित जनता पर आक्रमण करते थे, पहले अपने शासन-तन्त्र की जंजीरों में 'पराजित' जनता को बन्धक बनाया करतें थे, फिर आंतक के माध्यम से उसका आर्थिक शोषण करते थे, तथा अपनी सेवा के लिए, लोगों को गुलाम बनाते थे।

प्राचीन युग में नगर राज्य के माध्यम से शासन करते थे लेकिन इन्होंने ही सामंतवाद की परम्परा से शासन करने की व्यवस्था कायम की थी।

यह व्यवस्था रोमन शासन व्यवस्था को समाप्त कर, एक विशेष स्वामी-भक्त गुलामों के समुदाय को 'सामन्ती' व्यवस्था में बदल रही थी। साथ-ही-साथ सामन्तों के हाथ में राजनैतिक व्यवस्था देकर किसानों को गुलामी की तरह जीवन व्यतीत करने के लिये मजबूर कर रही थी। **विद्वान दार्शनिक लेखक 'सेवाईन' ने साफ तौर पर लिखा "उस काल की स्वामी भक्ति की भावना, राजनीतिक-पराधीनता को स्पष्ट रूप से प्रकट करती है।" 'प्रो० गोटल' ने साफ तौर पर कहा "सामन्ती व्यवस्था में राजनीति प्रगति की समाजिक सम्भावनाएँ अवरूद्ध हो गईं थीं, तथा उनके विकास का कोई माहौल नहीं था।"**

यही नहीं था, कि मध्य युग की सामन्ती व्यवस्था स्वामी (Lord) के प्रति अपार श्रद्धा पूर्ण थी तथा वह धर्म की चासनी में परिपूर्ण हो,........ उसके इशारों पर बलिदान हो जाने को अपना धर्म समझती थी। यह अन्धविश्वासी व्यवस्था, युद्ध धर्म निष्ठा के साथ, युद्ध के मैदान में प्रजा को बलिदान होने की शिक्षा देती थी। 'धर्म', अधिकतर युद्ध के मैदान में प्रजा को बलिदान होने की बात करता था। उस काल में, अधिकतर युद्ध, राज्य विस्तार के लिए, धर्म परिवर्तन के लिए, गुलामों की संख्या बढ़ाने के लिए तथा लूटने के उद्देश्य से ही किये जाते थे। उस काल के युद्ध आतंक की पराकाष्ठा की परिभाषा में आते हैं। युद्धों में सबसे अधिक शोषण महिलाओं के साथ होता था। वह आतंकी समय ऐसा था, जहाँ राजतन्त्र और धर्म की मान्यता से, इन्सानी जिन्दगी की खरीद-फरोक्त के लिए बाज़ार लगते थे। उन्हें जंजीरों में बांधकर ले जाना एक आम बात थी। भूमिधरों की सामाजिक आर्थिक शक्ति तथा राजनैतिक प्रतिष्ठा अपार होती थी। वह अपार निरंकुशता के मालिक होते थे, तथा खूंखार व्यक्तित्व के स्वामी होते थे।

यह व्यवस्था तीन तरह से आतंक सत्ताधारी होती थी। उस काल में, अधिपति (Lord) के हाथ की राजनैतिक तलवार, मनमानी करती रहती थी। उसके आतंक से आसामी सहमी-सहमी तथा घुट-घुट के जीवन व्यतीत करती थी तथा (Lord) अधिपति समस्त प्रजा के अधिकारों का हनन करते थे।

सामंत सुरक्षा न्याय तथा सैनिक-शक्ति का अधिपति होता था जो अधिस्थ प्रजा के समस्त अधिकारों का ठेकेदार भी होता था, आर्थिक शोषण की यह प्रणाली आतंक की जन्मदाता कही जाती है। **जमीन से लेकर सामाजिक जीवन सम्पत्ति में, 'मनुष्य' का व्यक्तिगत जीवन भी उसकी सम्पत्ति होती थी। स्वामी उसे चाहे जब नीलाम कर देता था। उस काल में, जहाँ "आतंक की तलवार" आदमी का गला काटती थी, वहाँ जिन्दा लोग भी पीड़ा, दर्द और आतंक से पीड़ित हो अपार कष्टों में, कराहते हुये कहीं भी देखे जा सकते थे।** दया-दुलार बड़ी मुश्किल से कहीं-कहीं देखने को मिलता था। यह सब 'स्वामी' की व्यक्तिगत प्रकृति पर निर्भर रहता था, कि वह असामी के साथ कैसा व्यवहार करे। उस काल में विधि हाथ बाँधे स्वामी के दरवाज़े पर खड़ी रहती थी। यद्यपि समस्त भूमि का मालिक राजा होता था, फिर भी सत्ता की धुरी सामन्त ही था। 'राजा' उन पर निर्भर रहता था तथा राज्य अभिषेक के समय 'राजा' सामन्तों की भीड़ से धिरा रहता था।

सामन्तवाद आतंकवाद की प्रथम सीढ़ी कही जा सकती है

ट्यूटन सरदारों ने पश्चिमी रोमन साम्राज्य के टुकड़े-टुकड़े करके खण्डरों में बदल दिया था। उन्होंने उसे छोटे-छोटे टुकड़ों में बाँटा था, तथा मनमानी करके, अपनी बर्बरता के स्तम्भ स्थापित किये थे। उनका शासन एक पिरामिडाकार स्वरूप में होता था। प्रथम स्थल पर 'राजा' तथा दूसरे स्थान पर सामन्त तथा सबसे नीचे 'प्रजा' होती थी, जो उनकी 'गुलाम' थी। उस काल में, मातहत (Vassal) का दर्जा, एक मेहनतकश गुलाम की तरह से होता था, जो गुलामी के भार का वजन जीवन भर ढोता रहता था। उसका मालिक (Lord) इस शिरोन्मुखी व्यवस्था (Litierarchy) में सर्वशक्तिमान जीव था।

धर्मतन्त्र की जंजीरे

यह काल, यूरोप में, **"धर्मतन्त्र की शक्ति"** का विकास काल ही कहा जा सकता है। इस युग की अत्यन्त उल्लेखनीय व्यवस्था **"पोप की शक्ति"** विकास माना जा सकता है।

धर्म क्षेत्र की समस्त लोकतान्त्रिक परिपाटी, उस काल में नष्ट हो गई थीं वह सब पोपशाही में विलीन हो गईं थीं। ईसाई धर्म की समस्त लोकतान्त्रिक परम्पराएँ एवं संस्थाएँ, पोपशाही की गुलाम बनकर रह गई थी।

उसके बाद, ईसाई धर्म-तंत्र में, पोपशाही का शाही रथ तेज़ी से, शक्तिशाली राजतंत्र तथा धर्मतंत्र के अश्वों पर सवार हो, तेजी से आगे बढ़ने लगा था। मध्य युग में, "पोप ग्रहरी" महान् ने, पोप के सत्ता-ध्वज को, राजनीति क्षेत्र में भी, मजबूती से स्थापित कर दिया था। दार्शनिक तथा योग्य लेखक 'डनिंग' ने लिखा कि "उस काल में पोप के हाथ में रोम और सम्पूर्ण इटली की राजनीति आकर ठहर गई थी।"

अब यूरोप की राजनीति, धर्मनीति के चरणों में आकर दण्डवत कर रही थी। युद्ध और आतंक को अब धर्म का पूर्ण आशीर्वाद प्राप्त हो गया था। उस काल की एक घटना बड़ी महत्त्वपूर्ण है, जब लोम्बार्ड जाति के लोगों ने पुनः इटली पर आक्रमण किया, तब पोप ने "फ्रैंक" जाति के लोगों से सहायता माँगी। इस जाति के राजा चार्ल्स मार्टन (King Charles Martin) और उसके पुत्र पोपिन ने लोम्बार्ड को मार दिया और प्रदेशों को जीत कर पोप के चरणों में अर्पित कर दिया। इस विजय ने "पोप" को राजसत्ता पर भी कानूनी हक प्रदान कर दिया।

मध्यकाल के, यूरोप में, धार्मिक नैतिकता तथा उसकी लौकिक शक्ति और उसका आध्यात्मिक दर्शन, राजनीति की स्वार्थी 'डोली' में बैठकर, हिंसा के साये में सफर कर रहीं थी।

राजतन्त्र और धर्मतन्त्र की भोग-विलासिता की अहंकारी शैली ने, राजा की आत्मा को पूर्णतय ढक लिया था। साम्प्रदायिकता तथा जातियता के अहंकारी आवरण ने उसकी आंखों को अन्धा कर दिया था।

राजनैतिक लूटेरों के 'बर्बर' आक्रमण से घबराकर, वहाँ की जनता अव्यवस्था, अराजकता तथा आतंक का शिकार थी। आक्रमणकारी आतंकी लोग धर्म के साये में पनाह पाने के लिये तरह-तरह के ढ़ोंग करते थे। विजेता जातियों का विश्वास 'चर्च' परम्पराओं के प्रति श्रद्धावान था तथा वह लोग उसके अनुयायी थे। उन लोगों पर 'चर्च' के धर्म प्रचार का असर साफ दिखाई पड़ता था। उस काल में आतंकियों के डर से तथा आक्रमणकारियों के कहर से बचने के लिये 'चर्च' ही एक सुरक्षित स्थान था, जिसके साये में, जनता ने महसूस किया कि उन्हें दया की दो बूंदे मिल सकती हैं, तो वह ईसाई धर्म के सायें में ही मिल सकती हैं और साथ ही वह बर्बरता और आतंक से छुटकारा भी पा सकती है।

आरम्भिक ईसाई काल में 'पोप' की स्थिति एक विशप की तरह से होती थी। इसलिये प्रत्येक महत्वपूर्ण शहर में 'एक चर्च' बनाया गया था, जिसके सर्वोच्च अधिकारी को 'विशप' कहते थे। लेकिन जब रोमन-सम्राट कान्सटेनाअन ने ईसाई धर्म स्वीकार कर लिया, और उसे राज-धर्म घोषित कर दिया। तब वहाँ की परिस्थितियाँ बदल गईं। 'चर्च' का रूप बदलने लगा। चर्च की रूपरेखा एक 'श्रेणीबद्ध' संगठन के रूप में उभरने लगी। इस संघर्षमय परिस्थितियों में रोम के 'विशप' ने एक धार्मिक राजतन्त्र की स्थापना कर दी। क्योंकि उस समय, अन्य चर्चों के 'विशप' आपस में, धर्म-सत्ता के गलियारों में, एक दूसरे से टकराते रहते थे। साथ ही साथ उनमें भारी मतभेद हो जाते थे।

चर्च कोन्सील की एक बैठक में रोम के 'पोप' को, अन्य सभी निर्णयों के विरुद्ध अपील सुनने का अधिकार दे दिया गया। इससे रोम के पोप की शक्ति धीरे-धीरे बढ़ती चली गई। रोमन साम्राज्य के पतन तक (1476 ई० तक), उसकी शक्ति विशेष रूप से बढ़ गई और आगे जाकर ईसाई जगत में 'पोप' सर्वशक्तिवान धर्म अधिकारी बन गये। अब समस्त शक्ति 'पोप' के हाथों में केन्द्रित होने लगी। रोम का विशप ही सर्वशक्तिमान और सर्वोत्तम लौकिक शक्तियों का अधिकारी बन गया तथा वही पोप बन गया।

घटना 800वीं ई० की है, 'पोप' लियो III (Pope Leo III) का समय था। राजनीति ईसाई-धर्म स्थलों के पवित्र गिरजाघरों में प्रवेश कर गई थी। पोप और फ्रेंक जाति के लोगों के मठ और गठ-बन्धन, पोपशाही के विस्तार की पगडण्डियाँ तैयार कर रहे थे, और उनकी महत्वाकांक्षाओं की पूर्ति के लिये तलवार लिये आगे बढ़ रहे थे। 1800 ई० की घटना है कि एक दिन पवित्र प्रार्थना के अवसर पर जब शर्लीमन प्रार्थना कर के उठ रहा था, तो उसे "पोप" लियो तृतीय ने, सीज़र तथा आगॅस्टर कहकर सम्बोधित किया, और उसे 'पोप' द्वारा राजमुकुट भी पहनाया गया। इसका अर्थ इतिहास यह लगाता है कि उस समय से ही राजा प्रभुसत्ता को, धर्माध्यक्ष से प्राप्त करता है। उस काल में यह माना गया, 'पोप' 'लौकिक' सत्ता का सर्वोच्च अधिकारी है। इसलिये वह सर्वोच्च है, लोग यह विश्वास करने लगे कि 'राजा' पोप के अधीन

होता है। चर्च और राजा का सम्बन्ध सदियों तक यूरोप के इतिहास में हल-चल मचाता रहा।

आगे जाकर तो 'पोप' इन्नोसेण्ट तृतीय ने यह दावा किया कि 'पोप' में ही "अनुपम शक्ति" का वास रहता है। "पोप" इन्नोसेण्ट 'चतुर्थ' तथा एजिडियस कोलोना ने 'पोप' प्रभुसत्ता स्थापित करने के लिये "प्लेनी ट्यूजे" का प्रतिवादन किया। चर्च की मौलिक शासन शक्ति का मालिक 'पोप' है। सभी विधि विधान, नीति, नियम तथा आदेश के ऊपर पर्यवेक्षण तथा पुनर्रीक्षण की शक्ति के विषय में, 'पोप' ही ईश्वर का प्रतिनिधि है तथा उसके निर्णयों को चुनौती देने का अधिकार किसी भौतिक शक्ति को नहीं है।

आगे जाकर धर्मतन्त्र द्वारा फैलाये अन्धविश्वास के माध्यम से, भोली जनता को अन्धकार में धकेल रहा था। 'चर्च' प्रचार करता था, कोई भी व्यक्ति अपने कष्टों से छुटकारा चर्च के माध्यम से ही प्राप्त कर सकता है। उस काल में धर्माधिकारियों ने आध्यात्मिक दर्शन को पीछे छोड़कर भौतिक सुखों की ओर भागने का कार्य आरम्भ कर दिया था। धीरे-धीरे धर्मतन्त्र राजनैतिक शक्ति प्राप्त करने की प्यास में, सभी नैतिक सीमाएँ लांघ कर घोर आतंक मचाता फिर रहा था। लेकिन जैसा की कहा जा चुका है कि आगे जाकर फ्राँस की क्रान्ति के युग में, तथा नेपोलियन के समय में, धर्मतन्त्र की सभी शक्तियाँ ध्वस्त कर दी गईं थीं।

चर्च और राज्य के विवाद की चरम सीमा

मध्य काल से पूर्व यूरोप में, पहले दोनों सत्ताएँ अलग-अलग कार्य करती थीं। उस काल में रोमन शासक निबोध रूप के सर्वोपरी होते थे। लेकिन मध्यकाल में 'चर्च' सर्वशक्तिवान संस्था होती चली गई, यहाँ तक कि राज्यसत्ता पर भी काबिज़ हो गई। जो लोग ईसाई धर्म को नहीं मानते थे, उन्हें नास्तिक घोषित कर दिया गया तथा पोप को उन्हें सज़ा देने का पूर्ण अधिकार दे दिया गया था, इसलिये सभी गैर ईसाईयों को ईसाई धर्म में प्रवेश लेने के लिये मजबूर होना पड़ा। परिणामस्वरूप उस काल में सम्राट से लेकर समस्त जनता तक ईसाई धर्म के ध्वज के नीचे आ गई।

लोग यह मानने को मजबूर हो गये, कि ईसाई धर्म और उसके संगठन 'चर्च' से ही आध्यात्मिक पवित्रता का ज्ञान प्राप्त होता है। उस काल में रोम का 'चर्च' और उसके विशपों को ईसाई धर्म में सर्वोपरी माना जाने लगा। अतः रोम का विशप महाधर्माधिकारी हो गया। वह ही 'पोप' कहलाने लगा।

लेकिन आगे जाकर धर्म सत्ता और राज्यसत्ता आपस में टकराने लगी। सत्ताधारी सम्राट तथा 'पोप' आमने-सामने आकर संघर्ष करने लगे। यूरोप में, 11वीं शताब्दी में तो संघर्ष ने युद्ध जैसा रूप लेना आरम्भ कर दिया। दोनों सत्तधिकारियों में संघर्ष का मुख्य कारण सत्ता पर कब्जा ही माना जाता था। कारण यह था कि 'विशप' विवादित नहीं माने जाते थे। इस कारण उनकी मृत्यु के उपरान्त, उसकी समस्त जागीर शासक के नियन्त्रण में चली जाती थी। सम्राट को ही 'विशप' को नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त हो गया। किसी विशप की नियुक्ति करते समय राजा उसे धार्मिक कार्य के संचालन हेतू एक घड़ी और एक अंगूठी प्रदान करता था। और कहता था "चर्च को ग्रहण करो और धार्मिक कार्य का संचालन करो!" इस प्रथा को मानाभिषेक प्रथा कहा जाता था।

यदि पादरी वर्ग किसी ऐसे व्यक्ति को निर्वाचित कर देते थे, जिसे राजसत्ता स्वीकार नहीं

करती थी, तो राजा भी उसे मान्यता नहीं देता था। साथ ही साथ उसे जागीर से वन्चित कर देता था।

आगे जाकर मानाभिषेक नियम राज्य सत्ता और धर्म सत्ता के मध्य विवाद का कारण बन गया। राजीनति शास्त्र के महान् विद्वान 'सेवाइन' **ने इस विषय में लिखा "चर्च पोप के पद और अधिकारों को प्रभुत्ता-समपन्न संस्था मानता था। यह आलौकिक जगत का सर्वशक्तिशाली पद होने के नाते उच्चतम था, इसलिये उसे सम्राट तथा किसी भी संसारिक सत्ता को, ईश्वर सत्ता के प्रतिनिधि अथवा धर्माधिकारी को नियुक्त करने का अधिकार नहीं था।"** उनकी मान्यता थी कि लौकिक शासक ईसाई होने के कारण, नैतिक तथा आध्यात्मिक विषय में चर्च के अधीन थी। उसका धर्म से तलाक होने पर, वह शासन शक्ति और तमाम उपाधियों और राजनैतिक सत्ता अधिकारों से भी वंचित हो जाता था। क्योंकि सारी प्रजा तो ईसाई धर्मावलम्बी है, इसलिये उसके नियम मानना उसके लिये आवश्यक था। 1073 ई० में पोप ग्रेगरी सप्तम ने लौकिक शासन की आलोचना करते हुये कहा "लौकिक शासक दिन-दहाड़े बड़े पैमाने पर ड़ाकेजनी करते हैं, इसलिये उन्हें, धर्म के अधीन होना आवश्यक था।

वास्तव में देखा जाये तो यह विवाद 1073 ई० में, 'पोप ग्रेगरी' सप्तम (Gragory VII) तथा उस समय के जर्मन सम्राट हेनरी चतुर्थ (Henry IV) के मध्य हुआ था, उस समय, जब पोप ग्रेगरी VII तथा सम्राट हेनरी चतुर्थ एक दूसरे के शत्रु हो गये थे, तथा एक दूसरे को अपने-अपने पदों से हटाना चाहते थे। सम्राट हेनरी के सामने साम्प्रदायिक भावना खड़ी उसे असहाय बना रही थी। क्योंकि सम्पूर्ण जनता ईसाई धर्म की अनुयायी थी और वह धार्मिक भावनाओं से ओत-प्रोत थी। इससे ही 'हेनरी IV' भयभीत हो गया। अतः उसने पोप से क्षमा याचना करने की सोची, यह कहा जाता है, कि जब समस्या गम्भीर हो गई थी तब सम्राट को धर्मतन्त्र के सामने घुटने टेकने पड़े। **यूरोप का इतिहास बोलता है, कि एक भयानक सर्द मौसम में, जब दिनांक 25 जनवरी 1077 ई० को कड़ाके की ठण्ड पड़ रही थी, तेज़ सर्द हवाएँ मौसम की कठोरता को और भी; निष्ठुर बना रही थीं। ऐसे बेरहम वातावरण में ओनासा (Onassa) दुर्ग के बाहर दरवाज़े पर हेनरी IV नंगे पाँव, ठिठुरते हुये, पोप से क्षमा याचना के लिये तीन दिन तक गिड़-गिड़ाता रहा था, तब जाकर बेबस सम्राट हेनरी IV को पोप ग्रेगरी VII ने पवित्र चर्च में शरण देने की आज्ञा प्रदान की थी।**

धर्मसत्ता के सामने राजसत्ता असहाय बनी समय चक्र की निष्ठुरता को देख रही थी। दोनों शक्तियों का संघर्ष अभी तक निरन्तर, अलगाव की तरफ बढ़ रहा था।

चर्च और राज्य के मध्य विवाद दोनों अधिकारियों की मृत्यु के बाद भी जारी रहा तथा समस्या का कोई भी निश्चित समाधान नहीं हो पाया। हां! 1122 ई० में हेनरी पंचम तथा पास्कल द्वितीय (Pascal II) के मध्य एक सन्धि अवश्य हुई, जिसे धर्मसन्धि (Contract of Worm) के नाम से जाना जाता है। इतिहास कार विद्वान सेबाइन के ही अनुसार, राजा ने संसारिक अंगूठी और छड़ी (Ring and Stick) के अध्यात्मिक सत्ता के अधिकार तो त्याग दिये। लेकिन उसने विशपों को राजनैतिक अधिकार देने के, और उसके चुनाव में, अपनी सहमति प्रदान करने के अधिकारों को अपने पास ही रखा। इस प्रकार 100 वर्षों तक यह प्रथा कायम रही। लेकिन बाद में पोप इन्नोसेण्ट तृतीय, एक शक्तिशाली धर्म सत्ता अधिकारी के रूप में राज्य सत्ता पर हावी हो गया। उसने अपने 18 वर्षों के धर्मशासन के अन्तर्गत 7 राजतंत्रों को और दो जर्मन

सम्राटों को, धर्म से बहिष्कृत कर दिया था। उसने घोषणा की थी **"कि धर्मतन्त्र ईश्वर शक्ति के प्रतीक के रूप में धर्म तथा राज्य दोनों का नियन्त्रण अधिकारी है।" वह नैतिक आधार पर दोनों पर शासन करता है।**

यह संघर्ष अगली शताब्दियों में निरन्तर चलता रहा। मध्यकाल के लिये यह धर्म और राजनीति का संघर्ष वास्तव में, धर्मतन्त्र की शक्ति के विवादों का समय ही कहा जा सकता है। चर्चवादी मानते थे, कि वास्तव में चर्च के प्रतिनिधि ही सच्चे राज्य हैं, क्योंकि राज्य एक शरीर रूप के लिए है, जिस प्रकार मानव शरीर में एक आत्मा निवास करती है, उसी प्रकार 'राज्य' में शाश्वत तत्व के रूप में एक आत्मा निवास करती है। सम्राट तथा राजा केवल सुख-सुविधा देने के पात्र होते हैं, लेकिन आध्यात्मिक सुख तो केवल चर्च ही दे सकता है। इसलिये चर्चाधिकारी राज्य के अधीन नहीं हो सकते थे क्योंकि चर्च नैतिक शक्ति का प्रतीक थे। इस कारण वह सम्राट के आचरण की समीक्षा कर सकते थे उसे नैतिक आधार पर नियमित कर सकते थे।

चर्च के कथन अनुसार प्रभु ने दो तलवार का शासन पृथ्वी पर अवतरित किया था। एक तलवार राजनैतिक जगत का संचालन करती थी तथा दूसरी तलवार आध्यात्मिक जगत की शक्ति के लिये बनाई गई थी। लेकिन यह दोनों तलवारें प्रभु ने पहले पोप को प्रदान की थी पोप ने लौकिक जगत के संचालन के लिये एक तलवार राजा को दे दी, इसलिये 'राजा' पोप की शक्ति के अधीन था। धार्मिक शक्तियों ने चर्च की सत्ता को सूर्य के समान बताया तथा 'राज्य' सत्ता चन्द्रमा के समान स्वीकार करते हुए अन्य लौकिक सत्ताधारियों को छोटे-छोटे सितारों के समान स्वीकार किया? चर्च के कथन के अनुसार दुनिया में ईसाई धर्म, 'चर्च' एकता का प्रतीक है। क्योंकि ईसाईयत में, राज्य तथा धर्म दोनों की समान शक्तियाँ समाविष्ट थीं। उनका कथन था क्योंकि, 'प्रभु' ईसा में दोनों शक्तियाँ मौजूद थीं, उसके बाद प्रभु ईसा ने यह शक्ति पीटर को प्रदान की थी। पीटर ने यह दोनों शक्तियाँ अपने उत्तराधिकारी 'पोप' को प्रदान की थीं। "पोप ही ने लौकिक शक्ति सम्राट को देने की व्यवस्था की थी तथा अवस्था के सुखद संचालन के लिये आध्यात्मिक शक्ति अपने पास ही रख ली थी।" उनकी मान्यता थी कि लौकिक 'शासक' चर्च के प्रति उत्तरदायी है। **डनिन ने कहा "मध्यकालीन समय में चर्च एक सर्वशक्तिमान संस्था के रूप में जाग्रत होकर कार्य करता था तथा 'राज्यसत्ता' को अपने अधीन समझता था।"**

यह जरुरी नहीं कि साम्प्रदायिक संघर्ष केवल बहुधर्मी राष्ट्र व्यवस्था में ही होते थे। यूरोप को ही ध्यान से अध्ययन किजिये। वहाँ एक ही धर्म में, ईसाई मान्यता में जहाँ धार्मिक सम्प्रदाय आपस में टकरा रहे थे, वही चर्च और राज्य समर्थकों के मध्य कत्ले आम ने मध्य काल में मानवता को झंझोर के रख दिया था। धार्मिक सत्ता तथा राज्य सत्ता में युद्ध जारी था। राज्य सर्मथक कहते थे। **"राज्य भी ईश्वर की रचना है, ईश्वर ने, धर्म के ही समान उसे भी धरती पर, सम्राटों तथा राजाओं को अधिकार दिये गये थे। इसलिये उन्हें चर्चाधीन नहीं किया जा सकता था। 'राजा' पृथ्वी पर ईश्वर का प्रतिनिधि है, चर्च का नहीं।"**

ईश्वर के अलावा कोई भी 'शक्ति' राज्य के कार्य में हस्तक्षेप नहीं कर सकती थी। राजा ईश्वर के प्रति जिम्मेदार था, चर्च के प्रति नहीं। उनकी दृष्टि में दोनों सत्ताएँ अलग-अलग शक्तियाँ थीं, राज-सत्तावादियों ने साफ तौर पर कहा "बाईबिल राज्य सम्बन्धी समान शक्तियाँ राजा को प्रदान करती हैं। बाईबिल कहती है, 'ईश्वर सर्वशक्तिवान है' उसी के आदेश से, राजा

के आदेश का पालन करो! जब समस्त शक्ति ईश्वर की हैं, तो उस शक्ति का विरोध करना उचित नहीं है। राज्य-शक्ति परम्परागत सिद्धान्तों से अनुबन्धित हो जीवन के आरम्भ से चली आ रही हैं, उसे छिन्न-भिन्न नहीं किया जा सकता है।

धर्मसत्ता तथा राज्यसत्ता में युद्ध चलता रहा, इन्सानी रक्त सड़कों पर वर्षों तक इस तरह की लड़ाई में बहता रहा, जनता, विशेषकर निर्धन जनता इस संघर्ष में बलिदान होती रही। मध्य काल के विचारक जॉन-ऑफ सेलिसवरी ने (1155, से 1159 के मध्य) अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'पौलिकेटिक्स' में नैतिक आधार पर राजतन्त्र के रूप का वर्णन किया गया है, जो राज्य सत्ता पक्ष की विचारधारा को मजबूत करता हुआ चलता है। यह एक जीव शास्त्रीय धारणा पर आधारित है। उसका कहना था "सम्पूर्ण राज्य एक शरीर की भाँति है। राज्य भी भिन्न-भिन्न अंगों के मिलन से बनता है। 'जॉन ऑफ सेलिसबरी' (John of Salisbury) के अनुसार **"सम्पूर्ण राज्य एक जीवित शरीर के अनुरूप है, किसी विशेष राज्य का 'राजा', उस तथा राज्य की धारा सभा तथा उसके इस शरीर का हृदय है, न्याय शासक तथा प्रान्तों के अधिकारी इस व्यवस्था के आँख-कान तथा सिर हैं, सैनिक तथा प्रशासनिक अधिकारी इसकी भुजाएँ हैं, जॉन ने किसानों, कारीगरों तथा सेवकों को पैर का दर्जा दिया था। 'जाँन' ने 'चर्च' पक्ष को मजबूत करते हुये चर्च शक्ति को उसकी आत्मा बताया था।"** उसने राज्य को चर्च के अधीन बनाने की चेष्ठा की थी। जब 'राजा' चर्च रूपी आत्मा की देख रेख में काम करता है। तभी सभी शरीर के अंग-आगे नियंत्रित अवस्था का काम करते हैं। 'जाँन' का मानना था कि "राजा चर्च का एक कर्मचारी है" उसका शासक नहीं है और राजा उन कार्यों को और कर्तव्यों को सम्पादित करता हैं, जो 'पादरी' नहीं कर सकते हैं तथा जो उनके लिये उचित और जायज़ नहीं है। उसके अनुसार उन कार्यों में चर्च की प्रधानता बनी रहनी चाहिये, जो मानव सम्बन्धों में रसा, और बसा रहता है।"

उसके अनुसार कानून की परिधि में **राजा** और प्रजा दोनों अनुबन्धित हैं। कानून अपार है, अपरिर्वतनीय है। वह सभी मानव **नियमों में** समाएँ हैं, उसने राजा को चर्च के चरणों में लाकर पटक दिया, जब उसने कहाँ **"यदि राजा की विधि और उसका शासन चर्च की शिक्षा के अनुकूल नहीं हैं, तो वह अर्थहीन है। क्योंकि चर्च की शिक्षायें राज्य को अत्याचारी होने से बचाने के लिये कानून में बाँधती हुई चलती हैं।"** उसने घोषणा की थी कि अत्याचारी राजा का वध कर देना चाहिये। राजा को कभी भी धर्म के विरुद्ध नहीं होना चाहिये। इसलिये यह कहा जा सकता हैं, कि उस काल के अनेकों विचारक जाँन सहित धर्मतन्त्र को राज्य सत्ता से ऊपर उठाकर धर्मतन्त्र का उच्चाधिकार कायम करने में सहयोग कर रहे थे। धर्मतन्त्र और राजतन्त्र के आपसी विवादों को शक्ति प्रदान कर रहे थे, आपसी रंजिश की तलवारें तेजीं से खनक रही थीं, जो इन्सानी रक्त को बेवजह बहाने में संकोच नहीं करती थीं। मध्य काल एक तरह से मानवता के लिये घोर अन्धकार का काल भी कहा जा सकता है, जब धार्मिक आतंक और राजनैतिक आतंक की दोहरी मार से यूरोप की धरती लहुलुहान हो रही थी और धर्मनिरपेक्षता धर्मतन्त्र की जंजीरो में जकड़ती चली जाती थी।

यूरोप के मध्य काल के अधिकतर राजनीति विचारक तथा चिन्तक चर्च की प्रधानता को राज्य-सत्ता पर हावी होने के लिये प्रोत्साहित करते रहे थे। वह युग अन्धविश्वास की गहरी पर्तों से ढका हुआ था। उस काल का जन-जन धार्मिक अन्धविश्वास के साये में जी रहा था तथा

राजतन्त्र पूर्णतय 'धर्मतन्त्र' की बिछाई गई गोटियों का शिकार होते हुये 'बेबवस' मछली की तरह तड़फता नज़र आता था। **महान् चिन्तक 'अरस्तु' जैसे दार्शनिक भी दास प्रथा जैसी अमानवीय प्रथा को बल दे रहे थे उसी कारण से अन्य चिन्तक भी आगे जाकर उनका अनुकरण करते रहे थे। जब कोई महान् 'चिन्तक' किसी अपवित्र अमानवीय प्रथा पर अपनी मोहर लगा देता है, तब उसके रास्ते पर चलने वाले अन्धों की तरह उसका अनुकरण करते हैं। 'मनुष्य' को निर्जीव संम्पत्ति की तरह बाजारों में बिक्री के लिये प्रोत्साहित करने में, उस काल के चिन्तकों का भी बहुत बड़ा हाथ था 'अरस्तु' जैसा विचारक जो विश्व जगत के राजनैतिक चिन्तन पर आज तक भी प्रभावशाली है, जब दास प्रथा की वकालत करता नज़र आता था तो यूरोप को उस काल में शोषण से मुक्ति मिलना कठिन ही था। जब 'अरस्तु' यह लिखता है कि "दास प्राकृति नहीं हैं बल्कि दूसरों की सम्पति है। उसको उसके मालिक से अलग नहीं किया जा सकता है। यहाँ 'अरस्तु' ने मानवता के 'जमीर' को ही आतंकियों का हाथों नीलाम कर दिया।**

दास प्रथा आंतक और अत्याचार की पराकाष्ठा की सीमाएं पार करती हुई मानवता को रौंद रही थी, उस काल में धर्म और नैतिकता उसकी निष्ठुरता पर अपनी मोहर लगा रही थी। उनका मानना था कि चर्च मनुष्य के आध्यात्मिक लक्ष्य की पूर्ति करता है तथा राज्य मनुष्य के भौतिक लक्ष्य की पूर्ति करने के लिये बना है। अतः चर्च और राज्य का संघर्ष अनुचित है लेकिन, व्यवाहारिकता में उसने चर्च को अपने चिन्तन में अधिक बल दिया। और चर्च को महान् शक्तिशाली बना दिया। उसने कहाँ भौतिक उद्देश्य आध्यात्मिक उद्देश्यों का एक मात्र साधन है। इसलिये चर्च महान् है। वह भौतिक साधनों का भी संरक्षक है।

महान चिन्तक दाँते एलीघिरी (Dante Alighiere)

महान् दार्शनिक दान्ते एलीघिरी 1265 ई० में इटली में फ्लोरेन्स में पैदा हुआ था विशेष बात यह थी कि उसके विचार पोप शाही के कट्टर विरोधी थे। क्योंकि उस समय 'पोप' शक्तिशाली होने के कारण उससे बेहद नाराज़ थे। 'पोप' ने दान्ते को 1301 ई० में, इटली से निष्कासित कर दिया और आदेश जारी किया कि यदि दान्ते इटली में कहीं भी दिखाई दिया तो उसे जिन्दा ही जमीन में गाड़ दिया जायेगा। वह बेचारा 20 वर्ष तक इटली के बाहर ही नगर-नगर भिन्न-भिन्न दरबारों में घूमता रहा, लेकिन पोप के डर से स्वदेश वापिस नहीं आ सका और 56 वर्ष की आयु में 1321 में उसका देहावसान हो गया।

वह काल एक अन्धकार पूर्ण काल था, उस समय चारों ओर अशान्ति थी, युद्ध तथा आपसी संघर्ष थे। दान्ते ने धर्मतन्त्र के शोषण के विरुद्ध घोषणा की तथा उसकी वैचारिक क्रान्ति ने समस्त यूरोप में तहलका मचा दिया। उसने कहा कि "पोप शाही को राजतन्त्र से अलग करके एक विश्व-साम्राज्य की स्थापना होनी चाहिये।"

उसने कहाँ कि "छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक बड़ा साम्राज्य बनाना चाहिये, जो धर्म-निरपेक्ष हो, तथा धर्मतन्त्र से स्वतन्त्र हो। उसे आपसी संघर्ष में छुटकारा मिलना चाहिये।" उसने सलाह दी, कि विकास के लिये चिर-शान्ति की आवश्यकता है। यह उसी दशा में हो सकता है, जब समस्त संसार ईश्वर के शासन की भांति, एक शासन के अधीन हो। इस संदर्भ में वह प्लेटो के 'दार्शनिक शासक' (Philosopher Kine) के निकट था जो दार्शनिक राजा को

एक सर्व-गुण सम्पन्न होने की कल्पना करता था।

फ्रेडरिक पोलक ने कहा **"दाँते का 'सर्वोत्म शासक' किसी भी तरह से निरंकुश नहीं होगा।"**

चर्च और राज्य की प्रभुसत्ता के विषय में दाँते ने राज्यसत्ता को धर्मतन्त्र से अलग रहकर राज्य का विकास करने की सलाह दी। उसने ईसाई धर्म ग्रन्थों के अध्ययन के बल पर यह सिद्ध करने की कोशिश की थी कि स्वतन्त्र राज्य प्रभु-सत्ता ही लोक कल्याणकारी हो सकती है। उसने उल्लेख किया कि सम्राट 'कान्स्टेन्टाइन' साम्राज्य को दान की वैधानिक शक्ति प्राप्त नहीं थी, अतः उस सम्बन्ध का दानपात्र अवैध हो गया था। शासन करने की प्रभुसत्ता 'राजा' के पास है, पोप के पास नहीं है। उसने कहा लौकिक शक्ति प्राप्त करना चर्च की मर्यादा के विरुद्ध हैं। लौकिक जगत तथा आध्यात्मिक जगत का अरितत्व अलग-अलग है।

उसने जोरदार शब्दों में कहा, 'पोप' को सीधे-सीधे चर्च की आध्यात्मिक चारदीवारी में ही सीमित रहना चाहिये। उसे नैतिक उपदेश तथा धार्मिक कार्य सम्पन्न करने चाहिएँ तथा संसारिक तथा लौकिक कार्य से दूर रहना चाहिये।" उसने 'धर्मतन्त्र' से, 'राज्य-प्रभु' सत्ता को अलग करने पर और मानव-शान्ति तथा सुरक्षा और विकास की वकालत करने पर अनेकों कष्ट उठाने पड़े। धर्मतन्त्र का सीधा विरोध करने के कारण ही उसे दर-दर की ठोकरें खानी पड़ी। वह ऐसे समय अपने होट खोल रहा था, जब पूर्ण मध्यकाल धर्मतन्त्र की प्रभुता की तानाशाही और उसके आंतक के युग में ही जी रहा था, जिसमें मानवता पीड़ित रही थी।

उस युग में राजा की शक्ति पर, धर्मतन्त्र अपनी अन्धविश्वास चालों से जबर्दस्त चोट करता रहा। इस काल के अन्धकारमय वातावरण में, कहीं भी धर्मनिरपेक्षता नज़र नहीं आई। हाँ ! इतना अवश्य था, दान्ते जैसे चिन्तक तथा मार्सिलियो ऑफ पेडुआ जैसे चिन्तकों ने राज्य को अवश्य ही आत्म-निर्भर ईकाई बनाने की वकालत की थी। **सबसे पहले मार्सिलियो ऑफ पेडुआ ने धर्मनिरपेक्षता का स्पष्टीकरण करते हुये, राज्य के धर्मनिरपेक्ष होने की वकालत भी की थी। उसने स्पष्ट शब्दों में, "राज्य को और चर्च को पोपशाही से अलग रखकर राज्य की स्वच्छा से शासन चलाने की वकालत की थी। उसने जोरदार शब्दों में, उस काल में, राज्य को धर्म-निरपेक्ष सत्य की स्थापना करने की सलाह दी थी। उसने कहाँ था, "जिस प्रकार कृषि पर विधि, राज्य ही बनाता है, राज्य ही जनता पर शासन करता है, उसी प्रकार राज्य को लौकिक मामलों में भी पादरियों पर विधि बनाने का अधिकार है।" धर्म-गुरु केवल धर्मतन्त्र तथा आध्यात्मिक जगत तक ही सीमित रहे, तो यह शान्तिमय तथा सुखी जीवन के लिये अच्छा और सुखद है।"**

"पादरियों को लौकिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिये, बल्कि उन्हें अपना समय आध्यात्मिक अध्ययन में व्यतीत करना श्रेयकर रहेगा।"

"मार्सिलियो ऑफ पेडुआ" (Masillio of Padua) भी धर्म सत्ता को अत्यन्त सीमित करने का पक्षधर था। उसने घोषणा की थी "चर्च को लोगों को दण्ड देने का अधिकार नहीं है।" यह नास्तिकों, पर भी बल प्रयोग नहीं कर सकता है। **उसने कहाँ "महात्मा ईसा ने कभी भौतिक सम्पत्ति प्राप्त करने की कोशिश नहीं की थी, इसलिये चर्च और धर्मगुरुओं को भौतिक सम्पत्ति से अलग रहना चाहिये।"**

उसने साहस के साथ कहा था कि, "चर्च के पास यदि आवश्यकता से अधिक सम्पत्ति है, तो राज्य उस पर भी कर लगा सकता है तथा उसे सार्वजनिक हित के लिये प्रयोग कर सकता है। उसने यह भी कहा "चर्च जनता पर उसकी इच्छा के विरुद्ध कर लगाने का अधिकार नहीं रखता है। वह दान भी लोगों की श्रद्धा होने पर ले सकता है, किसी से जबर्दस्ती नहीं कर सकता है।" उसकी सबसे बड़ी खूबी यह थी! कि उसने धार्मिक आंतक को खुलकर ललकारा था, तथा उस पर खुलकर ही प्रहार किये थे। **मार्सिलियों की सबसे बड़ी विशेषता यह थी कि उसने कठोर धार्मिक तंत्र पर खुलकर प्रहार किया तथा संकीर्णता की जंजीरों में जकड़े यूरोप को, आतंक से मुक्त कराने का भरसक प्रयास भी किया था। उसी से धर्मतन्त्र की चक्की में पिसते बौद्धिक जगत को बेहद राहत मिली थी।**

उसके दर्शन के विषय में **विद्वान 'मुर्रे'** (Murray) **ने कहा "14वीं शताब्दी का सर्वाधिक मौलिक चिन्तक मोर्सिलियो ने राजनीति सत्ता के मौलिक रहस्यों का भेद नहीं किया। वह उस काल के क्रान्तिकारी चिन्तक में से एक था, जिसने धर्मसत्ता की कठोरता से राज्य सत्ता को छुटकारा दिलाने के लिये धर्मनिरपेक्षता की पूर्ण वकालत की थी।"** इस क्रान्तिकारी चिन्तक, मार्सिलियो का जन्म 1270 ई० के लगभग इटली के उत्तर-पूर्व में स्थित 'पेडुआ' नगर में हुआ था। उसने फ्राँसिसकन सम्प्रदाय के सदस्य के रूप में धर्मग्रन्थों का अध्यन किया था। मार्सिलियो को 1313 ई० में डॉक्टर की उपाधि प्राप्त हुई थी। उसकी योग्यता देखकर उसे 'मिलान' का आर्चबिशप (Archbishop) बनाया गया, लेकिन जल्दी ही उसने उस पद से त्याग पत्र दे दिया। वास्तव में, चिन्तक मार्सिलियो ने जब एविग्नोन (Avignon) जाकर 'पोपशाही' के भ्रष्टाचार और सांसारिक विलासिता को देखा, तो उसने अपने पद से त्याग पत्र दे दिया और पोप विरोधी हो गया। वह औषधि-विज्ञान, कानून तथा दर्शनशास्त्र का ज्ञाता था।

चिन्तक मार्सिलियो ने एविग्नोन (Avignon) में बड़े नजदीक से जाकर जो, धर्मतन्त्र के भ्रष्टाचार और 'पोपशाही' की विलासित की रंगीनी देखी थी, उससे उसे बड़ा दुखः हुआ था।

उसके क्रान्तिकारी प्रहारों से धर्मतन्त्र उससे बेहद नाराज़ हो गया था इस कारण दण्ड स्वरूप उसे 1326 ई० में, धर्म से बहिष्कृत कर दिया गया था। इसके परिणामस्वरूप उसने जर्मन सम्राट लेविस और बवेरिया के राज दरबार में जाकर शरण ली थी। एक धार्मिक विद्वान होते हुये भी उसने धर्मतन्त्र की बुराईयों पर जमकर साहस के साथ चोट की थी। उसने 1324 में, अपनी पहली पुस्तक 'डिफेन्ज़र पेसिस' (Defensor Pacis) की रचना की थी।

इसकी पुस्तक 'डिफेन्स पेसिस' शान्ति के पक्ष में लिखी गई थी। इस पुस्तक को तीन भागों में विभाजित किया गया हैं। प्रथम भाग में 'राज्य' कानून सम्बंधी विचारों पर प्रकाश डाला गया है, दूसरे भाग में लौकिक सत्ता पर लिखा गया है, तथा धर्मसत्ता के दखल और पोप के अधिकारों में कटौती सम्बन्धी विचारों का वर्णन भी किया गया, तीसरे भाग में उपरोक्त दोनों भागों में वर्णित विचारों के निष्कर्ष पर प्रकाश डाला गया है। विद्वानों के वर्णन के अनुसार इसकी पहली पुस्तक का पूर्ण स्पष्टीकरण, उसकी दूसरी पुस्तक 'डिफेन्सर माइनर' (Defensor Minor) में दिया गया।

देखा जाये तो मार्सिलियो का राजनैतिक दर्शन जनतन्त्रवादी नहीं था। यह राज्य-शक्ति के विभाजन का भी पक्षधर नहीं था, लेकिन वह सीमित राजतन्त्र का पक्षधर था। वह चाहता

था कि 'राजा' जनता के सेवक बन के कार्य करें। यदि कोई राजा या 'सम्राट' जनता पर अत्याचार करता है तो जनता को उसे दण्डित करने का अधिकार है। उसने साफ कहा था कि **"राज्य को धर्म निरपेक्ष होना अनिवार्य है।"**

मार्सिलियो के राजनीति सम्बन्धी विचारों में व्यवस्थापिका का कार्य मुख्य है, जो विधि के कारण सम्पन्न होते हैं, तथा यही शक्ति कार्यपालिका और न्यायपालिका का निर्माण भी करती है। मार्सिलियों ने न्यायपालिका सहित सभी अंगों को, तथा उसके अधिकारों को कार्य-पालिका के अधीन माना है। उसका दर्शन कहता है, यदि कार्यपालिका दोष पूर्ण कार्य करती है तथा जनता की भलाई नहीं करती है तो उसे उखाड़ फेंका जा सकता है। यद्यपि वह जनतंत्रवादी नहीं था, फिर भी उसने जनतंत्र की इमारत के शिलान्याश के लिये नींव के पत्थरों को एकत्र करने का प्रयास तो किया ही था। उसने धर्मनिरपेक्षता के पक्ष को, उस काल में, संकल्प के साथ चिन्तक जगत में, केवल उठाया ही नहीं था बल्कि उसे स्थापित करने के लिये संघर्ष का बिगुल बजाकर एक साहसिक प्रवृति का परिचय तो अवश्य ही दिया था। मार्सिलियो ने धर्मसत्ता पर इतने प्रहार किये, कि धार्मिक सत्ता विचलित सी हो गई और कहीं-कहीं अस्पष्ट सी भी हो गई, फिर भी उसे उस काल का क्रान्तिकारी चिन्तक कहा जा सकता है।

मध्य काल में, धार्मिक आंतक की पराकाष्ठा, आतंक और अराजकता की सभी सीमाएँ पार करती हुई, सभ्यता, कला तथा ज्ञान को नष्ट करने के कार्य के लिये जानी जाती हैं। मध्य काल को, अन्धकार युग के नाम से भी विद्वानों ने उल्लेख किया है। उस काल में जर्मन की बर्बरता ने यूनान की सभ्यता और प्राचीन सभ्यता को केवल नष्ट ही नहीं किया था, बल्कि वहाँ के साहित्य और कला को आग के हवाले भी कर दिया था। रोमन युग के शासन को धारण करने वाले जर्मन शासक क्रूर अनपढ़ और असभ्य थे। उस काल में ज्ञान को विकसित होने का समय ही नहीं मिला था तथा कला निष्ठुरता के हाथों मिटाई जाती थी। वह काल ऐसा काल था, जहाँ धर्म और राजनीति तथा दर्शन आपसी संघर्ष में, एक दूसरे पर आक्रमण कर रहे थे। वह अपनी-अपनी सीमा लांघ कर हिंसा की पराकाष्ठा पर पहुँच गये थे। धार्मिक अन्धविश्वास में डूबी जनता मानवता की सरे आम हत्या कर रही थी। यदि कोई व्यक्ति साहस करके धार्मिक अन्धविश्वास के विरुद्ध आवाज़ उठाता था, तो उसकी हत्या होना एक आम बात थी।

धर्म के विरुद्ध बोलना एक अक्षमय अपराध माना जाता था। उस काल में विद्वानों और बुद्धिजीवियों पर जितने अत्याचार हुये थे, उनका वर्णन करते हुये भी इतिहास स्वयं में, शार्मिन्दा हो जाता है। ब्रूनो और गैलिलियों जैसे महान् विद्वानों को अपनी ज्ञान कलाओं और कृतियों को प्रकट करने पर कठोर सज़ा भुगतनी पड़ी थी। विद्वान 'ब्रूनो' को तो जिन्दा ही जला दिया गया था। कोपरेनिकस जैसे विद्वानों को तो अपनी दार्शनिक प्रतिभा प्रकट करने का और अपना मुहं खोलने का 25 वर्ष तक साहस ही नहीं हुआ था। धार्मिक आतंक की पराकाष्ठा तो और भी आगे बढ़ गई, जब अन्धविश्वास के विरुद्ध बोलने पर मौत की सज़ा देना एक आम बात हो गई थी। डनिग जैसे विद्वान ने मध्य काल को अराजकता का काल तथा अराजनीतिक काल के नाम से पुकारा था। फिलिस डायल ने उस काल की अज्ञानता के विषय में लिखा कि, "यह काल शिक्षा के क्षेत्र में, "केवल वर्णमाला

सीख रहा था।" इस काल के विषय में इतना अवश्य कहा जा सकता है। कुछ साहसी विद्वानों ने अपने प्राण न्योछावर करके तथा कुछ ने अपनी जान पर खेल कर साहस के साथ ज्ञान की ज्योति को आगे अवश्य बढ़ाया था। जिसमें जाँन-औफ सेलिसबरी। दाँते तथा मार्सिलियो और सर टॉम्स आदि मुख्य विद्वान कहे जा सकते है।"

देखा जाये तो मध्य काल जहाँ धार्मिक आंतकवाद की अन्धेरी संकीर्ण गलियों में भटकता रहा, वहीं वह अधिनायकवाद का दबदबा बनाये रखने के लिये उसकी वकालत करता रहा था। मानव स्वतत्रता तो उस समय जंजीरों में जकड़ी काल कोठरियों में बन्द पड़ी थी।

उस जमाने का दार्शनिक-चिन्तक धर्मतंत्र की दासता का शिकार हो, उसकी चाकरी कर रहा था या फिर धर्मतन्त्र के आतंक से पीड़ित हो, उसके विरुद्ध आग उगल रहा था। दार्शनिक चिन्तन, धर्मसत्ता और राज्य सत्ता के संकीर्ण बन्धनों में कैद होते हुये भी स्वतन्त्रता के लिये प्रयास कर रहा था।

मध्य युग का राजनैतिक चरित्र

अनेक खोजों के आधार पर मध्य युग का चरित्र और उसका आचरण, सब मिलाकर हिंसक ही कहा जायेगा। क्योंकि उस काल खण्ड में हिसंक घटनाएँ, धर्म से लेकर राजनीति तक में मानवता की हत्या कर, खून के दरियाँ बहाने में लीन थीं। राजसत्ता और धर्मसत्ता नंगी तलवारें लिये कत्ले आम करती हुई, यूरोप की शान्ति-व्यवस्था को रौंद रही थीं। उस काल में धर्म दर्शन राजाओं और सम्राटों की लौकिक शक्तियों में सरेआम घुसपैठ कर रहा था। इसी संघर्ष में लाखों लोगों की हत्या की गई थी। राज-घराने भी अपनी प्रभुसत्ता को बचाने के लिये धर्मतन्त्र पर सार्वजनिक रूप में हमला कर रहे थे। राज्य समर्थक राजनीति ने आगे जाकर धर्मतन्त्र का खुलकर विरोध किया और कहा, "कि लौकिक तथा धार्मिक सत्ता एक हाथ में केंद्रित नहीं रह सकती हैं" मध्य युग को यह श्रेय जाता हैं कि उसने धर्मशक्ति और राजशक्ति की अलग-अलग सीमाओं को केवल निर्धारित करने की आवाज़ उठाने की पहल की थी। यहीं से यूरोप में धर्मनिरपेक्षता का जन्म हुआ था। धर्म निरपेक्षता को जन्म देने में अनेकों विद्वानों ने अपना बलिदान दिया था।

इस युग ने जोरदार शब्दों में आवाज़ बुलन्द की थी कि राज्य के विधान की परिधि में सभी व्यक्ति समान रूप से आ जाते हैं, चाहे वह 'राजा' हो या सन्यासी। इस युग ने मान्यता की मोहर लगाई थी कि राज्य के न्याय विधान में सभी-धर्माधिकारी भी आ जाते हैं, उन्हें भी न्याय परिधि में बंधना अनिवार्य हो गया था, क्योंकि राज्य सर्वोपरी राज्य प्रभुसत्ता का मालिक है।

राज्य-सत्ता को धर्मनिरपेक्ष बनाने के लिये उस काल के चिन्तक-समाज ने पवित्र धर्म पुस्तक बाईबिल तक का सहारा लिया था। संत "पाल" ने कहा, "समस्त शक्ति ईश्वर की है, उसका विरोध करना ईश्वर का विरोध करना है।"

12वीं शताब्दी के महान् विधियेता 'क्रेसस' ने तर्क सहित सिद्ध करने की चेष्ठा की थी कि "राजा" हेनरी को प्रभुसत्ता, अपने उत्तराधिकारी से मिली थी, पोप से नहीं मिली थी। उस काल के धर्मनिरपेक्ष चिन्तकों ने साफतौर पर कहा, "राज्य-प्रभुसत्ता अविच्छिन साम्राज्य शक्ति है, यह प्रथा अति प्राचीन काल से ही चली आ रही है।" विधि के बाहर रहकर 'चर्च' अधिक निरंकुश हो जाता है। इसलिये 'चर्च' को भी विधि के अन्दर ही रहना चाहिये।

लेकिन, 14 वीं शताब्दी में कहीं जाकर 'राजतन्त्र' और 'धर्मतन्त्र' के कार्य क्षेत्र अलग-अलग होने के आसार नज़र आने लगे।

मध्य युग, समस्त यूरोप को 'ईसाई धर्म' की दार्शनिक मान्यता के सिद्धान्त सार्वभौमिकता को ग्रहण करने के लिये प्रेरित कर रहा था। **ईसाई धर्म की मान्यता है, कि "सम्पूर्ण मानव-जाति एक ही 'प्रभु' की सन्तान है। सभी एक दूसरे के बन्धु हैं। सन्त ऑगस्टीन**

ने, मध्य युग के आरम्भ होने से पूर्व यह सन्देश दिया था, कि "ईसाई- धर्म सभी मानव जाति के लिये सुख और शान्ति की कामना करता है। उस की धार्मिक संस्था 'चर्च' सभी के लिये है।" दो तलवारों का सिद्धान्त राज्य-सत्ता और धर्म-सत्ता को अलग-अलग करता हैं। विद्वान दार्शनिक, वार्कर ने सत्य ही कहा था, "कि मध्य काल की सबसे बड़ी उपयोगता 'सार्वभौमिकता' ही कही जा सकती है।

लेकिन दुखद यह था कि व्यवहार रूप में ऐसा नहीं था। समस्त मध्य-युग बेहद आपसी संघर्ष और तनाव की दशा से होकर गुजरा था।

वैसे धार्मिक क्षेत्र में प्रजातन्त्र और "प्रतिनिधी सिद्धान्त" का विकास 'पोप' के निर्वाचन से ही आरम्भ हुआ था। **अतः यह कहना उचित होगा, कि ईसाई धर्म का लक्ष्य संघर्ष नहीं था, बल्कि प्रतिनिधि शासन की पहल से सम्बन्धित था। लेकिन आगे जाकर भौतिकवादी दृष्टिकोण की जकड़ ने धर्म क्षेत्र में, भी भंयकर विकारों को जन्म दिया, जिससे मनुष्य की हिंसावादी मनोवृत्ति ने धार्मिक निरंकुशता का सहारा लेकर अत्याचारों को बढ़ावा देने का काम किया। प्रतिनिधि सिद्धान्त मध्यकाल चिन्तन की ही देन है, जो ईसाई धर्मक्षेत्र तथा राजनीतिक चिन्तन क्षेत्र के विकास की प्रथम पगडण्ड़ी का काम करती है।** धार्मिक क्षेत्र में 'पोप' का निर्वाचन पादरियों और सेम के निवासियों द्वारा होता था। जिसमें लौकिक शासक तथा कुलीन लोगों का विशेष हाथ होता था। दसवीं शताब्दी में जाकर 'पोप' का निर्वाचन कार्डिनलों के निर्वाचन मण्डल द्वारा होने लगा। यही कारण था कि 'पोप' ईसाईयों का प्रतिनिधि माना जाता था। सम्पूर्ण ईसाईयों की एक प्रतिनिधी सभा होती थी, जिसे 'चर्च' की सामान्य 'परिषद' कहते थे। यह परिषद 'पोप' के धर्मभ्रष्ट होने की स्थिति में पोप को भी पदच्युत करने के अधिकार से पूर्ण थी।

उसी प्रकार 'राजा' भी जनता का प्रतिनिधि होता था, और उसे भी ईश्वर के आदेश से शासन करने का अधिकार था। उस काल में, ट्यूरनों के सम्पर्क में, आने पर 'प्रतिनिधि' संस्था का विकास आगे बढ़ता गया।

प्रतिनिधि शासन को "जौन ऑफ पेरिस" तथा मार्सिलियों और 'पेडुआ' के विचारों से बहुत ही बल मिला। लेकिन यह समस्त चिन्तक भी मतभेदों की बढ़ती हुई खाई को नहीं रोक पाये।

सन् 1601 में, इग्लैण्ड में तो धार्मिक मतभेद चरम सीमा पर पहुँच गये थे। गिरजाघरों में संघर्ष मे लीन तत्वो को एकता के सूत्र में बाँधने के उद्देश्य से सम्राट जेम्स ने, ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के अध्यक्ष डॉक्टर रीनोल्ड्स के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया, जिस में 54 गिरजाघरों के परिश्ररों को आदेश दिया गया, कि वह 'बाईबिल' का अनुवाद करके 'एकता' की माला में पिरोयें।

यह 47 अनुवादक, धर्म-प्रचारक तथा उच्चकोटि के विद्वान भी थे। इनमें से एक विद्वान तो 15 भाषाओं का ज्ञाता था। एक अन्य विद्वान वह था, जिसने यूनानी भाषा का ज्ञान रानी एलिजाबेथ तक को दिया था। वह एलिजाबेथ का शिक्षक भी रहा था। इनको इस कार्य के पूर्ण करने के लिये 6 समितियों में विभाजित कर दिया गया था। इनमें दो समितियाँ ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में ही अनुवाद के कार्य को पूर्ण कर रही थीं, दो समितियाँ कैमिब्रज में कार्य कर रही थी, तथा वँस्टमिन्स्टर स्थित विद्वान सदस्यों ने उसके आधे भाग का अनुवाद पूर्ण किया था। इन विद्वानों

में बड़े ही सुव्यव्सिथत ढंग से इस कार्य को पूर्ण किया था, सम्राट 'जेम्स' के प्रयास से अधिकारिक संस्करण सन् 1611 ई० में, शेक्सपियर की मृत्यु से 5 वर्ष पूर्व, प्रकाशित हुआ था। लेकिन इतना प्रयास होने पर भी आपसी धार्मिक संघर्ष तेज़ी से उग्र रूप लेते चले जा रहे थे। जब कि धार्मिक और आध्यात्मिक जगत से जुड़ा एक वर्ग आपसी संघर्ष से छुटकारा पाकर, शान्ति और मानव सुरक्षा की ओर बढ़ रहा था। वह वर्ग शान्ति और मानव कल्याण के लिये कार्य करने लगा था।

यूनान में एक नगर, जिसका नाम कोरियर नगर था। उस नगर का व्यापार, धन और दौलत, आस-पास के क्षेत्रों को आकर्षित करती रहती थी, जहाँ पर यहूदियों की एक बस्ती थी। जहाँ पर ईसा के प्रमुख शिष्य तथा धर्म प्रचारक सेण्ट पोल ने भी इस बस्ती में निवास किया था। सेण्टपोल, अनेकों नगरों का भ्रमण करते हुये, यहाँ पहुँचे थे। उसमें से एक प्रमुख नगर मेसेपोटामियाँ भी था।

इसी काल में, उन्होंने यहूदियों के मध्य अपनी धार्मिक गतिविधियाँ जारी रखी थीं। उसी कारण उनका रोमन अधिकारियों से संघर्ष हो गया था और उन्हें नगर छोड़कर जाना पड़ा था।

सेण्टपाल का एक चित्र, जिसमें सेण्टपाल के एक हाथ में तलवार तथा दूसरे हाथ में बाईबिल है, अब भी पी० सी० इटली के म्यूजियम में जनेल-डिन्सान मट्टेरओ (राष्ट्रीय संग्रहालय में) संग्रहित है, जो उस काल की मानसिकता को प्रदर्शित करता है, कि "धर्मग्रन्थ तथा तलवार दो अलग-अलग महाशक्तियाँ का बोध कराती है।"

वैसे सेण्टपाल को यहूदी वर्णित कहा जाता है। कहते है, वह अपने आरम्भिक काल में 'चर्च' के घोर विरोधी थे। लेकिन बाद में वह 'ईसा' के परम शिष्य बन गये ओर इसाई धर्म के धर्मशास्त्री बन कर इसाई धर्म के प्रमुख प्रचारक बन गये। उस काल में उनके लिखे 'पत्र' ईसाई धर्म के प्रमुख दस्तावेज़ है।

यह समस्त धर्मों की कहानियाँ और घटनाएँ केवल मध्यकाल में ही नहीं, आप वर्तमान काल में भी अपने पूर्ण संस्कार रखती हैं। आज भी सब कुछ बदल जाने पर भी, हम वर्तमान में भी धर्म के मामलों में, उन्हीं पुरानी संकीर्ण गलियों में भटक रहे हैं, जो उस काल में हिंसा के बल पर आंतक का सहारे लेती थी।

लेकिन यह बात भी सत्य है, **कि सत्य और अहिंसा 'ईसा' की शिक्षाओं का प्रमुख सार है। उन आदर्शो को अनेकों मिशनरिज़ देश-विदेशों में जाकर उनका प्रचार और सेवा का कार्य कर रहे थे। प्रमाण के तौर पर सेण्ट थोमस, जो ईसा के 12 शिष्यों में से एक थे, अपने जीवन काल में भारत में तक्षशिला आये थे। उस काल में उनके किये गये, धार्मिक कार्यों की कहानी ईसाई धर्म इतिहास कहता है। यह भी कहा गया है, कि उनकी हत्या भारत में ही धर्म प्रचार करते समय हुई थी।**

थॉमस की हत्या का होना, जैसा कि कुछ खोजकर्त्ताओं द्वारा वर्णित है, यह दर्शाता है, कि यह भी आपसी धार्मिक मतभेदों द्वारा, उत्पन्न हिंसा का ही परिणाम थी।

डॉ० जी० यू० पोप, आदि ने भी सैण्ट थॉमस के भारत के आने के विषय में तथा उस काल में, ईसाई-धर्म का भारत में होना, प्रमाणित करने के विषय लिखा था, कि "सेण्ट थॉमस की हत्या ब्राहमणो द्वारा उनकी ईसाई-धर्म प्रचार शैली से, उतेजित होकर की गई थी।"

करिश्मा शैली सभी धर्मों में प्रमुख स्थान रखती हैं

पाश्चात्य चिन्तन, प्राचीन यूनान और रोम के विवाद तक ही सीमित नहीं रहा, बल्कि कुछ धार्मिक विद्वानों ने धर्म प्रचार को विश्व के अन्य देशों तक भी पहुँचाया, जहाँ उनका संघर्ष अन्य धर्मों के अनुयायियों के साथ भी हुआ। कुछ लोगों ने ईसाई धर्म को आसानी से ग्रहण कर लिया और कहीं-कहीं धर्म परिवर्तन रक्त रंजित संघर्ष में बदल गया। **वैसे देखा गया है, कि राजनीति वैचारिक संघर्ष, जो मध्य युग से शुरु हुआ था, वह आधुनिक युग तक दिखाई पड़ता है, जो निरन्तर बढते हुये, वर्तमान तक पहुँच गया है। इसमें राजनीतिक 'चिन्तन' कोई विशेष दिशा नही पकड़ सका था,** क्योंकि 'धर्म' ने समस्त मानसिक तथा सामाजिक और राजनैतिक तत्वों पर अपना आधिपत्य जमा लिया था और धर्म समस्त राजनीति संचालन का ठेकेदार भी बन गया था। उस काल में धर्मतन्त्र के सामने समस्त राजनैतिक तथा सामाजिक चिन्तक हाथ बाँधे खड़े रहते थे और वह तलवार के बल पर धर्म विस्तार की आंतकी खौफनाक तस्वीर पेश कर रहे थे।

धीरे-धीरे समय चक्र करवट बदल रहा था। लौकिक राजनीति शासन धर्मतन्त्र से छुटकारा पाने में सफल हो गया था। चर्च में भयानक फूट आ गई थी। परिणामस्वरूप 1378 ई० में एक के बदले दो 'पोप' हो गये थे। 1409 के बाद तीन पोप हो गये फिर भी 'धर्म' संघर्ष 'निरन्तर चल रहा था। अन्त में, तीनों 'पोपो' को हटा कर मार्टिन पंचम नामक नये 'पोप' का निर्वाचन किया गया। इसके बाद धर्म सुधार आन्दोलन का युग आरम्भ हुआ।

कुछ भारतीय विद्वान यह नहीं मानते कि सैण्ट थॉमस भारत आये थे और उनकी हत्या ब्राह्मणों द्वारा कर दी गई थी। कुछ पश्चिमी विद्वान जैसे बोल्ने ने भी 1791 में अपनी पुस्तक (66 "साइंस औफ एम्पायर") में इस कहानी की सत्यता के विषय में सन्देह जाहिर किया था। सन् 1808 में नेपोलियन ने वीलउ नामक जर्मन विद्वान से मालूम किया था, कि "क्या वह इस तरह की धार्मिक कहानी की सत्यता में विश्वास करता है?

धर्म प्रचार, में करिश्मा शैली का योगदान महत्वपूर्ण हैं

मध्यकाल और उसके बाद भी 'धार्मिक' कथाओं में, धर्म को 'करिश्मा शैली' द्वारा, जनप्रिय बनाकर, उसके विश्वास को दृढ करने में सहयोग करता रहा है। ईसाई धर्म भी इस प्रथा से अलग नहीं रहा है। पुर्तगाल में "अपर लेडी ऑफ फातिमा" के दर्शन के समय तीन चरवाहे बच्चों ने, बादल पर आरूढ़ श्रद्धा योग्य कुमारी (मेरी) के दिव्य दर्शन के समय, महसूस किया था, कि "वह सूर्य से भी अधिक तेजस्वी थीं," फ्राँस में ('लिसिउक्स' कर "दनरालर गृह", इटली में टूटिन प्रार्थना भवन में,) जहाँ पवित्र 'कफन' रखा है, उसे 'करिश्मा शैली' द्वारा, चमत्कारी स्थल के रूम में, नवाज़ा गया है।, धार्मिक आस्ता, और भावना से पूर्ण श्रद्धालू जन लाखों की तादाद में, चमत्कारी गाथाओं से प्रभावित हो रहे हैं। भारत में हिन्दु धर्म भी करिश्मा शैली के उदाहरणों से पूर्ण रूप से प्रभावित रहा है।

"प्राचीन काल में, 9वीं शताब्दी के लगभग, और उससे पूर्व इस्लामी शासन के दौरान, अधिकतर यूनानी धर्म केन्द्र नष्ट कर दिये गये थे। लेकिन कुछ 'मठ' बच गये थे। उनमें से एक ऐथेन्स से लगभग 150 मील दूरी पर, अनीअन समुद्र के पार पर्वतों के मध्य, आदिवासी ढंग से जीवन व्यतीत करने वाले 'अथोस' नामक मलवासी समुदाय का है। यह छोटा सा समुदाय

छोटे से स्वशासी क्षेत्र में समाया है। इस में 'कार्येस' स्थित पवित्र धर्म सभा द्वारा शासित लगभग 20 'मठ' हैं। जो रूढीवादी हैं! उक्त धर्म का एक-एक प्रतिनिधि होता हैं। इसकी स्थापना लगभग एक हज़ार वर्ष पूर्व हुई थी। सम्भवतः उसका आरम्भ एथेंन्सवासी पीटर ने किया था। यह एक मात्र धर्म केन्द्र था, जो इस्लामी या आटोमन शासकों के विध्वन्स और आतंक से बचा था। अन्य सभी मठ नष्ट कर दिये गये थे। धार्मिक आतंक विस्तार परम्परा में हज़ारों धार्मिक मठ यूरोप में नष्ट कर दिये गये।

इन मठों में प्राचीन साहित्य की पाण्डुलिपि का अपार भण्डार है। उनके पुस्तकालय में 50,000 प्रतियाँ संग्रहीत हैं, जो अति प्राचीन काल के जीवन की गाथाओं का वर्णन करती हैं।

नयी शताब्दी में, मठवासी "पवित्रा तथा पूर्ण शुद्धता" की सौगन्ध लेने के पश्चात् 'काम वासना' को कठोरता से दबा देते थे। उस 'मठ' में स्त्रियों का प्रवेश वर्जित था। यहाँ तक कि जीवधारी मादाओं तक को वहाँ प्रवेश नहीं करने दिया जाता है। वहाँ मुर्गे हैं, लेकिन मुर्गियाँ नहीं है। वहां, गाय नहीं प्रवेश कर सकती थीं। वहाँ किसी भी बच्चे ने जन्म नहीं लिया। इस तरह के अनेकों प्राचीन मठ उस काल में बर्बरता द्वारा नष्ट कर दिये गये थे। फिर भी इस तरह के कुछ मठ, जो विध्वंस से बच गये थे, आज भी उस काल की प्राचीन आकृति का इतिहास बताते हैं।

मैकियावली और धर्म-निरपेक्षता

मैकियावली (Machiavelli) आधुनिक युग का जन्मदाता कहा जाता है। उसने मध्यकालीन धर्मतन्त्र की कठोरता पर जमकर प्रहार किये थे तथा उसने नूतन और मौलिक विचारों की स्थापना कर धर्मनिरपेक्ष राजनीति की वकालत की थी। वह यूरोप में नवीन चिन्तन धारा का अग्रदूत बनकर आया था। इसीलिये उसे आधुनिक राजनीतिक चिन्तन का जनक कहा जाता है। उसकी सब से बड़ी विशेषता यह थी कि उसने धर्म को राजनीति से अलग करने की ज़ोरदार वकालत की थी। यही नहीं उसने मध्यकाल की अन्धविश्वासी प्रथाओं पर कड़े प्रहार भी किये थे।

मैकियावली एक विख्यात, राजनैतिक, दार्शनिक नवीन साहित्यकार और उच्चकोटि के इतिहासकार के रूप में जाना जाता है। वैसे उसका जन्म 1469 ई० में इटली के 'फ्लोरेन्स' नगर में हुआ था। उसके पिता पेशे से वकील थे, लेकिन मैकियावली को अपनी शिक्षा के लिये पारिवारिक सहयोग नहीं मिल पाया था, इसलिये शिक्षा के मध्य ही उसे आजिविका की खोज करनी पड़ी। उसमें अपार राजनीतिक प्रतिभा समाई थी, इसलिये वह फ्लोरेन्स की दस सदस्यों की शासन परिषद का सचिव बन गया था। 14 वर्ष कार्य करने की अवधि में उसने अपनी प्रतिभा को मुखरित करने के अवसरों का पूर्ण लाभ उठाया, वह राजनीतिक यात्रा के लिये बर्लिन तथा रोम आदि देशों में गया तथा उसने अपने राजनैतिक सम्बन्धों को और भी मजबूत बनाया। लेकिन भाग्य ने पलटा खाया। 1512 ई० में फ्राँस और स्पेन में भंयकर युद्ध हुआ, जिसमें फ्राँस की पराजय हुई। समय का चक्र बदल गया। विधाता ने उसे सत्ता से अलग कर दिया, क्योंकि फ्राँस की हार के बाद फ्लोरेन्स के सभी सत्ताधारी अधिकारी बदल गये थे, इस कारण से मैकियावली को भी-कष्टों का सामना करना पड़ा। उसे फ्लोरेन्स से निकाल कर बाहर कर दिया गया। इतिहास लिखता है, कि उसे बन्दी भी बना लिया गया था, लेकिन बाद में उसे रिहा कर दिया गया। इसके बाद उसने अपना समय अपने परिवार के साथ, अपने एक गांव के फार्म-हाऊस में ही व्यतीत किया। उसने वहीं पर अपना अध्ययन तथा लेखन कार्य जारी रखा।

उसकी रचनाओं में मुख्य दी प्रिन्स (The Prince) दी 'आर्ट ऑफ वार' (The Art of War) तथा (The History of The Florence) हैं।

ख्याति प्राप्त, राजनैतिक दृष्टि से उसकी महत्वपूर्ण रचना दी प्रिन्स (The Prince) है, जो 1513 में लिखी गई थी, पर इसका प्रकाशन 1532 में हुआ था, जो राजनैतिक दृष्टिकोण से उसकी महत्वपूर्ण कृति है।

मैकियावली की दूसरी महत्वपूर्ण पुस्तक "डिस्कोर्सेज़ ऑन टिटस लिवीअस (Discourses on titus Livius) है, उसमें रोम के इतिहास की विवेचना वर्णित है।

मैकियावली ने ही राजनीति से धर्म का पृथक्करण करके धर्म निरपेक्षता को जन्म दिया

था और आधुनिक युग की दहलीज़ पर खड़े राजनैतिक दर्शन को, नई दिशा देकर आगे का मार्गदर्शन करने का काम भी किया था। उसने राजनीति को नैतिकता के बन्धनों से मुक्त करने की धोषणा भी की थी।

वह जन्म से रोमन कैथोलिक था, लेकिन फिर भी उसनें धर्मतन्त्र और उसकी निरंकुश-सत्ता का जमकर विरोध किया था। उसने दुख प्रकट करते हुये, वर्णन किया कि "ईसाई धर्म के होते हुये भी, न जाने कितने शिष्टजन अत्याचारियों का शिकार हो गये"। मैकियावली के शब्दों में इटली के निवासी निर्धन तथा बेबस लोग, पोपशाही के कारण और उसके भ्रष्टाचारी आचरण के कारण, नैतिकता तथा धर्मभावना खो चुके थे। साम्प्रदायक उन्माद ने ही इटली की राष्ट्रीयता को छोटे-छोटे टुकड़ों में विभाजित कर उसे छिन्न-भिन्न करने का कार्य भी किया था। मैकियावली ने धर्म को परिस्थितियों के अनुरूप कार्य करने का नाम बताया, न कि ईश्वर के अपरिर्वतनिय नियमों के पालन करने में। मैकियावली ने राज्य की प्रभुसत्ता को निर्देश दिया कि 'राज' (State) को धर्म (Religion) को अपने नियंत्रणाधीन रखना चाहिये। उसके लिये धर्म एक साधन मात्र है, कोई साध्य नहीं है। विद्वान कैटलिन (Catlin) के शब्दों में धर्म राजनैतिक से अलग है।" मैकियावली का मत था कि **"धर्म का राजनीति की स्थिरता और मजबूती के लिये प्रयोग तो राज्य द्वारा किया जा सकता है। लेकिन धर्म राज्य का एक शस्त्र है, जो राज्य के हित में काम करता है।"**

Machialvelli sharply distinguishes, between politics and religious principles. He treats religious institutions as the instruments of the politicians for giving sentimental supports to the stalility and bravery of the state.

"मैकियावली ने ईसाई धर्म के "विश्वव्यापी दृष्टिकोण" (Cosmopolitan Christian Religion) को अस्वीकृत किया था।" जहाँ तक नैतिकता का प्रश्न है, मैकियावलि ने नैतिकता को राजनीति में कोई महत्व नहीं दिया। उसकी दृष्टि में साध्य, साधन के औचित्य को बतलाता है। "The end justifies the means." राजा अपनी सुरक्षा और विजय के लिये कोई भी साधन अपना सकता है। उसका हर कार्य राष्ट्र रक्षा हेतू प्रशंसा योग्य है।

उसने अपनी राजनैतिक नीति में साफ कहा "शेर और लोमड़ी" की नीति को ध्यान में रखना चाहिये। शेर चालाक होने पर शत्रु के जाल में फंस जाता है। जबकि लोमड़ी शक्तिवान न होने पर भेड़िये को मात देती है। राजा को शेर की तरह बलवान होना चाहिये, और लोमड़ी की तरह चालाक होना चाहिये।

मैकियावली के अनुसार, एक शासक अपनी विजय के लिये, नैतिक, अनैतिक, धार्मिक, अधर्मी और हिंसक तथा अहिंसक सभी साधन प्रयोग कर सकता है।

विद्वान सेवाईन ने कहा "मैकियावली अनैतिक इतना नहीं था, जितना नैतिकता-निरपेक्ष था"।

For the most part Machiavelli is not so much immoral as non-moral. He simply abstracts politics from other considerations and writes of it as if it were an end in itself."(Sabine G. Hop. P. 339)

वास्तविकता यह लगती है कि मैकियावली मध्य युग के धार्मिक अन्धविश्वासों, और धार्मिक ढोंग का आवरण पहनकर चलते फिरते पापियों को देकर, धर्म और नैतिकता के प्रति

बाग़ी हो गया था। उसने देखा, धर्म और नैतिकता की आड़ में भ्रष्टाचारियों ने, विशेष रूप से 'धर्मतन्त्र' के नेताओं ने अपार सम्पत्ति तथा शक्ति एकत्र कर ली थी और वह अत्याचारी बन गये थे तथा घोर भोग-विलासी बनकर जनता का शोषण करते थे। अत्याचारी लोग, धार्मिक नेताओं के साथ आंतक मचाकर हत्याएँ करते थे। **उसका विश्वास बन गया था कि मनुष्य हर आचरण में राजनैतिक खेल-खेलता है। धार्मिक, आध्यात्मिक तथा नैतिक संकल्पों में, चाहे वह किसी भी प्रकार के लिवास में लिपटे हों, आखिर वह राजनीति के वशीभूत, खिलाड़ी ही पाये जाते हैं।**

उसकी दृष्टि में धर्म भी एक राजनीति ही है। जो अन्त में भौतिक सुखों की मंजिल पर आकर ही समाप्त होता है। उसमें भी वही 'वासना' नज़र आती है जो भोग की राजनीति में सुनने को मिलती है।

मैकियावली ने संकेत दिया था, **राजनीति एक अलग किस्म की वस्तु विषय है। "धर्म, नैतिकता" तो केवल एक सुरक्षा कवच है, जिसे राजनीतिज्ञ राजनीति बचाव के लिये धारण करता है। मैकियावली का मानना था, कि धर्म के आवरण में राजनीति-आनन्द से मौज करती है और आराम से निडर होकर उसमें सुरक्षित भी रहती है, इसलिये उसने धर्म और नैतिकता को राजनीति से अलग किया। उसका मानना था कि 'धर्म' मनुष्य को अन्धविश्वासी बनाता है। उसके प्रभाव में, मनुष्य अकर्मण्य बनकर निरर्थक ढोगी बन जाता है। उसका मानना था कि "धर्म के साथ मिलकर राजनीति घोर हिंसक हो जाती है।"**

"डनिंग (Dunning W. A.) ने उसके विषय में लिखा, "मैकियावली धर्म विहीन नहीं था, वह तो धर्म निरपेक्ष था। वह राजनीति के प्रति दुराचारी नहीं था, सदाचार निरपेक्ष था"।

"Machiavelli is not irreligious but unreligious." He is not immoral, but unmoral in his politics." (Dunning W. A. Page 299-300)

ऐसा लगता है मैकियावली धर्म और राजनीति के हिंसक व्यवहार को देखकर, 'स्वयं' अपने पर ही से विश्वास खो बैठा था उसे 'मनुष्य' से ही डर लगने लगा था। वह 'मनुष्य' होते हुये, मनुष्य से ही घबरा गया था। उसने मनुष्य की शांत और अहिंसक प्रवृत्तियों पर ही सन्देह कर डाला था। **उस समय के वातारण को देखकर वह 'मनुष्य' के प्रति बागी होकर चिल्लाने लगा था, कि मनुष्य का क्या है, वह तो जन्म से ही दुष्ट, अकृतज्ञ, पाखण्डी तथा चचंल और धोखे-बाज़ होता है। धन का लालची होना उसके स्वभाव में है। वह जो भी करता हैं, उसमें उसका स्वार्थ ही होता है। मैकियावली ने मनुष्य के स्वार्थ के विषय में लिखा, "मनुष्य इतना स्वार्थी है, कि वह अपनी "पैतृक सम्पत्ति की हानि की तुलना में, अपने पिता के मृत्यु शोक भूल जाता है।"**

युद्ध और आतंक मचाना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति में है। वह प्रेम और ममता के वचनों को कभी भी तोड़ सकता है। लेकिन मनोवैज्ञानिक दष्टीकोण से, वह भय की जंजीरों को कभी नहीं तोड़ सकता है और ना, ही उसे कभी भय से मुक्ति मिलती है। भय तो उसकी अपनी निजी धारणा है, जबकि **प्रेम के लिये उसे दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है।**

उसने साफ शब्दों में कहा **"मनुष्य स्वभाव से दुष्ट और स्वार्थी है"** वह केवल मजबूरी में सदव्यवहारी होने का ढोंग करता है, मनुष्य एक ऐसा दुष्ट प्राणी है, कि "वह मनुष्य के हृदय

में 'प्रेम' तो उत्पन्न करना ही नहीं चाहता है, वह तो भय का सहारा लेकर, दुनिया को चलाना चाहता है।"

मैकियावली, धर्म से, राजतन्त्र को छुटकारा दिलाते-दिलाते, स्वयं ही 'भय' के आतंक से पीड़ित हो, प्रत्यक्ष रूप से ही 'राजनीति' को भयतन्त्र की अनैतिक कोठरी में बन्द करके, विलाप करने लगा और विरोधाभाव की भूल भुलैंयों में फंस गया।

उसका विरोधाभास तब कितना अजीब सा लगता है जब वह मनुष्य स्वभाव को केवल स्वार्थी ही पाता है, तो वह राजनीति में पवित्रता और स्वच्छता कैसे लायेगा ? यह प्रश्न राजनीति के सामने खड़ा है।

उसके राजनीति दर्शन सिद्धान्त मध्यकाल के लिये तो कहीं-कहीं ठीक कहे जा सकते हैं, लेकिन सभ्य दुनिया के प्रत्येक युग में, स्वीकार नहीं किये जा सकते। इसके साथ ही साथ वह धर्मनिरपेक्षता का पितामह तो कहा ही जायेगा, क्योंकि उस काल में राजनीति से धर्म को अलग करना कोई आसान काम नहीं था।

इतना तो सत्य है कि मैकियावली की अध्ययन-पद्धति मानव स्वभाव के अनुरूप उसकी आवश्यकता के कारण ही उत्पन्न हुई। उसने स्वीकार किया था, कि समाज और राज्य की उत्पत्ति संयोग की घटना है। मनुष्य समाज की सुरक्षा, और उसके आगे मनुष्य की सुरक्षा, अथवा उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये ही राज्य का जन्म हुआ है। **उसकी दृष्टि में, राज्य कोई ईश्वर द्वारा अवतरित संस्था नहीं है। यह मनुष्य द्वारा बनाई संस्था है, जो उसके स्वार्थपूर्ण हितों की रक्षा के लिये बनाई गई है।**

मैकियावली की मान्यता थी, राज्य एक परिवर्तनशील संस्था भी है। उसकी दृष्टि में 'राज्य' दो प्रकार की अवस्थाओं में बंधे पाये जाते हैं, एक तो स्वस्थ राज्य, जो राज्य एकता बनाये रखते हैं, वह आगे विकसित होते रहते हैं। वह अपनी शक्ति के बल पर, 'युद्ध' में विजय पाकर अपना आकार बढ़ाते रहते हैं। दूसरे अस्वस्थ राज्य होते हैं, जो छोटे-छोटे विवादों में समय नष्ट करते हैं। उसकी दृष्टि में, युद्ध शक्ति उनमें नहीं होती है। वह कमज़ोर तथा शिथिल होते हैं, उनमें एकता का अभाव रहता है।

मैकियावली ने मानव प्रकृति का 'नग्न' अध्ययन किया था। उसने साफतौर पर कहा "मनुष्य सार्वजनिक रूप में धर्म तथा नैतिकता और आदर्शवाद की बात करता है। लेकिन वास्तव में यह उसका ढोंग और दिखावा है। ऊपर से नैतिकता का आवरण पहनने वाला यह 'आदमी' अन्दर से भौतिक सुखों का नग्न अभिलाषी है।" मैकियावली साफ कहता था, कि "सिद्धान्तों, नियमों की गाथा गाने वाला यह "मनुष्य", वास्तव में पर्दे के पीछे कुछ और ही है। वास्तव में वह अन्दर से दुष्ट और स्वार्थी है और वाहर से नैतिकताधारी चालाक प्राणी है। मैकियावली ने, मूढ़ताओं, अन्धविश्वासों की जहरीली कालिमा में डूबी अध्ययन पद्धति का बहिष्कार किया। उसने मनौवैज्ञानिक तथा "वैज्ञानिक-पद्धति की आरम्भिक आधारशिला रखने का प्रयास किया। यह तो सर्वमान्य विदित है, कि मध्यकालीन, अध्ययन-पद्धिति अन्धविश्वास और मूर्खताओं से पूर्ण थी।

मैकियावली ने उस काल में, मानव समाज को, मध्य युग की निष्ठुर प्रवृति से निकालकर, आधुनिक 'युग' की ओर बढ़ाने के लिये प्रोत्साहित किया। उसने धर्म और नैतिकता को एक

नवीन रूप प्रदान किया। उसके दर्शन के विषय में विद्वान मैक्सी ने कहा, "उसने राजनीति को भ्रष्ट नहीं किया, जो वर्षों-पूर्व से किया जा रहा था। उसने उच्च स्थानों पर बैठे लोगों का असली चेहरा प्रकट किया, तथा स्वच्छता के साथ घटित, पवित्र स्थानों पर किये जाने वाले षडयन्त्रों का खुलकर पर्दाफास किया, जो धर्मतन्त्र की ओट में, कार्य कर रहे थे।"

उसने प्रमुख कार्य यह किया था, कि नवीन युग के शैक्षिक रूढ़िवाद से मुक्ति दिलाकर, नये युग के "राजनैतिक शिशु" को जन्म दिया था। जिसका उद्देश्य धर्म-निरपेक्ष राज्य की 'कोमलता' को और नवजात मार्क्स बाद को संरक्षण देना भी था।

उस काल की 'गति' के चलते चक्र में, उसने धर्मान्धता से तो छुटकारा दिलाने का यत्न किया, लेकिन राजतन्त्र की 'निरंकुशता' और राजनीति की अवसरवादिता को हवा देकर, मानवता को, नई निष्ठुरता के हवाले, लाकर खड़ा कर दिया, जहाँ मानवता अन्ध-विश्वास के अन्धेरे कुँये से तो बाहर खुली हवा में, निकलकर सांस लेने गली। लेकिन राजनीति की अंधेरी खाईयों में जा गिरी। **'यूरोप' में, खूनी आतंक की तलवार, मैकियावली ने धर्मतन्त्र से छीन कर, फिर से अनैतिक, निरंकुश और निष्ठुर सत्ताधारी राजतन्त्र के हाथों में थमा दी, जो राज्य विस्तार की खूंखार इच्छा लिये, अशान्ति फैलाती फिर रही थी, और कत्ले आम उसका पेशा बन गया था। धर्म, गरीब आदमी पर दया तो करता था, लेकिन राजतन्त्र की कठोरता तो खुले आम मानवता को नष्ट कर रही थी।**

मैकियावली की अध्ययन पद्धति मानव स्वभाव के अनुरूप, उसकी आवश्यकता के कारण ही उत्पन्न हुई। मैकियावली ने स्वीकार किया कि समाज और राज्य की उत्पत्ति एक संयोग की घटना है। मनुष्य समाज की सुरक्षा और उसमें निवास करने वाले, मनुष्य की सुरक्षा, अथवा उसकी सम्पत्ति की सुरक्षा के लिये ही राज्य की उत्पत्ति हुई है, उसकी दृष्टि में राज्य कोई ईश्वर द्वारा अवतरित संस्था नहीं है, यह मनुष्य द्वारा मनुष्य के लिये बनाई संस्था है जो उसके स्वार्थ पूर्ण हितों की रक्षा के लिये बनाई गई है।

मैकियावली कहता था, कि 'राजतन्त्र' तथा 'गणतन्त्र' दोनों की तलवार में दम होना चाहिये। उसके साथ ही साथ उसमें राज विस्तार की अभिलाषा ही नहीं, विश्वास भी होना चाहिये। उसका मत था, कि जो शरीर स्वस्थ होता है, वह ही विकसित होता है। उसी प्रकार राज्य की स्वतन्त्रता और उसकी शक्ति जब तक धर्मतन्त्र से पूर्णतय मुक्त नहीं होगी, तब तक स्वस्थ 'राज्य' नहीं बनेगा। इसी प्रकार राज्य को अन्य प्रतिबन्धों से स्वतन्त्र प्रवृति का होना, उसका विकास करता है। राज्य की सीमाएँ बन्धन मुक्त होकर ही आगे बढ़ती रहनी चाहिएँ।

एम० वी० फास्टर के अनुसार "प्लेटो राज्य विस्तार की अभिलाषा को एक रोग मानता है, जबकि मैकियावली इसे अच्छे स्वास्थ का लक्षण स्वीकार करता है।"

मैकियावली को यह श्रेय जाता है, कि उसने राजनीति को 'धर्म' से पृथक कर स्वच्छ धर्म-निरपेक्ष राजनीति प्रणाली को जन्म दिया। उसका कथन था "राजनीति को धार्मिक प्रयोजनवाद के चक्रव्यूह से स्वतन्त्र करके, यर्थाथ जिन्दगी को पगडण्डी पर चलने को उत्साहित करना चाहिये।" इस आधार पर वह धर्मनिरपेक्ष राजनीति (Secular Politics) का प्रथम शिल्पकार था।

वह जहाँ अन्धविश्वासों का कट्टर विरोधी था, वहाँ उसने स्पष्ट रूप से दैवी तथा प्राकृतिक कानूनों की सख्त आलोचना की थी। मैकियावली ने अपने राजनीतिक शासन को

निर्देश दिया कि "सब प्रकार के राज्यों और उसकी सरकारों का आधार नागरिक कानून है।" नागरिक कानून के आधार को ही 'हाब्स' ने तथा मार्क्सवादियों ने भी आगे जाकर अपनाया। यदि साफ शब्दों में कहा जाये तो वह आधुनिक युग का प्रथम यथार्थवादी दार्शनिक था। उसने 'राज्य' की महत्ता को विकसित करके आधुनिक 'राष्ट्रवाद' की नींव भी रखी थी। इसलिये विद्वानों ने उसे आधुनिक **"राष्ट्रवाद का पिता"** भी कहा है। उसने धर्मनिरपेक्षता के साथ-साथ व्यावहारिक राजनीति की नींव भी रखी थी। यह बात स्वीकार की जाती है, कि उपयोगितावाद और व्यक्तिवाद की विचारधाराओं का जन्म ही मैकियावली के दर्शन से विकसित होकर आगे बढ़ा है। मैकियावलि ने सन्देश दिया "यदि मनुष्य चाहता हैं कि वह दुख से मुक्ति पाये तथा सुख से जीवन व्यतीत करे, तो उसे स्वतन्त्र व्यक्तित्व से जीना होगा।" यह सिद्धान्त सर्वप्रथम मैकियावली ने ही दिया था।

एक ओर उसने शासनतन्त्र को राज्य विस्तार के मामले में, उचित और अनुचित साधनों का प्रयोग करके सत्ता और राज्य विस्तार की सलाह दी थी, तो दूसरी ओर शासक वर्ग पर प्रतिबन्ध भी लगाया था कि शासक वर्ग को दूसरे राज्य पर कब्जा करने पर, दूसरों की सम्पत्ति और जनता की सम्पत्ति पर हाथ नहीं लगाना चाहिये।

'मैकियावली' ने धर्म, अन्धविश्वास और उसके द्वारा उत्पन्न जुल्म और अत्याचार से पीड़ित आत्मा को मुक्ति दिलाने का प्रयास किया था। अपने तरह के, उस दर्शन की खुली वकालत से वह एकांकी हो गया था। उसका धर्म और नैतिकता से बाग़ीपन, साम्राज्यवाद के विस्तार में, अनैतिक और 'अनुचित' कर्मों की वकालत करना, मानवता का चीर हरण करता नज़र आता है। मनुष्य प्रकृति के बारे में उसका मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अधूरा तथा एक तरफा ही है, उसने मनुष्य को जन्मजात अवगुणी मान लिया था। जबकि 'मानव' में अपार स्नेह, सहयोग, सदाचार, दूसरों के लिये त्याग और सेवा से पूर्ण 'मानव' व्यक्तित्व भी है। प्रेम और सहयोग उसके अनुपम गहने हैं, जो उसे सदा सृजन और निर्माण के लिये प्रेरित करते रहते हैं। मैकियावली मानव 'समाज' को धार्मिक, अन्धविश्वास के अनैतिक बन्धनों से मुक्ति तो दिलाता हैं, पर वह मनुष्य समाज को, ऐसी, राजनैतिक-जर्जर नौका के सपुर्द कर देता है, जो घृणा की मनचली आँधियों और तूफानों में सम्पूर्ण मानवता की प्रतिभा को ही नष्ट कर देती हैं, उसने राज्य प्रभुसत्ता को धुधंली अव्यवस्थित दशा के हवाले कर 'युद्ध' क्षेत्र के खूंखार 'जंगली' बर्बर प्रवृत्ति के हवाले कर दिया, जो हिंसा का सहारा ही लेगी और विध्वंश ही करेगी। वह एक दूसरे को धोखा ही देगा। सहयोग और प्रेम उसके समाज से हमेशा दूरियाँ ही बनाये रखेंगें और अनैतिक रास्ते का सहारा लेकर आतंक मचाएँगे। युद्ध में विजय के लिये हर कुकर्म उनके लिये जायज होगा। जो धार्मिक आतंकवाद से ज्यादा हिंसक और बेरहम होगा।

मैकियावली का 'शक्तिवाद' और हिंसा को समर्थन देना और वह भी छल-कपट और छदम रणनीति के माध्यम से, बहुत विषैला और ख़तरनाक है। वह सब भी हिसंक समाज की जन्मपत्रि लिखने के समान ही होगा। वह व्यभिचार, कपट निर्मम, अमानवीय तथा दारूण कष्टदायक परिस्थितियों को जन्म देकर, एक आतंकी प्रवृति को बढ़ाने की प्रेरणा देता हुआ चलता है। जब 'राजतन्त्र' अनैतिक होगा, तो 'जनता' भी अनैतिक मार्ग पर ही चलेगी, क्योंकि उसमें धर्म और नैतिकता तो होगी ही नहीं।

राज्य और उसका शासक वर्ग कपट, छल और छद्म (Tickery and Deception Stimu-

lated) को राष्ट्रीय राजनीति का आधार बना कर नैतिक निरपेक्ष कहलाकर, और अराजकता तथा उत्तेजना फैलाकर राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति करेगा, तब ऐसे असामाजिक तत्वों को सहास मिलेगा, जो हिंसा और स्वार्थ की 'राजनीति' को विकसित करेंगे। उसमें मानवता कैसे बच पायेगी। इसका उत्तर मैकियावली का दर्शन नहीं दे पाता। मैकियावली को राजनैतिक शास्त्र के पण्ड़ितों ने यह कहकर, उसके कार्य को आगे बढ़ाया कि मैकियावली पाठकों को उसकी त्रुटियों पर अधिक ध्यान नहीं देना चाहिये, क्योंकि वह अपने युग का 'शिशु' (Child of his Time) था, जिसका व्यक्तिगत उद्देश्य 'इटली' को एक शक्तिशाली 'राष्ट्र' बनाना था।

जीन-बोदाँ और धर्मनिरपेक्षता

जीन-बोदाँ (Jean Bodan) जैसे विद्वानों ने भी, 1530 ई० में जन्म लेकर 1596 ई० यानि अपनी मृत्यु तक राजनीति क्षेत्र में, धर्म-निरपेक्षता की वकालत की थी। उसने 'सहिष्णुता' को एक उज्ज्वल नीति के रूप में स्वीकार किया। उस काल में, 'समय' बड़े धार्मिक सघंर्षों में होकर गुज़र रहा था। 1562 ई० से लेकर 1898 ई० तक लगभग, 9 धर्म युद्ध हो चुके थे तथा यूरोप में, प्रोटेस्टेण्टों तथा कैथेलिकों के मध्य भयंकर धर्म-युद्ध चल रहा था। वह काल धार्मिक अहंकार, आतंक और दमन का काल था, जिसमें, फ्राँस की राष्ट्र एकता के तार-तार हो चुके थे। मानव विकास का समय, भयानक धार्मिक संघर्षे, अन्धकार की काल रात्री में, धार्मिक हिंसा की परतों में समायें थे, जो मानवता को नष्ट कर रहे थे।

उसी समय में, एक संस्था का जन्म हुआ, जो अन्धेरा दूर कर उजाले की तलाश में आगे बढ़ रही थी। इस धर्म आन्दोलन को 'पोलिटिज' (Politics) कहा जाता था, जो सभी धर्मों के महत्व को स्वीकार करके फ्राँस की एकता चाहते थे। तथा फ्राँस को एकता के सूत्र में बाँधने के पक्ष में थे। 'बोदाँ' भी उस संस्था का सदस्य तथा उसका पक्का समर्थक था। वह धार्मिक सहिष्णुता (Religious Toleration) के बल पर फ्राँस का हित चाहता था।

धार्मिक सहिष्णुता किसी राष्ट्र के लिये एकता कायम करने और उसकी उन्नति की प्रमुख कुँजी है, जो शांतिपूर्ण जीवन की पहल करती है। बोदाँ ने अपने विचार प्रकट करते हुये वर्णन किया था कि "धर्म एक व्यक्तिगत साधना है, यह कोई सार्वजनिक मामला नहीं हैं। 'राज्य' का कर्त्तव्य है, कि सभी धर्मों को और सभी व्यक्तियों को समान रूप से सम्मान दें। सभी धर्मों का सहअस्तित्व राज्य के स्वच्छ जीवन के लिये एक आवश्यक तत्व है" बोदाँ ने कहाँ "धर्म की एकता राज्य की एकता से ज्यादा महत्वपूर्ण है, राज्य को सभी धर्मों को एक दिशा की ओर ले जाने का प्रयास नहीं करना चाहिये।" उसने कहाँ "यदि 'फ्राँस' सभी लोगों पर एक ही धर्म को लादने का प्रयास करेगा, तो अवश्य ही संघर्ष होगा और अशांति का साम्राज्य बढ़ेगा। सब पर शक्ति के बल पर एक धर्म लादने का प्रयास होने पर, साम्प्रदायिक संघर्ष होंगे वैसे 'सहिष्णुता' कोई भौतिक या धार्मिक आराधना नहीं हैं। यह कोई नैतिक सिद्धान्त भी नहीं है, बल्कि एक 'राज्य' की निर्माण नीति होनी चाहिये, जिस पर चलकर राज्य शान्ति और स्वस्थ व्यवस्था कायम करे। यह समाज की आवश्यक 'उपयोगिता' भी है जो राष्ट्र एकता को शक्तिवान बनाती है। **वह धर्म विरोधी नहीं था। उसने यह भी कहा था "नास्तिक कभी भी अच्छे नागरिक नहीं हो सकते है।**

'जीन बोदाँ' का जन्म 'ऐगर्स' नगर में, फ्राँस में हुआ था। वह फ्राँसीसी, यूनानी तथा

यहूदी भाषा का ज्ञाता था। उसमें अपार मधुरता थी। उसने दर्शनशास्त्र और कानून शास्त्र का अध्ययन भी किया। वह कई भाषाओं का ज्ञाता था वैसे तो 'बोदाँ' की लिखी गई अनेकों पुस्तकें हैं। उसमें से यूनिवर्स नेचर थियेट्रम (Universe Nature Theatrum), रेसपान्स (Response), 'डॅमनोमैनी (Demonomanie), हेप्टाप्लोमर्स (Heptaplomeres) आदि अधिक प्रसिद्ध हैं।

'जीन बोदाँ' ने कहा था, मैकियावली ने राजनैतिक विचार तो व्याहारिक दिये लेकिन उसने नैतिक दर्शन की हत्या कर दी। 'बोदाँ' ने शासन को विवेकशील होने का सुझाव भी दिया था। उसका मत था, शासन प्रकृति के कानून के अनुरूप होना चाहिये, जो न्याय प्रिय होता है। वही राज्य नागरिकों के हित की अभिवृधि करता है और सुखमय प्रसन्नता देता है। उसने मानव के व्यक्तिगत अधिकारों और स्वतन्त्रता की बात अपने दर्शन में कही थी। 'बोदाँ' भी नागरिक अधिकारों की बातें करता था, लेकिन दास प्रथा को मान्यता देकर रूढिवादिता में अपने दर्शन को रखे हुये था।

कार्लमार्क्स और धर्म

मार्क्स से पूर्व का समाजवाद एक स्वप्नलोक की कल्पनावादी भावनाओं में भटक कर रह गया। सभी जानते हैं कि प्लेटो ने भी "दार्शनिक राजाओं" (Philosopher King) के दार्शनिक सिद्धान्त द्वारा राजनैतिक शक्तियों के मध्य, समाजवाद का चिन्तन किया था, जो काल्पनिक विचारधाराओं में समा कर रह गया था। इंग्लैण्ड के "टामसमूर" ने "कल्पना लोक" (Utopia) नामक प्रसिद्ध कृति की रचना की थी। जिसमें उसने आदर्शवादी समाजवाद का वर्णन किया था। 1760 ई० से 1825 ई० में सेण्ट साइमन ने "एक नैतिक अन्तर्राष्ट्रीय समाज की रचना का स्वप्न देखा था। उसमें, उसने एक नवीन नैतिकता का सहारा लेकर एक सकारात्मक नैतिकता को बढ़ावा देने का साहस किया था। बहुत कम लोग जानते है मजदूरों और सर्वहारा वर्ग के शासन का पहला स्वपन भी एक संत (सेन्ट) ने ही देखा था, जो आगे जाकर सत्य हुआ। उसका मानना था, कि 'ईसा' के धार्मिक प्रकाश में सकारात्मक नैतिकता की अभीनवीकरण कर दिया जाये।

उसका विश्वास था कि **"विनाश और आतंक तथा हिंसा से पूर्ण 18वीं शताब्दी के बाहर एक नवीन सकारात्मक युग का जन्म होगा।"** साइमन ने आगे कहा कि एक श्रमजीवी वर्ग पैदा होगा, जो वर्गहीन समाज का अंग होगा। यह कल्पना उसी कि खोज थी। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में एक विश्व संसद (Word Parliament) की कल्पना भी उसने ही की थी। 1772 ई० से लेकर 1837 ई० में चार्ल्स फोरियर (Charles Fourier) के विचारों के आदर्शों में, एक अराजकतावाद के दर्शन का आभास मिलता है। यह सत्ता के केन्द्रीयकरण को आतंक और हिंसा का कारण मानता था।

उस काल में समाज में फैली असमानता, हिंसा और युद्धता तथा तत्कालीन फैले आर्थिक शोषण की पराकाष्ठता की, चार्ल्स फोरियर ने कटु आलोचना की थी।

उसके बाद कार्लमार्क्स का दर्शन समाजवादी वचारों की वकालत करते हुये, दुनिया के मजदूरों से एकता रखने का संदेश देने लगा। कार्लमार्क्स 5 मई 1818 ई० को प्रशिया के ट्रीविज (Treves) नगर में, एक वकील के घर में पैदा हुआ था। उसके पिता हेनरिच मार्क्स, एक छोटे से घर में रहते थे। ट्रीविज नगर जर्मन का पुरातन शहर था। पुरातन काल में यह नगर अपनी धार्मिक पहचान भी बनाये हुये था। ट्रीविज नगर 15,000 हजार लोगों की आबादी वाला शहर था। कहते हैं, मार्क्स यहाँ 1835 ई० तक रहे। कार्लमार्क्स के पिता एक साधारण व्यक्तित्व के व्यक्ति थे। लेकिन उन्होंने, लोक (Lock), लैवनीज (Leielbnij) और लैसिग (Lessing) का पूर्ण अध्ययन किया था। मार्क्स ने अपने पिता के विषय में लिखा, कि वह अपने कानून सम्बन्धी व्यवसाय के विषय में व्यक्तिगत तौर पर ईमानदार थे। My father was "remarkable for his personal honesty as his legal telents,"

पिता धर्म के विषय में एक स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में विकसित हुये थे, तथा वह एक देशभक्त "प्रशियन" थे। मार्क्स की माता एक यहूदी महिला थी। मार्क्स की बचपन अवस्था में ही उसके परिवार ने यहूदी धर्म छोड़कर ईसाई धर्म ग्रहण कर लिया था। धर्म के विषय में मार्क्स के मन में एक सबल क्रान्ति ने जन्म लिया था। मार्क्स एक क्रान्तिकारी चिन्तक था, इसलिये उसे बार-बार स्थान परिवर्तन करना पड़ता था। निर्वासन काल में रहने से उसे पेरिस के अनेकों क्रान्तिकारी विचारकों से मिलने का अवसर प्राप्त हुआ। उसमें मुख्य रूप से फ्रेडरिक एन्जिल्स, प्रोधाँ, बाकुनिन तथा मैजिनी, आदि प्रमुख थे। जिसमें एन्जिलस और मार्क्स की मित्रता, तो विश्व विख्यात हो गई थी। 1844 ई० के बाद एन्जिलस और मार्क्स 'समाजवाद' की आत्मा के रूप में सिद्ध हुए। एन्जिल मार्क्स की आर्थिक मदद भी करते थे। जब मार्क्स अपने ग्रन्थों को लिखने में आर्थिक कठिनाई का सामना करते थे, तो वह उन्हें आर्थिक सहयोग करके प्रोत्साहित करते थे। सरकार के विरुद्ध लिखने पर मार्क्स को पेरिस से निष्कासित कर दिया गया था। मार्क्स ने उस काल में, धार्मिक तथा आर्थिक शोषण के विरुद्ध साम्यवादियों को क्रान्ति के लिये प्रेरित किया। 1548 ई० की क्रान्ति का उसने पूर्ण समर्थन किया था, जिससे उन्हें राजद्रोह अपराध में, देश से बाहर निकाल दिया गया। मार्क्स घूमते-घूमते लन्दन पहुँचा, जहाँ पर गरीबों में, उसने लगभग '34' वर्ष व्यतीत करते हुये अनेकों ग्रन्थ लिखे। जिसमें Capital के तीन खण्ड भी हैं।

मार्क्स ने इतिहास की आर्थिक व्याख्या में धर्म को बहुत ही निम्न स्तर प्रदान किया। उसकी दृष्टि धर्म एक नशा है तथा धर्म को उसने झूठी सानत्वना माना हैं। उसकी दृष्टि में, धर्म, अन्धविश्वास की बस्ती में नफरत की आँधी के माध्यम से, कत्लो-गारत के अनेकों युग देख चुका है। मार्क्स के मत के अनुसार धर्म में ही विज्ञान की बढ़ती हुई प्यास पर अकुंश लगाकर, अन्धविश्वास को बढ़ावा दिया हैं। "धर्म" ने अपने स्वार्थ के लिये शोषणकर्ता का सहयोग किया है, और विज्ञान को धार्मिक के स्वार्थ के लिये पीछे धकेल दिया।

क्योंकि मार्क्स वर्गहीन समाज में विश्वास करता था, जिसमें शोषणकर्त्ताओं की निश्चय ही हार होगी। इसलिये मार्क्स के दर्शन में धर्म का कोई भी 'स्थान' 'राजनीति' में नहीं है।

वर्ग संघर्ष मार्क्स के दर्शन में एक महत्वपूर्ण स्थान रखता है। उसके अनुसार समाज का इतिहास वर्ग संघर्ष का इतिहास है। प्रत्येक युग में दो परस्पर विरोधी वर्ग रहे हैं, उसके आपसी संघर्ष से उस काल का इतिहास बना है। उस का मत था कि **"वर्ग संघर्ष और 'क्रान्ति' से ही समाजवाद और शान्तिप्रिय दुनिया की स्थापना हो सकती है"।**

लेकिन मार्क्स के दर्शन में 'मानव' अस्तित्व का पक्ष तो मजबूत है। मानव समाज में कोई वर्ग नहीं है तथा कोई सत्ता भी महत्वपूर्ण नहीं है। उसने माना था, समस्त संसार एक परिवार के रूप में वर्गहीन होगा, **लेकिन मार्क्स के दर्शन में भी हिंसा से मानव समाज को छुटकारा नहीं मिलता है।**

मार्क्स का उद्देश्य था कि श्रमजीवी वर्ग को शासन के पद पर स्थापित कर, प्रजातन्त्र के संग्राम में विजयी बनाया जाये। समय बदल रहा था, **18वीं शताब्दी यूरोप में 'रक्त रंजित' शताब्दी थी। इसमें कई तरह के आतंक और भयानक संघर्ष, यूरोप की धरती से होकर गुज़रे थे। लेकिन उस समय परिवर्तन की बलवति इच्छा से, शोषण के विरुद्ध आवाज़**

तेजी से उठती थी, तो कभी कुछ समय के लिये शान्त हो जाती थी और कभी वह 'इन्कलाब के ध्वज' के साथ, विश्व को आश्चर्य में डाल देती थी। इसी युग में अनेक दार्शनिकों के विचारों से कभी 'शान्ति' और कभी क्रान्ति के लिये आह्वान किया जाता था। जैसा कहा जा चुका है। **'मार्क्स' के क्रान्तिकारी विचारों ने केवल धर्मनिरपेक्ष ही नहीं, बल्कि धर्मविहीन 'राजनीति' को बढ़ावा देकर सबको आश्चर्य में डाल दिया था तथा विश्व जगत में, मेहनतकशों का पक्ष लेकर यूरोप में ही नहीं, विश्व को धर्म-निरपेक्ष तथा समाजवादी संस्कृति के लिये तैयार किया था। 19वीं शताब्दी के आते-आते 'मार्क्स' मजदूरों, किसानों और मेहनतकशों का 'मसीहा' बन गया था।**

मार्क्स ने एक खतरनाक प्रकार के आर्थिक आतंकवाद के विरुद्ध सचेत किया

1817 ई० के बाद, अहसास किया गया कि पूँजीवादी यूरोप में, आर्थिक और राजनैतिक क्षेत्र में, महत्वपूर्ण परिवर्तन हो रहे थे। जिसके परिणामस्वरूप जर्मन और अमेरीका तथा यूरोप के प्रमुख देशों को भयंकर संकट का सामना करना पड़ रहा था। उस काल में, दुनिया का आर्थिक दृष्टिकोण भी बदल रहा था। ब्रिटेन, उस काल में औद्योगिक अधिनायकवाद की तरफ बढ़ रहा था। अमेरीका में भी औद्योगिक संस्कृति के साथ-साथ पूँजीवाद के अंकुर पैदा होने लगे थे, विशेष रूप से पूँजिवाद जर्मन और अमेरीका में तेज़ी से विकसित हो रहा था। पूंजीवादी अधिनायकवाद तथा एकाधिकारवाद बड़ी तेजी से इन दोनों देशों में बढ़ रहा था। 1870 ई० में, जूआईण्ट स्टॉक कैपीटल (Joint Stock Capital) पूँजीवाद को हवा देने के लिये अपनी भूमिका तलाश करने लगी थी। राजनैतिक भाषा में, 1870 ई० तक यानि दो दशक तक, कोई भी क्रान्तिकारी तूफान यूरोप की धरती पर नहीं उठा था। पश्चिम देशों में, क्रान्ति की लहर अब समाप्त हो गई थी और पूर्व में भी उस काल तक कोई भी तूफान नहीं उठा था।

मार्क्स ने उस काल के विषय में कहा था कि, "समस्त फ्राँस, जमींदारों तथा नवीन पूँजीपतियों तथा प्रतिक्रियावादी तान्त्रिक कहे जाने वाले लोगों के हाथ में जकड़ा हुआ था, जिसमें पुलिस तथा नैतिक आतंकवाद अपना कब्जा जमाये था। 1870 ई० में जर्मन राज्य भी सैनिक आतंकी तलवार लिये पूँजीवादी तथा प्रतिक्रियावादी शक्तियों की आवाज़ बना हुआ था।

उसी समय नई क्रान्तिकारी संघर्ष की लहर रूस में, तथा यूरोप में आरम्भ हो गई थी, जो स्वतन्त्रता के लिये संघर्ष को प्रेरित कर रही थी। तुर्की के विरुद्ध बालकन (Balkans) में आज़ादी का संघर्ष भी तेज़ी से बढ़ रहा था। इस संदर्भ में लेनिन ने, कहा था, कि **"एक नया क्रान्तिकारी संघर्ष मजदूरों तथा मेहनतकशों का अर्न्तराष्ट्रीय जगत में आरम्भ हो गया है, जिसमें मजदूर संगठन और समाजवादी दल संगठित होकर सर्वहारा वर्ग की आज़ादी के लिये तैयार हो रहे थे। उस काल में मार्क्स ने स्वयं जर्मन मजदूर संगठनों के कार्यों की बहुत बड़ाई की थी। मार्क्स का साफ दृष्टीकोण था कि इतिहास निरन्तर चलने वाली धारा है।"**

मार्क्स ने वर्ग संघर्ष की घटनाओं का वर्णन करते हुये सामन्ती व्यवस्था के विरुद्ध संघर्ष को वर्ग संघर्ष का ही हिस्सा बताया था। यूरोप में यह सब 14वीं शताब्दी में ही आरम्भ हो गया था। वहाँ उसी परिवर्तन की लहर से यह सब इंग्लैण्ड और फ्राँस में बड़े सामन्तों की समाप्ति के आवाह्न का प्रतीक था।

मार्क्स (Marx) ने पूर्ण रूप से विस्तार में, बताया था कि किसानों का संघर्ष जो इटली में, फैरा डोलसिनो (Fara Dolcino) के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ था वह अपना विशेष स्थान रखता था। हूयोसाइटस मोमेण्ट (Hussite Moments) किसानों के भयंकर युद्ध का इतिहास भी लिखता है।

जर्मन में, 1524-25 ई० में तथा 1566-1609 ई० में निदरलैण्ड (Netherland) का विद्रोह उसका प्रमाण है, जो इतिहास में अंकित है।

फ्राँस की किसान नेत्री "जौन-ऑफ आर्क" ने, विदेशी आक्रमण के समय जो बहादुरी दिखाई थी, मार्क्स ने उसे भी इतिहास की मुख्य घटनाओं में से ही एक बताई थी। यह समस्त घटनाएँ संसार के इतिहास में युग परिवर्तन की संकेत कही जाती हैं।

सेबाईन ने 'हिस्ट्री ऑफ पौलिटिकल थोट' (Histroy of Political Thought Page 651) में मार्क्स के विचारों को स्पष्ट करते हुये लिखा। हीगेल मानता था कि यूरोपियन इतिहास का विकास जर्मन राष्ट्रों के विकास से हुआ है, जिससे जर्मन यूरोप का आध्यात्मिक नेतृत्व स्वीकार करेगा। लेकिन मार्क्स का दर्शन बोलता है, कि सर्वहारा वर्ग के कारण ही इतिहास की चरम परिणति उसके उत्थान में सहायक हुई है। यही वर्ग समाज में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करेगा, हीगेल के सामाजिक सिद्धान्त और उसके दर्शन की महत्वपूर्ण प्रेरक शक्ति आध्यात्मिक शक्ति है, जो एक स्वविकासशील शक्ति है। जो अपने को क्रमानुसार, बारी-बारी से इतिहास प्रसिद्ध राष्ट्रों के रूप में प्रकट करती है। **मार्क्स के दर्शन में उसके विपरीत प्रेरक तत्व व स्वविकासशील तत्व उत्पादक शक्तियाँ हैं, जो अपनी आय को आर्थिक वितरण के बुनियादी वर्गों तथा समाजिक वर्गों में व्यक्त करती हैं। हीगल मानता था कि प्रगति के कारण तत्व राष्ट्रों के संघर्षों में समायें हैं। जबकि मार्क्स मानता था कि यह कारक तत्व सामाजिक वर्गों के विरोधी भाव में निहित थे। दोनों दार्शनिक इतिहास की तर्क सम्भव ढंग को आवश्यक मानते हैं। उनका विचार था, कि इतिहास का यह प्रवाह सुनिश्चित योजना के अनुसार संचालित होता है और एक निश्चित लक्ष्य की ओर बढ़ता है। हीगल के दर्शन में बौद्धिक उपकरण है, और क्रान्तिकारी चिन्तन भी है, लेकिन उसमें धर्म की आलोचना भी की गई है, जो स्वयं में एक क्रान्तिकारी विशेषता है। दण्ड़ात्मक पद्धति यह सिद्ध करती है, कि समस्त कथित निरपेक्ष सत्य ही है, और परस्पर धार्मिक मूल सापेक्ष होती है।**

मार्क्स का दृष्टीकोण था, कि "आध्यात्मिक दृष्टीकोण का कोई व्यावहारिक सबूत नहीं मिलता है। इसलिये उसे स्वीकार नहीं किया जा सकता हैं।"

मार्क्स का दर्शन यह भी कहता है, धर्म मनुष्य को पूँजीपतियों, सामन्तों और राजा, महाराजाओं की गुलामी करने के लिये और अन्धविश्वास की चक्की में पिसने के लिये अकेला छोड़ देता हैं। इसलिये धर्म निम्न श्रेणी का अंग बन जाता है। मार्क्स ने अपने दर्शन कार्य में, 1846 ई० में, 'पावर्टी ऑफ फिलास्पी' (Poverty of Philosophy) में, जो फ्रेन्च में (Franch) लिखी गई थी, उसमें उसने सर्वप्रथम, 'हिस्टोरिकल मैटिरियलिज्म' (Historical Materialism) **तथा उत्पादन की संस्कृति और अर्थ व्यवस्था को खुलासा किया गया था, जो मानव समाज को सुख और शान्ति की तरफ ले जायेगा और गरीबी से मुक्ति दिलायेगा। इसी**

पुस्तक से मार्क्स, को एक अर्थशास्त्री की हैसियत से सर्वप्रथम जाना गया। यह पुस्तक (The Poverty of Philosophy) (पावर्टी ऑफ फिलोस्फी), जिसमें मार्क्स (Marx) ने गरीबी के कारणों की अपने दर्शन में समीक्षा की थी। इसमें मार्क्स ने (Proudhan) प्राऊधन की Scientific Discovery को यानि वैज्ञानिक खोज को एक काल्पनिक घटना बताया था। मार्क्स ने आदर्शवादी तथा पूँजीवादी अर्थव्यवस्था को ही शोषण का कारण माना है। मार्क्स ने कहा था "जब समाज में धार्मिक या आर्थिक शोषण होता है, तभी समाज में निराशा और अशान्ति होती है।" मार्क्स ने लिखा, "सामाजिक रिस्ते उसके निकटतम तरीकों उत्पादन संस्कृति पर ही निर्भर होते हैं। उसी उत्पादन संस्कृति से समस्त कमाने के तरीके भी बदल जाते हैं तथा रहन-सहन के ढ़ग भी परिवर्तित हो जाते हैं।" उसने आगे लिखा **"जब लघु उत्पादन उपकरणों या उत्पादन संस्थानों के हाथ में काम दिया गया था, तब तो सांमती, समाज था, लेकिन जब मशीन संस्कृति अस्तित्व में आई, तब वह औद्योगिक आर्थिक समाज हो गया, उसका प्रभाव 'धर्म' के रूप पर तथा सामाजिक चलन पर भी पड़ा।" जहाँ ओद्यौगिक विकास हुआ, वहाँ अन्धविश्वास कम हुआ और धर्म का स्वामित्व भी कम हो गया।**

"Social relation's are closely bound up with the productive forces. In require acquiring new productive forces man change their mode of production and in changing the way? Earniming their leavel, they change their social relations. The hand mill gives you society with the feudal lords, the steam mills, society with in the capilitistic.................. productive forces as a concept which includes not only the instrument of production, but also the workers and added; The greatest productive power is the revolutionary class also"

The poverty of Philosophy" Page 95-120.

मार्क्स का यह मत था **"जैसे-जैसे दौलत बढ़ती है, वैसे ही वैसे गरीबी भी तेज़ी से बढ़ती है, साथ ही साथ धर्मान्धता तथा नये तरीके से आतंक भी बढ़ता है।"**

द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद

मार्क्स का पूर्ण चिन्तन सर्वहारा निर्धनों और मेहनतकशों के हित में रंगा चिन्तन था। उसका समाजवाद (Proletarian Socialism) सर्वहारा हिताय समाजवाद ही था। मार्क्स के समस्त चिन्तन स्तम्भ एक अभाज्य ईकाई के रूप में खड़े नज़र आते हैं। यह एकता के साथ मार्क्स के दर्शन की व्याख्या करते हैं। Diatlectical Materialism 'द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद' इतिहास की भौतिकवादी व्याख्या, (Class truggle) वर्ग संघर्ष और अतिरिक्त मूल्य का सिद्धान्त (Theory of Surplus Value) समाजवादी समाज की रचना के आधार तथा मार्क्स का सम्पूर्ण राजनैतिक दर्शन और उसका 'रंग महल', उसकी द्वन्दवादी विचारधारा पर ही खड़ा है, यही मार्क्स के चिन्तन की आधारशिला है। उसका दृष्टीकोण था, कि द्वन्द्ववाद की सहायता से राजनैतिक दल प्रत्येक दशा में सही दृष्टीकोण बना सकता है, तथा होने वाली सामाजिक घटनाओं को पूर्णतया समझ सकता है। वह वर्तमान और भविष्य में अपनी उचित और सही दिशा को जान सकता है।

वैसे देखा जाये तो, मार्क्स का द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद, हीगेल के द्वन्द्ववाद से प्रभावित था। मार्क्स 'हीगेल' के दर्शन के विषय में बर्लिन (Berlin) में आने से पहले बहुत थोड़ा ही जानता था। 1837 ई० में मार्क्स ने, उसके दर्शन को गम्भीरता से नहीं लिया था। क्योंकि उस समय मार्क्स का स्वास्थ्य ठीक नहीं चल रहा था। उसके बाद मार्क्स ने हीगेल के दर्शन का आरम्भ से लेकर अन्त तक अध्ययन किया।

हीगेल की मृत्यु के बाद 1831 ई० में उसके शिष्यों में गहरे मतभेद पैदा हो गये। उसमें से हैनरिच (Henrichs), गैवलर (Gablar) ने धर्म के पक्ष में सख्त रूख अख्तियार किया था। यह दक्षिण-पंथी वर्ग खुले रूप से ईसाई कट्टरवाद के पक्ष में बोल रहे थे। वह धर्म को राजनीति से जोड़ने के पक्ष में थे।

दूसरा वर्ग वामपंथी था, जो युवा हीगेलियन (Hegelians) के नाम से जाने जाते थे। जिसमें डेविड (David), वाययूर ब्रादर्स, (Bauers Brothers), अडगैर (Edgar) बीरूनो (Burno) तथा अरनोल्ड (Arnold) आदि दार्शनिकों ने हीगेल के दर्शन का प्रगतिशील अर्थ निकाला तथा धर्म की सख्त आलोचना की थी। उपरोक्त हीगेल के शिष्यों ने धर्म के अन्धविश्वासी पक्ष की विचारधारा का खुला विद्रोह किया था।

हीगेल के शिष्यों के मध्य जबर्दस्त विवाद उठ खड़ा हुआ, एक वर्ग धर्म और पुरातन संस्कृति के आधार पर आध्यात्मिक तथा नैतिक आधार पर राजनैतिक दर्शन को मान्यता दे रहा था, जबकि उस काल का युवा हिगेलियन दार्शनिक वर्ग धर्म के अस्तित्व को ही नकार रहा था।

युवा वर्ग के हीगेलियन्स (Young Hegelians) मानते थे कि धर्म मानवकृत है, यह कोई सम्पूर्ण ईश्वर शक्ति नहीं है, इसका राजनीति से कोई सम्बन्ध नहीं है। मनुष्यकृत होने के कारण इसमें एकता और सम्पूर्णता भी नहीं है। जी० डी० एच० कोले (G.D.H. Cole) ने हिगेल के द्वन्द्ववाद के विषय में लिखा "सम्पूर्ण मानव इतिहास से जहाँ तक हमारा सम्बन्ध है उसके समक्ष विचारात्मक संघर्ष की एक लम्बी निरन्तर चलने वाली विरोध और संघर्ष की प्रतिक्रिया द्वारा अपने को प्रसारित करता रहा है, और एक लम्बी संघर्ष प्रतिक्रिया के रूप में फैल गया, जिसका निश्चित परिणाम विश्व भावना की पूर्ण सहानूभूति में विरोध के अन्तिम रूप में विनाश होगा। भौतिक स्तर पर समाज का विकास उसके लिये इस विचारात्मक प्रक्रिया का एक निषेधात्मक अभिव्यक्ति मात्र है। मानव इतिहास में जो निहित हो रहा है, वह यह नहीं है, जिसकी प्राप्ति होती है, बल्कि यह निरपेक्ष विचार में निहित वास्तविकता का क्रमिक तथा प्रगतिशील यथार्थीकरण है।"

'हीगेल' ने समाज को गतिमय तथा परिवर्तनशील माना है। जिसमें विश्वात्मा (World Spirit) उसमें निर्णायक और नियामक कारण है। उसी से प्रकृति के स्थूल कारणों का ज्ञान यानि (Being) में होना, स्वीकार किया गया है। उसने इन तीनों का कर्मबद्ध चरणों में वाद (Thesis), प्रतिवाद (Anti-Thesis) औरसंश्लेषण (Synthesis) कहा था। कोई भी अमूर्त (Abstract) विचार वाद से पैदा होता है और फिर विचार के विरोध में प्रतिवाद पैदा होता है और वाद और प्रतिवाद में फिर समझौता (संश्लेषण) होता है, जिससे एक नये विचार की उत्पत्ति होती है, यह क्रम निरन्तर चलता रहता है।

मार्क्स, ने इसे हीगेल की तरह विचार के रूप में नहीं देखा उसे भौतिक शक्ति के रूप में देखा था, इसमें भौतिक पदार्थ (Matter) ही इस जगत का आधार है।

मार्क्स वास्तव में युवा हीगेलियन बुद्धिजीवियों से उसी काल से ही प्रभावित हो गया था, जब वह बर्लिन में विश्वविद्यालय का छात्र था। सचाई यह थी, कि जिस तरह से हीगेल के युवा शिष्यों ने 'धर्म' की आलोचना की थी और उसे राजनीति से बिल्कुल अलग करने का क्रान्तिकारी कार्य किया था, मार्क्स उस युवा हिगेलियन से बेहद प्रभावित होकर बर्लिन में "(Doctor Club)" डॉक्टर क्लब का सदस्य बन गया था, जहाँ पर पैनी ब्रूनो बयूर (Brune Bures) थियोलोजी का प्रवक्ता (Lecturer of Theology) था। यहाँ 'मार्क्स' ने मध्यकाल की धार्मिक और राजनैतिक विचारधाराओं पर जमकर प्रहार किये थे तथा राजनीति को धर्म से अलग करने की धारणा की जमकर वकालत की थी। डॉ० मार्क्स ने मनुष्य को धार्मिक संकीर्णताओं से मुक्त करने तथा मनुष्य समाज को अन्धविश्वास की जंजीरों से स्वतन्त्र करने के लिये प्रगतिशील दर्शन पर कार्य किया था उसके दर्शन ने आगे जाकर राजनीति में एक 'इन्कलाब' ला दिया था। इसी समय मार्क्स में अपने शोध ग्रन्थ में अन्धविश्वास पर गहरी चोट की थी। मार्क्स ने अपने शोध ग्रन्थ में वर्णन किया, कि "ईश्वर के अस्तित्व की धारणा को वह वैज्ञानिक चिन्तन आधार पर अस्वीकार करता है, क्योंकि यह बौद्धिक चिन्तन के निष्पक्ष विश्लेषण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता और सत्य रूप में ईश्वर का आधार बौद्धिक चिन्तन शैली में, जब अनुसंधान के लिये समाजिक प्रयोगशाला में लाया जाता है, तब वैज्ञानिक अनुसंधान उसे स्वीकार नहीं करता।" ईश्वर के अस्तित्व की धारणा समाज के आरम्भ काल की कल्पना है, जिसे विकसित तथा चेतनाशील समाज का वैज्ञानिक आधार पर अस्वीकार कर देता है। क्योंकि जो ईश्वर अपने अस्तित्व का प्रमाण नहीं दे सकता है, वह विश्वसनीय कैसे हो सकता है? इसलिये धर्म वास्तविक शक्ति नहीं बन सकता है। सत्यता यह है कि वैज्ञानिक ज्ञान हमें अन्धविश्वास और धर्म के मायाजाल से बाहर निकालने में मदद करता है।

"In his thesis Marx stressed that all the so called proofs of God's existance were more. Tauto logics, but he realised that, while the religious outlook was irrational, religion did constitute a real force. It was task of true Science, striving to help overcome religion, not only to overthrow its dogmas, but also to explain its essence, origins and wide acceptane. Marx drew the conclussion that the emergence of belief in the Gods was the reflection of first stage in the devlopment of human consciouoness, a premature leval of thinking which was incapable of understanding and explaining the surrounding world and which ascribed to its supernatural and irrational properties. Marx pointed out that "For whome the world appears without reason, hance who is without reason himself for him God exist."

उस समयं बर्लिन विश्वविद्यालय में मार्क्स के लिये अपने शोध ग्रन्थ पर डिग्री प्राप्त करना बड़ा कठिन तथा खर्चीला कार्य बन गया था। उस समय मार्क्स के शोध ग्रन्थ पर भयंकर तूफान मच गया, उससे धार्मिक दुनिया में भयंकर प्रतिक्रिया हुई। इसके परिणामस्वरूप मार्क्स

ने अपने शोध ग्रन्थ को जेना (Jena) विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया, जहाँ उन्हें अप्रैल 15, 1841 ई० में दर्शन शास्त्र में "डॉक्टर ऑफ फिलासोफी" की उपाधि से सम्मानित किया गया। उस काल में 'हीगेल' (Doctor of Philosophy) दर्शन शास्त्र का पण्डित माना जाता था, तथा वह एक महान् चिन्तक था। लेकिन मार्क्स ने उसकी दर्शन धारा से एक नवीन दर्शन धारा को जन्म दिया जो धर्म विहिन राजनीति को बढ़ावा देने में कामयाब हुई। जिस काल में एक पुस्तक प्रकाशित हुई, जिसका नाम था, "ईसाई धर्म का सारांश" (The Ecssance of Christianty) जिसका लेखक फुअरबैच (Feurbach) था। उस पुस्तक के आधार पर मार्क्स ने अपने शोध ग्रन्थ को समाप्त किया था, उसी समय को जर्मनी के चिन्तक जगत में, उस एक शक्तिशाली और प्रभावशाली स्वतन्त्र चिन्तन काल कहा जा सकता है। फुअरबैच (Feurbach) उस काल का प्रथम दार्शनिक था, जो हीगेलियन दर्शन से ऊपर उठकर अपनी कलम चला रहा था। उसने कहा था कि प्रकृति ही मानव का निर्माण करती है।" वह 'धर्म' का एक भौतिकवादी आलोचक था। उसने कहा "मनुष्य की उत्पत्ति प्रकृति (Nature) द्वारा स्वयं हुई है। मनुष्य स्वयं प्रकृति (Nature) द्वारा जन्मा है। उसका मत था, प्रकृति की सीमाओं के बाहर वह कुछ भी नहीं है। **इसलिये ईश्वर या सर्वोच्च शक्ति स्वयं मनुष्य की धार्मिक कल्पना की उत्पत्ति है।"**

मार्क्स ने उपरोक्त दर्शन के आधार पर अपने वैज्ञानिक चिन्तन को भी स्पष्ट करने का कार्य किया। यद्यपि मार्क्सवादी चिन्तकों ने उपरोक्त कथन की आलोचना भी की थी। 'मार्क्स' का यह मत था, **"जहाँ पर या जिस स्थान पर 'वैज्ञानिक' प्रगति नहीं होती, अन्धविश्वास और धर्मान्धता की जकड़न में मानव समाज डूबा रहता है, वहाँ पर विकास की गति रुक जाती है और मानवता पर जड़ता हावी रहती है। वह जड़ता, वर्तमान और भविष्य तक को प्रभावित करती आई है"**, वह धर्मान्धता, मध्यकालीन रूढ़िवादीता को बनाये रखने में, और आदि काल के पुरातन शोषण को बनाये रखने में कामयाब हो जाती है। मार्क्स का मत था, मनुष्यों के दुख और बेरहम जिन्दगी की पीड़ा का मुख्य कारण, उस काल में सबल तरीके से सामन्तवाद की कठोरता थी, तथा उस काल के समाज की 'धार्मिक' शोषण प्रवृति भी मानवता पर कहर ढाती रही थी, उसी के साथ-साथ वह वर्तमान और भविष्य का भी पीछा नहीं छोड़ रही।

मार्क्स ने अपने राजनीतिक कार्यक्रम में साफतौर पर एक तरह से धार्मिक आतंकवाद, सामन्ती आंतकवाद तथा पूँजिवादी आतंकवाद पर, इतिहास के अनुभवों और अपने सर्वांगपूर्ण जीवनकाल की घटनाओं के अनुभवों के आधार पर एक क्रान्तिकारी तथा उत्तेजनापूर्ण दर्शन की रचना की थी। यद्यपि वह यह मान कर चलता है कि केवल श्रमिक क्रान्ति ही पूँजिवाद और धार्मिक आतंकवाद से छुटकारा दिला सकती है। जब तक श्रमिक वर्ग शासन पद पर नहीं बैठेगा, और प्रजातन्त्र के संग्राम में उसकी विजय नहीं होगी, तब तक वह अपने 'समाज' को शोषणपूर्ण आतंकवाद से, छुटकारा प्राप्त नहीं करा सकता है। मार्क्स के विचारों में एक अचल विश्वास था, तथा उसमें एक सबल प्रहारक शैली भी थी, जिससे मानव समाज में उत्साह और विश्वास भरता चला जाता है। यही नहीं, उसने एक युग का निर्माण किया, जिसमें करोड़ों मेहनतकश युवकों और श्रमिकों को, आर्थिक और समाजिक तथा धार्मिक शोषण के विरुद्ध प्रेरित करके क्रान्ति के लिये तैयार किया था, और समाजवाद के वैज्ञानिक

दृष्टिकोण को गतिशील बनाया था। देखा जाये तो मार्क्सवाद श्रमिकों के लिये एक क्रान्तिकारी धर्म ही बन गया था, जिसने पुरानी अन्धविश्वासी परम्पराओं को उखाड़ फेकने का केवल आवाह्न ही नहीं किया, बल्कि उसके दर्शन ने विश्व के एक बड़े भाग पर अपना अधिपत्य भी कायम किया।

उन्नीसवीं शताब्दी में मानवता

1857 ई० में वाटरलू की लड़ाई के पश्चात् विशेषकर इंग्लैण्ड का इतिहास मन्द गति से मानवतावादी की तरफ विकसित हो रहा था तथा वहाँ पर कई तरह की प्रावृतियाँ विकसित हो रही थीं। जो राजनीति में, प्रजातन्त्रवाद तथा समाजवाद की ओर दुनिया को आगे बढ़ा रहा था।

कुछ घटनाएँ इतिहास 1815 ई० के बाद स्वयं देख चुका था, तब कठोर रूढ़िवादी नीति के विरुद्ध आवाज़ उठाई गई थी, फ्राँस की राज्य क्रान्ति की लपटों की ज्वाला के बाद, यूरोप नये परिवर्तन करने से डरने लगा था। इंग्लैण्ड में भी सुधार की आवाज़ उठ रही थी। इंग्लैण्ड को युद्ध के आतंक ने भयभीत कर दिया था। उस काल के बाद इंग्लैण्ड की पार्लियामेण्ट भी सुधार की माँग करने लगी थी। इंग्लैण्ड में भी मजदूरों के शोषण के विरुद्ध आन्दोलनों का जोर बढ़ता जा रहा था। इस कारण 1832 ई० में प्रथम सुधार आन्दोलन हुआ और सुधार नियम (Reform Act) मजबूरन पास किया गया। इसमें बड़े नगरों से चुने हुये प्रतिनिधि भेजने का अधिकार वहाँ के लोगों को मिल गया। इसके बाद दो सुधार नियम पास हुये, जिसमें प्रथम सुधार कानून (Reform Act) 1867 ई० में पास हुआ तथा दूसरा 1884 ई० में पास हुआ, जिसमें प्रथम में व्यवसायिक जनसंख्या को तथा दूसरे में कृषक जनसंख्या को वोट देने का अधिकर दिया गया।

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में इंग्लैण्ड तक में धार्मिक स्वतन्त्रता का कुछ आभास तो होने लगा था, लेकिन धार्मिक समानता कहीं भी दिखाई नहीं पड़ती थीं। धार्मिक अत्याचारों का युग तो समाप्ति की ओर बढ़ रहा था, लेकिन फिर भी जो लोग 'एग्लिकन चर्च' के अनुयायी नहीं थे, वह लोग अनेकों राजनैतिक अधिकारों से वंचित थे। इस प्रकार कैथोलिक तथा डिसेण्टर्स सार्वजनिक पदों पर नहीं नियुक्त हो सकते थे। 1829 ई० के लगभग आकोनेल (O' Conell) के नेतृत्व में आयरलैण्ड में उत्तेजना और विद्रोह फैल गया, जिसके कारण **कैथोलिक स्वतन्त्रता (Catholic Emanicipation Act)** को पास किया गया।

जिसमें कैथोलिक पर लगाये गये प्रतिबन्ध इंग्लैण्ड से हटा दिये गये। 1858 ई० में यहूदियों की शिकायतें दूर करने के इरादे से 'जूइस रिलिफ एक्ट' (Jewish Relief Act) पास किया गया। मैथोडिस्ट आन्दोलन के फलस्वरूप सहिष्णुता का युग इंग्लैण्ड में आरम्भ हुआ। उसके बाद दयालू मानवतावादी आन्दोलन का युग 19वीं शताब्दी में आरम्भ हुआ। निर्धनों और कमज़ोरो के कलेशों को दूर करने के प्रयास होने लगे। 1833 ई० में ब्रिटिश साम्राज्य से दास प्रथा की समाप्ति की घोषणा की गई। स्त्री तथा बच्चों की सुरक्षा के हितों के लिये नियम और कानून बनने लगे।

इतिहास बोलता है, कि 19वीं शताब्दी आरम्भ होने से पूर्व यूरोप के बहुत से देशों में न

तो सहिष्णुता थी और न ही धर्मनिरपेक्षता थी, जो इंग्लैण्ड दूसरों को धर्मनिरपेक्षता की सीख देता है, वह 19वीं शताब्दी तक ही क्या, उससे भी आगे के काल में भी पूर्णतया धर्मनिरपेक्ष नहीं थी। लेकिन यह भी सत्य है कि यूरोप में धर्मनिरपेक्षता को कायम करने के लिये संघर्ष जारी था। एक घटना ऐतिहासिक है तथा बड़ी विचित्र भी है, जो धर्म के आधार पर क्रूरता और षडयंत्र की पराकाष्ठा की कहानी भी कहती है। अलफ्रेड ड्रेसफ (Alfred Dreyfus) नामक व्यक्ति को जो यहूदी धर्म से सम्बन्धित था और फ्राँस की फौज में कप्तान था, जो एक शिकायत पर गुप्त सन्देश जर्मन को देने के अपराध में बन्दी बना लिया गया था, कोर्ट मार्शल का शिकार हुआ। कोर्ट-मार्शल में उस पर अभयोग चलाया गया और उस बेचारे को धर्म के आधार सज़ा भी दी गई। सब के सामने उसे बुरी तरह अपमानित किया गया। उसे उम्र कैद की सजा सुनाई गई, तथा डेविल के बीच भेज दिया गया। जब 1896 ई० में कर्नल 'पीकार्ट' (Colonel Piequart) को खुफिया विभाग का अध्यक्ष बना दिया गया, तो यह बात सामने आई कि यहूदी कप्तान के साथ ज्यादती हुई थी और उसे यहूदी होने के कारण जाली प्रमाण पत्र बना कर सज़ा दिलाई। जबकि जाल-साज़ी करने वाला व्यक्ति एक दुराचारी सैनिक अफसर मेजर ईस्टर हैजी (Major Estar Hazy) था। इसमें सम्पूर्ण फ्राँस में हलचल मच गई इस पर फ्राँस में दो दल बन गये, एक में मोव सेना चर्च, तथा राजवंश समर्थक थे, तो दूसरी ओर शूरवीर नेता इमाइल जोला (Emile Jola), अनातोल फ्राँस (Anatole France) तथा क्लेमैन्श्यू (Clemenceau) आदि प्रमुख थे। यह प्रश्न रूढ़िवादी लोगों और प्रगतिशील लोगों के मध्य आरम्भ हो गया लेकिन उस कर्नल ने 1889 ई० में यह मान लिया कि वह जालसाज़ी उसी ने ही तैयार की थी।

दूसरी बार उस पर फिर मुकदमा चलाया गया और उसे फिर दोषी करार दिया गया। लेकिन उसकी सजा 10 वर्ष कर दी गई। जिसे बाद में राष्ट्रपति ने उसे क्षमा कर दिया। लेकिन प्रगतिशील लोग उसे निर्दोष सिद्ध करने में तुले थे। 1906 ई० में मुकदमा फिर खुलवाया गया और इस बार ड्रेसफ निर्दोष सिद्ध हुआ। उसके प्रति जो घोर अत्याचार हुये थे, उसके शोधन करने के लिये उसे सेना में ऊँचे पद पर नियुक्त किया गया। जो लोग ड्रेसफ का पक्ष ले रहे थे, धर्मनिरपेक्ष वह समाजवादी भी थे। लेकिन जो उसके विरुद्ध थे, वह रूढ़िवादी तथा धर्मान्ध तथा जनतन्त्र विरोधी भी थे। 'ड्रेसफ' की रिहाई ही धर्म निरपेक्षता की 1906 ई० में, विजय का प्रथम जयघोष कहा जा सकता है।

रिपब्लिक और चर्च का रिस्ता क्या हो ?

उस समय रूढिवाद, जनतन्त्र और धर्मनिरपेक्षता का शत्रु था। अब सवाल उठने लगा था कि चर्च और राज्य का कैसा सम्बन्ध हो। यह केवल धार्मिक प्रश्न नहीं था, इसमें राजनैतिक विचारधारा का समावेश था। क्योंकि पादरी-वर्ग अधिकतर राजवश के पक्षपाती थे, उसी के साथ-साथ रूढ़िवाद के पक्षधर थे। वह केवल अपने धर्म के बारे में ही सोचते थे, अन्य धर्मों के सम्बन्ध में मौन हो जाते थे। 1901 ई० में वैल्डेक रूसो (Waldeck Rousseau) के मंत्रिमण्डल ने एक प्रस्ताव पास किया। समस्त सभाओं को चाहे वह धार्मिक हों या राजनैतिक उन्हें सरकार से प्रमाण-पत्र लेना होगा। उस काल में फ्राँस में, अधिकतर धार्मिक मण्डलियों ने इस प्रकार के प्रमाण-पत्र नहीं लिये थे, इसलिये अधिकतर मठ बन्द कर दिये गये थे। अप्रमाणित पाठशालाओं के सदस्यों को किसी भी पाठशाला में शिक्षा देने पर पाबन्दी लगा दी गई। इसके बाद 1904 ई० में फ्राँस में दूसरा कानून पास हुआ, जिसमें प्रमाणित संध के सदस्यों को शिक्षा देने के

अधिकार से अलग कर दिया गया। 1905 ई० में फ्राँस की धरती पर एक क्रान्तिकारी धर्म-निरपेक्ष व्यवस्था का जन्म हुआ उसमें कानून पास हुआ। जिसमें सदा के लिये राज्य सत्ता और धर्म सत्ता दोनों के आपसी सम्बन्धों का निर्णय कर दिया गया। उसे ऐक्ट ऑफ सेपरेशन (Act of Separation) कहा जाता था। इस कानून के शब्दों का अर्थ था "रिपब्लिक न तो किसी धर्म (विशेष) को मानती है और ना ही आर्थिक सहायता देती है।" उसमें चर्च और पादरियों को अपनी सम्पत्ति शोषित करने का आदेश भी दिया गया। इसमें चर्च की सम्पत्ति विधि पूर्वक प्राप्त करने की व्यवस्था भी की। 19वीं शताब्दी ही यूरोप में धर्मनिरपेक्षता के लिये आरम्भिक काल कहा जा सकता है। उससे पूर्व यूरोप की धरती पूर्णतया धर्म-निरपेक्ष नहीं थी। फ्राँस ने सबसे पहले शिक्षा को धर्म की कठोर जंजीरों से मुक्त कराया। फ्राँस की क्रान्ति के काल में चर्चवाद पर खुलकर प्रहार होने लगे। 1905 ई० में चर्च सम्पत्ति इकट्ठा नहीं कर सकता था। उस काल में राजनीति का धर्म से तलाक का युग आरम्भ हो गया था, लेकिन मंजिल अभी दूर थी। ऐसा नहीं था कि यूरोप 'नास्तिक' हो गया था या उसका धर्म से कोई अलगाव हो गया था। समय ने इतना ही फेर बदल किया था कि धर्म क्षेत्र और 'राजनीति' की कार्य शैली अलग हो गई थी। धर्म, आध्यात्मिक जगत से जुड़ता चला जा रहा था और 'राजनीति' का 'कार्यक्षेत्र' अलग होकर केवल मानव कल्याण की ओर बढ़ने लगा था।

कठोर राष्ट्रवाद तथा जातिवाद

लोकतन्त्र तथा धर्म-निरपेक्ष युग के साथ राष्ट्रीयता का युग, उन्नीसवी शताब्दी की एक धारा के रूप में विश्व की राजनीति में अपना एक मुख्य स्थान बना रहा था। वह धारा बहते-बहते कहीं कठोर राष्ट्रवाद में बदल गई और कहीं कठोर तानाशाही में आतंक का रूप ले गई। उसी के साथ–साथ उन्नीसवी शताब्दी के अन्तिम चतुर्थाश में वह धारा समाजवाद ही और भी बढने लगी। उस युग में यह नई विचाराधारा थी तथा एक नई सामप्रदायिक चेतना थी, जिसमें गरीबों का तथा किसान–मजदूरों का दार्शनिक चिन्तन विश्व पर अपना प्रभाव बना रहा था। उसी के साथ एक बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में, योरोप में संगठित सन्धियों (Alliances) के रूप में अपनी दादागीरी, कमजोर राज्यों पर जमाने लगी थी। धर्म विहिन तथा नैतिकता विहिन रूप राष्ट्र शक्तियाँ मानवता का शोषण करने के लिये आतंकी बारूद्ध लिये नये युद्ध विस्फोट कर रही थी।

इन तमाम शक्ति संगठनों के मध्य आपसी तनातनी पैदा होती रहती थी। इन योरोपियन शक्तियों के मध्य, भयंकर युद्ध ज्वाला को भड़काने के लिये ईधंन तैयार हो चूका था।

यह माहौल हिंसा और सैनिक आतंकवाद की ओर मुड़ रहा था। साथ ही साथ युद्ध का स्वरूप बदल रहा था, पनडुब्बी, जहरीली गैस तथा टैंक आदि युद्ध को नया खतरनाक हिंसक रूप दे रहा था, जिसमें लाखों लोगो की मौत हो गई थी।

वैसे शान्ति और मानव सुरक्षा की व्यवस्था करने के लिये 'लीग ऑफ नेशनल' (League of Nations) बनाई तथा उसके द्वारा एक प्रतकूल पत्र भी तैयार किया गया फिर भी दूसरे विश्व युद्ध को दुनिया को भोगना पड़ा। उस हिंसा अपार हिंसा हुई, जिसमें हिरोशिमा और नागासाकी पर परमाणु गिराये गये। जिसमें अहिंसक संत महात्मा गाँधी ने कहा था "परमाणु अस्त्रों को अन्य परमाणु अस्त्रों से नहीं रोका जा सकता। यह घोरतम अमानवीय सत्य है।"

अब, जाति, वर्ग, धर्म, सम्प्रदाय तथा कठोर राष्ट्रवाद मिलकर, राजनैतिक तथा आर्थिक शोषण के लिये अन्तर्राष्ट्रीय हिंसा पैदा कर रहे थे। विश्व के भिन्न-भिन्न भागो में इसका स्वरूप विभिन्न रूप में दिखाई पड़ रहा था। उसके बाद दुनिया खेमों में बट गई थी और हिटलरवाद की समाप्ति के बाद, नये रूप में आर्थिक शोषण कर रही थीं धर्म के नाम पर साम्प्रदायिकता तथा आतंकवाद सब बड़ी महाशक्तियों के हित साध रहा था तथा योरोप विकसित होते हुये भी, मानवता के विस्तार के मामले में संकीर्ण था। दुख की बात यह थी, दक्षिण ऐशिया के राष्ट्र भी शस्त्रों की होड़ में लग गये थे। यहां तक की 'परमाणु शस्त्रों' को रखने की होड़ तेज़ी से बढ़ रही थी, तथा सभी अनजाने भय से डरे हिंसा की गोद में जा रहे थे। योरोप की बैचेनी अब अमेरीका को भी अपने में शामिल करते हुये, दुनिया को आतंक की ओर मोड़ रही थी। लोग भूल गये थे कि दुनिया के गरीब देश उस काल में सबसे अधिक भय और आतंक के साये में जी रहे थे। रूस और अमेरीका महाशक्तिशाली राष्ट्रों के रूप में दुनिया पर छा रहे थे। अब शक्ति सन्तुलन का केन्द्र कहा हो, इस पर विवाद गहरा रहा था। लेकिन शान्ति और सुरक्षा की तलाश जारी थी। अब हम ऐशिया की ओर ध्यान देते है। देखते है, इतिहास क्या बोलता है।

बीसवी शताब्दी के आरम्भ में जहाँ योरोप में, अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में सन्धि संघो का खेल खेला जा रहा था। उसमें आरम्भ में, त्रि–राज्य संघ (Dual Alliance) की त्रि–राज्य सन्धी में, जर्मन ऑस्ट्रया तथा इटी में मैत्री का खेल खेला गया, जिसमें फ्राँस को एक किनारे पर बैठाना ही उसका उद्देश्य था। यह सन्धि भी भय से उपजी थी। उसके बाद के समय जर्मन तथा रूस के मध्य कटुता आ गई। आगे की एतिहासिक यात्रा में द्वि-राज्य संघ कायम हुआ, जो त्रि-राज्य संघ के मुकाबले के लिये खड़ा था। अब युद्ध के खतरे का मुकाबला करने के लिये दोस्तों की सब को तलाश रहती थी। अब एकांकी पड़े इंग्लैड ने भी अपनी प्रभुसत्ता कायम करने के लिये, उसने फ्रांस और रूस से दोस्ती का हाथ बढाया। उसी के आधार पर इंग्लैड और रूस का समझोता हुआ। जिसका नाम (Anglo Russian Agreement) जिससे रूस और इंग्लैण्ड मित्र बन गये। अब फ्रांस, इग्लैण्ड तथा रूस मित्र हो गये थे। लेकिन यह रिस्ते केवल कूटनीति के ही रिस्ते थे।

महा युद्ध से पूर्व, इन तमाम शक्तियों में अजीब सा खिचाव था, जो अन्दर ही अन्दर युद्ध की तैयारी कर रहे थे। यह सब देश एक दूसरे से डरे हुये थे। एक अज्ञान भय उन्हें युद्ध के लिये तैयार करता ही रहता था।

1914 ई० का महायुद्ध वास्तव में जर्मन की प्रभुतव स्थापित करना तथा अपनी प्रभुसत्ता की रक्षा करना ही था। विस्मार्क ने रक्त–पियासु तथा कठोर आतंक की नीति का राष्ट्रवाद कायम करने का स्वप्न देखा था। उसने नैतिक विहिन जातिय विशिष्टता की एक नवीन प्रवृत्ति को जागृत करके जर्मन को संगठित करके एक शक्तिशाली राष्ट्र बना दिया। दुख की बात यह बड़े-बड़े दार्शनिकों ने उस विचार धारा का साथ दिया। यहां तक की जर्मन के शिक्षक वर्ग ने भी जर्मन की श्रेष्ठा के सिद्धान्त को आगे बढाया। जर्मन स्कूल तथा कालिजों में सिखाया जाने लगा कि जर्मन ही श्रेष्ठ जाति है। उसे आगे बढ़ना जाहिये। उसमें शक्ति और सेना का विस्तार हुआ और जर्मन के शत्रुओं से टकराने की योजना बनने लगी। बस, शक्ति सन्तुलन के लिये युद्ध के आतंक ने संसार को बारूदि आग जलाने का कार्य आरम्भ कर दिया। प्रथम विश्व युद्ध में करोड़ों लोग मारे गये।

यहां विषय यह है आतंक का जन्म केवल धर्म सम्प्रदाय के द्वारा ही नहीं होता, उसका कारण जाति श्रेष्ठा की राजनीति, अर्थनीति द्वारा शोषण तथा राजनीति द्वारा सत्ता पर काबिज़ होना ही रहा है। प्रथम युद्ध के समय योरोप के राज्यों की पुनः व्यवस्था राष्ट्रीयता तथा आत्म संकल्प के सिद्धान्त पर ही की गई थी। राजनीति का खेल देखये और सत्ता और शक्ति का आतंक राष्ट्रीयता की परिभाषा तथा (आत्म संकल्प) के सिद्धान्त का अर्थ यह था कि योरोप में जिन लोगो की संस्कृति, भाषा तथा एतिहासिक परम्परा अलग–अलग थी, उन्हें अलग स्वतन्त्र राज्य बनाने की आज्ञा दे दी गई। इस सिद्धान्त के अनुसार आस्टीमा में अनेक जातियों के लोग रहते थे, उसके टुकड़े कर दिये गये। जैसे स्मर्ना (Smyrna) जहां तुर्की का बाहुब्लय था। यूनानियों को सौप दिया गया। लेकिन बाद में कमालपाशा ने यूनानियों को बाहर निकाल दिया था। यह भी सत्य है कि सभी जगह यह व्यवस्था कामय नहीं हुई थी।

एशिया की ओर

इतिहास के पन्नों को पढ़ा जाये तो यही कहा जायेगा कि इतिहास अतीत की राजनीति व्याख्या ही करता है। वर्तमान में दुनिया बहुत छोटी हो गई, विकास के कदम आगे बढ़े हैं। वैज्ञानिक और औद्योगिक संस्कृति ने जीवन शैली में परिवर्तन किया है और अन्धविश्वास घटा है। रूढ़िवादिता पर भी अंकुश लगा है लेकिन मानव समाज को 'धार्मिक' और 'राजनैतिक' कहे जाने वाले आतंक से पूर्णतया छुटकारा नहीं मिला है। एशिया में तो आज भयंकर धार्मिक कहे जाने वाला आतंक उसी तरह से तलवार लेकर इन्सानी जिन्दगी का खून बहा रहा है जैसा 500 वर्ष पूर्व बहाया जाता था। एशिया का इतिहास पूर्व तथा पश्चिम में फैले हुये भागों का एक ऐसा वर्णन है, जहाँ 'धर्म के नाम' विभिन्न धर्म संस्कृतियाँ, आपस में टकराती भी रही और साथ-साथ विकसित भी होती रही। यहाँ पर जड़ता और कठोरता के साथ धर्म का अकेलापन भी दिखाई पड़ता है लेकिन कहीं-कहीं विभिन्न धर्म-संस्कृतियाँ, आपसी मिलन के स्वयंवर भी रचाती रही है।"

कुछ इतिहासकार यह मानते हैं कि पश्चिमी एशिया की संस्कृतियाँ संकीर्ण तथा पुरातन हैं। वह लोग खुलकर यह भी कह देते हैं कि एशिया की सभ्यता आधुनिक युग में भी संकीर्णताओं में कैद है। यूरोप वालो की दृष्टि में, एशिया में धर्मनिरपेक्षता नहीं के बराबर है। धार्मिक आतंक की जंजीरों में जकड़ा एशिया मृत्युशैय्या पर पड़ा कराह रही है। कुछ इतिहासकारों का यह भी मत है कि यदि यूरोप की सभ्यता ने एशिया में पैर न फैलाये हुये होते तो यहाँ पर कुछ अवशेष बचता ही नहीं। एशिया में जो भी हिंसा हो रही है या धर्म संस्कृतियाँ आपस में टकरा रही हैं, उनकी जड़ों में धार्मिक कहाँ जाने वाला संकीर्ण उन्माद ही है। लेकिन सत्य यह भी है, कि एशिया का अतीत विभिन्न धार्मिक दर्शन-संस्कृतियों की जन्म भूमि भी रहा है। उसमें मानवता की अपार सम्पदा है। एशिया की संस्कृतियाँ निर्विवाद रूप से अंकुरित और मुखरित हुई हैं। उसमें जीवन है तथा विकसित होने के अंश भी हैं। उनके धार्मिक दर्शन में शान्ति और मानवता के संरक्षता के अपार भण्डार हैं, लेकिन संकीर्ण और तंग दिल स्वार्थी लोगो ने उन्हें बन्द कोठरियों में बन्द कर दिया है, और दुनिया में खुले आकाश से उनकी वर्षा नहीं होने दी। परिणाम यह हुआ, धर्मों का वास्तविक मानवीय दर्शन सही ढ़ग से विकसित नहीं हो पाया। परिणाम यह हुआ कि हम संकीर्ण और हिंसक पक्ष को ही धर्म समझते रहे हमारी धार्मिक पहचान कठमुल्ला तथा संकीर्ण और पोंगा पण्ड़िताई में खो गई।

यूरोप में निरन्तर एक संघर्ष चला कि धर्म और राजनीति का क्या रिश्ता हो ? यद्यपि वहाँ आज तक भी संकीणता जीवन पर हावी है फिर भी वहाँ क्रान्तियाँ जन्म लेती रहीं और धर्म और राजनीति के रिस्तों में वहा कुछ समन्वय कायम हुआ है। नई प्रगति के मामलों में कुछ लोगों का कथन था, कि एशिया तो बर्बरता में विनाश की ओर बढ़ता गया, लेकिन वह यह भूल

गये कि एशिया भी नई क्रान्ति की ओर बढ़ता रहा है। उसमें भी धर्मनिरपेक्ष सभ्यता ने अपने पद-चिन्ह बनाये भी हैं, वह आगे भी बढ़े हैं और अनेकों विश्व सम्भ्यताओं का समन्वय भी करते रहे हैं। लेकिन एशिया अपनी अहिंसक दार्शनिक संस्कृति को पहचान कर खड़ा नहीं हो पाया है, जो उसकी अपार शक्ति है और विश्व शान्ति की प्रतीक है। इसलिये एशिया धार्मिक उन्माद में संकीर्ण होता चला गया। दुनिया भूल गई कि **विश्व शान्ति की सुगन्ध ऐशिया से ही उठी थी। 'भगवान बुद्ध के अहिंसक सन्देश मानव सभ्यता के प्राण हैं, हम यह भी भूल गये कि 'इस्लाम', समतावादी दर्शन का जन्मदाता है।**

एशिया में जन्में, मुस्तफाककाल अनातुर्क, तथा रिजाशाह 'पहलवी' के समाजिक दर्शन में अपार मानवीय जीवन है, 'माओत्जे-तुग' के सामुहिकतावादी और समानतावादी दर्शन की प्रतिभा 'मानव' विकास को रास्ता दिखातीं नज़र आयेगी। गाँधी की अहिंसक संस्कृति विश्व को शान्ति का सन्देश दे रही है। एशिया के मानवीय दर्शन में एक नवीन उत्प्रेरणा है। आधुनिक एशिया के विद्वानों के दर्शन में मानवता के अपार अंकुर हैं, और जीने की अभिलाषा हैं, वह धीरे-धीरे विकसित होती रही है, लेकिन एशिया आपसी सहयोग के अभाव में, वह अकेपालन भी महसूस करती रही है। इस आधुनिक काल में भी, धार्मिक कहे जाने वाले आतंकवाद ने समय को आगे नहीं बढ़ने दिया, बल्कि पीछे की ओर मोड़ दिया तथा हरी-भरी मानवता की लहराती कोपलों को बन्दूक की नोक से कुचल दिया गया है। और मानवता को दयनीय दशा में छोड़ दिया। ऐसे में मानवता कहीं, सहयोग और सहिष्णुता के अभाव में मृत्यु के द्वार पर न पहुँच जाये उसे बचाना इन्सानी बिरादरी का कर्त्तव्य है।

पश्चिमी एशिया का भौगोलिक चित्र

पश्चिमी एशिया, मानवता के सवेरे की प्रथम किरणों को स्पर्श करने का ऐतिहासिक रहस्य अपने हृदय में छिपये है। सभ्यता के आरम्भ में प्रकृति की ठण्डी, सफेद बरफ की चादर सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया को ढके हुये थी। **बर्फीली** हवाएँ मौसम को और भी सप्तरंगी बनाये हुये थी। समय आगे बढ़ रहा था फिर धीर-**धीरे प्रकृ**ति ने अपना रूप बदलना आरम्भ कर दिया। आकाश बादलों से घिरने लगा। वर्षा से पश्चिमी एशिया का सम्पूर्ण स्थल गीला हो गया। धीरे-धीरे हिम, सूर्य की किरणों के प्रकाश से पिघलने लगा। एक समय आया जब हिम पूर्णतया धरती के इस हिस्से से समाप्त हो गया। खुश्क हवाएँ चलने लगीं और हिम युग की समाप्ति पर पश्चिमी पर्वत की चोटियों पर एटलाण्टिक सागर की हवायें नमी - भरी हवाओं को रोकने लगीं। जिससे, एशिया खुर्द, सीरिया, अरब और मिश्र के बहुत से क्षेत्र पूर्णतया रेगिस्तान में परिवर्तित हो गये। यहाँ एशिया खुर्द का एक पठार है, जो समुद्र से 3,000 से 3,500 फुट ऊँचा है। जहाँ पर 10 से लेकर 17 इंच तक वर्षा होती है।

उसी तरह वहाँ अरब का पठार है, जो 2,000 से 3,000 फीट ऊँचा है, वहाँ 9.2 इंच तक वर्षा होती है। अरब का पठार पूर्व की और झुकता जाता है, इसमें यमन के क्षेत्र में वर्षा की फुवारें पड़ती हैं, जो धरती को उपजाऊ बनाती है। वहाँ अरब का रेगिस्तान भी है, जो सीरिया तक फैला है। इसके ऊपर भी एक अर्ध चन्द्र के आकार की पट्टी है, जो पश्चिम तक फैली है, और वह बड़ी उपजाऊ पट्टी है। इरान का पठार, 1,000 से 3,000 हजार फुट ऊँचा है और वहाँ वर्षा भी 9.2 इंच होती है। पूर्वी किनारे पर दज़ला और फरात नदियों की घाटी है तथा पश्चिम कोना नील नदी द्वारा सिंचित है। प्राचीन मानव सभ्यता का केन्द्र, ईराक, लेबनान,

फिलस्तीन, जार्डन और मिश्र का भाग ही कहा जा सकता है, जहाँ कभी ज्ञान का भण्डार था, जो आज भी इसी धरती के भीतर छिपा है। मनुष्य सभ्यता के अवशेष फिलस्तीन में कारमोल पर्वत की गुफाओं में पाये गये हैं। इस क्षेत्र का क्षेत्रफल 17,44,000 वर्ग मीटर के लगभग है।

सभ्यता के पृष्ठ पढ़ने पर पता चलता है कि भौगोलिक परिवर्तन और उसका प्राकृतिक प्रभाव मनुष्य जाति के विकास पर गहरा प्रभाव डालता आया है। उस काल में जो खेतीहर क्षेत्र था वह 'सभ्यता' को विकसित करने में सहयोग कर रहा था, लेकिन जहाँ रेगिस्तान था। वहाँ के लोग घुमन्तू जीवन व्यतीत करते थे। इन्हें वद्दू कहते थे। ऊँट इनकी सवारी और खजूर इनका प्रिय भोजन था। एक लम्बा कुर्त्ता जिसे (सौब) कहते हैं, यह लोग उसे आज भी पहनते हैं। उसके ऊपर (झोकला) चोंगा पहनते हैं। यह लोग अपने सिर पर एक डोरी (इकाल) से शाल (कुफियाह) बांधते हैं। इनका सामाजिक जीवन खेमों में बटाँ होता है।

खेमों का समूह इनका हृदय कहलाता है। इसके समस्त सदस्य कौम कहलाते हैं। यह कबीले खून के रिस्तों से बनते हैं, और इन्हीं खून के रिस्तों से 'समूह' से कबीले बनाते हैं। यह कबीले खून के रिस्तों से बंधते रहते हैं। एक कबीले की दुश्मनी दूसरे कबीले से पूर्णतया मानी जाती है। यदि एक कबीले का व्यक्ति, दूसरे कबीले के व्यक्ति की हत्या कर दे तो सम्पूर्ण कबीला 'खूनी' माना जाता है। कबीलों में भारी एकता होती है। जिसे (असवियाह) एकता कहते हैं। कबीले के मुखिया को शेख कहा जाता है। इन कबीलों में तथा पश्चिमी एशिया के लोगों में नित्य संघर्ष होते रहते थे। इतिहास बोलता है, इन कबीले का जीवन आरम्भिक काल में, लूटमार करके व्यतीत होता था, उसका मुख्य कारण रेगिस्तान में खेती या अन्य किसी रोज़गार के किसी साधन का न होना था।

हिंसा और युद्ध का लम्बा दौर देखा जाये, तो पश्चिम एशिया का यह स्थान ही रहा है लेकिन यह भी सत्य है, यहाँ सभ्यता का विकास भी हुआ था। यहाँ पर पश्चिम और पूर्व संस्कृतियों का मिलन स्वयंवर भी होता रहता था, आरम्भिक काल से लेकर 18वीं शताब्दी तक पश्चिम और पूर्व की संस्कृतियाँ न जाने कितने आपसी उपहार इससे लेते और देते रहे थे। यह संस्कृतियाँ एशिया की धरती पर आपस में रस और बस गईं थीं, जो कई दृष्टीकोणों से एक थीं, तथा कई जगहों में अनेकताओं में भी विभाजित थीं। एक तरह से पश्चिम और पूर्व के मध्य पश्चिमी एशिया, एक सेतू का कार्य भी करती रही थी।

लेकिन पश्चिम एशिया में जो साम्राज्य बन और बिगड़ रहे थे, उसमें सदा युद्ध होते रहे थे। मिश्र की साम्राज्य सत्ता तथा सीरिया के मध्य हुये संघर्ष, अनेकों आंतकी और हिंसक मार काट हमलों से इतिहास को खूनी रंग से रंगते हैं। सत्रहवीं सदी में ई० पू० तक यह हिस्सा मिश्री साम्राज्य का अंग रहा। सत्रहवीं सदी में यह हिक्सू (इक्षु) राज्य में मिला लिया गया। इसके बाद यह हिस्सा कभी मिश्र और रक्ती राज्यों में विभाजित हुआ तो कभी ईराक के असुरी साम्राज्य में मिला लिया गया। चौथी से दूसरी सदी, ई० पू० पूर्व यह हिस्सा 'रोमन' विशाल साम्राज्य का हिस्सा हो गया था तथा अगले सात सौ सालों तक यह हिस्सा उसके साथ ही जुड़ा रहा। इतिहास गवाह है कि इस धरती में रोमन और पार्थक और उसके पश्चात् रोमन और सासामी लोगों के मध्य भयंकर मारकाट के दृश्य इतिहास ने देखें, यही नहीं, अनेकों युद्ध की खनकती तलवारों की आवाज़ें इस धरती के वक्ष-स्थल में समाई हैं। इसके बाद सातवीं सदी में इसे मुस्लीम अरबों ने जीत लिया और दसवीं सदी तक यह खिलाफत के अधीन रह कर

अपनापन खोता रहा। इसके बाद भंयकर हिंसा के दौर को पश्चिमी एशिया की धरती ने अपनी आँखों से देखा। इसकी छाती के ऊपर से अनेकों अनेकों जंगी काफलें गुज़रे तथा अनेकों वीरों की लाशों के अस्थी-पन्जर को आज भी, यह धरती अपने सीने में समाये है। एक समय आया जब खिलाफत की शक्ति समाप्त हो गई, और अफ्रीका के कैतामा बर्बर और पूर्वी रोमन के सत्ताधारियों ने अपना झण्डा इस धरती पर लहराया। पश्चिम के ईसाई धर्म योद्धा भी अपना झण्डा लिये, यहाँ की सभ्यता को रौंदने आ धमके। अय्यूबी वंशी मुसलमान योद्धा भी इसे कब्जाने के लिये 'खूनी' खेल खेलने लगे। इस संघर्ष में आतंकी कार्यवाही में बर्बरता का नंगा-नाच हुआ करता था तथा पश्चिमी एशिया का यह क्षेत्र रक्त से लाल हो जाया करता था। तेहरवीं सदी के अन्त में अयूब्यूवियों के उत्तराधिकारी काहिरा के ममलूकों ने इस अपने शासन के अधीन कर लिया। 14वीं सदी में उस्मानियों ने इस पर आक्रमण किया और इसको अपने अधीन कर लिया। 1516 ई० से 1518 ई० तक यह भाग इसी के शासन के अर्न्तगत रहा। इसके बाद समय बदला, इतिहास के पृष्ठ आधुनिकता की कलम से लिखने आरम्भ कर दिये गये। अब तलवार का स्थान बारूदी तोपों ने ले लिया। आकाश पर भी हवाई हमलों का भय कायम हो गया। प्रथम विश्व युद्ध में उस्मानी साम्राज्य समाप्त हो गया तथा यूरोपियन शक्तियों की व्यवस्था के अधीन (मेण्डेट सिस्टम) कायदे कानूनों में, यह हिस्स‍ा सांस लेता रहा। एक तरह से उस काल में, यूरोपियन ही यहाँ पर अपनी कठपुतलियाँ नचाते रहते थे। दूसरे विश्व युद्ध के बाद इस धरती ने स्वतन्त्रता का युग देखा और फिर विकास के पद पर चल पड़ा, लेकिन आतंक और हिंसा से इसको आज तक स्वतन्त्रता नहीं मिली। आज भी धार्मिक आतंक का पहरा उस पर कायम है। पश्चिमी एशिया-चार हज़ार वर्ष से भी अधिक समय से विभिन्न संस्कृतियाँ को अपने में समाये है, लेकिन यह क्षेत्र धार्मिक आतंक और वहशी युद्धों के साम्राज्यों का खुला खेल भी देखता रहा है।

पश्चिमी एशिया और धर्म

संसार की रचना और ईश्वर का अस्तित्व, अति प्राचीन काल से चली आ रही चिन्तन शैली और अनुभवों की विशालता में समाया दर्शन है। उसी से आध्यात्मिक साधना और नैतिकता का जन्म हुआ। स्थानीय रीति रिवाजों, आचार-विचारों प्रादेशिक रस्म-रिवाजों तथा प्रचलनों से भी ऊपर उठकर एक धार्मिक शक्ति का आकार विभिन्न धर्मों के दर्शन तथा मान्यताओं के साथ, एशिया पर प्रकाशमान होता रहा हैं। जिसमें वैदिक धर्म, ईसाई, यहूदी, इस्लाम और बौद्ध धर्म तथा कुछ अन्य धर्म भी इसकी ऐतिहासिक चेतना को विकसित करते रहे हैं। कभी यह धर्म मिलकर साथ-साथ चले और कभी आपस में 'तलवार' खनखनाते रहे। फिर भी पश्चिमी एशिया में, संस्कारों और नैतिक मूल्यों से पूर्ण मानवता को जीवित रखने के संकल्प दिखाई देते हैं। इस धरती पर हिंसक और आंतकी प्रहार, जो मानवता पर हुये उसमें राजनीति अधिक थी और धार्मिक लक्ष्य कम थे। राजनीति ने धर्म का तो केवल सहारा लिया था, अधिक अन्याय तो राजनीति ही कर रही थी। उसके बाद यूरोपियन साम्रज्यवादियों ने इस क्षेत्र पर असंख्यों अमानवीय अत्याचार किये, जिसे यह धरती अपने सीने में छिपाये है। इसकी कहानियों से इतिहास पूर्णतय भरा पड़ा है। फिर भी कहा जायेगा कि समय के साथ, सभी धर्मों से एशिया का साक्षात्कार हो चुका है। सभी विश्व धर्म एशिया में अपना प्रभाव रखते हैं।

एशिया के ऐतिहासिक पृष्ठ और धार्मिक दर्शन

धरती, आकाश, जल तथा 'जीव' का पृथ्वी पर आगमन अनेकों ऐतिहासिक कहानियों के साथ जुड़ा है। एशिया के इतिहास, में यह विशेषता है कि एशिया सभी धर्मों की जननी है तथा सभी धर्मों को यह धरती अपने सीने में समाये हुये है। ऐसा कहा जाता है कि सबसे पहले पैगम्बर स्वयं आदम थे। कहते हैं उसने ईश्वर के आदेश का पालन नहीं किया। उसकी सन्तानों ने भी ईश्वर के आदेशों की अवहेलना की थी।

इसलिये प्रभु ने दूसरे पैगम्बर इब्राहीम को धरती पर भेजा। जिसने ईश्वर के महान् अस्तित्व और उसके सर्वशक्तिमान प्रभुत्व की घोषण की थी। उसने सर्वप्रथम समझाया **"ईश्वर एक है और वही सर्वशक्तिमान है।"** वह एक ईश्वरवाद के प्रथम घोषणाकार थे। उसके बाद तीसरा पैगम्बर 'मूसा' धरती पर आये, उन्होंने लोगों को यह सन्देश दिया कि 'प्रभु' का निश्चय कानून है, उसे सभी को मानना चाहिये।

उसके मानने वाले पालनकर्ताओं ने मान लिया कि वह सब कानून उन्हीं के लिये बनाये गये हैं। इसमें सुधार करने के लिये ईश्वर ने उनका चौथा पैगम्बर 'ईसा' को धरती पर भेजा, उसने सन्देश: दिया कि **ईश्वर की सत्ता महान् है तथा भगवान का 'कानून' सार्वभौम है। लेकिन उसके अनुयायियों ने उनके पवित्र सन्देश पर अमल करने की बजाय उसे ही पूजना शुरु कर दिया। इसके बाद सर्वशक्तिमान 'प्रभु' ने अपना पाचवां पैगम्बर 'मोहम्मद साहब' को धरती पर भेजा। मोहम्मद साहब ने भगवान की महानता उनकी एकता तथा सार्वभौमिकता का सन्देश दुनिया को दिया।**

यह ईश्वर की शक्ति उसकी एकता, व्यापकता तथा अखण्डता और सार्वभौमिकता को ह्रदय की गहराईयों तक आत्मस्‌ार करने की सम्पूर्णता का इतिहास है। **इस्लाम का सम्पूर्ण दर्शन ईश्वर की (अल्लाह की) अखण्डता तथा व्यापकता, और एकता तथा उसके कानून के पालन का व्यापक वृतान्त है।**

इस्लाम ने इतिहास की परिभाषा कुछ प्रचलित परिभाषाओं से हटकर की है। इस्लाम का मानना है कि इतिहास केवल घटना-चक्र या तारीखों का केवल सिलसिलेवार वर्णन नहीं है 'बल्कि' संसार नियति और उसकी परिणिती (अल दुनिया अल्ल-मुततब्विराह) कहा जाता है।

उसके अनुसार सार्वभौम विश्व परिवर्तन के भाव से पूर्ण है। 'अल्लाह' इतिहास को परिवर्ततीत करता है। क्योंकि अल्लाह के निज़ाम में अखण्डता है, और पूर्णता तथा परिपगता है।

एशिया में इस्लाम का प्रकट होना एक महान् घटना है। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि 'इस्लाम' एशिया की आत्मा है। इस्लाम के उदय से इतिहास का नया युग आरम्भ होता है।

जब हजरत मुहम्मद 24 सितम्बर 622 को 'मक्का' से मदीने पहुँचे और वहाँ 'इस्लाम' धर्म के अनुसार एक नया समाज कायम किया, उस समय इस्लाम से इस दुनिया में, विशेषकर एशिया में एक नये युग का आरम्भ हुआ। मुहम्मद साहब ने सर्वप्रथम एशिया के इस भाग से मानव जाति को विश्व एकता, जाति विहीन समाज की ओर बढ़ने का संदेश दिया। उन्होंनें परिवार, धर्म, देश राज्य, और उसकी अर्थव्यवस्था तथा सम्पूर्ण जीवन के रास्ते (Way of life) की व्याख्या करते हुये एक नवीन जीवन दर्शन को जन्म दिया। यही नहीं, उन्होंने 'इबादत' के तरीके, सामाजिक जीवन के दस्तूर तथा धर्म की परिभाषा तथा नैतिकता का अर्थ लोगों को समझाया। हजरत मुहम्मद ने जीवन की आचार संहिता पर तथा विचार पद्धति पर साफतौर से खुला वर्णन किया।

"हजरत मौहम्मद" ने इस्लाम का लक्ष्य तथा उद्देश्य स्पष्ट रूप से यानि साफतौर पर निश्चित किया था। इस्लाम का क्षेत्र और उसका दर्शन सदा से नैतिक आधार पर गठित तथा कर्मठता के आधार पर निश्चित और उन्नतशील पवित्र पुस्तक 'कुरान' में वर्णन किया गया है। **कहा गया है "अल्लाह एक है, वह सबसे महान् और बड़ा है।"**

"दिन में, पांच' वक्त की नमाज़, मक्के की ओर मुँह करके अदा करने की हिदायत है।" रमज़ान में रोज़ा, रखना तथा ज़कात करना अर्थात आमदनी का ढाई प्रतिशत गरीबों का दान कर देना इस्लाम की हिदायत है। जीवन में एक बार हज्ज़ (मक्का) जाना एक पवित्र लक्ष्य है। इस्लाम की सुरक्षा के लिये, 'जिहाद' करना यानि 'धर्म युद्ध' करना भी इस्लाम की शिक्षाओं का अंग है।

इस्लाम से पूर्व एशिया की दिशा

इस्लाम, जब 'धरती' पर आया तो उससे पूर्व की दशा उस क्षेत्र में बड़ी अमानवीय थी। लड़कियों को जिन्दा पैदा होते ही दफना दिया जाता था। लूटमार, अत्याचार, शोषण, 'कत्लोगारत' उस समाज में आम बात थी। लोग अन्धविश्वासी होते थे तथा इन्सानी कुर्बानी देने के प्रचलन से भी प्रभावित थे। कबीलों का न कोई कानून था और न ही उनमें कोई नैतिकता तथा मानवीयता थी। रूढ़िवादी परम्पराएँ उन जातियों को अन्धविश्वास के गहरे कोहरे में ढ़के हुये थीं। इस्लाम ने धरती पर आकर सबसे पहले अन्धविश्वास को हटाने का संकल्प लिया। उस समय मानवता हिंसा की गहरी चपेट में थी, इस्लाम ने मानवता की सुरक्षा का व्रत लिया। इस्लाम ने, मनुष्य को ईश्वर (अल्लाह) की इबादत में लीन हो जाने की शिक्षा का प्रसार किया। मनुष्य जो अब तक किसी भी विधान को नहीं मानता था, उसे 'नियम' और 'कानून' की परिभाषा से परिचित कराया। यहाँ तक कि 'औरत' को सबसे पहले आर्थिक अधिकार इस्लाम ने देने की वकालत की थी। इस्लाम की शिक्षाओं में नैतिकता और मानवीयता के सम्पूर्ण लक्षण मौजूद हैं।

इस्लाम का बढ़ता प्रसार

जिस काल में, जनाब हजरत "मोहम्मद साहब" इस्लाम का दर्शन लिये विश्व को एक नया 'धार्मिक' पवित्र दृष्टिकोण समझा रहे थे। उनका 'प्रचार' ईश्वर की महानता के लिये था। उसी काल में महान् रोमन तथा विशाल फारसी सम्म्राज्यों में भयानक युद्ध चल रहे थे। लाखों जाने तथा अपार सम्पत्ति इन युद्धों में खर्च हो रही थी। युद्ध के आतंक से मानवता सिसकियाँ

भर रही थीं। 572 से लेकर 591 तक जो एक दर्द भरा मारकाट का लम्बा युद्ध चला था, वह अनेकों बर्बरता का इतिहास अपने इतिहासिक पन्नों पर छिपाये हुये है। 603 से लेकर 628 तक रोमन और फारसी युद्ध ने इतनी गमगीन, दुखी, पीड़ित परिस्तिथियाँ पैदा कर दीं कि चारों ओर इन्सानी लाशों के ढेर ही नज़र आते थे। इसका परिणाम यह हुआ, 'दोनों' 'लड़ाकू' कौमें अपना सर्वनाश कर बैठीं। अब वहाँ न लड़ने वाले योद्धा बचे थे और न ही कोई शक्ति या दौलत बची थी, जो युद्ध में आगे काम आती। उस युद्ध में 'अरब' सैनिक भी हिस्सा ले रहे थे। वह लोग युद्ध विद्या में प्रवीण हो गये थे तथा उस काल के उत्तम फौज़ी साज़ों से लैस हो गये थे जो उन्हें रोमन तथा फारसी शक्तियों से मिले थे।

यह 'अरबी' सैनिक इस्लाम का परचम लेकर उस काल में थके-मॉदे 'रोमन' और 'साएनी' साम्राज्य पर टूट पड़े और उन पर पूर्णतया हावी हो गये। इसके बाद यह सीरिया (शाम) में प्रवेश कर गये। इनके काफिले यहीं तक नहीं रुके यह अरबी सैनिक इरान 'इराक' पर भी आक्रामक हो गये। 640 तक सम्पूर्ण सिरीया (शाम) इनके आधीन हो गया। 637 में तेसीफोन 641 में मौसिल और 649-50 में 'इस्तरव' पर इनकी तलवार अपना 'रूतबा' जमा चुकी थी। इनके सैनिक काफिले सीरियों पर विजय प्राप्त कर अपनी शक्ति का प्रदर्शन करते हुये तथा धरती को लहु-लुहान करते हुये और सिकन्द्रिया पर अपना अधिकार जमाते हुये, मिश्र तक पहुँच गये थे। उस समय पश्चिमी एशिया का यह समस्त भाग उनके चरणों में लेटा था तथा वह, इस्लाम का परचम लहराता हुआ, पश्चिम की और बढ़ रहा था। शक्ति और 'धर्म' के नाम पर उन्होंने सिसली (सिकिल्लिया) को रोंद डाला तथा रहोदस (रूदीस) को कत्लोगारत करता हुआ 674 में इकरीतीस पर काबिज़ हो गया था।

युद्ध की प्रचण्डता, विजय का अहंकार तलवार की धार की चमक और मज़हबी 'जुनून' उन्हें चैन से बैठने नहीं देता था। बस 'युद्ध' की अभिलाषा उन्हें बेचैन बनाये थी। 671 में उन्होंने ख़ुरासान पर अपना 'परचम' लहराया। 674 में उन्होंने बुखारा पर हमला किया। उस काल युद्ध चलता रहा मार काट होती रही, लाशें बिछती रहीं तथा 706 में उन्होंने बुख़ारा को जीत लिया। उसके बाद उन्होंने चीनी फ़ौजों को हरा दिया और फिर उसके बाद ताशकन्द पर उनका कब्ज़ा हो गया। अब तुर्कीस्तान में भी 'बौद्धधर्म' के पाठ बन्द हो गये तथा तुर्कीस्तान की मस्जिदों में "अल्लाह हू अकबर' के नारे गूजने लगे।"

इसके बाद यह लोग इस्लाम का परचम लेकर दक्षिण की ओर मुड़े जहाँ उन्होंने 710 में सिन्ध पर और 713 में मुल्तान पर अधिकार करके भारत उप-महाद्वीप पर अपने पैर जमा लिये।

उनकी विजय अभिलाषा अभी उन्हें शान्त नहीं बैठने दे रही थी। उनकी विजय तृष्णा उन्हें यूरोप की ओर बढ़ने को प्रेरित कर रही थी। 711 में "तारिक़ - इब्बन - जिहाद" ने अफ्रीक़ा की और कदम बढ़ाये और जलडमरू मध्य पर अपना अड्डा बनाया। उसे आज तक "जबल-अल-तारीख" या 'जेबरालटर' क़हते हैं। उसके बाद वह और उनके अधिकारी "मूसा-इब्बन-नुसैर" स्पेन, (अन्दलस) पर आक्रमक हो गये और 713 तक उस पर काबिज़ हो गये। 1717-18 में उन्होंने पिरेनीज पर्वत माला को पार करके फ्रॉंस में प्रवेश किया। उन्होंने नार्बान, बोदी शहर पर अपना अधिकार कर लिया। यहाँ पर भयंकर संघर्ष हुआ मारकाट से चारों ओर हा-हाकार मच गया।

एशिया और योरप की तलवारें टकराईं

इसके बाद यूरोप की धरती पर भी धार्मिक ईसाई धर्म की तलवारें तेज़ी मुकाबले के लिये सामने आ गईं। जब यह लोग तेजी से आगे बढ़ रहे थे तब 732 में प्वातिये युद्ध ने इस्लाम के बढ़ते क़दम में ठहराब पैदा कर दिया। मेसविजी दरबार के महा पुतिहारी शार्ल-मार्तल ने प्लासी और तूर में मध्य उनके सेनापति अब्दुल रहमान को करारी शिकस्त दी और उत्तरी यूरोप को उनके आधीपत्य से बचा दिया।

इतिहास बोलता हैं, कि हज़रत मौहम्मद साहब की मृत्यु के सौ वर्ष बाद, 732 ई० तक, बिरक की खाड़ी से सिन्ध नदी के तट तक तथा आराल सागर से नील की खाड़ी तक एशिया, अफ्रीक़ा तथा यूरोप के कुछ हिस्सों में इस्लाम का धार्मिक परचम लहरा गया और बड़ी तादाद में लोगों ने इस्लाम धर्म क़बूल कर लिया और वहां असंख्यों मिनारों का निर्माण हुआ, और "अल्लाह-हू-अकबर" के धार्मिक नारे गूंजने लगे।

'अल्लाह-हू-अकबर' की अज़ान के साथ मस्जिदों में नमाज़ पढ़ी जाने लगी। मस्जिदों की मिनारों से मुस्लमानों को नवाज़ अदा करने के लिये पुकारा जाने लगा। इस्लाम घर्म उस युग में एक धार्मिक दर्शन के साथ एक अजय शक्ति के रूप में पुकारा जाने लगा। उस काल में इतनी विशालता किसी अन्य धर्म-साम्राज्य ने नहीं पैदा की की थी, जितनी इस्लाम ने की थी। वास्तव में, इस्लाम का प्रसार सफ़ी मज़हबी विद्वानों और इस्लामिक दार्शनिकों नें, 'मानवता' का संदेश देकर दुनिया में किया था, लेकिन राजनैतिक सत्ता धारियों ने उसे 'युद्ध' से जोड़ दिया। इतिहास ने इस्लाम के अहिंसक दार्शनिक पक्ष को प्रकट करने में कंजूसी प्रदर्शित की, जिससे इस्लामिक अहिंसक दार्शनिक पक्ष 'बादशाहों की तलवार के सामने न्याय नही पा सका। देखा जाये तो 'इस्लाम' धर्म का मानवतावादी पक्ष बहुत ही प्रभावशाली है। जिसने दुनिया के दुखी पीड़ितों को शान्ति से जीने का हक़ दिया है। वास्तव में दुनिया का निर्धन और कमज़ोर वर्ग इस्लामिक दर्शन से बहुत कुछ प्राप्त कर सका, जिसे मानवतावादी कानूनी संरक्षण प्राप्त हुआ। फिर भी राजनैतिक सत्ता मानवतावादी पक्ष को अनदेखा करती रही।

इस्लाम, 'मानवतावाद' और 'प्रगतिवाद' को मान्यता देता है

यदि इस्लाम का गहन अध्यन किया जाये तो इस प्रश्न का उत्तर मिल जायेगा, कि इस्लाम बुद्धिवाद तथा 'अनन्त चिन्तन का' विषय रहा है और प्रगति की राह में निरन्तर मानव कल्याण के 'दर्शन' से पूर्ण है। 'इस्लाम' 'अल्लाह' (भगवान) के प्रति विश्वास तथा 'श्रद्धा' से पूर्ण है, उसके साथ-साथ अन्धविश्वास और संकीर्णता के विरुद्ध निरन्तर चलने वाला 'जिहाद' भी है। संकीर्णता के अन्धेरों को मिटाकर उजालों की ओर बढ़ना 'इस्लामिक दर्शन' का लक्ष्य है। 'जमालुद्दीन' जैसे महान् इस्लामिक दार्शनिकों ने, इस्लाम को केवल धर्म ही नहीं माना है, बल्कि वह उसे एक 'संस्कृति' स्वीकार करते हैं, जो मानव जाति को प्रगति की ओर ले जाती है। इसलिये उसने इस्लाम की सभी विचारधाराओं, शिया-सुन्नी के मतभेदों को मिटाकर 'समन्वय' की एक धारा में लाने का प्रयास किया था। इस्लाम में, 'जिहाद' का नारा अन्धविश्वास, शोषण और अत्याचार को मिटाने के लिये है, मानवता को मिटाने के लिये नही! मानवता की रक्षा करना उसका लक्ष्य है।

इस्लाम-'एक' ही ईश्वर की अपार सत्ता में विश्वास करता है, उसी में अनन्त श्रद्धा और विश्वास रखता है। जमालुद्दीन का मानना था, कि प्राकृतिक दृष्टीकोण से धर्म की व्याख्या नहीं की जा सकती है। उस दशा में वह भी ग़लत है जो प्रकृति को 'स्वयंभू' मानते हैं, ऐसा करना भौतिकवादी है। इस दृष्टि से जमालुद्दीन ने 'सैय्यिह' अहमद ख़ाँ की प्राकृति व्याख्याओं को (नेशारिया) को कुफ़्र बताया था। जमालुद्दीन की दृष्टि में धर्म की व्याख्या में (इजतिहाद) का दरवाज़ा सदा खुला है। उसकी दृष्टि में 'इस्लाम' में विशालता ही विशालता है, कोई दीवार या 'संकीर्णता' या एकांकीपन नहीं है। उसने माना था कि 'इस्लाम' विज्ञान के अधिक नज़दीक है, क्योंकि उसमें वैज्ञानिक 'प्रगति' के संकेत हैं। इस्लाम में जब प्रगतिशीलता और सक्रियता है तो 'इस्लाम' वैज्ञानिक दृष्टीकोण से कैसे दूर हो सकता है। मानव जीवन के विकास के लिये शान्ति और सुरक्षा आवश्यक है, शान्ति, सरुक्षा तथा मित्रता तथा बराबरी के आधार पर समतावादी न्याय के विषय में 'इस्लाम' यह मानता है, कि सबसे प्रथम इस्लाम ने ही मानव-सभ्यता को यह आचरण दिया था। **समतावादी समाज इस्लामिक दर्शन की कल्पना नहीं है, एक आदर्श है।**

इस्लाम ने ही ईश्वर और मानव समाज के मध्य सीधा रास्ता क़ायम किया था। "ईश्वर एक है, और मनुष्य प्राणी सब उसी की तखलीक़ (Creation) हैं" वह सब जाति और वर्ग विहीन है, उसमें छोटे-बड़े, धनवान तथा निर्धन के मध्य कोई मतभेद नहीं है। 'अल्लाह' की पवित्रा में सब मानव प्राणियों का दर्जा समान है।

The Holy Quran refers to the unity of human origin in the world "O Mankind! We created you from single pair of male and female, and made you into nations and tribes, and that you may know each others. Surely the most honoured of you in the sight of God, is he who is the most righteous of you" (49 : 13)

वास्तव में समानता ही मानवतावादी का सर्वोच्च गुण है! यह तब और भी महत्वपूर्ण हो जाता है, जब विभिन्न धर्म, जातियों, क़बीलों, क़ौमों, और रंग भेदों के लोग साथ-साथ रहते हैं। 'इस्लाम' इस समतावादी दर्शन को और भी महत्वपूर्ण बनाकर समतावादी कवच में, मानवता तथा समता को साथ-साथ सुरक्षित करता है। महान् पैग़म्बर मोहम्मद ने स्पष्ट करते हुये कहा "O people! Beware!your lord is one. There is no superiority for an 'Arab' over A non-Arab, nor for a white over black, nor over a black over a white, but for his piety. The most honoured' among you in the sight of God is one who is most righteous."

इस्लाम दावा करता है, कि इस्लाम ने ही दुनिया को सहीष्णुता, सहनशीलता तथा मानवीय सुरक्षा का सन्देश दिया।

'अल्लाह' ने ही मनुष्य समाज को एक मानवीय समुदाय के रूप में पैदा किया है, यह उसकी रहमत है, कृपा है। यदि आप मानव समाज की सेवा करोगे, तो अल्लाहा ! आपको उसका अच्छा फल देगा।

"इस्लाम मानव समाज को धरती पर सहयोग से और मिलकर रहने का सन्देश देता है! और 'अल्लाह! में और उसकी कृपा में यकीन करता है, जब तक उसकी कृपा बनी रहेगी! तब तक मानव सुखी रहेगा।" फ्राँस के प्रसिद्ध दार्शनिक जे० जे० रूसो (J.J. Rousseu) (1712-1778 ई०) का प्रसिद्ध कथन था। "मनुष्य स्वतन्त्र पैदा हुआ है, परन्तु हर जगह ज़ंजीरों में बंधा" है। "Man is born free, but every where he is in chain" **लेकिन इस्लाम ने मनुष्य की महत्वता को इन्सानियत और उसके 'अस्तित्व' को बिना भेद-भाव के पनपने की सलाह दी है। इस्लाम मानता है, "बच्चा! अल्लाह' की कृपा से अपनी माता के 'गर्भ से' स्वतन्त्र पैदा होता है। वह 'अल्लाह' के अलावा किसी के आधीन नहीं है, उसे जाति, रंग, विभिन्न भेदों के बन्धनों में नहीं बांधा जा सकता।**

इस्लामिक दार्शनिकों का मत है, कि इस्लाम ने ही एशिया और यूरोप में, समता, समानता, स्वतन्त्रता, 'राजनैतिक नैतिकता', तथा मानवतावाद को सर्वप्रथम विकसित किया। यूरोप की राजनीति में समता और मानवता का 'दर्शन' और धर्म निरपेक्षता बहुत संघर्षों के बाद बना पाई, और वहाँ की राजनीति में धर्म 20 वीं शताब्दी तक भारी रहा, फिर भी बहुसंख्यकों और अल्प संख्यकों का 'प्रश्न' युद्ध और आतंक का कारण बना रहा है। लेकिन इस्लाम, ने जन्म से ही समता, मानवता को अपने दार्शनिक चिन्तन में विशेष स्थान दिया। जब कि यूरोप को मानवता में एकता को, दार्शनिक पक्ष बनाने में, वर्षों लगे थे, वह भी भारी संघर्ष के बाद। जर्मन में दास प्रथा जब समाप्त हो पाई थी, जब हज़ारों लोगों ने आन्दोलन कर अपने प्राण न्यौछावर कर दिये थे। फ्राँस की क्रान्ति में हज़ारों लोगों का रक्त बहाया गया था, तब कहीं समता की बात कही गई थी। जर्मन और फ्राँस के युद्ध, इतिहास में अनेकों रक्तपात के लिये जिम्मेदार हैं। रूस का अपने पेड़ोसियों से युद्ध होता रहता था। समाज योरोप संघर्षों की पीड़ा झेलता रहा था, तब भी वहा पूर्णतय समतावाद नहीं पा पाया था।

'धर्मनिरपेक्षता और इस्लाम' :- इस्लाम मानव जाति को जातियों और रंग भेद की भौगोलिक सीमाओं में नहीं बांधता है। **'इस्लाम' राष्ट्रों और राज्यों की सीमाओं में नहीं अनुबन्धित किया गया है। इस्लाम का मत है "प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्र है, वह स्वतन्त्रता से अपने धर्म का पालन करे या किसी भी धार्मिक आस्ता में यकीन लाये, इस्लाम मज़हबी स्वतन्त्रता में विश्वास करता है। वह अपने ढंग से उसे बन्धनों और अनुबन्धनों में नहीं बांध ाता है। वह पूजा और आराधना की स्वतन्त्रता में विश्वास करता है, धार्मिक विश्वास की**

मान्यता के लिये भी इस्लाम ज़ोर ज़बर्दस्ती में यकीन नहीं करता है। पवित्र कुरान बताता है "तुम्हारे लिये तुम्हारा धर्म, और मेरे लिये मेरा धर्म" "Unto you, your religion, upto me my religion"

The prophat of Islam was told by God that "if they trun away, we have sent you as a guard over them, your duty is But to convey his message.

पवित्र क़ुरान हिदायत करती है कि किसी धर्म को बुरा मत कहो! उन्हें भी नहीं, जो ऐसा करते हैं, क्योंकि ऐसा वह अज्ञानता में करते हैं। अल्लाह सबसे बेहतर जानता है कि वह अपने रास्ते से क्यों भटक गये हैं ? और कौन उन्हें सही रास्ता दिखा सकता है। उन्हें प्रोत्साहित करके प्रेम से रास्ते पर लाओ !

The Holy Quran says : Do not abuse those, whom they invoke besides 'Allah' least they should, in their ignorance, abuse, "Allah." And again "O prophet" I invite to the way of your Lord with wisdom excellent admonition and----- discuss things with people in the best manner "Your Lord knows best who has gone astray from His way and He knows best who is rightly guided "(6:108, 16:125).

इस्लामिक क़ानून समतावादी है

इस्लाम' की हिदायत है, कि राज्यसत्ता को निस्पक्ष होना चाहिये। किसी भी व्यक्ति के साथ इन्साफ़ बिना किसी भेदभाव के न्यायिक दृष्टि से होना चाहिये। उसे निष्पक्ष होना अनिवार्य है। यह भी अहसास होना चाहिये कि न्याय निष्पक्ष किया जा रहा है। इस्लाम सभी को, बिना जाति धर्म, रंग भेद राष्ट्रीयता तथा स्त्री और पुरुष का भेद किये बिना, न्याय करने में विश्वास करता है, मुनसिफ़ की नज़र में न्याय की दृष्टि में सब समान हैं, सभी लोग, चाहे वह मुसलिम हो या ग़ैर मुस्लीम सभी क्रिमनल विवादों में भी न्याय की दृष्टि में, समता के आधार पर न्याय के हक़दार हैं "धार्मिक मामलों में वह अपने धर्म के आधार पर न्याय पाने के हक़दार भी हैं।"

इस्लामिक न्याय में

क़ानून की दृष्टि में सत्ताधारी को कोई विशेषाधिकार नहीं हैं इस्लामिक क़ानून की दृष्टि में "राजा और रंक" "ग़रीब और अमीर", सत्ताधारी और, आम जनता सब समान हैं यहाँ तक 'धर्माचार्य' मौलवी तथा मुल्लाओं को भी इस्लाम कोई विशेषाधिकार नहीं देता है। समाजिक उपाधियों, वर्ग विशेषता का अधिकार भी किसी को इस्लाम में नहीं है। छोटा-बड़ा; ऊँच-नीच को क़ानूनीतौर पर 'इस्लाम', अस्वीकार करता है, तथा 'इस्लाम' की दृष्टि में यह भेदभाव करना 'दण्डनीय' अपराध है।

"पवित्र पैग़म्बर ने साफ़ तौर पर न्याय' में समानता को क़ायम करने के लिये अपना ही उदाहरण पेश करते हुये सन्देश दिया था। कि यदि मेरी बेटी फ़ातिमा भी अपराध करे, तो उसे भी सज़ा मिलेगी।

"I Swear by "Allah" that if 'Fatimah' (The daughter of Holy prophet) Muhammad should steal, I would have her hand cut off".

Like wise, Umar the second Calipha, forced Jabalah bin Aiham, the ruler of native state, to satisfy the claim of comman man against him. Umar also turned down the request for legal safe guards against the governors of different countries appointed by him.(2 : 188, 51 : 19).

"इस्लाम" मानव अधिकारों को केवल मान्यता ही नहीं देता, उनका संरक्षण भी करता है। 'इस्लामिक' दर्शन में सम्पत्ति का अधिकार, बोलने की आज़ादी, और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, तथा

इस्लाम ने 'स्त्री' को नैतिक तथा क़ानूनी अधिकार दिया है कि वह अपनी 'पसन्द' का जीवन साथी 'क़बूल' करे। यदि वह किसी व्यक्ति को अस्वीकार कर देती है, तो विवाह वैद्य नहीं माना जाता।

इस्लाम प्रत्येक व्यक्ति को अपने मकान में अपनी निजी ज़िन्दगी को खुशी से व्यतीत करने का अधिकार देता है। 'पवित्र क़ुरान' की हिदायत है, किसी के मकान में भी, यहाँ तक कि अपने मकान में भी जब तक मत जाओं! जब तक कि वह आपको मकान में आने को न कहे! मकान के अन्दर प्रवेश लेने के लिये उसमें रहने वालों की आज्ञा जरुरी है। इस्लाम दूसरों की जासूसी करने या किसी के निज़ी जीवन में दख़ल देने की आज्ञा नहीं 'देता', साथ ही साथ इस्लाम में, दूसरों की निन्दा करने की आज्ञा भी नहीं है।

इस्लाम और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध

इस्लाम मुस्लिम और गैर मुस्लिम राज्यों में समता के आधार पर रिश्ते रखने का पक्षधर है। इसी तरह एक राज्य में, मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम नागरिकों में किसी भी प्रकार के भेद का पक्षपाती नहीं है।

जब इस्लामिक संसार का प्रथम राज्य (State) मदीने में क़ायम किया गया, तब मुसलिम और ग़ैर मुस्लिमों को समानता के अधिकार दिये गये थे। इसी तरह से गैर मुस्लिम राज्यों में, जो मुस्लिम रहते हैं, उन्हें भी हिफ़ाज़त और सुरक्षा और अपने राष्ट्र की शक्ति के लिये सब कुछ कुर्बान करने के लिये तैयार रहने को इस्लाम में कहा गया है। इस्लाम सभी को अपने देश पर बलिदान होने की शिक्षा देता है।

"शान्ति और सुरक्षा' इस्लाम के लिये प्रथम आवश्यकता है, इस्लाम हिदायत देता है कि "शान्ति और सुरक्षा" के अभाव में मानव समाज जीवित नहीं रह सकता है।

इस्लाम मान्यता देता है, "शान्ति और सुरक्षा के लिये, मुस्लिम तथा ग़ैर-मुस्लिम राज्यों के मध्य सहयोग और शान्ति के लिये, मित्रता तथा विकास के लिये आपसी सन्धियाँ होनी चाहिएँ। इस्लाम का मानना है, कि सन्धियों और इक़रारनामों के किये हुये वायदों से 'मुकरना' या वायदा-ख़िलाफी नहीं करनी चाहिये।"

The Holy 'Quran' enjoins Muslims: "O believers! Be steadfast witness for "Allah" in equity, and let not hatred of any people, reduce you that deal not Justly. Do justice for it is nearer to, piety, and fear "Allah", Help you one another in righteousness and piety. Help not one another in sin and aggression, and fear 'Allah'. (5 : 2)

मौलिक अधिकारों के विषय में, तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों के विषयों पर 'इस्लाम', मुस्लिम तथा गैर-मुस्लिम के साथ समानता तथा स्वच्छ और पवित्र न्याय के साथ 'बर्ताव' करने को प्रेरित करता है 'इस्लाम 'पाप' 'ज़ुल्म' और 'हिंसा' करने की इजाज़त नहीं देता।

इस्लाम सलाह देता है, "अल्लाह'! में यक़ीन करने वालों को 'अल्लाह' के सामने शान्तिमय समर्पण करना है! शैतान के पदचिन्हों पर चलने से बचाव करना है। शैतान ही तुम्हारा खुला शत्रु है।"

"O'ye who believe! all of you, into the peaceful submission (unto Him) and follow not in the foot-steps of the devil. So he is an open enemy for you." (2 : 208)

इसी तरह 'इस्लाम' सभी के साथ न्याय प्रिय है, तथा स्वच्छ और इमानदारी से व्यवहार करने को कहता है। चाहे वह इस्लामिक हो, या ग़ैर इस्लामिक, उनके साथ भी मधुरता और इमानदारी से व्यवहार करने की सलाह देता है।

इस्लाम कहता है, "अल्लाह! न्याय प्रिय, ईमानदार व्यक्तित्व को प्यार करता है। यदि कोई तुम पर युद्ध नहीं थोपता, और "शान्ति" चाहता है, तो, 'अल्लाह' तुम्हें हिदायत देता है, कि तुम उसके विरुद्ध युद्ध मत करों! शान्ति रखो!! (90)

आर्थिक समानता

इस्लाम आर्थिक असमानता तथा मानव शोषण की इजाज़त नहीं देता है। क्योंकि आर्थिक समानता ही न्याय की प्रथम दशा है। इस्लाम का कहना है, कि प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण आर्थिक सुरक्षा का अवसर देना चाहिये। इस्लाम की दृष्टि में कमजोरों, 'दलितों' और अपंगों तथा अपाहजों को सुरक्षा के साथ-साथ दया, प्रेम तथा विशेष सुविधा देने की आवश्यकता पर 'इस्लाम' ज़ोर देता है। "राज्य और सरकारों का कर्त्तव्य है कि उनकी सुरक्षा और विकास के अवसरों की विशेष सुरक्षा करे। इस्लाम में अपनी आमदनी का 2.5% जकात Zakat (Capital Wealth) तथा 10% 'उशर' (Ushar) (कृषि उत्पादन से) ज़रुरत 'मन्दों' और 'ग़रीबों' तथा सामाजिक नेक कामों में लगाने की 'सलाह' देता है। यह ही नहीं, इस्लाम ग़रीबी और अमीरी के मध्य एक सेतू बनाने की सलाह भी देता है जिससे वह समाज को असन्तुलित न कर पाए। इसी के साथ-साथ इस्लाम किसी भी तरह से मज़दूरों, मज़लूमों, बेबसों और कमजोरों के शोषण की इजाज़त नहीं देता है।"

"जहाँ, अल्लाहा' ने 'पवित्र क़ुरान' को, तथा "महान् पैग़म्बर मोहम्मद को" अपना आर्शीवाद देकर, धरती पर, मानव कल्याण के लिये, नैतिक तथा 'विधि' रचना का कार्य सम्पन्न करने के लिये, भेजा, जिससे मानव सस्थाओं' (Institutions) और उनमें मानव कल्याणकारी रिश्तों को विधिवत किया जा सके। वहाँ अल्लाह ! ने मनुष्य समाज को हिदायत दी, कि वह संसार में 'शान्ति' और व्यवस्था को बनाये रखे। "The Quran enjoin Muslims to keep peace and maintain cordial relations with all non-belligerant powers."

पवित्र कुरान का खुला सन्देश है, कि "जहाँ पर वह! सदियों से भटकती, और पीड़ित मानवता को, विधिवत सुरक्षित दुनिया में, विकसित होने, का अवसर प्रदान करे," पवित्र कुरान को मानने वालों का फर्ज़ है कि वह मानव कल्याण के सुअवसर देने में, जहाँ जो दबाव तथा शोषण मुक्त विश्वव्यापी समाज की व्यवस्था में, 'अल्लाह' की कृपा को फैला सकें।

जहाँ पर, 'अल्लाह' की रहमत को, समान रूप से आर्थिक समता हो, भाईचारा और बराबरी हो, वहीं दुनिया मानवीय दुनिया कहीं, जायेगी। इस्लाम का फ़र्ज़ है, कि बराबरी के साथ-साथ दबे कुचले, पीड़ितों को न्याय दिलाते हुये, उन्हें ऊपर उठाते, हुये, मदद और दया करते हुये, समस्त पृथ्वी को 'अल्लाह' की कृपा से, तथा अपने हुनर से, सुन्दर और प्यार भरी बना सके।"

समस्त जगत में !! ईश्वरीय रहमत जो 'अल्लाह'! ने अपनी प्रजा के लिये दी है, उसे उसके बन्दों को कहीं पर भी, किसी के द्वारा भी महरूम नहीं किया जा सकता। राजसत्ता द्वारा या धार्मिक या राजनैतिक शक्ति द्वारा, किसी भी भेदभाव द्वारा, मानवता को वर्णों में विभाजित नहीं किया जा सकता।

(A) समस्त मुस्लिम यक़ीन करते हैं "ईश्वर ही महान् है और दयालू है, वही संसार का रचियता (Creator) है, जो सर्वशक्तिमान (Sovereign) है समस्त विधि का स्रोत्र है, सच्चा, दयालू मार्ग दर्शक है।

(B) महानतम् प्रभु ने, 'ख़लीफ़ा' जिसे निर्मित किया है कि वह 'ईश्वर' की इच्छा को पूरा करे।

(C) पैग़म्बर महान को, 'महान् तथा बौद्धिक ईश्वरीय (Devine) संरक्षण में, तथा निर्देशन में,

एक महान् मानव कल्याणकारी, ईश्वरीय सन्देश के साथ, जो "शान्ति (Peace) और सुरक्षा (Security) का सन्देश सबको समान रूप से धरती पर दे सके, भेजा था।"

इस्लाम, मनुष्य के 'अस्तित्व' और उसके महत्व को, सम्पूर्णता के साथ, और कर्त्तव्य परायणता के साथ, उसके सम्पूर्ण अस्तित्व को बनाये रखने के लिये, जो उसको 'अल्लाह' ने निर्देषित किया, क़ायम रखेगा तथा उसे सुरक्षित रूप से बिना भेदभाव के विकसित करता रहेगा।

प्रत्येक मुस्लिम का पवित्र कर्त्तव्य है, कि वह इस्लाम की पवित्र शिक्षाओं को कर्त्तव्य मानकर, मन की गहराईयों से प्राथमिकता के साथ शब्द व शब्द, कार्यों और कर्मों से, मधुरता से, प्रेम से कोमलमय तरीक़ों से, व्यक्ति से व्यक्तियों तक समाज को समझाये। इस्लाम में, मानवता को और मानव समाज को, साथ-ही-साथ ईश्वर की बनाई सम्पूर्ण सृष्टि को सुरक्षित रखने का 'अल्लाह' का निर्देश है।

एक ठहराव

732 के लगभग, यूरोप में, "प्वातिये" के युद्ध के पश्चात् इस्लाम के बढ़ते क़दम यूरोप में रूक से गये, लेकिन 751 में "तलनस" के संग्राम के बाद, एशिया में इस्लाम का साम्राज्य चारों ओर नजर आने लगा। इतिहास में एक घटना और आगे बढ़ी, दसवीं शताब्दी के लगभग तुर्की के इस्लाम धर्म धारण करने के बाद, 'तुर्की' पर भी इस्लाम का परचम लहराने लगा। 'तुर्की' में मुस्लमानों ने इस्लाम के साम्राज्य को आगे बढ़ाने में पूर्णतया कामयाबी हासिल की थी। उनकी एक शाखा जो 'सलजूक़ी' कहलाती थी ग्यारहवीं सदी में अफ़गानिस्तान के पश्चिम में, रोम सागर तटवर्ती प्रदेशों में कायम थी, उसने राजनैतिक को इस्लामिक दृष्टिकोण से सुसज्जित किया। उन्होनें इस्लाम के मानने वालों में प्रशासनिक तथा भावात्मक एकता कायम करके, एक नई शासन व्यवस्था को भी क़ायम किया। यह शाखा अपने नेता उसमानी के नाम पर उसमानी कहलाई। इसका दबदबा 1299-1326 तक क़ायम रहा। यह लोग तेहरवीं सदी में एशिया खुर्द पर अपने तलवार के जोहर से कब्ज़ा कर बराबर यूरोप पर दबाव बनाये रहे।

1355 में उन्होंने 'दूरेदनियाल' को पार किया और 1360 में वह आगे बढ़े और 'आद्रियानोपिल' पर काबिज़ हो गये। 1371-72 में भयंकर मार-काट करते हुये मकदुनिया को जीतकर 1453 में कुंस्तुनतुनिया पर झण्डा फहराते हुये उन्होंने अपनी उस तमन्ना को पूरा किया, जिसे वह लोग 800 वर्ष से अपने दिलों में लिये बैठे थे।

यह अपनी तलवार की धाक जमाते हुये, यूरोप की चुनौती दे रहे थे। इन समस्त युद्धों में सत्ताधारी जो, अधिकतर साम्राज्य विस्तार के लिये क़त्लों-ग़ारत करते रहते थे लेकिन वह लोग सहारा धर्म का ही लेते थे।

उनकी रक्त-रंजित खूरेज़ी और लड़ाईयों से, यूरोप की धरती पर उसमानी विजेता मोहम्मद द्वितीय फातीह की 1451-81 ई० तक धाक जमी रही। उसके पोत्र सलीम प्रथम ने (1512-1520 ई०) में 1515 ई० में फ़ारसी सेना को उर्मिया-झील के उत्तर में हराकर ईराक़ पर और आरमिनिया पर काबिज हो कर, विजय का एक नया इतिहास लिखा, यही नहीं, बल्कि वह सेफबी राजधानी पर भी क़ब्ज़ा करके बैठ गया।

युद्ध आगे बढ़ रहा था, 1516 ई० में सीरिफ पर विजय प्राप्त कर यह लोग सीरिया की तरफ़ बढ़ गये और इन्होंने अगले वर्ष अरब पर अधिकार कर लिया। उस काल में समस्त अरबी-भाषी पश्चिमी एशिया उसमानी 'तुर्क' साम्राज्य का अंग बन गया था। आगे जाकर सलीम पुत्र सुलेमान ने 1520-1566 ई० अपनी सेनाओं का मुँह यूरोप की ओर मोड़ा। यद्यपि उसके गद्दी पर बैठने से पहिले ही महानाविक खैरुद्दीन और उसके भाई ने अल्जीरिया पर से स्पेनी, क़ब्ज़ा समाप्त कर दिया था और उसे उसमानी राज्य का अंग बना लिया था। खैरुद्दीन ने एक विशाल जंगी बेड़ा भी तैयार किया था, जो रोम सागर में अपना अधिपत्य स्थपित करने में कामयाब

हो गया था। उसी ने हमला करके तूनिसिया पर क़ब्ज़ा कर लिया था। उसी काल में एक दूसरा नाविक पीरी रईस भी था, जिसने 'अदन' और 'मुस्कात' पर हमला किया था। उस काल में नाविक हमले के साथ-साथ उनकी थल सेना भी हमले कर रही थी। इससे उस्मानी तुर्की का राज्य सम्पूर्ण क्षेत्र में क़ायम हो गया था।

उस काल में पूर्व, पश्चिम, उत्तर और दक्षिण चारों दिशाओं में युद्ध और आतंक का 'साया' था। उस काल की माताएँ अपने बच्चों को किसी भी विशालकाय 'योद्धा' और मार-काट में प्रवीण दहशत गर्द का नाम लेकर अपन बच्चों को सुलाया करती थीं।

उस काल में, 'युद्ध' ही धर्म था और हिंसा कितनी भी डरावनी कही जाये लेकिन लोगों के दिलों पर राज कर रही थी। न्याय बादशाह की इच्छा का गुलाम बन गया था। "धर्म", विजेता के अहंकार का अंग बन कर उपहास कर रहा था। साम्राज्य विस्तार की प्यास किसी न किसी 'धर्म' की 'आड़' लेकर 'राजतन्त्र' और शक्तिशाली की इच्छा पूर्ति कर रही थी। उस काल में राज्य का विस्तार तो होता ही था, लेकिन उससे भी लम्बी क़तारें 'कब्रिस्तान' और 'मरघटों' की धरती पर एकत्र होने लगी थी। ऐसा भी होता था, लाशों के उन ढेरों को कभी-कभी दफनाने वाला भी कोई नहीं होता था। वहाँ तो 'मृत्यु' और ख़ौफनाक चीत्कार करती हुई तड़फती इन्सानी ज़िन्दगी की अधमरी लाशें दिखाई पड़ती थीं।

अब, अहंकार विलासिता, भ्रष्टाचार और अत्याचार राजघरानों का पेशा बन गया था। सुलेमान प्रतापी (Solyman the Magnificent) ने अपनी तलवार के बल पर और अपने अधिपत्य में तुर्की साम्राज्य को अपनी चरम सीमा पर पहुँचा दिया। 1566 ई० में उसकी मृत्यू के बाद, भ्रष्ट और अयोग्य शासन के कारण उसका पतन होने लगा। अब आमतौर पर दरबारी षडंयत्रकारियों के हाथ का खिलौना बन कर सुल्तान पतित जीवन व्यतीत करने लगे। पाशा Pashas तथा प्रान्तीय गर्वनर अब स्वतन्त्र हो गये थे। उन्होंने सत्ता को खुल्लम-खुल्ला ठुकरा दिया था। जो तुर्की सेनाएँ अजय कहलाती थीं उनमें सबसे अधिक संख्या जनिस्सरीज़ (Janissaries) की थी। यह कठोर थे, तथा अपनी मर्ज़ी से सुल्तानों को हठाने और उतारने लगे थे। उन्होंने भी प्राचीन रोमन प्रेटोरियनों की भाँति काम करना आरम्भ कर दिया।

अब धार्मिक आदर्श और नैतिकता बहुत पीछे छुट गई थी। जब कभी भी धर्म का प्रयोग होता था तो वह राज्य सत्ता पर क़ब्ज़ा करने के लिये 'या' एक दूसरे को मिटाने के लिये किया जाता था। जिसकी तलवार में 'कत्ल' करने जितनी कुवत होती थी, वह ही गद्दी पर बैठता था।

1645 ई० में, सुल्तान इब्राहिम ने स्वयं छेड़छाड़ करके 'वेनिस' के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी, उसने क्रीट (Crete) पर हमला किया, लेकिन 'वेनिस' बालों ने सफलता पूर्वक अपनी रक्षा करके उसे पीछे धकेल दिया। इसी बीच उसे गद्दी से उतार दिया गया और कत्ल कर दिया गया। उसका पुत्र उस समय 'सात वर्ष' का था, जब वह गद्दी पर बैठाया गया। लेकिन दुर्भाग्य वश नये सुल्तान की माता और उसकी दादी में संघर्ष हो गया और दादी मार डाली गई। उस काल में, 'राजमहलों' के संघर्ष बड़े ख़तरनाक होते थे, उस कारण से 'बाहरी' दुनिया में शिथिलता आ गई थी। इस शिथिलता का लाभ तुर्की के शत्रुओं ने पूर्ण रूप से उठाया। वेनिस वालों ने भी दर्रे दोनियाल (Dardanelles) और 'टेनेडांस' का दीप अपने कब्ज़े में कर लिया।

इन भयंकर परिस्थितियों में सुल्तान की 'माँ' ने मुहम्मद क्यूप्रिली (Kiuprili) को जो 'अल्वानिया का रहने वाला था, महामंत्री पद पर नियुक्त किया। उसने 1656 ई० में तुर्की साम्राज्य का एक नया दौर आरम्भ किया।

सबसे पहले क्यिूप्रिली ने आन्तरिक राज महल से लेकर प्रान्तों के राजनैतिक अनुशासन को दुरूस्त किया। उस काल में, 'अहमद' भी अपने पिता की तरह एक योग्य और विलक्षण प्रतिभा का पुरुष था। उस के प्रभाव से, 17वीं ई० में तुर्की की पुरानी शक्ति फिर लौट आई।

"क्यिूप्रिली (Kiuprili) अब 'ईसाइयों' से फिर टकराने लगा, तुर्की के मुस्लिम शासकों और ईसाईयों में टकराव"

'इस्लाम' का परचम लिये, अब कियुप्रिली ने तुर्की की सैनिक प्रवृति को जाग्रत किया। उसने ईसाईयों के विरुद्ध उस युद्ध की ओर ध्यान दिया जो उसके मंत्री होने से पहले वेनिस के विरुद्ध आरम्भ हुआ था। उसके नेतृत्व में वेनिस वाले दर्रे दानियाल से पीछे हटा दिये गये थे। लेमनाँस (Lemnas) और टेनेडाँस के द्वीप पुनः जीत लिये गये। यही पर इतिहास नहीं ठहरा क्रीट में कैनेडिया (Canadia) को घेर लिया गया। इसके बाद उसने ट्रासिल्वेनिया (Transylavania) पर आक्रमण कर दिया जो "हंगरी" का पूर्वी हिस्सा था। यह रियासत पहले से ही सुल्तान को कर देती थी, आक्रमण का कारण यह था, कि ट्रांसिल्वेनिया (Transylavania) के राजकुमार रैगाक्जी (Ragoczy) ने सुल्तान की आज्ञा लिये बिना स्वीडन के राजा चार्ल्स दशम का पौलण्ड के होने वाले युद्ध में साथ देकर एक बड़ा दुस्साहस कर डाला था, जो एक मातहत रियासत के लिये अक्षम्य अपराध था। इस घटना के लिये वहाँ एक 'तुर्की' का शासक नियुक्त कर दिया गया और राज कुमार रैगॉक्जी (Ragezy) को गद्दी से उतार दिया गया। उसने अपने साथ हुये अन्याय के विरुद्ध सम्राट लियोपोल्ड से अपील की थी, पर इसका परिणाम कुछ भी न निकला। इसके बाद भी उसने हिम्मत नहीं हारी और वह अपने अधिकार के लिये संघर्ष करता रहा और वह स्वयं एक युद्ध में मारा गया। उस समय के 'देशभक्त' दल ने अपना एक उत्तराधिकारी चुना और फिर से सम्राट से दूसरी बार मदद की प्रार्थना की थी, जिसके परिणामस्वरूप लियोपोल्ड ने अपने सर्वश्रेष्ठ 'जनरल माण्टेक्कुली (Montecululi) को ट्रांस्ल्विेनिया की ओर भेजा। इस प्रकार हंगरी पर अधिकार जमाने हेतु होने वाले यह संघर्ष, टर्की और आस्ट्रिया का पारस्परिक संघर्ष बन गया था। उसी समय 'कियूप्रिली' की मृत्यु 1661 ई० में हो गई, और आगे युद्ध की कमान 'अहमद' ने गद्दी पर बैठते ही अपने हाथों में ले ली। वह सत्रहवीं सदी का 'तुर्की' का सबसे योग्य जनरल था।

उसने अपने पिता के अधूरे सपनों को पूरा करने के लिये सबसे पहले हंगरी पर ही आक्रमण किया। उसने 1663 में 'डैन्यूव' पार किया। उसने अपनी तलवार के जौहर से 'न्यूहासेल' (Neuhausel) पर कब्जा जमा लिया। वह लूटमार करता हुआ आगे बढ़ रहा था, उसने 'मोरेविया'(Moravia) को बुरी तरह लूटा। उसके बाद सिलीशिया पर कठोरता से प्रहार किया। उसकी लूटमार तथा कठोरता की कहानियाँ यूरोप की धरती पर चारों ओर चर्चित हो गई। तुर्की के बढ़त की कहानियों ने 'यूरोप' में दहशत पैदा कर दी थी।

अब 'हंगरी' की सहायता के लिये, यूरोप के स्वयं-सेवक चारों ओर से आने लगे। फ्राँस और 'टर्कों' में बहुत पुरानी मित्रता थी, लेकिन तुर्की के धार्मिक कहे जाने वाले आंतक को

मिटाने के लिये लुई चतुर्दश ने भी अपनी सैनिक टुकड़ी लड़ाई के लिये सम्राट के पास भेजी। पूर्ण विश्वास के साथ आस्ट्रिया की सेना माण्टक्कुली के नेतृत्व में रवाना हुई। 1664 ई० में सेण्टगोथार्ड (St. Gthard) के मैदान में अहमद की सेना से आँस्ट्रियन सेना की मुटभेड़ हुई, भयंकर लड़ाई हुई जिसमें 'अहमद' हार गया। इस विजय के बाद भी सम्राट ने संधि का प्रस्ताव रखा और परिणामस्वरूप 'बयोबर' (Peace of Vaovor) की संधि पर हस्ताक्षर किये गये। यह संधि भी अधिकतर 'तुर्की' के पक्ष में गई, क्योंकि ट्रान्सिलवेनिया पर तुर्की को अपना अधिकार बनाये रखने की आज्ञा दे दी गई थी। बदले में 20 वर्ष तक 'तुर्की' इस संधि से बंधे रहेंगे और कोई आक्रमण नहीं करेंगे। 'अहमद' की 'युद्ध' प्यास' अभी शान्त नहीं हुई थी। उसने 1669 ई० में कनेडिया पर विजय प्राप्त की और क्रीट तुर्की के हाथ में चला गया।

'अहमद' अपनी शक्ति बढ़ा रहा था, युद्ध उसका पेशा बन गया। होशियारी चालाकी 'युद्ध' के समय उसकी कला थी। क्रीट की विजय के बाद 'तुर्की' को उसने 'पोलैण्ड' के साथ 'युद्ध' में व्यस्त कर दिया। 'अहमद' ने यूक्रेन (Ukraine), के कोजके (Cossacks) के लोग ने जो पोलैण्ड के अधीन कर दिये गये थे, विद्रोह कर दिया और अहमद से सहायता की प्रार्थना की जो उसने स्वीकार कर ली और उसने पोलैण्ड के 'राजा' माईकिल (Michael) पर दबाव डाला कि वह 'यूक्रेन' और पोडोलिया (Podolia) को उनके हवाले करके संधि कर ले। परन्तु 'सोबेस्की' (Sobieskei) ने पोलैण्ड की जातीय सम्मान की रक्षा करने का बीड़ा उठाया, और उसने संधि की शर्तें ठुकरा कर युद्ध के मैदान में 'अहमद' को 'ललकारा' तथा 'खोजिम' (Khoezim) नामक स्थान पर 'अहमद' को हरा कर एक महत्वपूर्ण विजय पाई तथा 'अहमद' के अहंकार को चकनाचूर कर दिया। उसे वहाँ की जनता ने शौर्य का महत्वपूर्ण 'इनाम' दिया और उसे वहाँ का 'राजा' चुन लिया गया। यही नहीं उसने 'तुर्की' को अन्य लड़ाईयों में भी परास्त किया, लेकिन वह भी तुर्की को पोडोलिया से निकालने में 'असमर्थ' रहा। इसका परिणाम यह निकला, कि 'जुरावना' (Zurawna) की संधि के कारण जीते हुये, बहुत से स्थान तुर्की पर ही रहे, लेकिन 'पोडोलिया' एवं यूक्रेन का कुछ हिस्सा पोलैण्ड को 'वापस' कर दिया गया। 'युद्ध' की थकान और भयंकर खून ख़राबे का परिणाम यह निकला कि 1676 ई० में संधि के कुछ दिनों बाद अहमद की मृत्यु हो गई। अहमद की मृत्यु के बाद 'कियूप्रिली' वंश की ऊचाईयों को स्पर्श करती कीर्ति भी उसी के साथ चली गई। उसका उत्तराधिकारी 'करा मस्तफा' (Kara Mustafa) भी बहुत बड़ा महत्वकांक्षी व्यक्ति और लडाकू भी था, लेकिन अपने पूर्वजों की भाँति योग्य नहीं था, यूरोप की दशा भी आपसी संघर्षों के कारण बड़ी ख़राब थी। सम्राट लियोपोल्ड भी इस समय संकट में था, क्योंकि रीयूनियन (Reunion) की नीति के कारण वह जर्मन के समस्त नगरों पर हमला कर रहा था, उधर हंगरी में विद्रोह हो रहा था। 'तुर्की' संकट में फंसा देखकर 'करा गुस्तफा' ने 1683 ई० में वियना पर हमला कर दिया तथा उसे चारों ओर से घेर लिया। उधर सम्राट ने वियना की रक्षा का कोई भी प्रबन्ध नहीं किया था, वह पूसा भाग गया। वहाँ से उसने समस्त यूरोप से सहायता की प्रार्थना की थी, परन्तु पश्चिमी यूरोप से किसी ने भी उसकी सहायता नहीं की थी, हां! धार्मिक धारणा के आधार पर 'इन्नोसेण्ट एकादश (Innocent XI) ने अवश्य ही कुछ धन उसकी सहायता के लिये भेजा था, तथा समस्त कैथोलिक शासकों से उसे मदद देने का 'सन्देश' दिया था। 'वेनिस' और जर्मनी की कुछ रियासतों ने उसे सहायता दी लेकिन सबसे अधिक सहायता पोलैण्ड से मिली। पोलैण्ड के राजा सोबेस्की (Sobeski) ने लियोपोल्ड को हर तरह से मदद देने का आश्वासन दिया। 'मुस्तफा' अपने अहंकार में आराम

से घेरा डाले पड़ा था, जबकि अचानक 'सोबेस्की' के नेतृत्व में पोलैण्ड की सेना ने आक्रमण कर दिया। अब तुर्क पोलैण्ड और वियना की सेना के मध्य फंस गये। 'तुर्क' सेना के 'अचानक' फंसजाने से भगदड़ मच गई और वह भाग खड़े हुये, इस तरह वियना बच गया।

इतिहास के अध्यन से यह बात 'साफ़' हो जाती है, 'वियना' में तुर्की की भगदड़ एक ऐतिहासिक घटना बन गई जिसने इतिहास के पन्नों को बदल दिया। 'तुर्की' के धार्मिक कहे जाने वाले आतंक से इस क्षेत्र को राहत मिली। तुर्की की इस 'हार' से यूरोप ने चैन की सांस ली। इसके बाद 1683 ई० की हार से 'आटोमन' तुर्की का प्रभाव दिन पर दिन कम होता चला गया। इतिहास साफ़ बोलता है, कि यूरोप में और तुर्की में यह आतंकी हलचल भी एक तरह से राजाओं की महत्वकाक्षाओं की लड़ाई थी जो 'धर्म' की आड़ में लड़ी जा रही थी। यह सब महत्वकांक्षी अहंम की आँधी ही थी, जो 'पवित्र' धर्मों के नाम पर 'इन्सानी' 'रक्त' पीने की आदी हो गई थी।

"होली लीग"

आस्ट्रिया, वेनिस, और पोलैण्ड ने 'पोप' के संरक्षण में संधि कर ली जिसे 'होली लीग' के नाम से इतिहास पुकारता है। उस समय पोलैण्ड आर्थिक संकट में फंस गया, उस कारण लीग से अलग हो गया। उसके बाद भी वेनिस और आँस्ट्रिया जोर-शोर से युद्ध करते रहे और बूड़ा (Buda) (जो तुर्की हंगरी की राजधानी थी) पर विजय प्राप्त कर तुर्की के अहंकार को तोड़ दिया।

दो क़ौमों के टकराने से खेतों और खलियानों में विरानी आ गई। खेती-बारी में गिरावट आ गई। किसान बेहाल हो गये। खेती के पतन और लघु-उद्योगों के विनाश से कारीगर और दस्तकार रोटी-रोटी के लिये मोहताज हो गये, फिर भी राजतन्त्र धर्म की आड़ में सृजनात्मक प्रतिभाओं को नष्ट कर रहा था। उस काल में उस्ताद (कल्फा) कठोर धार्मिक नियामें से बंधे थे। दो क़ौमों के टकराव से घायल मानवता बैचेनी से तड़फ रही थी। लेकिन फिर भी दुनिया बदलने की कोशिशे हो रही थी।

आतंक का नया दौर

मौहम्मद अली और उसके पुत्र की मृत्यु के बाद अब्बास (प्रथम) ने जब शासन की बाग-डोर संभाली तो उस पर एक जबर्दस्त प्रतिक्रिया हुई कि वह 'पश्चिमी संस्कृति' के विस्तार के सख़्त ख़िलाफ था। सबसे पहले उसने पश्चिमी सहायता से चलने वाले कारखाने बन्द करा दिये। उसके आदेश से आधुनिक यूरोपियन ढंग से चलने वाले समस्त संस्थान तथा स्कूल क़ालिज बन्द करा दिये गये। उसने स्वेज़ नहर की खुदाई के विषय में एक बदला हुआ रुख अपनाया तथा उस फ़्राँसीसी कम्पनी से बात करने को मना कर दिया, जो उसका निर्माण कार्य करना चाहती थी। वास्तव में मौहम्मद अली का पोत्र 'अब्बास' बड़ा ही कट्टर पंथी सुल्तान था। वह सदा ही 'मुल्ला' मोलवियों और पुरातन पंथी लोगों से घिरा रहता था। उन्हीं की राय से कार्य करता था, उसने यहाँ तक किया था कि फ़्राँसीसी और यूरोपियन तरह से चलने वाले सभी विद्यालयों में ताला लगवा दिया। उसने एक प्रगतिशील काम अवश्य किया था, कि 1851 ई० में एक अंग्रेज़ कम्पनी को 'सिकन्द्रिया' से क़ाहिरा तक रेल लाईन, बिछाने का कार्य अवश्य दे दिया था। एशिया के इतिहास में, मिश्र में, वह भी अंग्रेज़ों की एक चाल थी, जो फ़्राँसीसियों को मध्य से हटाना चाहती थी। एशिया में, संकीर्णता और प्रगतिशील विचारों के मध्य एक निरन्तर चलने वाला संघर्ष होता रहा है। यदि एक युग संकीर्णता के नाम से समर्पित है तो उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप दूसरा युग प्रगति के नाम से विख्यात रहा है। यही उस काल में भी हुआ, 1854 ई० से लेकर 1863 ई० तक अब्बास के उत्तराधिकारी 'सईद' आधुनिक प्रगतिशील विचारों से पूर्ण था। उसने ही 'स्वेज़ नहर' को खोदने की आज्ञा प्रदान की थी अतः 1859 ई० में ही नहर खोदने के काम की शुरुआत हो गई थी, जिसका कार्य सईद के उत्तराधिकारी इस्माईल के काल 1861-1874 ई० तक चलता रहा। यह एतिहासिक कार्य उसके शासन काल में उत्साह से चलता रहा। एक दिन ऐसा आया जब स्वेज़ नहर 1869 ई० में बनकर तैयार हो गई यह घटना मिस्र के इतिहास में, प्रमुख घटना है। उसके उद्घाटन पर 10,00,000 पौण्ड का खर्चा हुआ था।

साम्राज्यवादियों के 'आतंक' का नया दौर

'मिस्र' में नये आधुनिक दौर के साथ, जहाँ आधुनिकारण ने यूरोपियन ढंग के विस्तार ने पश्चिमीकरण की प्रतिक्रिया को आगे बढ़ाया, वहीं सईद और इस्माईल के व्यक्तिगत ख़र्चों के कारण 'मिस्र' की आर्थिक दशा ख़राब हो गई। एक 'वक्त' ऐसा आया कि 'ईस्माईल' को अपने समस्त स्वेज सम्बन्धी हिस्से बेचने पड़े, जिन्हें अंग्रेज़ों ने ख़रीद लिया था। अंग्रेज अब मिस्र पर 'हावी' होते जा रहे थे। सबसे पहले अंगेज़ों के शोषण और अत्याचारों के शिकार, वहाँ के किसान और मजदूर हुये। इसगें वह बहुत 'परेशान' हुये। उससे परेशान होकर 'अरबी' पाशा ने ज़ोरदार तरीक़े से समवैधानिक सरकार की माँग उठाई थी। मिस्री लोगों में तथा यूरोपियन लोगों में नफ़रत और मतभेद बढ़ते चले जा रहे थे। उसी के परिणामस्वरूप सिकन्दरिया में भयंकर दंगे हो गये, इस

दंगे में 140 'मिस्री' मारे गये, तथा 57 यूरोपियन भी काम आ गये। इस पर बहाना बनाकर तथा नाराज होकर अंग्रेजों ने सिकन्दरिया पर जबर्दस्त बमबारी कर दी। यही नहीं, उन्होंने 'सईद' बन्दरगाह को अपने अधिकार में ले लिया और 'स्वेज नहर' पर अपना शासन कायम कर लिया। 1882 ई० में पाशा की फौजे हार गईं और पाशा को गिरफ्तार कर लिया गया, उसे लंका भेज दिया, तथा उसे लंका में कैद रखा।

अब मिस्र अंग्रेज़ों का एक उपनिवेश था और एक गुलाम देश की तरह जीने को मजबूर था।

1818 ई० से 1885 ई० तक सूदान में 'मैंहदी' ने एक ज़बर्दस्त आन्दोलन अंग्रेजों के 'विरुद्ध' खड़ा किया जो हर तरह से एक विद्रोह था, जिसमें एक अंग्रेज़ जनरल चार्ल्स जार्ज गोर्डन का क़त्ल कर दिया, और 'ख़रतूम' पर अपना अधिकार जमा लिया। इसके बाद 1896 ई० और 1898 ई० के मध्य लार्ड किचरन ने सूदान पर अधिकार कर लिया। 19 वीं शताब्दी में मिस्र पर और सूदान पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया था, 'खदीव' तौफ़ीक (1879-1882 ई० तक अब्बास द्वित्तीय 1892-1919 ई०) की हकूमत केवल नाम मात्र की हकूमत ही थी।

पूर्वी समस्या के बढ़ते हुये आकार

लार्ड मॉर्ले ने पूर्वी समस्या के विषय में कहा था । A shifting intractable and lnter woven tangle of conflicting interests rival peoples and antagonistic faiths" विभिन्न प्रकार के मसले, तथा विश्वास और संकीर्ण आस्थाएँ पूर्वी दुनिया को अंन्धकार और आतंक में धकेल रही थी। उसी काल में 'यूरोपियन' साम्राज्यवादियों के निजी राष्ट्रीय-स्वार्थों ने, 'पूरब' के 'सूर्य' पर तरह-तरह की धुन्ध घेरे डाल दिये थे, जो केवल उसी काल को नहीं बल्कि आने-वाले भविष्य को भी 'शान्ति' से न बैठने देने की जालसाज़ी कर रहे थे। उसके कुछ कारण साफ नज़र आते थे। प्रथम, क्योंकि तुर्की जैसा विशाल और शक्तिशाली 'साम्राज्य' 'पतनोन्मुख' होता जा रहा था। उसी के साथ-साथ उसके निकट की योरोप की बड़ी-बड़ी शक्तियाँ, अलग-अलग तरीकों से तथा निजी स्वार्थों के लिये अपनी नज़रें लगाये थीं। यह शक्तियाँ अपना 'रूप' तथा लक्ष्य बदल लेती थीं, लेकिन 'पूर्वी' दुनिया कें सामने समस्या पैदा करने में पीछे नहीं रहती थीं। टर्की के 'मूल्य' पर रूस की महत्वाकांक्षा बढ़ रही थी। अब प्रश्न सामने खड़ा था, क्योंकि रोम में टर्की का अस्तित्व खण्डरों में परिवर्तित होता जा रहा था। प्रश्न यह था, रोम में टर्की का साम्राज्य समाप्त होने पर उसका स्थान कौन सा देश ले, यह प्रश्न सामने खड़ा था।

उस समय 'रूस' का विस्तार दक्षिण की ओर हो रहा था। बाल्कन लोग रूस के पड़ौसी थे। उधर बाल्कन लोगों में राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो रही थी। दूसरी ओर रूसी बाल्कन जाति के लोगों में निकटता बढ़ती जा रही थी। क्योंकि दोनों ही अधिकतर "स्लाव" जाति के थे। तथा एक सी भाषा बोलते थे। यहाँ भी जातियता की समस्या सामने खड़ी थी। जिस तरह 'टर्की' की "ईसाई प्रजा" कट्टरवादी थी तथा यूनानी चर्च के अनुयायी थी उसी तरह स्लाव जाति के लोग भी कट्टर यूनानी चर्च के मानने वाले थे। इस प्रकार धर्म-और जाति के बन्धनों ने रूसियों को बाल्कन 'प्रायदीप' की ईसाई जनता से भावातमक ढंग से अनुबन्धित कर रखा था। जब 'टर्की' में उन पर तलवार उठाई, तो रूस ने धर्म और जाति के आधार पर उनकी रक्षा का दावा किया।

रूस के 'शासक जार' ने घोषणा कर दी कि टर्की में ईसाईयों की रक्षा करना उसका धर्म है। लेकिन 'वास्ताविकता' में सहानभूति का बहाना करके, वह काले सागर और 'जलडमरू' मध्यों पर अपना अधिकार करना चाहता था। धर्म और जातीयता की रक्षा करना तो उसका यह ढोग

ही था। जिसके माध्यम से वह अपने 'साम्राज्य' का विस्तार करना चाहता था। धर्म और जाति तो एक आवरण ही कही जा सकती थी। उस काल में रूस के 'ज़ार' के दो उद्देश्य थे। प्रथम तुर्की साम्राज्य को तोड़कर विच्छिन्न करना तथा कुस्तन्तुनिया पर अधिकार करना। यदि ऐसा किसी कारण से न भी हो सके तो तुर्की सुल्तान को अनेकों सन्धियों को मानने के लिये विवश करना भी था। जार यह भी चाहता था, कि तुर्की को अपने आधीनस्थ करके एक उपनिवेश की तरह अपने आधीन रखे। इसका परिणाम यह हुआ कि यूरोप के दांत भी 'तुर्की' को चबाने के लिये तेज़ होने लगे, जिससे 'रूस' को उससे दूर रखा जा सके। **उस काल में इग्लैण्ड एक चीते की तरह एशिया में बढ़ रहा था, क्योंकि पश्चिमी एशिया को तो वह अपना ही भोजन मानता था। जब उसने देखा 'रूस' के भालू की परछाई बढ़ती चली जा रही है, और उसके इरादे कुछ और ही हैं, तो इग्लैण्ड को चिन्ता हुई, कि यदि रूस का कुस्तुनतुनिया पर कब्जा हो गया, तो भारत वर्ष में अंग्रेजों की शक्ति पर भारी प्रभाव पड़ेगा। यही कारण था, कि रूस और इग्लैण्ड में शत्रुता बढ़ती चली गई।**

वैसे 'टर्की' में इतनी शक्ति थी यदि उसे मौक़ा मिलता तो वह फिर से अपना अस्तित्व क़ायम करने में कामयाब हो सकता था। यह बात इग्लैण्ड के राजनीतिज्ञ भी अच्छी तरह जानते थे, जो इग्लैण्ड रूस को सत्ता से दूर रखने का उपदेश दे रहा था, वह स्वयं ही तुर्की के कई महत्वपूर्ण स्थान हड़पकर कर बैठ गया।

इस तरह से 19वीं शताब्दी से पूर्व का घटना चक्र एशिया को आर्थिक और सामाजिक तौर पर तोड़ने के लिये, चल रहा था, अब योरोप का साम्राज्यवाद नंगे तौर पर एशिया को 'खा' जाना चाहता था। साम्राज्यवादियों की भूख निरन्तर बढ़ रही थी कि, उनका खुला 'लक्ष्य' योरोप को माला-माल करना था। कुछ को छोड़कर, उत्तर पशिचिम एशिया के 'सत्ताधारी' संकीर्णताओं में या आपसी 'मार-काट' में, एक दूसरे को मिटाने के लिये अग्रेंज़ों और फ़्रांसीसियों का सहारा ले रहे थे। रूस का जार भी अपनी किलेबन्दी करने में किसी से पीछे नहीं था। यूरोप में इग्लैण्ड़, रूस और फ़्राँसीसियों में भी 'विस्तारवादी' नीतियों के कारण खुला मतभेद था। उसके साथ-साथ, एक नई शक्ति 'अमेरीका' का 'उदय' भी हो रहा था। इन सब शक्तियों के मध्य भी जातीय तथा धार्मिक श्रेष्ठा का प्रश्न साथ-साथ चल रहा था। इन सभी यूरोपियन देशों का लक्ष्य एशिया में अपने साम्राज्य को बढ़ाना ही था।

धार्मिक 'राजघरानों' तथा साम्राज्यवादियों' की बड़ी-बड़ी कम्पनियाँ भी थीं। वह शक्तियाँ दिन-रात कट्टरवाद को अपनी राजनैतिज्ञ महत्वकांक्षा की पूर्ति के लिये प्रयोग में ला रही थी।

1877-1878 ई० की बात है, जब पूर्वी दुनिया में गम्भीर उत्तेजना फैल गई। 'बाल्कन' प्रायद्वीप में 'दो' 'पहलू' उत्तेजनात्मक ढंग से गम्भीर होते जा रहे थे, प्रथम तो 'टर्की' की अधीनस्थ रियासतों में 'राष्ट्रीयता' की भावना में तबदील हो रही थी। वह अपमान की तलवार से घायल होकर अब सम्मान से खड़ी हो रही थी। उनमें भी एकता और राष्ट्रीयता की भावना उंबाल लेने लगी थी। जब 'यूनान' और रूमानिया बालों के कुछ हिस्सों में पूर्ण 'स्वतन्त्रता' प्राप्त हो गई, तो 'टर्की' की गुलामी की ज़ंजीरों में जकड़ी कुछ रियासतो में बेचैनी बढ़ गई, उनमें भी 'आज़ादी' की अभिलाषा हिलौरे लेने लगी।

'टर्की' की 'तलवारें' भी 'अनेकों' रियासतों की 'स्वतन्त्रता' का 'हनन' पहले से ही किये बैठे थे। टर्की ने भी कई बार पश्चिमी एशिया की धरती को लहू-लुहान किया था। जब दुनिया जाग रही थी, तब पश्चिमी एशिया की वह रियासतें भी राष्ट्रीयता की भावना से तथा जातीयता की

भावना से एकत्र हो, टर्की से स्वतन्त्रता चाहते थे। लेकिन इंग्लैण्ड और फ्राँस की टर्की को मदद से बार-बार ऐसा नहीं होता था। इग्लैण्ड और 'फ्राँस' अपनी विश्व विख्यात "बाँटों और राज करो" की नीति पर चलकर वह कभी 'टर्की' के साथ खड़े हो जाते थे, और कभी टर्की की कमर तोड़ने लगते थे।

"बाल्कन" की 'स्लाव' जाति के विभिन्न लोगों में यह भावना पनप रही थी कि वह लोग पोलैण्ड, रूस, आस्ट्रिया में बसे 'स्लाव' जाति के साथ मिलकर 'भावात्मक' लगाव को और अधिक मजबूत करें। "रूस" ने इस प्रोत्साहित (Pan-Slavic) भावना को जगाने का काम किया। इसके परिणामस्वरूप सम्पूर्ण क्षेत्र में 'जातीय' सेनाएँ खड़ी होने लगीं। उसी के साथ-साथ रूस के ऐजेण्ट (Agents) तथा 'आतंकी' दस्ते तथा जातीय प्रचारक 'जार' से सहायता प्राप्त करके जातीय उग्रता को बढ़ा रहे थे। वे दक्षिण के बाल्कन स्लावों में जातीय चेतना तथा राष्ट्रीय भावना बढ़ाने में लगे हुये थे। यह लोग स्लावों में दोहरे 'राष्ट्र' की भावना पैदा कर रहे थे। इस तरह से राष्ट्रीयता और जातीयता का मिश्रण होने से वहाँ एक नई समस्या पैदा हो गई। ऐसा महसूस होने लगा सर्विया दक्षिण के 'स्लाव' विद्रोह का नेतृत्व ग्रहण करेगा। क्योंकि वह सभी सर्वों तथा उसके निकट सम्बन्धियों क्रोट (Croats) को अपनी छत्रछाया में एकत्र करके, एक नये जातीय राज्य बनाने का स्वपन देख रहा था।

अब 'तुर्की' को 'ईसाई' जनता और 'ईस्लाम' जनता में, "दो 'राष्ट्रों'" की भावना का सामना करना पड़ रहा था। यह टकराव केवल टर्की में ही नहीं, बल्कि पूर्ण पश्चिम एशिया और यूरोप की समस्या भी बनता चला जा रहा था। क्योंकि जातियता और साम्प्रदायकता की उत्तेजक भावना, दावानल अग्नि की तरह फैलती हैं और 'युद्ध' और जातिय संघर्षों को जन्म देती है।

सुल्तान रजी उस समय का हाकिमे वक्त था, जो उस समस्या को सुलझाने में असफल रहा। दूसरे वह स्वयं 'किसानों' का शोषण तथा ग़रीब जनता पर अत्याचार करते रहें। वह लोग उनसे मन-माना धन वसूल करते थे। उससे पीड़ित हो बौसनिया (Bosnia) 'हरज़ोगोविना (Herzegovina) के किसानों ने 1875 ई० में विद्रोह कर दिया था।

ईसाईयों तथा मुस्लिमों साम्प्रदायक भावना तेज़ी से तुर्की में बढ़ रही थी, जिसे वहाँ मौजूद 'यूरोप' की 'राजनीति' भी अपना स्वार्थ पूरा करने की 'तलाश' में कूटनीति से काम ले रही थी। 'माण्टसीग्रो' और 'सर्विया' के रहने वाले लोगों के साथ सर्वो ने दुख के प्रति सहानुभूति प्रकट और सहायता भी दी थी। उन्होंने सुल्तान को एक पत्र भेजा, जिसमें टर्की के 'कुशासन' के विरुद्ध लिखा था। इसे इतिहास में ऐण्ड्रसी (Andrassy News) के नाम से जाना जाता है। (आस्ट्रीया के चानसलर काउण्ट ऐण्ड्रसी के नाम पर) सुल्तान ने उसे स्वीकार कर लिया और सुधार का वायदा भी किया। लेकिन 'विद्रोही' झूठे आश्वासनों से तंग आ गये थे, उन्होंने वास्तविकता से व्यवहार की शर्त रख दी और 'विद्रोह आगे बढ़ता चला गया। 'बोल्गेरिया' भी विद्रोह' की आग से धधक उठा।

अब "यूरोप के साम्राज्यवादियों को चिन्ता हुई। वह लोग कुछ धार्मिक कारणों से तथा कुछ 'राजनीति' परिणाम से चिन्तित हो उठे तथा उसे सम्पूर्ण 'बाल्कन' में फैलने से रोकने के लिये यूरोपियन शक्तियों को एक दूसरा पत्र भेजा, जिसे बर्लिन मेंमोरैण्डम (Berlin Memorandum) के नाम से इतिहास पुकारता है। उन्होंने पोर्टी (Porte) पर सुविधाएँ प्रदान करने के लिये अधिकार के साथ सुल्तान से कहा गया था। इस 'मेमोरैण्डम' में एक सख़्त चेतावनी भी दी गई थी, कि यदि ऐसा नहीं किया गया, तो 'सशस्त्र' 'हस्तक्षेप' कर दिया जायेगा। लेकिन ब्रिटेन के लोग अपने

'साम्राज्यवादी' फैलाव के स्वार्थी थे, उन्होंने योरोपियन राष्ट्रों का साथ देने से इन्कार कर दिया। 'ब्रिटेन' की प्रतिक्रिया से सुल्तान के हौंसले और भी बढ़ गये। अब तुर्की सेनाओं ने 'विद्रोह' को दबाने के लिये कत्लेआम आरम्भ कर दिया। उस समय क्रूरता और कठोरता के साथ विद्रोह कुचल दिया गया। इस विद्रोह को दबाने में जो अमानवीय अत्याचार किये गये थे, उससे 'सम्पूर्ण' यूरोप में शोक का वातावरण पैदा हो गया था तथा सम्पूर्ण 'यूरोप' क्रोध की 'अग्नि' में चल उठा था। तुर्की सैनिकों के ज़ुल्म और बलात्कार की कहानियाँ यूरोप के घर-घर में सुनी जा सकती थीं। उससे यूरोप की राजनीति में धार्मिक और जातीय 'उबाल' आ गया था। इंग्लैण्ड में 'ग्लैडस्टन' इन अत्याचारों से बहुत ही परेशान हुआ और वह भयंकर रूप से क्रोधित हो उठा था। उसने घोषणा की थी कि "तुर्की को उन प्रान्तों से, जिनको उसने उजाड़ा है, तथा अपवित्र किया है, निकालकर बाहर कर देना चाहिये।" लेकिन उस समय इंग्लैण्ड का प्रधानमंत्री ग्लैडस्टन नहीं था, जो एक कट्टर ईसाई था, बल्कि उस समय डिज़राइले था, जो जाति का 'यहूदी' था। उसने दिखाने के लिये 'बल्गेरिया' के ईसाईयों से हमदर्दी प्रकट की थी, लेकिन कोई सैनिक मदद नहीं की थी। इसलिये 'रूस' ने अकेले ही टर्की से 'लोहा' लेने का निर्णय लिया और रूस ने 1877 ई० में टर्की के विरुद्ध युद्ध का बिगुल बजा दिया। **यह एक तरह से 'धार्मिक' और जातीय संघर्ष था क्योंकि रूस अपने संधर्मी लोगों की पीड़ा की उपेक्षा नहीं कर सका।** देखने में 'यूरोप' के देश यह दिखाने की कोशिश करते थे, कि वह 'जातीय' 'नस्ल' और धार्मिक मामलों में उदार है, लेकिन जातीय और 'धार्मिक उन्माद' उस समय जहाँ एशिया में चरम सीमा में था, वहाँ यूरोप को भी संर्कीणता और जातीय उन्माद की जननी कहा जा सकता है।

उस काल में 'फ्राँस' का दृष्टीकोण 'पूर्व' के विषय में कुछ इन राष्ट्रों से हटकर था, वह 'पूर्वी' दुनिया को अपने, चश्में से देखता था। 'फ्राँस' ही एक ऐसा देश था, जो तुर्की का पुराना मित्र था, अट्ठारवीं शताब्दी से ही फ्राँस, व्यापारिक और संस्कृतिक मामलों में टर्की से मित्रता के आधार पर सम्बन्ध बनाये हुये था। वह इन्हीं सम्बन्धों के आधार पर सीरिया तथा मिस्र में वृद्धि करना चाहता था। इसके अलावा वह धार्मिक मामलों में एक पुरातन काल से, रोम के कैथोलिक ईसाईयों का संरक्षक होता चला जा रहा था। जहाँ तक जर्मन का प्रश्न है, उसकी उन्नीसवी सदी के अन्त तक 'पूर्वी' दुनिया में कोई भी रुचि नहीं रही थी। बिस्मार्क ने तो अपने को 'बाल्कन' के झगड़ों से अलग रखा था। उसका कहना था कि "समस्त पूर्वी दुनिया का प्रश्न उसके लिये अर्थहीन है" ("The whole eastern question was not worth the bones of single promeranian Asian grender") 1887 ई० में बर्लिन काग्रेस में उसने अपने को एक ईमानदार दलाल की तरह 'पेश' किया। बड़ी 'चतुराई' से उसने मुस्लिम तुर्की से दोस्ती का हाथ भी बढ़ाया और समस्त 'पूर्वी' की दुनिया को विशेषकर 'तुर्क' शासनकर्त्ता को अपनी दोस्ती का वास्ता भी दिया। उसके परिणामस्वरूप समस्त 'तुर्की' में जर्मन सेनाओं की हलचल बढ़ गई। वहाँ पर जर्मन 'सैनिक' अभ्यास भी करने लगे तथा वहाँ सरेआम जर्मन सेनाओं को अभ्यास करते देखा जा सकता था। व्यापारिक क्षेत्र में भी जर्मन आगे बढ़ रहे थे, जर्मन पूंजिपतियों को 'बगदाद' में रेलवे लाईन बिछाने की आज्ञा मिल गई थी।

यूरोप 'टर्की' के सम्बन्ध में अपनी नीतियाँ बदलता रहा था। इतिहास पहले से गवाह है, कि यूनानियों के सफल विद्रोह से आटोमन साम्राज्य के टूटने की प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई थी। 'बाल्कन' राष्ट्रीयता के उदय के संकेत की यह प्रथम विजय थी। टर्की सुल्तान की कमज़ोरी से 'पूर्व' नें अनेकों नये प्रश्न पैदा हो गये थे तथा नये दृष्टीकोण, नये आर्थिक रिस्ते और स्वार्थ जन्म

ले रहे थे। उस समय की 'दुनिया' आपस के टकराव के भयानक मोड़ पर खड़ी थी। 'टर्की' और 'जर्मन' की 'दोस्ती' से जिस 'नींव' का शिलान्यास हुआ था 'वह' आगे जाकर प्रथम विश्व युद्ध के मध्य फाँसिस्ट शक्तियों और 'तुर्की' की दोस्ती में परिवर्तित हो गई थी। **बर्लिन की 1888 ई० की सन्धि प्रथम विश्व युद्ध के लिये ज़िम्मेदार कही जा सकती है।**

इतिहास आगे बढ़ रहा था, युद्ध होते थे, सन्धियाँ होती थीं, सन्धियाँ होती भी थीं और टूट भी जाती थीं, क्योंकि यह सन्धियाँ स्वार्थवश होती थीं। इनका लक्ष्य शान्ति और सुरक्षा नहीं था, बल्कि स्वार्थ और साम्राज्यवादियों की धार्मिक और जातीय संकीर्णता ही थी, जिसे टूटना ही होता था। 'दबाव' की सन्धि कभी सफल नहीं होती है! यही इतिहास में हो रहा था। इसलिये 'बर्लिन की सन्धि बाल्कन युद्धों, तथा आतंक को बढ़ाने के लिये जिम्मेदार थी और 1914 ई० के प्रथम महायुद्ध के लिये उत्तरदायी भी साबित हुई। "बर्लिन' की सन्धि का पालन न बाल्कन जाति ने किया और न ही 'यूरोप राष्ट्र' उसका पालन कर रहे थे। क्योंकि इस सन्धि में प्रतिद्वन्दी महत्वकाँक्षाओं का टकराव था। परिणाम यह हुआ, पूर्वी दुनिया में यह शान्ति कायम नहीं कर पाई। क्योंकि सन्धिकर्त्ता एक साथ मिलकर सन्धि का सम्मान नहीं कर रहे थे। परिणामस्वरूप बाल्कन प्रान्तों में अशान्ति बनी रहती थी। हिंसा होती थी, कत्लेआम होता था। इसका परिणाम यह हुआ कि 'तुर्की' साम्राज्य यूरोप में क़रीब-क़रीब समाप्त होता जा रहा था।

बाल्कन जातियाँ जो उस काल में, 'तुर्की' के अधीन थीं, अपने में मिलाकर एक नई राष्ट्र संस्कृति को जन्म दे रही थीं। उधर तुर्की में भी राष्ट्रीयता जन्म लेकर पूरे जोश में आगे बढ़ रही थी। वह पुनरूस्थान की कोशिश कर रही थी, लेकिन सफल न हो सकी, क्योंकि बाल्कन की रियासतें तथा दूसरी महाशक्तियाँ उनके राज्य विस्तार में उलझने पैदा करने का काम कर रही थीं। बाल्कन के आस्ट्रीया में बालात् प्रवेश से सर्विया और रूस 'बेहद' नाराज़ हो गये, और इसी समय 1914 ई० में प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया।

इस काल में आतंक और हिंसा का एक नया दौर आरम्भ हुआ। 'जर्मन' एक नई शक्ति के रूप में दुनिया पर छाने की कोशिश करने लगा। क्योंकि जर्मन ने विलियम द्वितीय के नेतृत्व में तुर्की के सुल्तान से दोस्ती का हाथ बढ़ाया, जर्मन उस काल में दुनिया को दिखाना चाहता था कि वह मुस्लमानों का संरक्षक है, तथा उनका सच्चा मित्र भी है। उस काल में जर्मन 'जातीय' श्रेष्ठा और तुर्की की 'इस्लामी' एकता को साथ लेकर एक नये साम्राज्यवाद के स्वपन देख रहा था।

उस समय 'बर्लिन' की इस व्यवस्था को सबसे पहले चुनौती देने वाली प्रथम रियासत बल्गेरिया थी, क्योंकि बर्लिन काँग्रेस द्वारा किया हुआ 'बल्गेरिया' और पूर्वी 'समेलिया' का अलगाव उनकी दृष्टि में एक 'धोखा' था, क्योंकि जातीय विभाजन के साथ वह बिल्कुल भी मेल नहीं खाता था। इसलिये यूरोप की बड़ी शक्तियों को डर था, कहीं "रूस द्वारा बनाया हुआ बड़ा 'बल्गेरिया', रूस के हाथ की कठपुतली न बन जाये। उस काल में, की गई अधिकतर सन्धियाँ 'दिखावे' की 'नौटंकी' बन गईं थीं, और 'जातीय' शक्तियाँ" एकत्र हो नये गुल खिलाने की तैयारयाँ कर रहीं थीं। उदाहरण के तौर पर, रूमेलिया की जनता ने 1885 ई० में 'रक्तहीन' राज्य-क्रान्ति कर दी थी और उसी के साथ-साथ 'बलोरिया' में रहने वाले लोगों ने अपने सजातिय भाईयों के साथ अपने राजनैतिक सम्बन्धों और सहयोग की घोषणा साफ़तौर पर कर दी थी। उस समय 'बल्गेरिया' के राजा "बैण्टेनबर्ग के राजकुमार अलेक्जेण्डर (Prince Alexander of Battenburg) ने उसकी प्रार्थना स्वीकार करली। उसने अपने आपको एवं संगठित 'बल्गेरिया' का शासक घोषित कर दिया।

दिया। सुल्तान ने सन्धि के इस उल्लंघन पर अपनी आवाज उठाई। 'जार' ने अपनी सेना के अफ़सर बल्ग़ेरिया की सेना से वापिस बुला लिये। लेकिन 'अंग्रेज़' अपने दांव-पेंच चला रहे थे। उन्होंने अपनी साम्राज्यवादी नीति के अनुरूप इसे अपनी मान्यता दे दी तथा परिणामस्वरूप "अन्य शक्तियों' ने भी ऐसा ही किया। लेकिन 'सर्विया' की रियासत ने इसका विरोध जमकर किया और उसे मान्यता नहीं दी। उसने घोषणा करते हुये कहा "बल्गेरिया की शक्ति बढ़ जाने से 'बाल्कन' में शक्ति सन्तुलन को ख़तरा पैदा हो जायेगा।" यही नहीं उसने 'बल्गेरिया' से 'युद्ध' आरम्भ कर दिया, जिसमें उसे 'बल्गेरिया' के हाथों हार का सामना करना पड़ा, लेकिन आस्ट्रीया के दख़ल के कारण, युद्ध में भाग लेने वाली शक्तियों को अपने-अपने स्थान पर बने रहने की सन्धि को मानने को मजबूर होना पड़ा था।

कहने का अर्थ साफ़ है, उस काल में, जाति, धर्म के सहारे राजनैतिक शक्तियाँ, आर्थिक तथा सामाजिक शोषण कर रही थी। साम्राज्यवादी महाशक्तियों का खुला लक्ष्य, ऐशिया में अपना आर्थिक और राजनैतिक साम्राज्यवाद कायम रखना था।

ऐशिया में साम्राज्यवादियों का खेल

यह कहावत बड़ी प्रसिद्ध है, "जो जीता है वहीं 'सिकन्दर' यह 'युक्ति' बल्गेरिया पर लागू होती है। बल्गेरिया के प्रति बड़े 'राष्ट्रों' के रूख में विशेष परिवर्तन आ गया। इंग्लैण्ड एक ऐसा देश था, जो बढ़-चढ़ कर बर्लिन काँग्रेस में, 'सैस्टिफैनों की सन्धि' के अनुसार रूस द्वारा 'निर्मित' बड़े बल्गेरिया की निन्दा करने में सबसे आगे था। उसी के ज़ोर देने पर बल्गेरिया का विभाजन हुआ था। अब वही 'इग्लैण्ड' बर्लिन सन्धि के तोड़ने वालों को क्षमा करने में सबसे आगे था। यह 'राजनीति' का खेल नहीं तो, और क्या था? तमाशा आगे देखिये! और राजनीति को आगे पढ़िये !! दूसरी ओर जिस रूस ने सेस्टीफेन में, जिस बड़े बल्गेरियों को अपने हाथों बनाया था, वही रूस, उसके सहयोग करने वालों की निन्दा कर रहा था! और साथ-ही-साथ उसका विरोध भी कर रहा था।

इसका कारण साफ़ था, इंग्लैण्ड जैसा साम्राज्यवादी देश, अपने एक व्यापारी दृष्टीकोण के अनुरूप, 'बल्गेरिया' को 'रूस' के हाथों से निकालना चाहता था। 'बल्गेरिया' भी स्वयं अपने 'बड़-बोला' और 'चाल-बाज़' संरक्षक से आज़ाद होकर 'जीना' और विकसित होना चाहता था। इंग्लैण्ड यह चाहता था कि रूस की शक्ति रोकने का यही एक मात्र रास्ता था। इसी कारण यह राजनीति की 'शतरंज' खेली जा रही थी।

दूसरी और आर्मीनिया (Armenia) 19वीं शताब्दी में भी 'तुर्की' के अत्याचारों से पीड़ित था। वहाँ की प्रजा पर उनके हमले होते रहते थे। उस वक़्त आर्मीनिया, इंग्लैण्ड के रक्षा कवच में समाया था। बर्लिन की सन्धि के समय इंग्लैण्ड ने, 'साइप्रस' सम्मेलन में (Syprus Convention) तुर्की के सुल्तान से आर्मीनिया की जनता के साथ मानवीय व्यवहार करने का वायदा करा लिया था। लेकिन यह कारगर सिद्ध नहीं हुआ, क्योंकि टर्की के सुल्तान को डर सता रहा था कहीं "रूस की तरह इग्लैण्ड भी आर्मीनिया में एक दूसरा 'स्वतन्त्र' आर्मीनिया' न पैदा कर दे, इसलिये वह आर्मीनिया वालों को समाप्त करने के लिये आतंकी कार्यवाही करते रहे, वहाँ पर बराबर 'हत्या'-काण्ड' होते रहे। 1894 ई० से लेकर 1895 ई० तक उन पर अवर्णनीय ज़ुल्म किये गये। 1896 ई० में कुस्तुन्तुनिया की भी यही हालत थी, **वहाँ एक ही दिन में (1896 ई०) में, 6,000 आर्मीनियन (Armenian) क़त्ल कर दिये गये थे।** इस दंगे में 'तुर्की' ने कुछ भी नहीं किया। इतिहासकार लिखते हैं "इसमें क़तई सन्देह नहीं कि इस हत्या काण्ड मे तुर्की सरकार से 'शह' मिली थी, यदि ऐसा नहीं था, तो कम से कम इतना तो ज़रूर कहा जा सकता है कि तुर्की सरकार ने इसकी ओर आँखे बन्द कर ली थीं।" दूसरी और वह शक्तियाँ उस समय क्या कर रहीं थीं, जो सामुहिक उत्तरदायित्व के नारे लगाया करती थीं। रूस अपने स्वार्थ के कारण चुप था, क्योंकि वह 'आर्मीनिया' में दूसरा 'बल्गेरिया' नहीं बनने देना चाहता था, जो रूस को धोखा दे गया था। साथ ही साथ वह इंग्लैण्ड से अपना बदला उतार रहा था, जिसने उसे 'बल्गेरिया में धमकाया था। उस समय सब ने डिज़रायल व 'बल्गेरिया' में होने वाले अत्याचारों की तरफ़ से आँखे बन्द

कर लीं थीं, इसलिये रूस ने भी आर्मीनिया पर होने वाले अत्याचारों पर कोई ध्यान नहीं दिया। उस समय 'जर्मन' अपनी 'दोस्ती' टर्की से बढ़ाने में लगा था, क्योंकि उसके इरादे आगे जाकर दुनिया पर 'छा' जाने के थे। इसलिये उसने 'सुल्तान' पर 'दबाव' डालने की बजाय, सुल्तान की तारीफ़ के पुल बांध दिये और उसका सहयोग भी किया। इसमें इग्लैण्ड अकेला रह गया था। उसने महसूस किया कि जो सहायता 'टर्की' को दी गई थी वह 'व्यर्थ' ही गई। इंग्लैण्ड की सहायता के विषय में लार्ड सैलिसबरी (Lord Salisbury) ने कहा था, "आटोमन साम्राज्य की पवित्रता, बनाये रखने की कोशिश करके इंग्लैण्ड ने चलते घोड़े पर बाज़ी लगाई थी! वह व्यर्थ ही गई।"

"बर्लिन सन्धि" से यूनान भी निराश था, क्योंकि उसकी सीमाओं का विवाद भी टर्की के साथ बहुत पहले से ही चला आ रहा था। उस काल में, 'यूनान' ने आते जोश में टर्की से युद्ध करने की धमकी दे दी थी, लेकिन बड़े राष्ट्रों ने उसे ऐसा नहीं करने दिया। क्योंकि बड़े 'राष्ट्रों' ने यह स्वीकार नहीं किया कि 'बाल्कन' में फिर से युद्ध हो!

लेकिन 1881 ई० में अंग्रेज़ों ने तुर्की सुल्तान को थेस्ली (Thessaly) और 'ईपीरस' (Epirus) का कुछ भाग यूनान को देने को राज़ी कर लिया। 'यूनान' की निगाहें 'क्रीट' टापू पर अधिकार करने की थीं। क्योंकि वहाँ यूनानी जाति के लोगों की संख्या बड़ी तादाद में थी, जो 'तुर्की' को हटाकर यूनानी सरकार चाहते थे। अब वहाँ पर जातिय आन्दोलन और संघर्ष आरम्भ हो गये। लाशों के ढेर लगने लगे, साम्प्रदायक झगड़ें आरम्भ हो गये। इन्सानी जिन्दगियों का कत्लों-गारत का व्यापार भी तेजी से शुरु हो गया। 'यूनानी' यूनान के साथ हो गया और मुस्लिम तुर्की के साथ हो गया। 'जातीय' भावना ने ज़ोर पकड़ लिया। सम्पूर्ण 'दीप' में यूनानियों ने तुर्की शासन के विरुद्ध विद्रोह का झण्डा बुलन्द कर दिया। 'विद्रोह' के समय यूनानियों को सुधार के वायदे तो मिले, लेकिन वास्तविक सफलता नहीं मिली। इसके परिणामस्वरूप 1893 ई० में, विद्रोह ने भयंकर रूप धारण कर लिया और 'वेनीज़ेलॉस' (Venizelos) के नेतृत्व में 'क्रीट' के क्रान्तिकारियों ने यूनानियों के साथ मिल जाने की खुली घोषणा कर दी। इस घोषणा से प्रभावित होकर यूनान ने अपनी सेना की टुकडी वहाँ भेजी। इससे 'तुर्की' सरकार बहुत क्रोधित हुई, उसने 'यूनान' के विरुद्ध युद्ध करने की घोषणा कर दी और 'यूनान' की सेना को आसानी से परास्त कर दिया। लेकिन बड़े 'राष्ट्रों' ने टर्की को, 'क्रीट' को अपने राज्य में मिला लेने की योजना को छोड़ देने तथा 'थेस्की' का एक भाग छोड़ देने को मजबूर किया। एक लम्बे काल तक यह योजना चलती रही, उसके बाद बड़े राष्ट्रों ने 'क्रीट' को तुर्की के आधीन रखकर एक स्वतन्त्र रियासत बनाने का निश्चय किया। यही नहीं सम्पूर्ण दीप को चार शक्तियों के एक अन्तर्राष्ट्रीय कमीशन की देखरेख मे रखने की सहमति दे दी गई। इससे 'क्रीट' वाले खुश नहीं थे। 'यूनान' के राजपुत्र राजकुमार जार्ज को वहाँ का गर्वनर बनाने पर भी 'क्रीट्सवासियों' में कोई सन्तोष नहीं था। 'क्रीट' तो रूस के साथ मिल जाना चाहता था, लेकिन 'राष्ट्र' शक्तियाँ उसे ऐसा करने की 'सलाह' नहीं देती थी। संघर्ष चलता रहा, 1912 ई० में जब टर्की बाल्कन युद्ध में कमज़ोर हो गया, तब ही 1913 ई० में 'क्रीट' को यूनान के साथ संयुक्त हो जाने की आज्ञा दी गई। उस काल में युद्ध और आंतक से क्रीट और यूनान की धरती इन्सानी रक्त से लाल हो गई थी, फिर भी साम्राज्यवादी देश अपनी चाल, चल रहे थे।

एशिया में नई राष्ट्रीय सभ्यता का जन्म

दुनिया बदल रही थी, 'पूरब' का 'सूरज' नई अरूणोदय की लाली के साथ, राजतन्त्र और संर्कीताओं की काली आंधी के मध्य से बढ़ता हुआ धीरे-धीरे प्रकाश की ओर जा रहा था। उस काल में, उसका विकास कारवाँ रुक सा गया था, उसकी आत्मा दुखी थी तथा ग़रीब किसान, मेहनत-कश सहमे सहमे ज़िन्दगी की सांसे ले रहे थे। 19 वीं सदी के अन्त तक एशिया का बुरा हाल था। इस्लामी जगत भी एक तरह से राजतन्त्र की कठोर मार से पीड़ित था, सुल्तान अब्दुल हमीद की दमन नीति ने बेरहमी से पीड़ित लोग हा-हा-कार कर रहे थे, तो दूसरी ओर उस काल में एशिया का इस्लामी जगत यूरोपियन साम्राज्यवादी शिकारियों के पंजे में तेज़ी से समाता जा रहा था। "अंग्रेज़ सुधार के नाम पर अपना विस्तार बढ़ा रहे थे। वहाँ किसानों की शर्मनाक लूट से एशिया की इस्लामिक ग़रीब जनता के पास खाने को कुछ भी नहीं रहा था। वहाँ के उस काल के 'राजतन्त्र' से मिलकर योरोपियन साम्राज्यवादीयों ने किसानों और मजदूरों पर क़हर बरपा दिया था। इसलिये वहाँ अंगेज़ी अधिकारियों (अल इहितलाल) का सख़्त विरोध आरम्भ हो गया।

1879 ई० में राष्ट्रीयदल ('अल-हिब्ज-अलवतनी') नामक संगठन ने हजारों लोगों को अपनी ओर आकृषित किया, उसमें अरबी पाशा के नेतृत्व में सत्ता पर क़ाबिज़ होने की कोशिश भी की थी। एक इन्कलाबी साहित्यकार अब्दुल्लाह अन्नदीन (1844-1896 तक) ने एक नाटक के माध्यम से राष्ट्रीयता की भावना को विकसित किया था। उसने यूरोप को एशिया के शत्रु के रूप में प्रस्तुत किया था। उस काल के, एक और लेखक "मुस्तफा कामिल" की (1894-1908) तक की रचनाओं में भी 'राष्ट्रियता' की भावना का भाव पूर्णतया मिलता है, जिसमें उसने फ़्राँसीसियों की मदद से अंग्रेज़ों को बाहर निकालने के स्वपन देखे थे। वह 'मिस्र' को उसमानी साम्राज्य का हिस्सा मानता था। जब 1904 में फ़्राँस और अंग्रेज़ों की दोस्ती हो गई, तो उसके 'मक़सद' को बड़ी चोट पहुँची। वह उस काल में 'उस्मानी' शक्ति की ओर बड़ी उत्सुकता से देखने लगा। वह समय 1905 ई० का था, जब जापान ने रूस को रौद डाला था, उससे प्रेरणा लेकर उसने एक पुस्तक "अल शम्स" अल-मशरिक़ा' (जिसका अर्थ है मशरिक़ का उगता हुआ सूरज) है। उसका मत और विश्वास था, कि 'इस्लामी दुनिया' भी जापान की तरह शक्ति और विकास के बल पर विकसित हो सकती है। उसकी उन्नति और विकास के लिये इस्लामी जगत को भी शिक्षा, उद्योग और स्वतन्त्रता और समता के आधार पर विकसित होना पड़ेगा। **उसने इस्लाम दर्शन के आध्यात्मिक तथा 'दार्शनिक' पक्ष को विकसित करते हुये कहा था "इस्लाम की पूर्णता, देशभक्ति, सक्रियता न्याय प्रियता, एकता, समता और सहिष्णुता के आदर्शों में समाई है।"**

"इस्लामी दुनिया" के लेखक साहित्यकार, और 'राष्ट्र' चिन्तक, यूरोप के बढ़ते हुये प्रभाव और साम्राज्वादियों के मन्सूबों को भाँप गये थे। इसलिये उन्होंने इस्लाम में "नई जाग्रति लाने पर बल दिया।" 'मिस्र' की ऐतिहासिक एकता और राष्ट्रीयता पर बल देने में (1875-1927 ई०) में उस

काल के मिस्र के नेता साद-जगलुल ने अनोखा कार्य किया। उसने 'मिस्र' की स्वतन्त्रता के साथ-साथ शिक्षा और क़ानूनी व्यवस्था में सुधार लाने पर ज़ोर दिया। उसे अंग्रेज़ों के जुल्म की दिल-दहलाने वाली कई घटनाएँ उत्तेजित कर रही थीं। 1906 ई० में जब अंग्रेज़ों ने शक्ति के बल पर सिनाई पर कब्जे के लिये तुर्कों को धमकी दे ड़ाली तो उसे बहुत बुरा लगा था। 1906 ई० के लगभग ही किसानों के हाथों से एक अंग्रेज़ कबूतर बाज़ की हत्या हो गई थी, उसका बदला लेने के लिये चार किसानों को अंग्रेज़ों ने फाँसी पर चढ़ा दिया और सैकड़ों को कोड़ों से पीट-पीट कर अधमरा कर दिया। अतः 1907 ई० में उसने 'अल-हिब्ज़-अल-उम्मा' नाम से एक राष्ट्रीय दल बनाया, जिसमें मुस्तफा कामिल ने पूरा जोश भरने का कार्य किया, जिसमें कोशिश की गई थी कि राष्ट्रीयता, देशभक्ति, देशवासियों में कूट-कूट कर भर दी जाये।

इस्लामी जगत में राष्ट्रीयता जाग रही थी, साथ ही साथ इस्लामी दुनिया की एकता भी विकसित हो रही थी।

'तुर्की में युवा तुर्क आन्दोलन'

इतिहास आगे बढ़ रहा था, नौजवान पीढ़ी में जोश के साथ, विकसित होने की अभिलाषा भी हिलोरे ले रही थी। 1908 ई० में 'तुर्की' में युवा-तुर्क आन्दोलन (Young Turk Movement) 'नव तुर्क' यानि नव जवान युवा वर्ग ने क्रान्तिकारी तथा वैधानिक दल के नाम से एक रक्तहीन क्रान्ति की ज्योति जलाई। उस काल के सुल्तान "अब्दुल हमीद् द्वितीय" (Abdul Hamid II) ने संविधान को बहाल करके साम्राज्य में रहने वाली सभी जातियों के लोगों को 'समानता' का अधिकार प्रदान किया। लेकिन युवा तुर्क वर्ग की नीति थी, कि सभी तुर्की साम्राज्य में रहने वाली विभिन्न जातियों पर 'टर्की' का अनियन्त्रित प्रभुत्व क़ायम किया जाये। इसी अभिलाषा के अधीस्थ अन्य जातियों पर भयंकर जुल्म किये गये। मसीडोनियाँ और अल्बानिया के साथ तो उन्होंने बहुत कठोर व्यवहार किया। इसके परिणामस्वरूप चारों ओर हा-हाकार मच गया, असन्तोष की लहर सभी जगह फैल गई, जिससे यूरोप सहित सभी राज्यों में उनके प्रति घृणा की भावना उत्तेजित हो उठी। तुर्क वर्ग की संकीर्णता और अन्य जातियों पर अत्याचार, उन्हें विनाश की ओर ले जा रहे थे उनकी हिंसा से जहाँ इस्लामिक एकता नष्ट हो रही थी, वही योरोपियन साम्राज्यवादी उससे लाभ उठाने के इन्तजार में थे। आस्ट्रीया तो इस दिन की तलाश में था, उसने टर्की के विरुद्ध युद्ध छेड़ दिया और त्रिपोली (Tripoli) को उससे छीन लिया। **दूसरी और नवयुवक तुर्की आन्दोलन के खिलाफ़ 1912 ई० में 'बाल्कन' राज्य की चार रियासतों ने मिलकर सर्विया, बल्गेरिया, और यूनान ने मिलकर मसीडोनिया के ईसाईयों पर होने वाले असंख्य अत्याचारों के कारण गुस्से की लहर थी, जिससे ईसाई एकता कायम हो रही थी। क्योंकि जिसमें उनके देश के असंख्य 'ईसाईयों' को मौत की नींद में सुला दिया गया था। इसके फलस्वरूप इन चार राज्यों ने तुर्की पर आक्रमण करके उसे चारों ओर से घेर लिया, जिसमें 6 सप्ताह में तुर्की साम्राज्य पराजित हो गया। उस काल में कुस्तुन्तुनिया' को छोड़ कर बाकी समस्त साम्राज्य आटोमन 'तुर्की' के हाथ से निकल गया।** इसके बाद महाशक्तियों ने हस्तक्षेप किया और "लन्दन सन्धि" (1813 ई०) के अनुसार टर्की को 'कुस्तुन्तुनिया' तथा उसके आस-पास के इलाके जो, तुर्की की रक्षा में सहायक थे, उसे वापस दिये गये।

लन्दन सन्धि (1913 ई०) की विशेषता यह थी कि सर्विया के दक्षिण-पश्चिम में अल्बानिया (Alvania) के एक नये राज्य की रचना हुई थी। ऐसा होने से सार्बिया चारों ओर से घिर गया, इससे

आस्ट्रीया की इच्छा पूर्ति हुई, क्योंकि यही वह चाहता भी था। सर्विया वाले आस्ट्रीया के कट्टर शत्रु थे, इसलिये वह नहीं चाहते थे, कि 'सर्विया' ऐड्रियाटिक सागर तक अपनी पहुँच बनाये। लेकिन सर्विया वालों ने, अपनी शक्ति मज़बूत करने के लिये मेसोडिनया को चुना। बल्गेरिया' वालों ने जो 'तुर्क' पर विजय प्राप्त करने के बाद घमण्ड में फूले नहीं समाये थे, उनका विरोध किया। उन्होंने धोखा देकर सर्विया' और यूनान पर आक्रमण कर दिया। बल्गेरिया की इस हरकत पर बाल्कन की दूसरी रियासत उससे नाराज़ हो गईं। टर्की ने उस समय अपनी छति-पूर्ति के लिये मित्र राष्ट्रों का साथ दिया। बल्गेरिया वाले हार गये, उन्हें बरवारेस्ट सन्धि 1913 ई० में करने के लिये मजबूर होना पड़ा। तुर्की ने ऐड्रियानोयल (Adiraniople) सहित खोये राज्यों का बड़ा हिस्सा फिर से प्राप्त कर लिया।

युवा तुर्क आन्दोलन, और उसके बाद की होने वाली घटनाएँ 1914 ई० में होने वाले प्रथम विश्व युद्ध के लिये ज़िम्मेदार ठहराई जा सकती हैं।

एशिया का इतिहास, उस काल में भी जहाँ परिवर्तन का इतिहास है, वहाँ अधिकतर अहम और संकीर्णता से लबालब भरे खूनी अत्याचारों का इतिहास भी है। उस काल में, प्रगति आगे बढ़ रही थी, लेकिन इसके मध्य साम्राज्यवादियों और 'राजतन्त्र' की मिली-भगत से उसका चक्र कहीं न कहीं ठहर सा जाता था।

1914 ई० में एक समय आया, जब प्रथम महायुद्ध आरम्भ हो गया, मिस्र को अंग्रेज़ी साम्राज्यवाद के अधिकार क्षेत्र में अधिकरण कर दिया गया, जिसे (प्रोटेक्टोरेट क्षेत्र) भी कहा जाता था। उस काल में 'खदीब सैडाव अब्बास द्वित्तीय हिल्मी' को हटाकर 1982-1914 ई० में हुसैन कामिल को गद्दी पर बैठाया गया। सब जगह सैनिक कानून तथा पाबन्दियाँ लागू की गईं। स्वेज़ नहर पर सख़्त सैनिक पहरा लगा दिया गया। किसानों की समस्त पैदावार सेना और सिपाहियों का भोजन बन गईं थीं। उससे किसानों की लूट आरम्भ हो गई। ग़रीबों पर अत्याचार बढ़ गये, और लोग सैनिक आतंक के साये में जीने को मजबूर हो गये।

'तुर्कीवाद' का युग

19वीं शताब्दी के अन्त के दिनों में तुर्की अपने अतीत के पृष्ठ बड़ी सावधानी से पढ़ रहा था। उसका अतीत स्वर्ण युग से भी पूर्ण था, जिस पर उसे गर्व करना स्वभाविक भी था। उस काल में तेज़ आंधियाँ चल रही थीं, जिससे उसके पृष्ठ पर पृष्ठ उड़ते चले जा रहे थे। उसके इतिहास में, कहीं पर उसका बचपन लिखा था तथा कुछ पर उसका यौवन भरा इतिहास लिखा था। लेकिन 19वीं शताब्दी का अंतिम दौर उसके ठहराव और 'मन्दी' का दौर था। एक ओर यूरोप की विशाल साम्राज्यवादी शक्तियाँ केवल उस पर हावी होने की कोशिश ही नहीं कर रही थीं, बल्कि उसे तोड़ने पर आमादा भी थीं। दूसरी ओर संकीर्णता के दौर से उसके विकास का रथ ठहर सा गया था। वैसे यूरोप का चरित्र उसके लिये अनजान नहीं था। अतीत के इतिहास में ऐसे कई दौर आये, जब यूरोप में उसका दबदबा क़ायम रहा था। लेकिन उस काल में, यूरोप साम्राज्यवादियों के नोकीले दाँत उसे साफ़ दिखाई दे रहे थे।

उस काल में, तुर्की में दो वैचारिक धाराएँ तेज़ी से बह रही थीं, एक तो यह मानकर चल रहीं थीं, कि जब तक औद्योगिक और वैज्ञानिक प्रगति नहीं होगी, तब तक 'तुर्की' यूरोप के साम्राज्यवादियों के सामने नहीं ठहर सकता था। दूसरी वैचारिक 'धारा' 'इस्लामिक संस्कृति' को यूरोप की सभ्यता की बाढ़ के सामने आई तेज़ धारा से बचाना चाहती थी। दोनों वैचारिक धाराएँ

एक दूसरे के प्रति हमलावर थीं। क्योंकि तुर्की यूरोप के नजदीक था। इसलिये दोनों धाराओं का टकराव भयानक रक्तपात के लिये ज़िम्मेदार भी हो जाता था।

बीसवीं सदी के आरम्भ में 'मिस्र' के राष्ट्रीय आन्दोलन में जहाँ उसमानी साम्राज्य की मज़बूती के गीत गाये गये। 'उसमान आले मिश्री' की जीवन गाथा में यह बात सामने आई कि उसने शिक्षा प्राप्त करने का रास्ता यूरोप की ओर नहीं पकड़ा, बल्कि 'इस्तम्बूल' का रास्ता पकड़ा। वह 1909 ई० में "अल-कहतानियाँ" नामक अरबों के गुप्त समाज में भी काम करता रहा था। इस संगठन का उद्देश्य उसमानी राज्य और अरबों का एक संघ बनाना था, जो आस्ट्रीया-हंगरी के चरित्र से प्रेरणा लेकर "अरबों और तुर्की" को एकता के सूत्र में बाँधना चाहता था उसके लिये उसने 'अल-अहद' नामक संगठन बनाया। वह उसके लिये काम करता रहा। यह सच्चाई उस समय सामने आई, जब 1914 ई० में अंग्रेजों के हस्ताक्षेप से, तुर्कों में हुई उसकी गिरफ़्तारी से, उसकी रिहाई के बाद, अंग्रेज़ों ने मक्का के शरीफ़ हुसैन के साथ मिलकर (1916 ई०) में अरब के विद्रोह में शामिल होने को कहा, लेकिन उसने उसमानी साम्राज्य के विरुद्ध काम करने को साफ़ इन्कार कर दिया। उसने यही नहीं किया बल्कि 'अरबों' की स्वायतता के लिये आवाज़ भी उठाई। 'सच्चाई यह थी कि मिस्र' के लोग अंग्रेज़ों के दमन से बेहद परेशान थे।

तुर्की और अरब एकता की मज़बूती बढ़ती जा रही थी, लेकिन युवा तुर्क आन्दोलन की जड़ता के कारण और उसमानी साम्राज्य के पतन के कारण यह आन्दोलन दल-दल में फंसकर उस काल में ही दम तोड़ गया।

'तुर्कीकरण' के भावोत्मक आवरण में "एकता और प्रगति" का कारवां भी आगे बढ़ना चाहता था और वह भी 'साम्राज्य' की अखण्डता पर बलिदान होना चाहता था। उसने उन समस्त अराजक तत्वों पर रोक लगाई जो विघटनकारी समझे जाते थे। **16 अगस्त, 1909 ई० में उसने आदेश देकर 'जातीय और राष्ट्रीय' नामों से सम्बन्धित सभी राजनैतिक' संगठन अवैध घोषित कर दिये। यहाँ तक कि विभिन्न 'राष्ट्रीयताओं' में फैली भावना को भी समाप्त करने की कार्यवाही आरम्भ कर दी थी। उसका 'उद्देश्य' था, 'तुर्कीवाद' ही सम्पूर्ण और संर्वोपरि राष्ट्र है। इसलिये किसी अन्य राष्ट्रवाद, या जातिवाद या धर्मवाद की ज़रुरत नहीं थी।** उसने सब जगह 'तुर्कीकरण' करने की नीति अपनाई। 27 अगस्त 1909 ई० को उन राजनैतिक संगठनों पर जो जातीय नाम से चलते थे, समाप्त करने के लिये डकैती निरोधक क़ानून लागू किया गया, तथा उन्हें कुचलने के लिये सैनिक दस्ते भेजे गये। 'अरबों' तथा लब्बानियों' और ग़ैर तुर्की मुस्लमानों पर नियम लागू किया गया, कि वह केवल तुर्की भाषा का ही प्रयोग करेंगे। उन 'लोगों का मत था, कि तुर्कीवाद' ही सम्पूर्ण' तुर्की साम्राज्य में आई कमज़ोरियों को दूर कर सकता है। यही ही नहीं, 24 दिसम्बर 1909 ई० को 'इस्तम्बूल' में 'तुर्की-दरनेयी ' (तुर्क समाज) की स्थापना की गई । 'तुर्कीकरण' को मज़बूत करने के लिये 1911 ई० में एक 'पत्र' इसी नाम से निकाला गया। लेकिन वह ज़्यादा चल नहीं पाया। इसके बाद 'तुर्क उर्दू' (तुर्की पितृभूमि) नाम से एक पत्र निकाला गया।

लेकिन तुर्कीवाद की कठोरता के कारण अन्य जातियों से दिन प्रतिदिन आपसी संघर्ष बढ़ रहा था। आतिवादी तुर्की, 'तुर्कीवाद' और दूसरे 'राष्ट्र' के लोगों में टकराव हो गया, उनमें अपने-अपने 'राष्ट्रो' के 'प्रति' जाग्रति पैदा हो गई थी और तुर्कीवाद तथा अन्य राष्ट्रों में संघर्ष आरम्भ हो गया। एकता और प्रगति के लिये समर्पित शासन, इस से 'दमन' के मार्ग पर चल पड़ा। तुर्कीवादियों की हिंसा और आतंक से जनता परेशान रहने लगी। आपसी तनाव बढ़ गया। उस

काल के राजनैतिक दल, "हिज़्ब-ए-जदीद" तथा "प्रगतिवादी दल हिज़्ब-ए-तरक्की", और 'हुर्रियत' में मतभेद पैदा हो गये, तथा उनकी आपसी खींचातानी ने प्रशासन को निरंकुश तथा भ्रष्टाचारी बना दिया। नई 'क्रान्ति' की अभिलाषा में जो लोग इसमें आगे आये थे, वह निराशा का जीवन व्यतीत करने लगे।

'एकता और प्रगति' के शासन घटना चक्र पर, यूरोप की बढ़ती हुई प्रगतिवादी विचारधारा और वहाँ उठती हुई 'जातीय राष्ट्रीयता' का प्रभाव तुर्की पर साफ़ दिखाई देता था। वह भावना तथा शासन प्रणाली तुर्की साम्राज्य को एक 'राष्ट्रीय' आधार पर प्रगति और यूरोप की प्रशासनिक व्यवस्था के आधार पर दर्शन को आगे बढ़ाना चाहते थे। उस युग में तरक़्क़ी भी हुई और वहाँ के पुलिस प्रबन्ध में सुधार भी हुआ, नगर पालिकाओं का आधुनिकरण भी किया गया। आग बुझाने की सेवा आरम्भ की गई। ज़मींदारी प्रथा पूर्ण रूप से समाप्त कर दी गई । सफाई कर्मचारी यूरोप की तरह काम पर लगाये गये। 'तुर्की' में स्वदेशी का चलन आरम्भ हुआ और तुर्की की बनी हुई वस्तुओं के प्रयोग की प्रेरणा को श्रेय भी "एकता और प्रगति" शासन को जाता है। "स्वदेशी भावना का प्रभाव क़ायम करने का श्रेय उन्हीं को जाता है।" उन्होंने बैंक उद्योग को फैलाया तथा बीमा कम्पनियों को (1917 ई०) में महत्वता भी दी थी। स्त्रियों में योरोपियन वस्त्रों के पहनने का शौक़ आम हो गया था। उस काल में, 'यूरोपियन' फ़ैशन की स्त्रियों में बाढ़ सी आ गई। 'एकता और प्रगति' के शासन में स्त्रियाँ औद्योगिक शिक्षा लेने लगीं, वह डाक्टर, वकील और व्यापार में खुले तौर हिस्सा ले रही थीं। यही नहीं, उन्हें कई तरह के कानूनी अधिकार भी मिल गये थे। उस काल में, स्त्रियों को यूरोपियन फ़ैशन की ओर बढ़ने को रोकने के लिये (1911 ई०) में 'शेखुल स्लाम' को 'फ़तवा' भी देना पड़ा था। उस काल में तुर्की में, आधुनिकरण का ऐसा दौर शुरू हुआ कि बहुत से लोगों ने 'रमज़ान' में 'रोज़े' रखने भी छोड़ दिये। उस पर 'मंत्री परिषद' को अध्यादेश लागू करना पड़ा "कि रोज़ा न रखने वालों को सज़ा दी जायेगी।"

'एकता और प्रगति' नामक दर्शन पर यूरोपियन दर्शन शास्त्रियों का गहरा प्रभाव था। 'अहमद रिज़ा' पर 'आगस्टन और कोम्ते' का प्रभाव दिखाई पड़ता था। शहाबुद्दीन पर 'लुप्ले' और 'दमोले' जैसे यूरोपियन दार्शनिकों के विचारों की छाप दिखाई पड़ती थी।

उस काल के 'इस्लामिक' दर्शन शास्त्र के शोध-कर्ता अपने समाज और संस्कृति के विषय गम्भीरता से सोच भी रहे थे।

उस काल के 'इस्लामिक' जगत के उच्च कोटी के विद्वानों की धारणा थी कि "इस्लाम-दर्शन" जड़ नहीं है, एक प्रगतिशील जीवन दर्शन है, वह मानव समाज को विकसित करता है। प्रगति के मार्ग पर ले जाता है। मुहम्मद सईद हलीम पाशा (1863-1921 ई०) के विचार थे कि पवित्र "क़ुरान और शरीयत में आधुनिक प्रगति का सन्देश और दर्शन समाया है" 'हलीम पाशा' का मानना था, कि "दुनिया में वर्तमान में जो प्रगति और उन्नति हुई उसके दरवाज़े पहले इस्लाम ने ही खोले थे। यूरोप की भी उन्नति इस्लाम की ही देन है। चूँकि विज्ञान और तकनीकी इस्लाम की मान्यताओं का ही विस्तार है। इसलिये शिक्षा, समाज और संस्कृति पूर्णतया इस्लामिक दर्शन के अनुरूप होनी चाहिये।" उसमें विज्ञान भी समाया है।

"काज़िम एफ़न्दी" (1858-1919 ई०) में उनसे हटकर अपने विचार व्यक्त किये थे कि " पवित्र कुरान और शरीयत' को शत-प्रतिशत मानना ही लोगों का धर्म है" उस पर न चलने से पतन हुआ है।

अब्दुल्लाह जोदत ने 1912 ई० में, 'इजतिहाद' पत्रिका में दो लेख लिखे, जिसमें उन्होंने तुर्की के भविष्य की कल्पना की थी। उनका मानना था "सुल्तान एक विवाह करेगा, तथा केवल एक पत्नि रखेगा।" शहज़ादों को ज़नखों से दूर रखा जायेगा, तथा विद्यालयों में शिक्षा का सुचारू प्रबन्ध किया जायेगा। (उस काल में राज महलों में 'ज़नखे' रखे जाते थे, जो राजकुमारों की देखभाल करते थे।)

सुल्तान, शहज़ादें, और मंत्री तथा राज कर्मचारी स्वेदशी कपड़े ही धारण करेंगे। यानि अपने देश में बने कपड़े ही पहनेंगे। सरकारी दफ़्तरों में तथा घरों में, महलों में अपने देश का बना हुआ सामान ही पहना जायेगा।

स्त्रियों पर अपनी 'इच्छा' के कपड़े पहनने की, तथा अपनी पसन्द का 'विवाह' करने की छूट होगी। मदरसे बन्द किये जाएँगे। "टोने-टोटके" करने पर पाबन्दी लगाई जायेगी। धार्मिक संस्थाओं का धन देश की रक्षा पर खर्च किया जायेगा। जनता सरकार का सहारा लिये बिना, सड़क बनाने, बन्दरगाह बनाने, कारख़ानों का निर्माण करने में लग जायेगी। 'फ़ेज़', लवादा तथा पगड़ी आदि पुराने वक्तों की दकयानुसी चीजों को खत्म कर दिया जायेगा तथा लोग, नई संस्कृति को अपनाएँगे।

उस समय उसके लेख बड़ी आलोचना की दृष्टि से देखे गये तथा उन्हें लोगों ने हंसी में उड़ा दिया, तथा कपोल कल्पना कहकर उसे पुकारा गया।

'तुर्कीकरण' की भावना और तुर्की की आधुनिकता, यूरोप के प्रभावों में बहती हुई आगे बढ़ रही थी। उसका सांस्कृतिक पक्ष जहाँ "तुर्की के दर्शन में समाया था, वहाँ वह यूरोप की सभ्यता के 'नवीनीकरण' और प्रभाव से भी नहीं बच पा रहा था। **उन्हीं संकीर्णतावाद तथा यूरोपियनवाद के परस्पर विरोधी ख़ेमों के पिंजरों में बन्द मानवता, एक के बाद एक आतंकी कहर का शिकार हो जाता था। कभी साम्प्रदायक उन्माद, तथा कभी यूरोपियन साम्राज्यवाद का टकराव शक्तिशाली विशाल 'तुर्की' साम्राज्य को पतन की ओर ले जा रहा था।**

यूरोपियन साम्राज्यवादियों ने, दूसरे देशों की धरती **पर ला**लच देकर आतंक की कार्यवाहियों को, और-गुरिल्ला युद्धों को 'शह' दी थी। साथ ही सा**थ दूसरे** राष्ट्रों में साम्प्रदायक आधार पर कई तरह की राजनीति से 'अशान्ति' को जन्म देकर, उसे सदा के लिये समस्या का रूप पनपाया था। यूरोपियन साम्राज्यवादियों ने 'धर्म और जाति' की स्पर्धा को बढ़ावा देकर, 'दो राष्ट्रों' के सिद्धान्त को या एक ही 'राष्ट्र' में कई राष्ट्रीयता की भावना को बढ़ाकर उसे अपने स्वार्थ के लिये खण्डित करने का 'ज़हरीला' काम भी किया था। विशेषकर पश्चिमी एशिया उसका सबसे बड़ा शिकार हुआ था।

मिस्र में प्रगतिवाद का आवाह्न

जैसा की इतिहास बताता है, कि 1816-1817 ई० में 'उसमानी शासकों' के क़ब्जे में जब मिश्र 'सांस' ले रहा था।' तो वहाँ का 'मुन्तज़ीम पाशा' कहलाता था। वह 'स्वतन्त्रता' से, शासन के मामलों में 'ख़ुदमुख़्तार' से हो गये थे। उन्हें समाप्त करने के नाम पर नैपोलियन ने मिश्र पर कब्जा किया था। लेकिन बाद में "मोहम्मद अली" ने समझ लिया था कि बिना आधुनिक शक्ति के यूरोप की तानाशाही और आतंक का मुक़ाबला नहीं किया जा सकता। उसने मिश्र के 'विकास' का काम आरम्भ किया। सबसे पहले आर्थिक क्षेत्र में, उसने 1808-1814 ई० के मध्य जमींदारी प्रथा का ख़ातमा करके, 'जारादारी' (इलतिज़ाम) की प्रथा को भी मिश्र की धरती से विदा किया। उसने समस्त ज़मींदार अधिकारियों को हटाकर किसानों को सहूलियत दी, यही नहीं, वक़्फ़ों की जायदाद को मुआवज़ा देकर समाप्त किया गया। अब ज़मीन की मालिक सरकार थी, और लगान आदि सरकारी कर्मचारी वसूल करते थे। किसानों को खेती के विकास के लिये पूर्ण सुविधा की व्यवस्था की जाने लगी। खेती का विकास पूर्णतया विज्ञान के आधार पर किया गया। किसानों की खेती के लिये विकास के लिये, समय पर सामान मुहिया किया जाने लगा।

खाद्यान के अलावा सभी खेतीहर उत्पादन के मूल्य निश्चित कर दिये गये। किसानों के शोषण पर सख़्त पाबन्दी लगा दी गई। किसानों के शोषण कत्ताओं को सख़्त सज़ा दी जाने लगी। यातायात के साधनों को 'राष्ट्र' नियन्त्रंण में ले लिया गया। यहाँ तक की 'बुचडखाने' (कसाई घर भी सरकारी) भी केन्द्र नियन्त्रण में तथा देखभाल में चलाने लगे। मज़दूरों के 'शोषण' को रोकने के लिये मज़दूरों को 'निजी' कारख़ानों में काम करने पर पाबन्दी लगा दी गईं।

अब चमड़े के उद्योग, कपड़े के कारख़ाने 'हकूमत' के आधीन थे। 'साबुन' बनाने के काम पर सरकारी 'छाप' लगने लगी। 'चीनी' के कारख़ाने इब्राहीम पाशा ने, मिश्र में आरम्भ कराये। तथा शराब बनाने का काम सीखने के लिये "उमर एफन्दी" को हिन्द द्वीप में भेजा। 1919 ई० में नहर खोदने के लिये सरकारी तौर पर युवकों को भरती किया गया। इसमें 'शासन तन्त्र' का आतंक बहुत बढ़ गया था। जो युवा नहर खोदने का काम करते थे, उनके गले में 'रस्सी' बाँध दी जाती थी, तथा खुदाई के लिये 'नहर' में उतारा जाता था। 1818 ई० में मिश्र में एक विशेष प्रकार के बीज से कपास की खेती आरम्भ की गई थी। उस 'बीज' को जिसे दक्षिण करोलीन से लाया गया था। इस कपास की खेती ने 'मिश्र' की अर्थ-व्यवस्था में पूर्णरूप से क्रान्ति कर दी। रेशम, सूती कपड़ा, नील, अफ़ीम, आदि की खेती ने, जो अब सरकारी हाथों द्वारा तिज़ारत का हिस्सा बनी थी, मिश्र की आर्थिक दशा सुधारने में बेहतरीन काम कर दिया।

मोहम्मद अली द्वारा, सबसे अधिक 'मिस्र' की तरक़्क़ी के लिये जो काम किया गया, वह शिक्षा क्षेत्र का आधुनिककरण था, जिसने इन्जीनियर, डॉक्टर तथा अन्य क्षेत्रों में आगे बढ़कर हिस्सा लिया था। उस काल में इन्जीनीयर तथा डॉक्टर बनने के लिये कालिज खोले जा रहे थे, तथा सरकारी ख़र्चे पर 'युवा' वर्ग को प्रोत्साहित करके 'फ्राँस' तथा दूसरे यूरोप के स्थानों पर

पढ़ने के लिये भेजा जा रहा था। 'मिस्र' का 'आधुनिकरण' उसे नई 'आर्थिक' मंज़िल की ओर जाने के लिये प्रोत्साहित कर रहा था। 'मिश्र' संकीर्णता की दीवारें तोड़कर, खुली हवा में सांस लेने के लिये, मोहम्मद अली के समय में आगे बढ़ रहा था।

मिश्र इस्लामी जगत का सबसे शक्तिशाली देश बन गया 'मोहम्मद अली' के आधुनिकरण ने और उसकी अपार-धन और दौलत ने उसकी शक्ति को इतना बढ़ाया, कि वह महत्वकाँक्षी बन गया। सत्ता का नियम है, और राजनीति का चलन है कि धन और दौलत वालों से और शक्तिवालों से, सब मदद चाहते हैं। 'मोहम्मद अली' से अरब में, 'हावी' विद्रोहों को दबाने के लिये उसमानी सुल्तान मदद की 'गुहार' कर रहा था। उसने 'अरब' पर ज़ोरदार आक्रमण कर दिया और उसके उत्तरी भाग पर 1840 ई० में क़ब्ज़ा कर लिया। उसके बाद उसने, 'सूदान' पर आक्रमण किया, और वहाँ भी अपना अधिकार जमा लिया। सुल्तान के निमन्त्रण पर उसने यूनानियों पर हमला किया। उसकी महत्वकाँक्षा और बढ़ती चली गई, धन और दौलत तथा अपनी सैनिक शक्ति की 'धाक' में वह 'शाम' को अपने राज्य में मिलाना चाहता था। लेकिन उसे सुल्तान ने ऐसा करने की आज्ञा नहीं दी। उसकी महत्वाकाँक्षी धाक बढ़ती ही जा रही थी। उसने 1831 में अपने 'पुत्र' को शाम पर विजय प्राप्त करने के लिये भेजा। जिस पर विजय प्राप्त करने के लिये पूर्ण दो वर्ष लग गये।

उसके बाद, उसके इरादे बढ़ते चले गये "हिम्स" तथा 'दमिश्क़' पर भी 'मिश्र' का झण्डा फहराने लगा। अब 'मिश्री' फ़ौजी दस्ते विजय के उन्माद में, कुस्तुनतुनिया की ओर आगे बढ़ रहे थे, जो केवल उससे 150 मील की दूरी पर डेरा डाले थे। लेकिन समय बदल रहा था, सुल्तान को मजबूरी में अंग्रेज़ों की शरण में जाना पड़ा। अब यूरोप बाले बहुत ख़ुश थे, विशेषकर अंग्रेज़, क्योंकि 'उसमानी' साम्राज्य की शक्ति अंग्रेज़ों के सामने हाथ बाँधे खड़ी थी। फ्राँस और ब्रिटेन ने यह अच्छा मौक़ा देखा। एक तो उसमानी साम्राज्य का अहंकार टूट रहा था, दूसरी और 'मिश्र' की बढ़ती हुई शक्ति जो बेतहाशा अहंकार में थी और फ़्राँस और ब्रिटेन को चुनौती दे रही थी, उसे यह अवसर उसे सबक़ सिखाने का था, अतः ब्रिटेन और फ़्राँस ने मिलकर 'तुर्की' की धरती को मिस्र से मुक्त कराया। लेकिन शाम पर 'मिस्र' का अधिकार 1840 ई० तक निरन्तर कायम रहा। युद्ध में हुई हानियों से, तथा अपने टूटते हुये स्वपनों के महल के धराशाही हो जाने से पीड़ित होकर 'मोहम्मद अली' 1847 ई० में पागल हो गया। मिस्र का दूसरा नुक़सान यह हुआ, कि मोहम्मद अलि का पुत्र इब्राहीम 1848 ई० में मर गया, जिसके कारण मोहम्मद अलि का 'पौत्र अब्बास' (प्रथम) गद्दी पर बैठा।

इतिहास बोलता है, कि यदि मोहम्मद अलि युद्ध और लड़ाईयों के चक्कर में नहीं पड़ता तो 'मिस्र' की आर्थिक-शक्ति समस्त यूरोप को बहुत पीछे छोड़ देती, लेकिन राजतन्त्रवादी आतंकी महत्वकांक्षा ने ऐसा नहीं होने दिया।

आधुनिक आतंकवाद का जन्म

यूरोप विजय के अहंकार में, पश्चिमी एशिया के अरब देशों की 'स्वतन्त्रता' पर कई तरह के बन्धन लगाने लगा था, विशेष कर, 'ब्रिटिश' और 'फ़्राँस' अपने साम्राज्यवादी इरादों के साथ पश्चिमी एशिया की 'स्वतन्त्रता' का हनन करना चाहता थे। अमेरीका भी अपने आर्थिक साम्राज्वाद का विस्तार करने के लिये 'प्रादेश (मेण्डेट)' की परिकल्पना के सहारे, नये आर्थिक और सांस्कृतिक साम्राज्यवाद को पश्चिमी एशिया में फैलाने लगा था। अफ्रीका के जनरल जान स्मट्स और अमेरीका के राष्ट्रपति विल्सन ने (मेण्डेट) प्रादेश योजना पर क़ानूनी मोहर लगा दी। इसका 'अन्तर्राष्ट्रीय' विधि में यह अर्थ था कि 'लीग ऑफ नेशन्स' किसी देश विशेष को यह आदेश दे सकते हैं कि वह किसी दूसरे देश की राजनैतिक और संवैधानिक उन्नति और विकास के लिये, उसे अपने अधिकार में रखकर, प्रशिक्षित करे, तथा स्वतन्त्रता तथा आर्थिक उन्नति में सहयोग करे। ऐसा लगता था कि 'ब्रिटेन' और फ्राँस तथा अमेरीका प्रजातान्त्रिक सभ्यता और संस्कृति के ठेकेदार बन गये थे। इतिहास में साम्राज्यवाद का यह खेल देखिये कि फ्राँस को शाम और लेबनान का मेग्डेट (प्रादेश) दिया गया और 'ब्रिटेन' को फिलस्तीन और ईराक़ का 'मानिटर' यानी एक तरह से इसे शासक बना दिया। 1922 ई० को लीग ऑफ 'नेशन्स' ने इसकी स्वीकृति प्रदान कर दी और 1932 ई० में 'मेण्डेट' को इन देशों पर थोप दिया गया।

इतिहस के पन्नों को यदि ग़ौर से पढ़ा जाये तो ज्ञात होगा कि एक शान्ति और सुरक्षा के लिगे बनाई गई संस्था लीग ऑफ नेशन्स ने साम्राज्यशाही देशों के इशारे पर पश्चिमी एशिया की 'स्वतन्त्रता' का गला घोट दिया तथा साथ ही साथ उनके सम्मान और उनकी राष्ट्रीयता को खण्डित करने की नींव भी रख दी। यहीं से आधुनिक आतंकवाद का जन्म हुआ, ऐसा, तो कहा जा सकता है। इस तरह के आर्थिक शोषण ने, जहाँ विध्वन्सक दूसरे विश्व युद्ध की नींव भी रखी तथा पश्चिमी एशिया के देशों में, आतंकवाद बढ़ावा भी दिया गया।

लीग ऑफ नेशन्स ही, पश्चिमी एशिया राष्ट्रो के विभाजन की 'जननी' है 'लीग ऑफ नेशन्स' मेण्डेट के सिद्धान्त की मोहर लगने के बाद, फ्राँस 'शाम' देश का 'आक़ा' ही बन बैठा। फ्राँस ने धार्मिक तथा साम्प्रदायिकता की भयानक भेदभरी नीति अपनाई। एक धर्म को दूसरे धर्म से लड़ाया गया, उनमें भयंकर साम्प्रदायकता का ज़हर घोला गया तथा धार्मिक मतभेद पैदा करने के लिये, धार्मिक 'उन्माद' को हवा देकर, आंधियों में परिवर्तित कर दिया। 'शाम' में उस काल में, 'सुन्नी' मुस्लमानों की संख्या 53% प्रतिशत ही थी। अवशेष जनता विभिन्न अल्पसंख्यको में विभाजित थी। उस काल में 3,40,000 मेरोनी ईसाई लेबनान पर्वत घाटी में बसे हुये थे। 3,25,000 'अलवी' या नुसैरी उत्तर तट पर "जबल-नुसैरिया' में बसे हुये थे, 1,60,000 'ड्रूज, जबल' ड्रूज और लबनान के कुछ हिस्सो में फैले हुये थे, इसी के साथ-साथ 2,00,000 'कुर्द' उत्तर पूर्व के 'दीप' इलाक़ों में रहते थे।

उससे पूर्व वहाँ के सभी धर्मों के लोग अधिकतर सहयोग से रहते थे, छोटे-मोटे विवादों के अलावा सहयोग और सद्‌भावना से रहना उनका लक्ष्य था। फ्राँसीसी साम्राज्यवादियों ने आपसी

विवादों की एक सोची-समझी योजना बनाई, जिससे वहाँ साम्प्रदायकता का ज़हर, धीरे-धीरे आपसी घृणा में बदल गया। फ्राँसीसी सरकार ने आपसी तनाव को बढ़ाने के लिये, लबनान के समुद्री तट और अन्दर का मैदानी क्षेत्र को विस्तृत कर, उसमें 'बैरूत' त्रिपोली, और 'सैदा' (सिदन) के, मुस्लिम आबादी के शहर जोड़ दिये, साम्प्रदायकता फैलाने के लिये साथ ही साथ 'बिका' का क्षेत्र भी उसमें मिला दिया, ख़ास बात यह थी कि इसमें यूनानी चर्चों की तथा मुस्लमानो से ईसाई हुये, ईसाईयों की संख्या ज़्यादा थी।

इस विस्तृत 'लेबनान' में मैरीनो का बहुमत नहीं था, बल्कि अन्य सभी सम्प्रदायों के ईसाईयों की संख्या मुस्लमानों से कुछ अधिक थी। फ्राँसीसी साम्राज्यवादी चाहते थे कि ईसाई सदा ही असुरक्षित महसूस करें, और फ्राँसीसी साम्राज्वाद के भक्त बने रहें। इसलिये वह तोड़-फोड़ की राजनीति क़र रहे थे।

दूसरा कारण यह था, कि 1921 ई० में, फ्राँसीसी हुक्मरानों ने 'जबल द्रूज़' को स्वतन्त्र रियासत बना दिया, उसी तरह, साम्राज्यवादियों ने अपने हित के लिये 1922 ई० में 'अलवी (नुसैरी)' राज्य अलग बना दिया, जिसे कि यह रियासतें शामियों से न मिल सके और इनके मतभेद सदा बने रहें, जिससे यह कभी भी मित्रता के दायरे में न आ सकें। इस तरह से फ्राँसीसी, साम्राज्यवादियों की जो कैंची, उनकी राष्ट्रीयता को कतरने के लिये चल रही थी, उसने अवशेष बचे हुये शाम राज्य को तीन हिस्सों में विभाजित कर दिया, दमिश्क़, अलेप्पों और लताकियों फाँसीसी शक्तिहीन कर दिया और नाम मात्र के लिये एक संघ में शामिल कर दिया। इसी तरह 1939 ई० में 'शाम' के उत्तरी भाग में स्थित 'एलेग्ज़ेन्द्रता' के क्षेत्र को उससे अलग कर उसे स्वायत्ता दे दी गई और 1939 ई० में, उसे तुर्की को सौंप दिया गया। यही नहीं, उसका नाम बदल कर 'खाताय' रख दिया गया।

"अरबी" संस्कृति को मिटाने के प्रयास फ्राँसीसी साम्राज्यवादियों ने 'अरबी' संस्कृति को तहस-नहस करने के लिये भयानक प्रचार किया। अरबी 'भाषा' को नष्ट करने के प्रयास जारी रहे, फ्राँसीसी भाषा स्कूल, कालिजों में जोरों से पढ़ाई जाने लगी। फ्रॉसीसी राष्ट्रगीत "ला-मार्सेइस्ज़' 'गाना' अनिवार्य कर दिया गया। हुक्म दिया गया, इसे हर शामी और 'अब़नानी' को याद करना अनिवार्य हो गया।"

शाम, और लेबनान पर पूर्ण अधिकार करने के लिये फ्राँसीसी शासन ने लेबनान और शाम को एक साथ जोड़कर, वहाँ की अर्थ-व्यवस्था पर अपना अधिकार कर लिया।

इतिहास को तोड़-मरोड़ कर पढ़ाया जाने लगा। कि 'शामी' और लेबनानी लोग 'अरब' नहीं है। साम्राज्यवादियों के इशारे पर इतिहास के नये ग्रन्थ लिखे जाने लगी। सम्पूर्ण अर्थव्यस्था पर फ्राँसीसी प्रशासन और फ्रॉसीसी कम्पनियों का आधिपत्य हो गया और फ्राँसीसी सभ्यता शामी 'संस्कृति' को नष्ट करने लगी।

अशान्ति और ज़ोर

ज़बर्दस्ती करने के लिये, बड़े-बड़े क़बीलों के सरदारों को ज़मींदार बना दिया गया। इतना ज़रुर हुआ कि "मुल्क" जो उनकी अपनी निजी सम्पत्ति थी, वह शरीयत के क़ानून के अधीन ही रही। उस काल में, किसानों की हालत बेहद खराब हो गयी थी और 'मज़दूर' बेतहाशा शोषण का शिकार हुआ करते थे।

'शाम' और 'लेबनान' की जनता, फ्राँसीसी साम्राज्यवादियों और संकीर्ण कट्टरवादियों तथा भयानक लूटेरों की मार से त्राही-त्राही करने लगी थी। ज़ुल्म बढ़ते जा रहे थे। 'फ्राँसीसी' शासन

चाटूकारों और चापलूसों के सहारे लूटने-खसोटने में व्यस्त था, तथा जन्ता पर दमन और अत्याचार के बल पर, 'मानवता' को रौंद रहा था।

इससे असन्तोष की लहर दिन पर दिन बढ़ने लगी। उसी के परिणामस्वरूप 1925 ई० में जबल द्रूज के शासक परिवार के, सुल्तान अल-अतराश की 'अगवाई' में, फ्रॉंस सरकार के विरूद्ध आवाज़ तेज़ उठाने लगा। फ्राँसीसी सरकार ने उसके चार नेताओं को 'कैद' कर लिया गया। धीरे-धीरे जन आन्दोलन बढ़ने लगा और उसमें किसान और आगे जा कर ज़मींनदार भी आन्दोलन में शामिल हो गये थे। गॉव-गॉव और शहर-शहर आन्दोलन तेज़ हो गया, अब 'उसमानी' अधिकारी भी उसका नेतृत्व करने लगे।

फ्राँसीसी साम्राज्यवादियों का भारी आतंक

आन्दोलन विद्रोह में बदल गया। फ्राँसीसी सरकार ने जनरल "साराइ" को फिर से, हमला करने के अधिकार दे दिये और उसने तोपख़ाने और हवाई जहाज़ों से दमिश्क पर 'बम' वर्षा करके हजारों आन्दोलनकारियों की जान ले ली। फ्राँसीसी सरकार ने अल-खूरी और शुक्री-कुब्बतली जैसे लोकप्रिय जन नेताओं को देश निकाला दे दिया, जिससे आन्दोलन की आग तेज़ हो गई। 1926 ई० तक आन्दोलन के कारण 'दिमश्क' में आग और 'धुंआ' ही धुंआ, था जिससे फ्राँसीसी सरकार 'असहाय' हो गई। जिसने सबसे पहला 'कार्य मैण्डेण्ट' को समाप्त करके, 'ग़ुलामी' की बेड़ियाँ काट कर नया इतिहास लिखा। लेकिन उस समय भी फ्राँसीसी सरकार की तानाशाही बनी हुई थी। फ्राँसीसी सरकार के विरूद्ध आन्दोलन तेज़ होता जा रहा था। 1930 ई० में सरकार ने अपनी इच्छानुसार विधान बनाकर 'शाम' को गणतन्त्र का दर्जा दिया गया, जिसके अनुसार 1932 में संसद चुनी गई, लेकिन उस संसद के सदस्यों में जनता के साथ मिलकर उसका विरोध किया, जिसके लगभग दो वर्ष बाद उसे भंग कर दिया गया। 'शाम' में तथा उसके आस-पास असन्तोष चरम सीमा पर था, आन्दोलन जारी था। अब कई नये दल आधुनिक प्रभाव से अस्तीत्व में आ रहे थे। बदलती हुई दुनिया का राजनैतिक प्रभाव बढ़ रहा था और उसके प्रभाव में कठोरवादी राजनैतिक दल प्रकाश में आने लगे थे।

नई हवाएँ 'नए' राजनैतिक दल

'शाम' में राष्ट्रीयता की भावना तेज़ी से बढ़ रही थी, जिसके कारण नये राजनैतिक दल अस्तित्व में आ रहे थे। अब 'शाम' की 'राजनीति' ज़मीदारों और शाही परिवारों से बाहर निकलकर, किसानों मज़दूरों तथा आम वर्ग के हाथों में आ रही थी।

उसी काल में एक दल ("अल-कुतला अल बतनीया") प्रमुखता से अस्तीत्व में आया था, जो बाद में जाकर दो भागों में विभाजित हो गया। जिसमें एक 'अल-हिज्ब', 'अल-बतनी' तथा अल-हिज्ब, अल-शाम' था, जिसमें ज़मीदारों, उद्योगपतियों और मध्यम वर्ग के बद्धिजीवियों की प्रमुखता थी। शामी आन्दोलन में अभी तक 'प्रभुत्व' और नेतृत्व बडे लोगों का ही था।

फासी तथा नात्जी आतंकवाद की तरफ़ बढ़ते क़दम

उदारवादी जनतन्त्र जो यूरोप में, पूँजिवादियों और सामन्तों के हाथ में था, साथ ही साथ वह दूसरे देशों में साम्राज्यवाद के द्वारा लोगों का शोषण कर रहा था। वह नौजवानों में निराशा भी पैदा कर रहा था। पश्चिमी देशों की 'लोकतन्त्र' प्रणाली जन कल्याण और मानवतावाद की कोई दिशा सफलतापूर्वक नहीं पकड़ पाई थी। इसलिये पश्चिमी एशिया के नौजवान नये-वादों की ओर तेज़ी से झुक रहे थे।

उस काल में 'शाम' के युवा वर्ग का झुकाव भी नये वादों की तरफ़ हो रहा था।

धर्मनिरपेक्षता तथा राष्ट्रवाद की तरफ़ झुकाव

1932 ई० में, "पाती पोपुलर सिरिया" नाम का एक दल संगठित हुआ और वह अपने नये अस्तित्व में आया, उसका उद्देश्य यह था, लेबनान, सिरिया, जोर्डन, फ़िलीस्तीन, ईराक़ और साईप्रेस को मिलाकर एक विशाल 'शाम' राष्ट्र का गठन किया जाये, जिसे धर्म निरपेक्ष' और राष्ट्रवाद की भावनाओं और आदर्शों से संगठित करके एक मज़बूत राष्ट्र बनाना था।

हिंसा और आतंक का शासन

यूरोपियन साम्राज्यवाद ने अपनी कठोर मनोवृति के सहारे, उपरोक्त देशों के हज़ारों नौजवानों को हथियार उठाने को मजबूर कर दिया। उनके सामने समस्या यह थी, कि फ्राँसीसियों के सामने यह खुले रूप से नहीं लड़ सकते थे, इसलिये इन्होंने गुप्त रूप से अपने आतंकी दस्तें बनाये, जिनके अलग गुप्त अड्डे होते थे, जहाँ इन्हें पिस्तौल, हवाईगोले, बम तथा बन्दूक बनाने और चलाने की शिक्षा दी जाती थी। इसमें बहुत कम 'उम्र' के नौजवान अधिक होते थे। यह नौजवान योजना बनाकर 'अचानक' हमला करते थे, तथा अपने गुप्त अड्डों पर चले जाते थे। 1932 ई० से लेकर 1935 ई० तक यह संगठन गुप्त रूप से काम करते रहे लेकिन बाद में सामने आ गये। 1938 ई० में इनके नेता गिरफ़्तार कर लिये गये और उन्हें देश निकाला दे दिया गया। इनका 'संगठन' बराबर अपने कार्य में लगा रहा। यही संगठन बाद में साम्यवाद के खिलाफ तथा नासिर के अरबवाद के 'विरूद्ध' आतंकी हमले करता रहा तथा उनके साथ लड़ता रहा। इसी तरह के संगठनों को बाद में "अमेरीकी पूँजिवाद" आर्थिक तथा आधुनिक शस्त्रों से मदद करता रहा। उसी काल में, दमिश्क और अलेप्पों में इसी तरह के **'सफ़ेद' और 'फ़ौलादी'** कुर्ते नाम से संगठन बनाये गये। 'लेबनान' में पियर जमायल ने "फलाँज़" नाम से एक दल बना।

संघर्ष चलता रहा, 1936 ई० में वातावरण उग्र हो गया, राष्ट्रीय आन्दोलन अपनी स्वतन्त्रता के लिये निरन्तर आग उगल रहा था। जिसमें 60 से अधिक लोग शहीद हो गये। फ्राँसीसी सरकार ने अपनी समझौता नीति के अनुसार एक 'शिष्ठमएडल' वहाँ भेजा, जिससे वहाँ की प्रमुख पार्टीयों में, और फ्राँसीसी सरकार में समझौता हो गया। उसमें निश्चय किया गया कि 3 वर्षों के अन्दर 'मेण्डेएट समाप्त कर दिया जायेगा। फ्राँसीसी सरकार झूठे वायदे करके समय को टालती रहीं, और एक दिन ऐसा आ गया कि सरकार ने "शाम संविधान" को स्थगित कर, 1939 ई० में संसद को भी भंग कर दिया। **समय बदल रहा था। दूसरे "विश्व युद्ध" के कारण, विश्व में आतंक की 'परछाई' लम्बी हो चली थी। सब तरफ़ रात के अन्धेरों में 'बमों' के आतंक से बच्चे तक सहम जाते थे। आतंक की अन्धेरी दुनिया में अपार कोलाहल और चीत्कार और भय फैला हुआ था।** युद्ध में फ्राँस को भी अपार हानि उठानी पड़ी थी। एक तरह से 1940 ई० में वह बर्बाद हो गया था। जून 1941 ई० में, अंग्रेज़ी और 'स्वतन्त्र' फ्राँसीसी सेनाओं ने शाम पर अपना क़ब्जा कर लिया। फ्राँन्सीसी सरकार ने मेण्डेण्ट समाप्त करने और शाम को स्वतन्त्र करने की घोषणा कर दी। उसके बाद 1943 में संवैधानिक सरकार बन गई और अगस्त में, उसी वर्ष संसद ने "शुक्री-अल-क्रुब्बातली" को 'शामी' गणतन्त्र का प्रथम राष्ट्रपति (President) चुना, उसके बाद 12 अप्रैल 1945 ई० को 'शाम' लीग ऑफ नेशन्स का सदस्य बना लिया गया।

इसी प्रकार 'लेबनान' में, भी 'मेण्डेट' पर फ्राँसीसी साम्राज्यवादियों से कभी शान्त और कभी "खुला 'संघर्ष" खुलकर होता रहा। दूसरे विश्व युद्ध के समय लेबनान को सैनिक शासन के माध्यम

से बुरी तरह 'रौंदा' गया, लेकिन फ्राँस की दूसरे "विश्व युद्ध" में पराजय के समय, 1940 ई० में, 27 नवम्बर को, जनरल "द-गाँल" के प्रतिनिधी 'जनरल काबू' ने मेण्डेण्ट समाप्ति की घोषणा कर, वहाँ की "स्वतन्त्रता" की घोषणा भी कर दी, लेकिन 'फ्राँसीसी' सरकार चालबाज़ी से काम ले रही थी। जब वहाँ की संसद ने 'मेण्डेण्ट' सम्बन्धी अंश निकालने का प्रस्ताव संसद में रखा, तो वहाँ के 'राष्ट्रपति (President) "विशाराह अल-खूरी सहित वहाँ के प्रधानमंत्री तथा मंत्रियो तक को फ्राँसीसी साम्राज्यवादियों ने गिरफ्तार कर लिया और उन्हें सीमावर्ती क़िले में कैद कर रखा गया।

इस घटना से समस्त लेबनान में आन्दोलनों का तूफान आ गया, समस्त लबनान जनता सड़कों पर आ गई, हड़ताल, और ताला बन्द से समस्त लेबनान में 'इन्क़लाब' आ गया। शहर-शहर में उपद्रव होने लगे, गोलियाँ चलने लगी और समस्त लेबनान बाग़ी बन कर साम्राज्यवादियों के सामने खड़ा था।

अतः हारकर, फ्राँसीसी सरकार द्वारा राष्ट्रपति सहित, समस्त नेताओं को रिहा कर दिया गया, साथ ही साथ उन्हें अपने गरिमापूर्ण पद पर बहाल भी किया गया। **अतः 21 नवम्बर का दिन 'लेबनान' में, 'गणतन्त्र' और 'विजय' के त्यौहार का दिन बन गया था। जो प्रत्येक वर्ष "इज़्ज़त" और सम्मान के साथ मनाया जाने लगा। उस दिन, समस्त 'लेबनान' अपनी स्वतन्त्रता पर नाज़ भी करता है।** 12 अप्रैल को लेबनान भी, 'लीग' ऑफ़ नेशन्स' का सदस्य बन गया। इतिहास में वह दिन भी लेबनान के स्वर्ण अक्षरों में लिखा गया था, जब 31 दिसम्बर को, 'फ्राँस' के सैनिक 'दस्ते ने' 'लेबनान' की स्वतन्त्र धरती छोड़कर वहाँ से कूच किया था। वहाँ, लेबनान के हज़ारों लोगों की शहादत और बलिदान के बाद, स्वतन्त्रता ने अपनी नई प्रगति की यात्रा की सौगन्ध खाकर अपना नया परन्तु कटीला सफ़र आरम्भ किया था।

फ्रॉस ने गुलामी की मोहर से काली 'स्याही' के निशानात एशिया की धरती पर लगाये थे, वह इन्क़लाब के जौहर से मिटाये जा रहे थे। उसी तरह ईराक में भी अंग्रेज़ी शासन पूर्णतय हावी था। 1918 से ही ईराक़ पर 'अंग्रेजी 'साम्राज्यवाद', "ब्रिटिश भारत के सैनिक शासन" द्वारा चलाया जा रहा था। 'ज़ुल्म' और शोषण के कारनामों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद के, पिछले उसमानी शासन को बहुत पीछे छोड़ दिया था। लूट-खसौट और ब्रिटिश शासन का भ्रष्टाचार चरम सीमा पर था। 'उसमानी शासन' नं सन् 1911 ई० में जो धन जनता से वसूला था, उससे साढ़े तीन गुना अधिक ब्रिटिश हकूमत ने 1920 ई० में जनता का गला दबाकर वसूल किया था। यह धन 'ईराक' के (फल्लादीन) किसानों से वसूला जाता था। फौज और प्रशासन में 'अरबों' की संख्या कम थी, अधिकतर लोग ब्रिटिश 'सरकार' के होते थे, जो मुक़ामी लोगों को तरजीह नहीं देते थे। लगभग 80,000 भारतीय ब्रिटिश फ़ौज वहाँ बनी रहती थी। इसलिये वहाँ असन्तोष बढ़ता ही चला जा रहा था।

बग़ावत

'ब्रिटिश साम्राज्यवाद' ने जब ईराक़ मेण्डेण्ट (प्रादेश) लागू किया, तो वहाँ की जन्ता ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरूद्ध विद्रोही हो गई, जगह-जगह जनता ने बग़ावत कर दी, आन्दोलन तेज़ हो गये। ईराक़ी लोगों ने हथियार उठा लिये। यह महीना जून का था, जब 1920 ई० में जमील मिदफाई की सैनिक टुकडी ने, मौसील से 30 मील पश्चिम में, तेल 'आफ़ार' पर क़ब्ज़ा कर लिया और 'ब्रिटिश' सैनिक चौकी को पूर्णतय नष्ट कर दिया। उसी काल में फ़रात की घाटी में भी क़बालियों ने भी आन्दोलन आरम्भ कर दिया, जो आग की तरह सम्पूर्ण ईराक में फैल गया। इससे तो ब्रिटिश सरकार के होश उड़ गये। क्योंकि ब्रिटिश सरकार के 400 सैनिक मार डाले गये, इसमें

लगभग 8450 से अधिक ईराकी सैनिक भी मारे गये। तथा उसे 20,000,000 पौण्ड का नुकसान भी उठाना पड़ा।

आतंकी दस्तें

हवा को देखकर 'ईराक़ी' नौजवानों में भी 'नातसी' प्रभाव बढ़ रहा था। यूरोप में उदारवादी जनतन्त्र की उदासीनता से जो 'नात्सीवाद' का पौधा उगाया गया था, उसके बीज समय की आँधी के साथ उड़कर ईराक़ में भी फैल गये थे। उसका कारण यह था, कि ईराक़ नेतृत्व तथा राजनैतिक दल जब सन्धियॉ करती थीं, तो उनमें पूर्ण 'स्वतन्त्र माँग' कम रहती थी, सुविधाओं की माँग अधिक रहती थी। जिससे नौजवान उसे 'क़बूल' नहीं करते थे, तथा वह हथियार उठाये रहते थे। उसी से धीरे-धीरे वर्तमान 'आतंकी' आत्मा जन्म ले रही थी।

ब्रिटिश हकूमत अपनी नीति के अनुसार बदलाव करती रहती थी। उसने दंगों के बाद, 'आर्नोल्ड बिल्सन' को हटा कर "सर पर्सी कोक्स" को ईराक़ का उच्च आयुक्त बना दिया तथा 23 अगस्त 1931 ई० को, "शरीफ़ हुसैन" के पुत्र अमीर फ़ैज़ल को जिसे फ्राँसीसी सरकार ने 'दमिश्क' से निकल दिया था। 'ईराक़' का राजा घोषित कर दिया। लेकिन ब्रिटिश हकूमत ने 'मेण्डेण्ट' समाप्त नहीं किया। 'राजा' बनाने की ऐतिहासिक घटना एक सोची समझी साम्राज्यवादी चाल थी, जो 'ईराक़ी' देश भक्तों को सन्तुष्ट करने के लिये, चली गई थी।

इस सन्धि में, तमाशा यह था, कि 'राजा' को ब्रिटिश उच्चायुक्त के इशारें पर चलना पड़ता था। ब्रिटिश सरकार के 'वित्तीय' नियन्त्रण तथा विदेशी विभाग उच्च आयुक्त स्वयं संभाले हुये थी। ब्रिटिश 'सलाहाकार' मंत्रियों पर हावी थे। इससे ईराक़ी 'राष्ट्रवाद' उबाल पर आ गया। स्वयं "फ़ैज़ल" जो अंग्रेज़ों की कृपा से राजा बना था, अंग्रेज़ी हकूमत से ख़ुश नहीं था। उसी से आन्दोलन की आग इन्क़लाबी मौक़ों के साथ ब्रिटिश साम्राज्यवादियों से लोहा ले रही थी। 'सन्धि' बेबसी में अकेली पड़ गई थी। आन्दोलनकारियों ने 'ईराक़' में पूर्ण "स्वतन्त्रता" की माँग का जो बिगुल बजा दिया था, वह 'राष्ट्रता' के साथ 'क्रान्ति' की ज्वाला को भड़का रहा था। ब्रिटिश सरकार को आन्दोलनकारी जनता पर चार-बार बम वर्षा करनी पड़ी। राष्ट्रवादी नेता "हम्दी अल पचाहजी" आदि 5 राष्ट्रवादी नेताओं को देश निकाला दे दिया गया। यहाँ तक कि "फ़ैज़ल" को भी चेतावनी दे दी गई। चापलूसों, और अंग्रेज़ी चाटूकारों के कारण 'सन्धि' को, विधान सभा में 37 मत प्राप्त हुये, विरोधियों को 24 मतों से सन्तुष्ट होना पड़ा तथा तटस्थ रहने के कारण तथा 31 के अनुपस्थित रहने के कारण सन्धि को मान्यता मिल गई।

इसमें अंग्रेज़ों के चाटूकारों का बहुत बड़ा हाथ था। 'ईराक़ी राष्ट्रवादी' इस सन्धि से सन्तुष्ट नहीं थे। उन्होंने अपना अभियान जारी रखा।

उस काल में ईराक़ में, अंग्रेज़ों की कठपुतली सरकार काम करती रही। उस सरकार से 'नौजवान' वर्ग बिल्कुल नाख़ुश था। इसीलिये वह युवा वर्ग से हथियार उठाने की बात करता रहता था, लेकिन वह वर्ग जानता था कि आमने-सामने की लड़ाई साम्राज्यवादिता से आसान नहीं थी, इसलिये आधुनिक ढंग से वह घात लगाकर हमलों के पक्ष में थे। 1828 ई० में ईराक़ की सरकार ने, ब्रिटिश सरकार के सामने माँग रखी, कि बाहरी तथा भीतरी राष्ट्र सुरक्षा के अधिकर उन्हें दिये जायें, तथा सेना से ब्रिटिश नियंत्रण तुरन्त समाप्त किया जाये। उसके बदले ब्रिटिश सरकार ने भी अनेकों 'शर्तें' ईराक़ी सरकार के सामने रख दी, जिसे 'ईराक़' की सरकार ने अस्वीकार कर दिया। तीन महीने तक कोई भी शासन वहाँ नहीं रहा। उच्चायुक्त ही वहाँ शासन करता रहा। उस काल के नये उच्चायुक्त सर "गिलवर्ट" ने ईराक़ी नेतृत्व से आपसी समझौते का फिर प्रस्ताव

रखा। अतः गतिरोध दूर करने के लिये 1930 ई० की आपसी सन्धि का मसौदा तैयार किया गया, जिसके अनुसार (1) ब्रिटेन 'हल्वानिया' 'शुआईवा' के हवाई अड्डे' पर अपना नियन्त्रण बरक़रार रखेगा और ईराक होकर सेना और सैनिक समान वहाँ ले जा सकेगा (2) युद्ध में ईराक़ को ब्रिटेन की मदद करनी अनिवार्य होगी। (3) ब्रिटिश राजनीतिक प्रतिनिधि को और देशों के मुक़ाबले विशेषाधिकार होंगे, और उसका दर्जा भी श्रेष्ठ होगा। (4) ब्रिटेन ईराक़ को सैनिक सहायता देता रहेगा तथा उसके सैनिकों को प्रशिक्षण भी देता रहेगा। सैनिक प्रशिक्षण में ब्रिटेन की प्राथमिकता बनी रहेगी। (5) ब्रिटेन लीग ऑफ नेशन्स की सदस्यता के लिये ईराक़ का प्रस्ताव रखेगा।

'ईराकी' नौजवानों ने और राष्ट्रवादियों ने इसका घोर विरोध किया, लेकिन संसद में नवम्बर 1931 ई० में इस सन्धि को मान्यता दे दी गई। मेण्डेण्ट समाप्त कर दिया गया और 1932 ई० में ईराक़ "लीग ऑफ नेशन्स" का सदस्य बन गया।

ईराक की स्वतन्त्रता अधूरी थी

ईराक़ स्वतन्त्र हो गया, लेकिन ब्रिटिश 'साम्राज्यवाद' ने सत्ता बड़े ज़मींनदारों, तथा उच्चकोटि के व्यापारियों के हाथ में दी थी, जो अपनी स्वार्थी इच्छाओं की पूर्ति के लिये जोड़-तोड़ करते रहते थे। सरकारें बनती रहती थीं और उन्हीं की 'इच्छा' से टूटती रहती थीं। ईराक़ी स्वतन्त्रता एक ओर जहाँ, ब्रिटिश साम्राज्वादियों के पंजे के नीचे, दबी पीड़ा और ग़रीबी से तड़फ रही थी वहीं, दूसरी ओर बड़े ज़मींनदारों और धनी लोगों के ज़ुल्म से पीड़ित हो रही थी। आम जनता इससे बेहद दुखी थी। दूसरी और बड़े जमींनदार, 'क़बीलेदार' तथा बड़े व्यापारी धन और बाहुबल के द्वारा 'ईराक़' की राजनीति पर नियन्त्रण बनाये हुये थे। बड़े लोग 'क़बीलों' को भड़काकर अशान्ति फैलाते रहते थे। उच्च वर्ग का वह जनतन्त्र असहाय खड़ा देखता रहता था।

सन् 1921 ई० से लेकर 1931 ई० तक 'ईराक़' में 15 सरकारें बनी और बिखर गईं। इसी तरह 1933 से लेकर 1936 तक 21 सरकारें सत्ता में आई और टूट गईं। इस असहाय अवस्था में वहाँ, 'जनतन्त्र' दया का पात्र बन गया था।

आतंक और सैनिक तानाशाही का उदय

जर्मन, उस काल में, पंश्चिमी एशिया में एक नया खेल खेल रहा था, जहाँ ब्रिटेन फ्राँस ने 'जनतन्त्र' की पहरेदारी का दावा करने के बाद भी अपनी, दूसरे देशों में शोषण करने की मनोवृति नहीं छोड़ी थी, वहीं 'जर्मन' नौजवानों को नात्सीवाद की ओर ले जा रहा था। इस 'द्वन्द' में पश्चिम एशिया के देश बुरी तरह फॅसते चले जा रहे थे।

ईराक़ी जनता में अंग्रेज़ों के विरूद्ध उनकी शोषण मनोवृति के कारण, भयंकर असन्तोष था। 'सन्धि' के बन्धनों में बन्धकर अंग्रेज़ो को जो विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई थीं, उससे ईराक़ के नौजवानों में विशेष उत्तेजना थी, उधर ईराक़ में धुरी राष्ट्रों का, अंग्रेज़ों के विरूद्ध भडकाऊ प्रचार ज़ोरो पर था, उस काल में 'जर्मन' रेडियो नात्सीवाद का प्रचार बढ़ चढ़कर कर रहे थे, साथ ही साथ नात्सी नेता, 'ईराक़' का दौरा भी कर रहे थे। 'ईराक़' की खराब हालत का ज़िम्मेदार अंग्रेज़ों को ठहराते हुये, जर्मन दूत डॉक्टर ग्रोवा युवा ईराक़ी राष्ट्रवादियों को भड़काने में लगा हुआ था। 'जर्मन' फिल्में सरेआम दिखाई जा रही थीं। परिणामस्वरूप ईराक़ के नौजवान अंग्रेज़ों से नफ़रत करने लगे थे। 'अप्रैल' 1939 ई० को, फ़ैजल का पुत्र ग़ाज़ी एक मोटर दुर्घटना में मारा गया, उसे 'ईराक' जन्ता ने दुर्घटना न मानकर, अंग्रेज़ों पर उसकी हत्या का इल्ज़ाम लगा दिया जिसके कारण 'ईराक़' में अंग्रेज़ों कें विरूद्ध 'विद्रोह' हो गया, जिसे बड़ी कठिनाई से अंग्रेज़ों ने दबाया था।

कहने का अर्थ है, हवाएँ बदल रही थीं और धीरे-धीरे जो 'दीपक' 'जनतन्त्र' का जलाया गया था, वह तेज़ आँधियों में बुझने की तैयारी में था।

परिणाम यह हुआ, 1941 ई० को 'रशीद अली' गीलानी ने चार अन्य अफ़सरों के साथ मिलकर ईराक की प्रभु-सत्ता पर अधिकार कर लिया। उसकी सरकार ने 'धुरी राष्ट्रों' के प्रति दोस्ताना तालुक़ात स्थपित कर लिये। उसने ब्रिटिश सेना को भी 'ईराक' से गुज़रने से रोक दिया।

जब ब्रिटिश सेना ने उस पर हमला किया तो, रशीद अली ने अपने दोस्त जर्मन से मदद की गुहार की, जर्मन ने कुछ हवाई जहाज भेजे भी, लेकिन अंग्रेज़ी सेना के सामने वह ठहर न सके।

रशीद अली वहाँ से भाग गया, और उसके बाद की सरकारें ब्रिटिश हितों के साथ ही रहीं। 1943 ई० को ईराक ने भी "धुरी राष्ट्रों" के विरूद्ध युद्ध छेड़ दिया। 1945 ई० में 'ईराक़' ने संयुक्त चार्टर पर हस्ताक्षर कर दिये। समय गति के साथ आगे बढ़ता गया। लेकिन ईराक़ को वर्तमान में अमेरीका से छुटकारा नहीं मिला।

अब साम्राज्यवादियों की दृष्टी इराक़ी तेल के भण्डारों पर लगी थी। क्योंकि अब पैट्रोलियम का युग आरम्भ हो गया था। १९२७ में किरकुक का तेल का कुआँ चालू हो गया, उसके बाद तो ईराक़ तेल के मामले में धनी देश बन गया। आधुनिक युग आते-आते 'तेल' विश्व की राजनीति का आधार बन गया।

आधुनिक आतंकवाद की जननी है, फ़िलीस्तीन में यहूदी राज्य की स्थापना

ब्रिटेन ने 'फ़िलिस्तीन' को मेण्डेण्ट के लिये, विशेष रूप से चुना था क्योकि 'यूरोपियन साम्राज्यवाद' चाहता था, कि सदा के लिये कोई ऐसा सम्प्रदायक बीज बोया जाये जो, एशिया को चैन से न बैठने दे, और साम्राज्यवादियों की 'धुसपैठ' सदा ही मन-माने ढंग से वहीं बनी रहे। वह प्रथम स्थान फ़िलिस्तीन हो सकता था, जो 'आदिकाल' से, अनेकों तरह की 'ग़ुलामी' और शोषण देख चुका था।

इतिहास बोलता है, और 'यहूदी' यह मानते हैं कि "फ़िलीस्तीन उनका 'आदिम' स्थान है", यह उनके पूर्वजों की जन्म भूमि है। वह यह हक़ जताते हैं, कि 135 ई० में, ऐसा हमला हुआ कि वह बंजारा जिन्दगी गुज़ारने को मजबूर हो गये, उन्हें जगह-जगह भटकना पड़ा, जहाँ अनेको बार उन्हें समाप्त करने की योजनाएँ बनी उनके पूर्वजों के सर धड़ से अलग करके, यूरोप में तथा कई अन्य देशों में लाशों के ढेर लगा दिये गये। इतिहास कहता है, 135 ई० में, बार "कोखबा" के विद्रोह के दमन बाद उन्हें फ़िलीस्तीन में रहना नसीब नहीं हुआ। उन्हें वहाँ से निकाल दिया गया और वहाँ आकर मुसलमान 'अरब' बस गये। नैपोलियन ने भी जब फ़िलीस्तीन पर 1799 में आक्रमण किया तो यहूदियों को वहाँ बसाने का वचन दिया था। ब्रिटिश मंत्री लार्ड पामर्सटन ने भी 19 वीं सदी में यह प्रयास किया कि यहूदियों को फ़िलीस्तीन में बसाया जाये, तथा 1840 में 'उसमानी' सुल्तान को 'मिश्र' का भय दिखाकर डराया और यहूदियों को आर्थिक मदद देकर फिलीस्तीन में बसाने को उकसाया। लेकिन उसकी योजना सफल नहीं हुई। क्योंकि 1880 के लगभग रूस के ज़ार की हत्या हो गई, और उसका इल्जाम, यहूदियों पर लगाया गया। रूस में असंख्य यहूदी मार डाले गये, उसी के साथ-साथ रूस के आस-पास के क्षेत्रों में भी यहूदियों पर भयानक अत्याचार किये गये। उसी काल में फ्रॉस में ढेर ट्रेइफल का काण्ड हो गया, तभी से यहूदियों के मन में विभिन्न राष्ट्रयताओं में भटकने की बजाय अपना 'राष्ट्र' बनाने की अभिलाषा पैदा हुई।

यूरोप के इतिहास ज्ञाता कहते हैं। कि सब से पहले 'फ्राँस' ने, मानव अधिकारों की परिभाषा में यहूदियों को लाने की घोषणा की थी। यूरोपियन संस्कृति में, विशेषकर फ्राँस ने धर्मनिरपेक्षता के आधार पर यहूदियों के नागरिक अधिकार देने में पहल की थी।

यहूदी धर्म अति प्राचीन है, वह आस्ता रखते हैं, कि उनके पैग़म्बर 'मूसा' 'Mose' ने जो उनके सर्वप्रथम धर्म 'नेता' माने जाते हैं। लेकिन वह यह भी मानते हैं कि उनसे भी पहले, उनके और भी महान् पैग़म्बर हुये हैं। जिसमें अब्राहम ने ईसा से 1000 वर्ष पूर्व अपना स्थान (ur) उर छोड़ दिया था। वह 'अरब' स्थानों से भटकते हुये मुख्यतः मिश्र में जा बसे थे। वैसे वह लोग फ्राँस, जर्मन, रूस तथा दुनिया के अन्य देशों में, जैसे भारत आदि में भी पहुँच गये थे। लेकिन अपना कोई 'देश'

नहीं बना पाये थे। मिश्र के शक्तिशाली ईश्वरी आदेश के अनुसार उसे दासता से मुक्त कराया और उन्हें उस भूमि पर ला बसाया, जो "दूध और शहद" से 'लबालब' भरी हुई थी।

हज़रत 'मूसा' को ही 'जवोहा' अथवा 'यवोहा' जो सर्व शक्तिमान परमेश्वर हैं, दस आदेश (Ten Commandents) प्राप्त हुये थे। जिन्हें यहूदियों के धार्मिक ग्रन्थ में लिखा गया है, तथा उन्हें हिहिब् बाईबिल अथवा तालमद (Talmad) या तौरेतू भी कहते हैं। इसमें 29 पुस्तकों का संग्रह है, जिसे पुराना अहद नामा (Old Testmant) भी कहते हैं।

यहूदी धर्म, मानवता तथा नैतिक जीवन पर अधिक ज़ोर देता है। इस धर्म के अनुसार सम्यक 'आत्मा' से, अधिक महत्वपूर्ण 'सम्यक' आचरण है। यहूदी धर्म सन्यासी जीवन तथा बैरागी जीवन में विश्वास नहीं करता है, जो व्यक्ति संसार में शुद्ध आचरण करते हैं, उन्हीं को स्वर्ग में स्थान मिलता है। यहूदी धर्म ग्रन्थ संदेशवाद से मुक्त रहने में विश्वास करते हैं। यह तप तथा सन्यास द्वारा आत्मा और शरीर को पीड़ा पहुचाने में यक़ीन नहीं करते हैं।

अब तक के इतिहास के अध्यन से पता चलता है कि सभी धर्मों का 'रास्ता' मानवता की ओर जाता है। सभी विश्व धर्म का सार धर्मनिरपेक्षता की पगडण्डी पर चलते हुये, मानव कल्याण की घोषणा भी करते हैं।" सभी धर्म मानव प्रेम, स्नेह, रामानता विश्व-बन्धुत्व, सुविचार, सुवचन, तथा सदाचरण की शिक्षा देते हैं, लेकिन फिर भी 'मानवता,' संघर्ष और भटकाव में तड़फती रही हैं। ऐसा क्यों हुआ, यह प्रश्न आज भी सामने खड़ा है।

जहाँ तक फ्राँस में यहूदियों का समबन्ध है, वहाँ भी सदियों तक उनके साथ आर्थिक असमानता बनी रही तथा उन पर विशेष कर लगाकर अधिक कर वसूल करने की प्रथा भी फ्राँस में बनी हुई थी।

यहूदी धर्मानुयायी जो कबीलों की तरह दुनिया में वर्षों भटकते रहे

यह भी एक विचित्र अमानवीय घटना कही जाती है। उस काल में यूरोप में फ्राँस, जर्मन, रूस, तुर्की तथा अन्य एशिया के देशों में 'यहूदिवाद' एक निरन्तर चलने वाली समस्या बन गया था। यूरोप के, देश यहूदियों को निकालकर बाहर फेकना चाहते थे। यहूदियों का रूस, जर्मन, फ्राँस तथा अन्य योरोपियन देशों में भयंकर क़त्ले-आम हुआ। रूस में ज़ारशाही के ज़माने में यहूदियों की लाशों के ढेर लगा दिये गये। जर्मन में समस्त यहूदी क़ौम को मिटाने के लिये फ़ासिज्म और नाज़ीवाद के नारों के साथ 'असंख्य' यहूदियों को मौत के घाट उतारा गया। उनका इरादा साफ़ था कि यहूदियों को यूरोप से निकाल कर एशिया में फेंक दिया गया।

लेकिन फ्राँस में एक तरफ़ जहाँ फ्राँसीसी साम्राज्यवाद यूरोप और एशिया में तलवारें लिये घूम रहा था, वहाँ जनतन्त्रवादी तथा समतावादी बुद्धिजिवी वर्ग अपनी लेखनी से 'क्रान्ति' का इतिहास लिख रहा था।

फ्राँस में यहूदियों के साथ आर्थिक असमानता तथा नागरिक अधिकारों और मानवीय अधिकारों में भेद-भाव के विरूद्ध आवाज़ उठाई जाने लगी।

मानव अधिकारों की माँग करने से उसके किये प्रयासों में, यहूदियों को मानव अधिकारों के अन्तरगत लाने के प्रयास जारी हो गये। फ्रॉन्स की क्रान्ति ने यहूदियों के लिये, मानव अधिकारों के द्वार खोलने में पहल की थी। 27 सितम्बर, 1791 में फ्राँस में, यहूदियों को समस्त (Civil Rights) नागरिक अधिकार मिल गये थे। फ्राँस की क्रान्तिकारी सेनाओं ने, आगे जाकर हॉलैण्ड (Holland) में, (Jeuos) यहूदियों को 1796 में समस्त राजनैतिक अधिकर दिलाने का श्रेय लिया था। 'वेनिस'

में 1797 में नेपोलियन ने भी उन्हें राजनैतिक अधिकारों को दिलाने का श्रेय लिया था, जहाँ वह 'फ़तह' करता चला गया वहाँ उन्हें अधिकार भी दिलाता चला गया।

लेकिन, नेपोलियन के सामने ईसाई तथा यहूदियों के मतभेद, उभर कर समस्या पैदा कर रहे थे। नेपोलियन के सामने भी समस्या आई, जब वहाँ के किसान ग़रीबी की मार से पीड़ित थे, उनकी समस्त पैदावार अकाल में नष्ट हो गई थी। किसानों ने नेपोलियन से सहायता की प्रार्थना की, वहाँ के ज़मीदारों ने सहायता देने में मजबूरियाँ दिखाई। उस काल में, वहाँ का खेतीहर मजदूर बेरोज़गारी की मार से परेशान था, तब नेपोलियन ने बड़े साहूकारों को किसानों और खेतीहर मज़दूरों की सहायता करने का हुक्म दिया, तथा उन्हें आर्थिक सहयोग करने को कहाँ गया, जिससे किसान अपने यंत्र और खेती की आवश्यक वस्तुएँ ख़रीद सकें।

नेपोलियन के आदेश पर जर्मन के यहूदियों ने आगे बढ़कर किसानों को कर्ज़ तो दिया, लेकिन उसका ब्याज 16 प्रतिशत से अधिक था। ब्याज बढ़ता गया, इसके परिणामस्वरूप किसानों की समस्त ज़मीन ब्याज में ही निकल गई, और वह और भी परेशान तथा ग़रीब हो गये। नेपोलियन के पेरिस आने पर इस ज़ुल्म की शिकायत की गई, लेकिन जब तक नेपोलियन कोई निर्णय लेता या समस्या का समाधान करता, उससे पहले ही ईसाईयों ने हथियारों सहित यहूदियों पर हमला कर दिया, इस साम्प्रदायक विवाद में हज़ारों यहूदी मौत के घाट उतार दिये गये।

पेरिस आने पर नेपोलियन ने, इस समस्या को काउनसिल (Council) में उठाया, कुछ सदस्यों ने यहूदियों पर सख्त कार्यवाही करने को कहा, "लेकिन कुछ ने कहां कि "बहुत से यहूदी शान्तिपूर्वक रह रहे हैं, उनके साथ बदले की भावना से काम नहीं करना चाहिये।" नेपोलियन ने आदेश दिया कि 'यहूदी' साहूकार एक साल तक किसानों से किसी प्रकार के कर्ज़ की वसूली नहीं करेंगे। उसी समय 30 मई 1806 में, नेपोलियन ने सम्पूर्ण फ्राँस के मुख्य, तथा प्रमुख यहूदियों की एक सभा पेरिस में बुलाई, जिसमें ईसाईयों और यहूदियो के बिगड़ते हुये रिश्तों पर विचार किया गया। साथ ही साथ उन्हें यहूदियों के सम्पूर्ण फ्राँस में फैलाव को रोकने तथा उनके व्यवसाय निश्चित करने पर भी प्रकाश डाला गया।

पेरिस के सुन्दर शहर के, होटल "डीविली" के एक हाल में, जौलाई माह 1806 में, नेपोलियन और उसके सलाहाकारों सहित 111 सदस्य एकत्र हुये। उनकी विचारनीय समस्या थी, कि क्या यहूदियों और ईसाईयों में, आपस में हुई शादियों को मान्यता दी जाये ? क्या उनमें हुये तलाक़ को, सिविल प्रशासन मान्यता प्रदान करें ? क्या यहूदी नियन्त्रित क़ानून को सम्मान देते हैं ?

सभा ने नेपोलियन को ख़ुश करने के लिये, यहूदियों में प्रचलित पोलिगैमी (Polygamy) विवाह पद्धति पर प्रतिबन्ध लगा दिया गया। तलाक़ को उसी समय मान्यता दी गई जब सिविल कोर्ट (Civil Corut) उसे मान्यता प्रदान कर दें। ईसाईयों और यहूदियों में आपसी विवाह सम्बन्धों में बंधने को मान्यता दे दी गई।

नेपोलियन ने, काऊण्ट लूईस मोल (Count Louis Mol) कराने के लिये भेजा। उसने अपने भाषण में "सभा के निर्णय पर जो भावनाएँ प्रकट की गईं, वह बड़ी आशापूर्ण व इस प्रकार हैं। **आज सभा की सफलताओं पर सन्तोष और प्रसन्नता व्यक्त करने का दिन है, क्योंकि सदियों से विरोध से पीड़ित और जलते हुये मतभेदों में जीवन व्यतीत करती दो कौमें जीवन के निकट आईं हैं, और प्रसन्नता महसूस कर रही हैं। यदि आज सदियों पहले के हमारे पूर्वज स्वर्ग से निहार रहे हों। तो वह महसूस करेंगे कि उन्हें हमने पवित्र शहर में फिर से आबाद कर दिया है।"**

केवल, उसके लिये केवल राजशाही मोहर की ज़रूरत है। उसने, अपने भाषण में आगे कहा सम्राट चाहते हैं कि "सभा के निर्णयों को धार्मिक मान्यता प्रदान की जाये।"

इस समस्या पर विचार करने के लिये, उसने आगे कहा "शिष्ट और विशष्ट व्यक्तियों" मैं आपसे निवेदन करना चाहता हूँ कि "उन्हें इस समस्या के समाधान से खुशी होनी चाहिये, 6 अक्टूबर, को समस्त यूरोप के प्रतिनिधियों को सम्राट ने पेरिस में बुलाया। जिससे की ईसाई और यहूदियों की कठिन समस्या का समाधान हो सके। इसी के साथ ही यहूदी समस्त मानव अधिकारों के साथ फ्राँस सभ्यता के अंग बन सके।"

विशिष्ठ व्यक्तियों ने सहर्ष उनके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। उसने बड़े स्वाभिमान से कहा कि "20 अक्टूबर को, इतिहास में एक महत्वपूर्ण समस्या का अन्त होने जा रहा है, जो सदियों से हमारे पूर्वजों के समय से, और आज भी, हमारे समय में, हम उसके समाधान की उम्मीद नहीं करते थे, लेकिन सच मानिये, उसका समाधान होने जा रहा है। उसके समाधान की तिथी 20 अक्टूबर निश्चित कर दी गई है, जो एक महान् शक्तिशाली ईसाई देश की राजधानी पेरिस में, एक महान् सर्वशक्तिवान प्रभुत्ता सम्पन्न सम्राट के सुरक्षा कवच में, जो उस पर शासन करता है आपसी मतभेदों का समाधान होगा। उस दिन महान् ऐतिहासिक शहर पेरिस, दुनिया को दिखायेगा और एक नये इतिहास को अपने संरक्षण में लिखेगा।

स्मृतियों में समाने योग्य उस दृश्य का, जो 'इब्राहिम' के समय से आपसी तनावों और मतभेदों की जड़ रहा है उसका समाधान किया जायेगा। भविष्य के लिये, उज्जवलता, तथा विकास और ख़ुशहाली का द्वार खुलेगा।"

"A great event is about to take place, one which through a long series of centuries our fathers, and even we in our own times did not expect to see. The 20th October has been fixed as the date for opening of a great sanhedrin in the capital of most powerful Christian nation, and under the protecton of immortal prince, who rules over it, Paris will show the world a remarkable scene and the ever memorable event will open to the dispersed of the descentants of Abrahum a period of deliverance and prosperity."

लेकिन महान् 'सेन हैडरीन' (San Hedrin) उस उत्साह को आगे जीवित नहीं रख सके, उसकी मुख्य बजह यह थी, कि नेपोलियन और उसकी सेना जेना (Jena) में परशियन (Purssians) से युद्ध कर रही थी। उसी वजह से उसे सर्दी में जर्मन तथा पौलण्ड में रहना पड़ा। जहाँ से वह अपनी राजनैतिक शतरंज खेल रहा था। दूसरी ओर वह विभिन्न युद्धों में लड़ाई के मैदान में व्यस्त था। यद्यपि एक सप्ताह बाद सभा के निमंन्त्रण पत्र बाँटे गये और 9 फ़रवरी 1807 में, साधारण व्यक्तियों सहित उसमें 71 व्यक्तियों ने भाग भी लिया। सभा के बाद में ईसाईयों और यहूदियों को आपसी दुश्मनी समाप्त करने का सन्देश भी दिया गया। नेपोलियन के निर्देश पर, ही यहूदियों को लॉरेन्स (Lorains) और अलिस (Alsace) को छोड़कर, समस्त फ्राँस में, यहूदियों को धार्मिक स्वतन्त्रता प्रदान कर दी गई, उसी के साथ-साथ लगभग 10 साल के लिये यहूदी साहुकारों पर कुछ प्रतिबन्ध भी लगा दिये गये, साथ ही साथ महिलाओं और फ़ौजियों तथा बच्चों पर से यहूदियों के समस्त कर्ज़ समाप्त कर दिये गये। कोई भी यहूदी बिना लाईसेन्स के व्यापार नहीं कर सकता था, तथा उसे अपने परिवार का नाम भी लिखना अनिवार्य होगा।

इतिहास कहता है। नेपोलियन ने यहूदियों को दूसरे नागरिकों की तरह समस्त नागरिक अधिकार प्रदान किये, जिससे उन्होने कला, विज्ञान, साहित्य, दर्शन तथा संगीत में, फ्राँस के विकास में विशेष योगदान दिया।

नेपोलियन की राजनीति

एक चतुर सम्राट होने के साथ-साथ चतुर राजनेता भी था। वह समय का लाभ उठाने के लिये मुसलमान बनकर घोषणा करता था जैसे की उसने मिश्र में किया था। जिसका वर्णन पिछले पृष्ठों पर किया भी जा चुका है, उसने मिश्र में प्रवेश लेते ही जनता को जो सम्बोधन किया, उसका आरम्भ उसने पवित्र कुरान की पवित्र पंक्तियों से किया : **दयालु महान् कृपालू प्रभु से आरम्भ किया, तथा अपने को नेपोलियन ने 'इस्लाम' की रक्षा करने वाला बताया। उसी तरह से नेपोलियन ने यहूदियों को उनका बड़ा हितेषी साबित करने की कोशिश की थी। वह दूसरे धर्मों की सहानूभूति लेकर अपनी सैनिक राजनीति को सफल बनाना चाहता था। जहाँ आवश्यकता पड़ती थी, वहाँ वह 'क्रान्ति' का दुश्मन बन कर, 'ईसाई धर्म का सबसे प्रथम समर्थक बन जाता था।**

नेपोलियन इतना चतुर था कि बड़े धर्म गुरूओं तक को प्रभावित कर लेता था, जैसा कि उसने मिश्र के प्रसिद्ध इतिहासकार शेख अब्दुर्रहमान अल-आसार को अपनी धर्मनिरपेक्षता से मोहित किया था।

यूरोप वाले यहूदियों को अपने देशों से निकालना चाहते थे

इतिहास में यह तथ्य साफ़ दिखाई पड़ता है, कि नेपोलियन सहित समस्त यूरोप की राजनीति यहूदियों को अपने देशों से निकालकर छुटकारा पाना चाहती थी। उसमें फ़्राँस, जर्मन, रूस तथा अन्य सभी छोटे-बड़े देश भी थे। उसी के साथ-साथ यहूदी भी सदियों से निरन्तर भटकते-भटकते तथा अनेकों तरह के अत्याचार सहते-सहते अपना अलग 'वतन' चाहते थे। भटकती ज़िन्दगी से तंग आकर, सदियों से यूरोप की मार खाते-खाते, अपनी कोई भी राष्ट्रीयता न होने के कारण एक धनवान, योग्य क़ौम 'बंजारा' (भटकाव) की ज़िन्दगी के असंख्य 'पहर' देख चुकी थी। विभिन्न राष्ट्रीयता और धार्मिक उन्मादों के हुये शिकार यहूदियों का प्रथम तथा दूसरे विश्व युद्ध की बर्बरता ने निराशा में डूबो दिया था। जातिवाद और धार्मिक उन्माद के शिकार यहूदियों ने संसार के किसी एक भाग में अपना 'राष्ट्र' अपना वतन बनाने की अभिव्यक्ति खुलकर ज़ाहिर की थी। उसके पीछे योरोपियन साम्राज्यवाद की कुटनीति भी काम कर रही थी। 1899 ई० वियाना के पत्रकार 'थयोदोर हेल्सर्ल' ने यहूदी पत्र को प्रकाशित करके, यहूदी राष्ट्र की परिकल्पना को यर्थात् में बदलने के स्वपन को साकारात्मक रूप दिया था।

संसार जान रहा था, कि विश्व भर के समस्त यहूदी एकता के सूत्र में बन्धते चले जा रहे थे। उन्होंने योजना-बनाकर, फ़िलिस्तीन में अपना 'राष्ट्र' **अप**ना 'वतन' बनाने की योजना को साकार रूप देने की कोशिश आरम्भ कर दी। उन्होंने **उसके** लिये एक राजनैतिक संगठन भी बनाया।

उस काल की राजनीति कुछ ऐसे चल रही थी, एशिया पर, विशेषकर पश्चिमी एशिया पर योरोपियन साम्राज्यवाद पूर्णतया छाया हुआ था। उसके साथ ही जब नव आर्थिक 'साम्राज्यवाद' का प्रमुख लम्बरदार अमेरीका भी अपने आर्थिक स्वार्थ के लिये, 'इस्लामिक दुनिया को एशिया में शक्तिशाली होने देना नहीं चाहता था। इसलिये अमेरीका यहूदियों की इस 'घटना' को बड़ी चतुराई से देख रहा था।

उस काल में समय के साथ विश्व भर के यहूदी एकत्र हो यहूदी राज्य बनाने के उन्माद में थे।

बीसवीं सदी आरम्भ हो गई थी, युद्ध और तोड़फोड़ की 'राजनीति' ज़ोरों पर थी। पुराने ज़ख़्मों पर नमक छिड़क कर, नये 'ज़ख़्म' हरे किये जा रहे थे। उसी में, कलह की आँधियों के मध्य एक घर बनाने के लिये यहूदियों को यूरोप से हवा ज़ोरों के साथ दी गई थी।

बीसवीं सदी के आरम्भ में, मैनचेस्टर विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र के प्रौफ़ेसर डॉ० "हय्यिम बाइज़मान" और अमेरीका के एक एडवोकट 'ब्राईन डेश' ने ब्रिटिश और अमेरीकी सरकारों को यहूदी राज्य, फ़िलीस्तीन में बनाने को राज़ी कर लिया। उसके परिणामस्वरूप, ब्रिटिश हकूमत

के प्रधानमंत्री बेलफ़ोर ने 2 अक्टूबर 1917 को घोषणा कर दी कि "बिटिश सरकार यहूदियों से, फ़िलीस्तीन में अपना राज्य बनाने के मसले पर पूर्ण सहानुभूति रखती है तथा यहूदी राष्ट्र बनाने में उनकी पूर्ण सहायता करेगी, किन्तु ऐसा कोई भी कार्य नहीं किया जायेगा, जिससे ग़ैर यहूदियों की भावनाओं को ठेस पहुँचे तथा अन्य देशों के रहने वाले यहूदियों के राजनैतिक स्थान या अधिकारों की क्षति हो।"

अरबों की आँख खुली तथा उनमें घबराहट

ब्रिटिश हकूमत की "व्यापारिक नीति" तथा "फूट डालों और राज्य करों" नीति के अनुसार फिलीस्तीन में योरोपियन साम्राज्यवादियों की योजना के अनुसार काम चल रहा था तथा उसी के साथ-साथ इस्लामिक दुनिया के साथ-साथ, पश्चिमी एशिया की शान्ति भंग करने की योजना भी बराबर चल रही थी। उसके लिये उन्माद और नफ़रत की खेती तैयार करने के लिये फ़िलीस्तीनियों की धरती तैयार की जा रही थी। एक तरफ़ योरोपियन साम्राज्यवादियों, की मुख्य योजना यूरोप से, यहूदियों को निकालना था तो दूसरी ओर अमेरीका तथा ब्रिटिश अपनी 'सैनिक' धरातल फिलीस्तीन में बनाना चाहते थे। जहाँ उनका उद्देश्य, फ़िलीस्तीन में यहूदियों का बसाना था, वहीं उनका उद्देश्य एशिया में अपनी आर्थिक हितों की रक्षा करना भी था।

इग्लैण्ड के प्रधानमंत्री वेलफेर की योजना की घोषणा से अरबों में उत्तेजना फैल गई, उससे 'मक्का' के शरीफ़ हुसैन की नीद टूट गई, उसने अंग्रेज़ों से उपरोक्त घोषणा की सफ़ाई चाही। अंग्रेज़ों ने यह बात साफ़ कर दी कि 'अरबों' के हितों को नुक़सान नहीं होने दिया जायेगा, लेकिन यह अंगेजों की एक चाल थी, जो आगे जाकर, साम्प्रदायकता की खतरनाक विष बेल बन गई।

मक्का के शरीफ़ हुसैन की भी बहुत सी महत्वाकाँक्षा थीं, वह भी सम्पूर्ण अरबों का नेता बनने की 'इच्छा' लिये कार्य कर रहा था। यदि उसके रास्तें में कोई बाधा थी तो वह फ़िलिस्तीन के 'अरब' उसकी इच्छा 'पूर्ति' में ख़तरा बने हुये थे। इसलिये उसने आगे क़दम नहीं बढ़ाये और वह अंग्रेज़ों की दलील से सन्तुष्ट हो गया। 1919 में उसके पुत्र फ़ैज़ल ने डॉ० वाइज़मान से फैसला कर लिया।

समय का चक्र आगे बढ़ रहा था, तुर्की और अंग्रेज़ों के मध्य हुये क़रार के अनुसार अंग्रेज़ों का सैनिक अधिकार फ़िलिस्तीन पर बना हुआ था। 20 अप्रैल 1920 को "मेण्डेट" मिलने के बाद, ब्रिटिश कम्पनी ने उसे 29 सितम्बर 1923 में उसे लागू कर दिया। इस मेण्डेट की दूसरी धारा के अनुसार "वेलफ़ोर" की घोषणा को उसमें भी दोहराया गया, तथा उसे लागू करने की बात, उसमें साफ़तौर पर कहीं गई थी। उस धारा के अनुसार यहूदियों को फ़िलिस्तीन में बसने का अधिकार दे दिया गया था! अब क्या था, विश्व में फैले तथा अपने 'राष्ट्र' का स्वपन देखने वाले 'यहूदी' बड़ी प्रसन्नता और आन्तरिक सफलता के साथ, सदियों से बिछड़ी पितृ भूमि की ओर लौट रहे थे। उनमें अन्नत तथा अजीब सा उत्साह था, यहूदी लोग 'फ़िलिस्तीन' में आकर ज़मीन ख़रीदने लगे और धीरे-धीरे वहाँ आकर अपना आशयाना बसाने लगे। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप 'अरबों' में उत्तेजना फैलने लगी। फ़िलस्तीन 'धरती पर' आग लगने, की तैयारी-यूरोपियन साम्राज्यवादियों ने पूरी कर ली थी, उस उत्तेजना का धुआँ साफ़ दिखाई दे रहा था। एक ओर फ़िलिस्तीन में, 'यहूदी' नगरी पर नगरी बसने लगी थी तथा दूसरी ओर 'अरबों' में बेचैनी बढ़ने लगी थी, वह भी संगठिन होने लगे थे। 'साम्प्रदायकता, की तलवारें म्यान से बारह आने लगीं थीं, एक तूफ़ान उठने की तैयारी थी।

उस काल में वहाँ 'अरबों' के दो दल थे, जो क्रमशः 'नशाशिवी' तथा 'हुसैनी' परिवारों पर निर्भर थे। 'नशा' यहूदियों से इतनी नफ़रत नहीं करते थे, लेकिन हुसैनी उन्हें तनिक भी बर्दाश्त करने को तैयार नहीं थे।

'ब्रिटिश' सरकार 'हुसैनी' दल के 'तेवर' पहचान गई। अंग्रेज़ों ने एक कूटनीतिक चाल चली, हुसैनी दल को ख़ुश करने के लिये, हुसैनी परिवार के एक प्रभावशाली सदस्य "हज्ज अमीन" को ब्रिटिश उच्चायुक्त सर "हर्बट सेयुएल" ने, 'येरूशलम' का 'मुफ्ती' बना दिया, लेकिन मुसलिम जन्ता ने उसे अंग्रेज़ों का "दलाल" कह कर पुकारा और उससे घृणा करने लगे।

दूसरी ओर, फिलीस्तीन में बाहर के सामन्ती लोग, ग़रीब किसानों पर अत्याचार करते थे, उन्हें शोषण से बचाने का लालच देकर यहूदी लोग 'ग़रीब' फ़िलीस्तीनी जनता की हमदर्दी प्राप्त करने का प्रयास कर रहे थे। अंग्रेज़ तथा यहूदी साहूकार मिलकर फिलिस्तीन में 'अरबों' के विरूद्ध अपनी शतरंज बिछा रहे थे। धन और दौलत के बल पर 'यहूदी' और ब्रिटिश हकूमत प्रचार कर रही थी कि फ़िलिस्तीन के अरबों में और यहूदियों में कोई मौलिक भेद नहीं है। वह दोनो 'क़ौमे' भाई-भाई हैं।

उस काल में, 'अरबों' की आपसी दुश्मनी का लाभ उठाकर, यहूदियों ने अपने लक्ष्य की ओर बढ़ना आरम्भ कर दिया। यहूदियों के उग्रवादी दल भी यह प्रचार करने लगे कि 'अरब' और 'यहूदी' फिलिस्तीन धरती पर भाई-भाई की तरह रहेंगे। यहूदी भी यह कहने लगे जो वैमनस्य दिखाई पड़ता है वह अंग्रेजों की ही देन है, लेकिन सत्य यह है। दोनों धर्मों के मध्य नफ़रत की आँधी तेज होती जा रही थी। अरबों के मन में सन्देह बढ़ता जा रहा था, और उनके मतभेद बढ़ते जा रहे थे। उसके परिणामस्वरूप 1920 में, साम्प्रदायिक दंगे तेज हो गये। उन दंगों में हजारों जानें गईं। अब ब्रिटिश हकूमत में भी बेचनी आरम्भ हो गई। 1922 में, चर्चिल श्वेत पत्रजारी किया जिसमें 'अरबों' को आश्वासन दिया गया। कि उनके हितों की पूर्णतया हिफ़ाजत की जायेगी। उससे कुछ वर्षों तक आपसी शान्ति बनी रही।

धीरे-धीरे यहूदियों की संख्या फिलिस्तीन में 8,000 से बढ़कर 1928 में 18,000 हो गई। साथ ही साथ, आर्थिक संसार में 'अरब गरीब होते गये और यहूदी किसानों ने खेती और उद्योग-क्षेत्रों में विशेष तरक्की आरम्भ कर दी।' उनके बड़े-बड़े खेती फार्म उनकी खुशहाली के परिणाम थे।

फिलीस्तीन में यहूदियों की दुनिया बसने लगी

1933 में यूरोप ने, विशेषकर जर्मन ने 'नास्ती शासन' के अन्दर बर्बरता की सभी सीमाएँ लांघ कर यहूदियों का कत्ले आम आरम्भ कर दिया। वहाँ यहूदियों पर अत्याचार की झड़ी लग गई। जर्मन से तथा यूरोप के अन्य देशों से, यहूदी, फिलिस्तीन की ओर चल दिये। फिलिस्तीन में मेण्डेट लागू होते ही, 1932 तक 9,000 यहूदी फिलिस्तीन पहुँचते थे तो 1933 में ही 30,000 यहूदी फिलिस्तीन में पनाह लिये हुये थे। 1935 में 65,000 यहूदी, फिलिस्तीन के राष्ट्रीय आंगन में आकर बस गये। उसके अलावा हज़ारों की तादाद में यहूदी चोरी से फिलिस्तीन में आ बसे। अब यहूदियों की संख्या फिलिस्तीनों की जनसंख्या का 1/4 हो गई थी। उम्मीद की जाती थी कि 1952 तक उनकी जनसंख्या अरबों के बराबर होने की सम्भावना थी।

फिलिस्तीन में दो राष्ट्रों की समस्या पैदा हो गई

फिलिस्तीन में, यहूदियों की बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण योरोपियन साम्राज्यवादियों, की योजना के फलस्वरूप फिलिस्तीन में, धर्म के आधार पर दो 'राष्ट्र' बन गये थे। एक 'राष्ट्र' 'अरब'

राष्ट्र का परचम लेकर अपने पक्ष में दलील दे रहा था, तो दूसरा "यहूदी राष्ट्रवाद" अपने वजूद को फ़िलीस्तीन में क़ायम करने के लिये अपना झण्डा लहरा रहा था। एक अनोखी बात थी, ब्रिटिश साम्राज्यवाद से दोनों ही छुटकारा पाना चाहते थे, लेकिन 'अरब' और यहूदियों के लक्ष्य अलग-अलग थे।

उस काल में अरब और यहूदी दोनों ही एक दूसरे से छोटी-छोटी बातों पर टकराने लगे। 1928, में, एक पुरानी इमारत की दीवार के कारण भयंकर साम्प्रदायक दंगा हो गया। उससे ज़हरीलें साम्प्रदायिक नारे लगने लगे। उसके बाद, 1929 में अरबों और यहूदियो में बर्बर ख़ूनी संघर्ष हो गया, जिसमें, 1933 यहूदी मारे गये, तथा उनके 6 कृषि फ़ार्म नष्ट हो गये। जिसमें 7 'अरब' भी क़त्ल कर दिये गये तथा एक मस्जिद भी शहीद हो गई।

उस काल में, दोनों वर्गो में झगड़े बढ़ते चले जा रहे थे। ब्रिटिश सरकार की चिन्ता बढ़ती चली जा रही थी। उसने उपरोक्त हिंसक घटनाओं की जांच के लिये एक कमीशन नियुक्त किया। उसने अपनी रिपोर्ट में फ़िलिस्तीन में यहूदियों के आगमन पर रोक लगाने का प्रस्ताव रखा। उसने 'अरबों' की आर्थिक् दशा की लगातार गिरावट पर भी चिन्ता ज़ाहिर की थी, तथा साथ-ही साथ प्रस्ताव रखा कि 'अरबों' को खेती-बाड़ी के सुधार के लिये आर्थिक सहायता दी जाये।

ब्रिटिश सरकार का, 1930 में पास किया हुआ, "श्वेत पत्र" इस बात का सबूत है कि 'अरबों' की जमीनें, उनकी ग़रीबी के कारण अधिक तादाद में यहूदी ही ख़रीद रहे थे, जिसमें 'श्वेत पत्र' में, उस पर रोक लगाने का प्रस्ताव रखा था। स्वेत पत्र में, 'फ़िलिस्तीन' राष्ट्र में यहूदियों के धड़ा-धड प्रवेश पर भी विशेष चिन्ता जताई थी, लेकिन यहूदी "श्वेत पत्र" के सुझावों को मेण्डेट के विरूद्ध बताते थे। फ़िलिस्तीन में निरन्तर तनाव बढ़ रहा था और 'शान्ति' व्यवस्था की पूर्णतय हत्या करने की साम्राज्यवादी साज़िशें बरक़रार थीं और निरन्तर चल रही थीं।

ब्रिटिश संसद का यहूदियों को बढावा

उस काल में, ब्रिटिश संसद में, 'टोरी' विरोधी दल के नेता बाल्डचिन, चर्चिल, आऊस्टन तथा चेम्बरलेन ने खुले आम संसद में यहूदियों का पक्ष लिया और ब्रिटिश सरकार से मेण्डेट का पालन करने को कहा! उस समय के ब्रिटिश प्रधानमंत्री रेम्ज़े मेकडोनल्ड ने संसद को आश्वासन दिया कि सरकार की नियत यहूदियों को ज़मीन ख़रीदने से वंचित करना नहीं है, वह यहूदियों के आगमन पर पाबन्दी भी लगाना नहीं चाहती। ब्रिटिश प्रधानमन्त्री रेम्ज़ें मकोडोनल्ड ने अपना आगे मत व्यक्त करते हुये कहा, कि सरकार तो, ऐसा निजाम चाहती है, जिससे दूसरों के अधिकारों का भी हनन न हो। इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि सरकार 'अरबों' के साथ कोई सहानभूति नहीं रख रही थी, उसकी मंशा यहूदियों को फ़िलिस्तीन में बढ़ावा देना ही था।

अरबों में तथा यहूदियों में तनाव तथा संघर्ष चरम सीमा पर

ब्रिटिश शासन के पक्षपात भरे आचरण से 'अरबों' की उत्तेजना बढ़ती चली गई, उन्हें अपनी आज़ादी और अपने अस्तित्व की बेहद चिन्ता हुई। फ़िलिस्तीन में अंग्रेज़ों, की दो रंगी नीति से और चलन से, एक शान्तप्रिय राष्ट्र में वर्षों, की ऐतिहासिक घटना को जीवित करके, अंग्रेज़ और योरोपियन साम्राज्यवाद, फ़िलिस्तीन और एशिया में अशान्ति की नींव रख रहा था, जो भविष्य को निरन्तर सताती रहेगी। जब कभी और कहीं भी धर्म के नाम पर "दो 'राष्ट्र" के सिद्धान्त को मान्यता साम्राज्वादी सत्ता पक्ष दे देता है, और साथ ही साथ उनमें समन्वय की बात भी करता है, तो वह उस साम्राज्वाद का ढ़ोग ही कहा जायेगा। ब्रिटिश साम्राज्यवाद ने यह नहीं सोचा था,

कि 'मेण्डेट' ही पश्चिमी एशिया की अशान्ति का कारण बन जायेगा, उससे विकास या सुधार नहीं होगा, विनाश होगा, आतंक बढ़ेगा और हिंसा का 'ताण्डव' विश्व को जीने नहीं देगा। ब्रिटिश और योरोपियन साम्राज्यवादियों ने, यहाँ तक की 'अमेरीका' ने भी यह ख़्याल नहीं किया कि यदि यहूदियों को समस्त यूरोप और रूस से लाकर फ़िलिस्तीन में बसा दिया गया, तो वहाँ के 'अरबों' का क्या होगा ? क्या वह आसमान पर जाकर रहेंगे ? यह सही है, कि सदियों से भटकते यहूदियों को ऐसी धरती की ज़रूरत थी, कि जहाँ उन्हें अपना राष्ट्र बनाने की स्वतन्त्रता हो, लेकिन उन्होंने यह नहीं सोचा कि वहाँ पर सदियों से रहने वाले 'अरबों' का क्या होगा ? सदियों से फिलिस्तीन की धरती पर रहने वाले 'अरबों' को बेधर क्यों कर दिया जाये ? सदियों पुराने जख्मों को ख़ंजरों से खोद-खोद कर हरा क्यों किया जाये ? जर्मन, फ्राँस और स्वयं में यहूदियो का कत्ल करने वाले सभ्य, जनतन्त्रवादी राष्ट्र, उन्हें अपने देशों से क्यों निकाल रहे थे ? जब कि वे लोग, वहाँ के सदियों पुराने नागरिक थे। अपने घर के उजाले के लिये वह पश्चिमी एशिया में अंधेरे क्यों कर रहे थे ? इन प्रश्नों का उत्तर इतिहास नहीं दे पाता है। यूरोप वहाँ समस्या पैदा कर रहा था। एशिया में मानवता को एक ओर जहाँ धार्मिक कट्टरवाद रौंद रहा था, वहीं योरोपियन शोधणकर्त्ता, एशिया के लोगों की ग़रीबों लाचारी, का लाभ उठाकर मनचाही गोटियाँ बिछा रहे थे। एशिया में मानवता के शत्रु वहाँ की जनता के धार्मिक आतंकवाद के कवच में रखकर चैन से नहीं बैठने देना चाहते थे।

फ़िलिस्तीन में मसलें की उलझी लड़ियों को, इस बेरहमी के साथ उलझाया गया था कि वह आज तक भी नहीं सुलझी हैं क्योंकि साम्राज्यवादी शक्तियाँ खुले आम आतंक और ज़ोर ज़बर्दस्ती को सहयोग कर रही हैं।

इस घटना चक्र से 'अरबों' में, बेचैनी बढ़ना स्वाभाविक ही था। इससे, फ़िलिस्तीन में नफ़रत की आग लग गई, यहूदियों और अरबों के संघर्ष में हज़ारों लोग मारे जाने लगे, एक दूसरे की सम्पत्तियाँ जलाई जाने लगीं, खेत ओर खलियान जलने लगे। मेहनत से उगाई गई फ़सलों की लूट आरम्भ हो गई तथा विनाश की आँधी चलने लगी। उस काल में, वहाँ छोटे, बच्चों का विलाप सुना जा सकता था, विधवाओं का क्रन्दन दिल दहलाने वाला होता था, लेकिन सत्ता में बैठे 'आक़ाओं' पर कुछ असर नहीं था।

उसी के साथ-साथ उग्रवादी यहूदियों ने भी हथियार उठा लिये तथा अधिक से अधिक यहूदियों को फ़िलिस्तीन में बसाने के लिये निमन्त्रण देने लगे। 'अरब' के नौजवानों ने भी आतंकी दस्ते तैयार कर लिये, जो क़त्लोग़ारत करने से नहीं डरते थे, वह भी सर पर 'कफ़न' बाँधे बेचैन हुये फिर रहे थे।

आग की लपटों में फ़िलिस्तीन

1936 में दंगों की आग में सम्पूर्ण फिलिस्तीन जलने लगा। हर तरफ़ अराजकता का साम्राज्य था। ब्रिटिश सरकार की ग़लत नीतियों से दो क़ौमें फ़िलिस्तीन में खुलेआम लड़ रही थीं। हज़ारों बेगुनाहों का रक्त बहाया जा रहा था। साम्प्रदायिकता के नोंकीले रक्त-रंजित नाख़ूनों पर इन्सानी ज़िन्दगियों के नोचने के निशान साफ़ देखे जा सकते थे, इतिहास साफ़ जानता है, उन्हें 'शह' कहाँ से मिल रही थी, तथा ख़ून बहाने के लिये इन्हें शाज़ कौन मोहिया करा रहा था !

उसके परिणामस्वरूप 1938 में आतंकवाद क्रूरता की चरम सीमा पर पहुँच गया। उस काल में 'आतंकवाद' की 5,700 घटनाएँ घटित हुई, जिसमें अपार धन और जान का नुक़सान हुआ। सरकार का 'दमन' चक्र 'अरबों' को चुन-चुन कर सज़ा दे रहा था, 100 से अधिक 'अरबों' को फाँसी

पर चढ़ा दिया गया। इस उठते हुये, धुएँ और आग के शोलों के फैलने के कारण, ब्रिटिश सरकार को फ़िलिस्तीन को दो भागों में विभाजित करने की योजना पहले से बन चुकी थी। जुलाई 1937 में, रायल कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में उल्लेख किया था, कि 'मेण्डेट व्यवस्था ही, आरम्भ से अन्त तक विवाद, पैदा करने के लिये ज़िम्मेदार है, तथा पूर्णतया दोषपूर्ण रही है। ब्रिटिश हकूमत ने यहूदियों और अरबों के मध्य दोहरी चाल चली थी, अरबों और यहूदियों से किये गये वायदे और क़रार, परस्पर विरोधी ही रहे थे। "रायल कमीशन ने अपनी रिपोर्ट में यह भी सिफ़ारिश कर डाली कि अरबों और यहूदियों को दो हिस्सों में बाँट दिया जाये। उस काल में, अरबों और यहूदों को 'दो राष्ट्रों' में विभाजित करने का प्रस्ताव ही भयंकर हिंसा के लिये ज़िम्मेदार था, जिसे 'बुडहैड' कमीशन ने बटवारें की योजना को अप्राकृतिक क़रार दिया। उस 'कमीशन' ने 'अरबों और यहूदियों का महासंघ बनाने का सुझाव रखा।"

सबसे बड़ी समस्या वहाँ निरन्तर यहूदियों के फ़िलिस्तीन में आने की थी। 1939 के लन्दन में, 'गोल मेज़' सम्मेलन में यहूदियों और अरबों ने महासंघ के प्रस्ताव को अस्वीकार कर दिया।

अब ब्रिटिश सरकार ने 'अरबों' को सन्तुष्ट करने के लिये एक 'श्वेत-पत्र' जारी किया, जिसमें कहा गया कि सरकार का इरादा यह बिल्कुल नहीं है कि फ़िलिस्तीन में यहूदी राज्य क़ायम किया जाये, क्योंकि ऐसा करना 'अरबों' के साथ किये गये वायदों का उल्लंघन होगा।

उस श्वेत-पत्र में यह भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया, कि पहले 5 वर्षों में 7,500 यहूदी ही, वहाँ आया करें, तथा बाद में उन्हें 'अरबों' की अनुमति से ही प्रवेश दिया जाये। दस वर्ष बाद वहाँ एक "स्वतन्त्र राज्य" बनाया जाये। फ़िलिस्तीन के भूमि ख़रीदने पर भी यह प्रतिबन्ध लगाया गया, कि बिना उच्चायुक्त की अनुमति के भूमि का क्रय, विक्रय अमान्य होगा।

यहूदियों ने इसका सख़्त विरोध किया और उनके विरोध के कारण ब्रिटिश संसद ने उपरोक्त प्रस्ताव को मान्यता प्रदान नहीं की थी। इस समय महायुद्ध आरम्भ हो गया और, यह समस्या और भी उलझती चली गई। उस काल में यहूदी, अंग्रेजों से बेहद नाराज थे, क्योंकि ब्रिटिश हकूमत ने, यहूदियों के जहाज़ को फ़िलिस्तीन में नहीं जाने दिया, और उसे मारीशस की ओर जाने को मजबूर किया था। वह जहाज़ काले सागर में, समाधी ले गया था जिसमें एक हज़ार यहूदियों की मौत के लिये ब्रिटिश हकूमत को दोषी ठहराया जा रहा था। उससे समस्त यहूदियों में बेचैनी और क्रोध की लहर थी, लेकिन, फिर भी 'यहूदी' दूसरे विश्व युद्ध में तन मन और धन से मित्र-राष्ट्रों के साथ लग गये थे, यह उनकी राजनैतिक होशियारी थी, उधर दूसरी ओर 'अरब' धुरी राष्ट्रों के हामी थे।

इतिहास बोलता है, कि आतंकवाद एक ओर दूसरे विश्व-युद्ध के माध्यम से मानवता पर क़हर बरसा रहा था, आकाश और धरती पर 'बारूदि' धुँआ ही धुँआ था, और इन्सानी ज़िन्दगियों को भयानक क्रूरता का सामना करना पड़ रहा था। मानवता को मौत जैसे सन्नाटे में, निराशा की जिन्दगी जीने को मजबरू कर दिया गया था। ऐसे में साम्राज्यवादी हकूमतें व्यापारिक कूटनीति से काम ले रही थीं, उनकी एशिया में बाँटों और राज्य करों की खुली नीति चल रही थी।

इज़राइल का 'जन्म' और आधुनिक 'आतंकवाद' को बढ़ावा

यहूदियों ने ब्रिटिश साम्राज्यवाद की उस काल में चली गई, चालों को नज़रअन्दाज़ करते हुये, मित्र राष्ट्रों को पूर्ण सहयोग देना आरम्भ कर दिया और 'अरब' फ़िलिस्तीन में अकेले पड़ गये। यहूदियों ने अपने सैनिक संगठन केवल बनाये ही नहीं, उन्हें मज़बूत भी किया। यहूदियों 'इस्गून' ज्वाई लेज़मी (राष्ट्रीय सैनिक संगठन) तथा 'हौगाना (प्रच्छग्न सेना) बनाई, जिसे आधुनिक हथियारों से सुसज्जित किया गया। अंग्रेज़ों ने इन्हें, पूर्ण सहयोग दिया, तथा आधुनिक छोटे हथियार बनाने के ठेके भी दिये। यहूदियों के पास धन की कोई कमी नहीं थी, उसने अपने ज़बर्दस्त आतंकी दस्तों को सैनिक रूप दिया 1942 में उन्होंने 'बिल्तमोर' योजना के अनुसार ब्रिटिश सरकार के सामने फ़िलिस्तीन में पूर्ण यहूदी राज्य बनाने और यहूदी सेना का गठन करने की माँग रखी। परिणामस्वरूप, 1944 में, समस्त फिलिस्तीन आतंकवाद की आग में जलने लगा। रेलवे लाईन, डाकघर तथा सरकारी संस्थान उड़ाये जाने लगे। यहूदी व 'अरबों' में, एक दूसरे पर आतंकी हमले होने लगे, 1944-45, में 'यहूदी' लोग आधुनिक हथियारों से सुसज्जित थे, गुरिल्ला युद्ध में पूर्ण प्रशिक्षित थे। सबसे पहले, आधुनिक 'आतंकवाद' की नई 'तकनीकी' और कार्यशाला का जन्म योरोपियन साम्राज्यवाद की 'शह' पर फ़िलिस्तीन की धरती पर ही हुआ था। जिसमें योरोपियन साम्राज्यवाद सफल भी हुआ था। 1944 में 31, अक्टूबर तथा 1 नबम्बर को ही, 153 रेवले लाईन ध्वस्त कर दीं गईं। पुलिस दलों पर घात लगाकर हमले किये जाने लगे, जगह-जगह प्रतिदिन हिंसा पराकाष्ठा पर पहुँच गई। योरोपियन साम्राज्यवाद ने, अपनी योजना के अनुसार, अपने द्वारा फैलाये साम्प्रदायक ज़हर को फ़िलिस्तीन की धरती पर 'अरब' और यहूदियों की नस-नस में भर दिया, जो उस काल में उनके सर चढ़कर बोल रहा था। लेकिन 'अरब' उस समय कमज़ोर और 'बेसहारा' था, क्योंकि समस्त योरोपियन साम्राज्यवादी शक्तियाँ, अमेरीका सहित यहूदियों के साथ खड़ी थीं। 1945 में यहूदी संगठित हथियार बन्द दस्ते इतने निडर हो गये थे, कि चाहें जहाँ हमले कर देते थे। उस काल में वहाँ आतंकी संग्राम ज़ोरों पर था, कानूनी व्यवस्था नाकामयाब हो गई थी, हिंसा की आग में समस्त फ़िलिस्तीन जल रहा था। 1945 में आतंकी दस्तों ने, ब्रिटिश उच्चायुक्त के दफ़्तर को उड़ाने की कोशिश भी की थी, और तीन पुलिस दलों को नष्ट कर दिया गया था। अराजकता के माहौल को जन्म देने वाली ब्रिटिश हकूमत, 1947 में, फ़िलिस्तीन का मामला संयुक्त 'राष्ट्र' संघ को सौंप कर आराम करने लगी थी। शायद, वह अपने में प्रसन्न थे कि उसने आतंकवाद और साम्प्रदायकता संघर्ष के वह बीज बोये थे, जो कभी भी एशिया को शान्ति से जीने नहीं देगें।

यहूदियों को दूसरे विश्व युद्ध में सहायता करने का इनाम

फ़िलिस्तीन समस्या को जन्म देने वाली साम्राज्यवादी शक्तियों ने बड़ी होशियारी से एशिया में जन्म जन्मान्तर के लिये, धार्मिक उन्माद और साम्प्रदायिता के कटीले, ज़हरीले आतंकी बीज़

बोकर उसके परिणामों पर शोध कराना चाहते थे। एक ओर 'जर्मन' में कुछ फॉसिस्ट शक्तियों ने यहूदियों का क़त्ले-आम करके लाशों के ढेर लगा दिये थे, तो दूसरी और योरोपियन साम्राज्यवाद एशिया को धार्मिक उन्माद और आतंकवाद का मैदान बनाने की तैयारी कर रहा था। यह भी कहा, जा सकता है, कि दूसरे विश्व युद्ध की 'विभिष्का' और 'अग्नि' की प्रचन्ड लपटों की मार से भयभीत शक्तियाँ, अपने को तीसरे विश्व युद्ध से बचाने के लिये उस आग को एशिया में फेंक रहा हो।

फ़रवरी 1947 में पूर्ण योजनाबद्ध तरीक़े से ब्रिटिश हकूमत ने फ़िलिस्तीन समस्या को, अराजकता' का बहाना लेकर, संयुक्त राष्ट्र की गोद में फेंक दिया और 29,नम्बर 1947 को संयुक्तराष्ट्र महासभा ने, फ़िलिस्तीन के विभाजन की रूप-रेखा मन्ज़ूर करली। साम्राज्यवाद ने अपनी योजना को सफल करके 'मेण्डेट' जैसी विभिष्का 14 मई 1948 को समाप्त कर दी।

14 मई 1948 की संध्या को नये राज्य इज़राइल का जन्म हो गया। यह एक ईनाम था यहूदियों को मित्र-राष्ट्रों की मदद करने का जिसमें रूस की भी मोहर लगी थी।

आतंकी साये बड़े होते चले गये

उस काल तक दुनिया के बहुत से देशों ने, आज़ादी को स्पर्श किया ही नहीं था, उनमें अधिकतर देश पंश्चिमी एशिया के ही थे, पहले उनमें बहुत से पंश्चिमी एशिया के देश 'उसमानी' 'साम्राज्य' की तलवार के साये में शोषण किये जाते थे, उसके बाद में प्रथम विश्व युद्ध के विजय उल्लास में, इंग्लैण्ड, फ्राँस 'मेण्डेट' की धार से उनकी एकता और स्वतन्त्रता को विभाजित कर रहा था।

जब दूसरे विश्व युद्ध का आरम्भ हुआ तब उसके दबाव से, 'मेण्डेट' जैसे शोषण शस्त्र से उन्हें निजात मिलनी आरम्भ हुई। धुरी राष्ट्रों के संरक्षक इटली, और जर्मन ने जब फ्राँन्स को प्रथम झटके में ही रौंद डाला, तब मजबूरन "मेण्डेट" के माया जाल से शाम और 'लेबनान' को छुटकारा मिला। 'ईराक से 'मेण्डेट' 1932 में, समाप्त किया गया। जैसा कि लिखा जा चुका है कि 1948 में इज़राईल राष्ट्र की स्थापना, की घोषणा के साथ मेण्डेट, को फ़िलिस्तीन से समाप्त किया गया था।

फ़िलिस्तीन में, इज़राईल के अस्तीत्व के आने से इस्लामिक दुनिया में उत्तेजना फैल गई

14 मई 1948 में 'इज़राईल' देश बनने, और असतित्व में आने पर दूसरे दिन जोर्डन, ईराक़ और मिश्र में क्रोध की ज्वाला भड़क उठी और उनकी सेनाओं ने इजराइल को नेस्तनाबूद करने के लिये उस पर हमला बोल दिया। पहले 'अरबों' की कुछ क्षेत्रों में विजय हुई, लेकिन आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित 'इज़राइल' सेना ने अरबों को केवल पीछे ही नहीं धकेला, बल्कि उन्हें परास्त कर दिया गया, और 'संयुक्त राष्ट्र' से मन्ज़ूर की गई, फ़िलिस्तीन धरती से एक चौथाई अधिक धरती पर अधिकार जमा लिया। उस संघर्ष के बाद नौ लाख से अधिक अरब लोग, शरणार्थी बन गये। वह लोग, अब बेसहारा बने इधर-उधर भटकने लगे।

जिस संयुक्त राष्ट्र की महासभा ने, दूसरे विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की मदद करने पर, यहूदियों को 'इज़राइल' 'राष्ट' की स्थापना का पारितोषिक दिया था, वह ही 'संयुक्त राष्ट्र', चुप-चाप, फ़िलिस्तीन की शान्ति के तार-तार होने का खेल देख रहा था। उसका भेजा हुआ 'शान्ति मिशन', वहाँ के आतंक का शिकार स्वयं ही हो गया था। क्योंकि शान्ति मिशन के नेता "काऊण्ट वर्ना" शान्ति स्थापना करने में शहीद हो गये थे।

इज़राईल की स्थापना से, समस्त 'इस्लामिक देशों में भारी उत्तेजना पैदा हो गई। उनकी नींद टूट गई, अधिकतर इस्लामिक देश, ब्रिटिश और फ्राँस, यहाँ तक की अमेरीका से भी नफरत करने लगे। उसके परिणामस्वरूप संगठित होने लगे। 'इज़राइल' राष्ट्र की उत्पत्ति से पश्चिमी एशिया की राजनीति ही बदल गई, उसके चिन्तन की धारा बिल्कुल भिन्न हो गई, जिसके परिणाम सामने आये।

(1) इस्लामिक दुनिया में उग्र 'राष्ट्र' भावना की उत्पत्ति हुई। (2) इस्लामिक जगत में, स्वतनत्रता की असीम अभिलाषा प्रबल रूप से जागकर सामने आई। (3) योरोपियन साम्राज्यवादियों से बदला लेने के लिये आतंकी संगठन, आधुनिक शस्त्रों से सुसजित, हो हमले करने लगे। (4) इस्लामिक जगत समाजवाद तथा साम्यवाद की ओर तेजी से बढ़ने लगा। (5) इज़राइल की स्थापना से 'इस्लानिक' बुद्धि-जीवियों की भी आँख खुल गईं, तथा वह योरोपियन ग़ुलामी से छुटकारा पाने की सोचने लगे। (6) पश्चिमी एशिया में, पूँजिवादी तथा समाजवादी विचारों में आपसी द्वन्द खुला होने लगा।

एक तरफ़ 'इज़राइल' 'राष्ट्र' का उदय, इस्लामिक जगत में यह चेतना फैला रहा था, कि केवल धार्मिक कट्टरवाद के आवरण में खड़े रह कर ही, वह आधुनिक दुनिया में जीवित नहीं रह सकते है। वह, जब तक अपनी आर्थिक उन्नति नहीं करते हैं, और आधुनिक हलचल को नहीं पहचानते हैं, तब तक 'केवल' धार्मिक नारों से, या पुरानी परम्पराओं से बीसवीं सदी में उनका काम चलने वाला नहीं है। इस्लामिक जगत के विद्वानों ने यह भी महसूस किया कि 'अकेले' दुनिया से दूर होकर भी जीना आधुनिक युग में कठिन हो जायेगा।

सदियों से अकेले चलकर, धार्मिक कट्टरवाद के पहरे में प्रगति का 'कारवां' आगे नहीं बढ़ सकता है, इसका परिणाम उन्होंने देख ही लिया था, कि समस्त इस्लामिक धार्मिक शक्तियाँ मिलकर भी 'इज़राईल' की स्थापना को नहीं रोक पाईं थीं और 10 लाख से भी अधिक 'अरब' शरणार्थी बने अपने घरबार छोड़कर साये की तलाश में थे। दुनिया 'शान्ति' की बात तो कर रही थी, लेकिन उसके पास कोई समाधान नहीं था और न ही बेघर अरबों के लिये कोई आशियाना था। समस्त इस्लामिक जगत में निराशा थी, नये दोस्तों की तलाश थी, तथा आगे बढ़ने की तमन्ना भी थी। उनमें ग़रीबी से निज़ात पाने की अभिलाषा भी जाग्रति पैदा कर रही थी। ऐसे में, बीसवीं सदी में, पश्चिमी एशिया के इस्लामिक जगत में समाजवादी दर्शन का अभ्युदय हुआ।

अब, 'इस्लामिक' जगत के लोग साम्राज्यवादियों की चाल से घायल होकर, उनके 'जनतांत्रिक उदारवादी दर्शन से घृणा करने लगे थे। वह समझ रहे थे, कि न तो 'धर्म युद्ध' ही उन्हें विजय दिला पायेगा और न ही, पश्चिम का राजनैतिक चरित्र ही उनका भला कर पायेगा। वैसे यह सही है कि **19 वीं सदी के पुराने लोग, पश्चिम के उदारवादी जनतन्त्र से प्रभावित हुये थे, जिसका परिणाम, उन्होंने इस्लामिक जगत के शोषण के रूप में देख लिया था। इसके परिणामस्वरूप, बीसवीं सदी में, इस्लामिक जगत की 'युवा' पीढ़ी महसूस कर रही थी, कि दुनिया की धर्म-निरपेक्ष शक्तियों से मिलकर साम्राज्यवादियों के 'अवशेष' चिन्ह एशिया की धरती से मिटाये जाएँ। इसलिये वह सामुहिकता से प्रभावित हो आगे बढ़ने की तमन्ना लिये हुये थे। 20 वीं सदी में, इस्लामिक जगत के नौजवान सोचने लगे थे, कि 'इस्लाम' समता, एकता, सामूहिकता तथा शोषण रहित समाज का सन्देश तो देता ही है, क्यों न 'आधुनिक' विस्तृत परिभाषा में उसे समझा जाये।**

इसलिये 'उन्हें' आगे बढ़ने के लिये प्रगति करने के लिये और अपने वजूद को निखारने के

लिये, उसे राजनैतिक में स्वीकार किया जाये। इस्लामिक समाज में (कौमियाहा) राष्ट्रवाद की भावना पैदा की जाये, साथ ही साथ, 'इशतराकियाह' जिसे समाजवाद कहते हैं, स्वीकार किया जाये, उससे भी आगे, उन्होंने पश्चिमी पूँजिवाद, और साम्राज्यवाद से लोहा लेने के लिये निश्चय किया, कि (शुयुईय्याह) साम्यवाद को अपनाना भी बुरा नहीं है। क्योंकि साम्राज्यवाद का सामना करना ही उनका सबसे 'प्रमुख' और बड़ा लक्ष्य था। उस काल में, इस्लामिक जगत के, नौजवानों को साम्राज्यवादियों से नफ़रत हो गई थी, क्योंकि उन्होंने अतीत में, देख लिया था, कि 'सामन्तवाद' और 'पश्चिमी साम्राज्यदाद' तथा 'कट्टरवाद' ने साथ मिलकर, पश्चिमी एशिया की धरती को प्राणहीन तथा बंजर बना दिया था, तथा उनकी समस्त शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया था।

बीसवीं सदी के नौजवान, अब केवल धार्मिक लक्ष्य के लिये ही काम नहीं कर रहे थे, बल्कि 'सामाजिक' प्रगति के लिये काम कर रहे थे। उनका लक्ष्य इस्लामिक जगत में शोषणरहित सवेरा लाना था। उनका नारा अब (अल-सबराह) 'इन्क़लाब' था, जो दुनिया भर के मज़लूमों, मेहन्तकशों को एक होने के लिये पुकार रहा था। उस काल में वह लोग समाजिक युद्ध लड़ रहे थे। जिसका 'मक़सद' शोषणकर्त्ताओं को नष्ट करना ही था। पश्चिमी एशिया से साम्राज्यवाद को नेस्तनाबूद करना तथा सामन्तवाद और धार्मिक कट्टरवाद से संघर्ष करने के लिये, उन्होंने गुप्त संगठन बनाये। उनके सख्त अनुशासन में रहकर वह नौजवानों को अनुशासित होने की शिक्षा देने लगे।

जब सरकार सख़्ती करती थी, तो वह अपने गुप्त अड्डों में छिप जाते थे, तथा वह लोग हमला करके, तोड़-फोड़ करके भाग जाते थे। उनका निशाना सरकारी तन्त्र तथा सामन्ती जमींनदार तथा साम्राज्यवादी ही होते थे। वह हिंसा करने से नहीं डरते थे। वह सभी क्षेत्रों में अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे।

फिलिस्तीन में इजराइल के उदय के बाद, इस्लामिक जगत के बुद्धिजीवियों की कलम भी अपनी दिशा बदल गई थी। 1848 के लगभग, उस समय के शामी विश्वविद्यालय के अध्यक्ष "कोस्ती जुरैक" ने अपनी पुस्तक 'माना' (अल-नकवाह) "दुर्घटना का तात्पर्य" में समस्त इस्लामिक शासकों से विचारों और व्यवहार में परिवर्तन लाने की बात कही थी।

1949 ई० में, फ़िलिस्तीन की दुर्दशा पर दुख प्रकट करते हुये, फ़िलिस्तीन के एक वकील लेखक मूसा, अल-अलमी ने अपनी पुस्तक 'इबरत फ़िलिस्तीन' में सम्पूर्ण व्यवस्था को बदलने पर विचार करने की सलाह दी थी।

1950 में, मिश्र के 'अलप्रज़हर विश्वविद्यालय' के विद्वान लेखक 'शेख खालिद मोहम्मद खालिद' ने अपनी पुस्तर "मिल हुना नब्दा" में इस्लामिक जगत को पुरानी दकयानुसी जड़ता छोड़कर नवीन प्रगतिशील समाजवादी दृष्टीकोण अपनाने की सलाह दी थी, जिससे वह प्रगति की उच्चतम मंज़िलों को स्पर्श कर सके।

उसी लेखक ने 1951 में अपनी दूसरी पुस्तक 'मुआनिनून लारअया' (पशु नहीं नागरिक हैं) में उस काल की सरकारों पर कटाक्ष करते हुये, स्वतन्त्रता, न्याय, समता, शिक्षा और रोज़गार देना सरकारों का काम है। 1951 में मिश्र, 'क़ाहिरा' के अन्य विद्वान लेखक, "मुहम्मद अल गंजाली" ने अपनी पुस्तक 'अल इस्लाम अल इशतराकिया' (इस्लाम और समाजवाद) में वर्णन किया कि समाजिक न्याय देना और उसके लिये संघर्ष करना मुसलमानों का सामूहिक कर्त्तव्य है, जो ऐसा नहीं करते, वह दण्ड के अधिकारी होते हैं। इस नवीन वैचारिक क्रान्ति ने मुसलिम जगत के नौजवानों को एक नये दृष्टीकोण और समतावादी निज़ाम को अपने में समा लेने की शिक्षा दी थी।

'युवा शक्ति' चार वर्गों में बँट गई

एक वर्ग अभी तक इस्लामिक जगत में धार्मिक कट्टरवाद को अपनाये था। वह दक्षिण पंथी धार्मिक वर्ग था, जो अपनी पुरानी परम्पराओं पर ही चलना चाहता था।

दूसरा 'वर्ग', 'व्यवसायिक' वर्ग के नौजवानों का था, जो अवसरवादी राजनीति में यक़ीन करता था, साथ ही साथ व्यवसायिक प्रगति के नाम राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करता था। यह वर्ग अवसरवादी था।

तीसरा वर्ग, 'साम्यवादी' नौजवनों का था, जो "समाजवादी क्रान्ति" में यकीन करते हुये संघर्ष कर रहा था। इसी मध्य एक चौथा युवा वर्ग था, जो राष्ट्रवाद और सैनिकों की तरह कठोर अनुशासन में यक़ीन करता था। उसमें छोटे, दुकानदार, विद्यार्थी और कुछ मज़दूर भी थे। इस वर्ग को समर्थन अधिक मिल जाता था क्योंकि यह वर्ग विद्यार्थी वर्ग से बड़े-बड़े पूजिपतियों और व्यापारियों को उग्र साम्यवादियों से बचाता था। पश्चिमी एशिया की युवा 'शक्ति', वर्गों में विभाजित हो विभिन्न विचारों से काम कर रही थी, जो शस्त्रों का सहारा लेकर एक दूसरे पर हमले करती रहती थी।

सैनिकवाद का उदय

बीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया में भी राजतन्त्र टूटकर धरती पर आ रहा था। कई देशों में क्रान्तियाँ होती थीं, और सत्ता बदल जाती थी।

'प्रगति और आधुनिकता' की निरन्तर बढ़ती अभिलाषा में जहाँ विभिन्न दलों की राजनीति अपनी सत्ता का विकास कर रही थी, वहाँ पश्चिमी एशिया में सैनिकवाद भी उभर कर सामने आ रहा था, जो 'राज्य सत्ता' पर उस काल में हावी हो गया था। यह कमाल की बात है, कि पश्चिमी एशिया में 'प्रगतिवाद' और 'आधुनिकता' सैनिक संरक्षण में ही ख़ुद विकसित हुई। उस समय के, सैनिक औहदेदार, ही इस्लामिक जगत में, आधुनिकता तथा प्रगति को विकसित करने के लिये नेतृत्व कर रहे थे। "मोहम्मद अली", "जमाल अब्दुल नासिर", "मेजर जनरल अहमद" तथा "हसन अल-वक" उनमें मुख्य हैं, जिन्होंने बीसवीं सदी में पश्चिमी एशिया में, आधुनिक संस्कृति का निर्माण करने में आधुनिकता का नेतृत्व किया था। इसे इस्लामिक जगत की सैनिक क्रान्ति भी कहा जा सकता है। वास्तव में सैनिक क्रान्ति द्वारा पश्चिमी एशिया में, आधुनिक जाग्रति के लिये पहल करने वाली बहुत सी घटनाएँ हैं। लेकिन, 'सैनिकवाद' ने ही लोकतन्त्र के बढ़ते काँर-वा को अपनी शक्ति के बल पर सैनिक तानाशाही में बदल दिया था, जिसमें बड़े-बड़े 'जनरल जनतन्त्र' में सुधार के लम्बरदार भी बन बैठे। इन्होंने जहाँ 'अरब' एकता का नारा लगाया, वहीं हिंसा की गति विधियों को बढ़ावा भी दिया। मिश्र आधुनिकता का इतिहास लिखने वाला पहला देश रहा है, जहाँ 'सैनिक क्रान्ति' का वर्चस्य रहा था।

'सैनिक क्रान्ति' ने जहाँ आधुनिकता को महत्व दिया, वहीं 'अन्तर्राष्ट्रीय आतंकवाद को भी शह दी। उसका भी मुख्य उद्देश्य पश्चिमी साम्राज्यवादियों के अवशेष शोषण को उखाड़ फेकना था। आगे जाकर समय ने, आधुनिकता और नये विचारों की क्रान्ति को पश्चिमी एशिया में विकसित होने में साथ नहीं दिया। सैनिक तन्त्र में जहाँ जनतन्त्र की हत्या हो गई, वहीं कट्टरवाद फिर से पश्चिमी एशिया में पैर जमाने लगा।

वैसे दिसम्बर 1942, में ईराक़ के प्रधानमंत्री नूरी-अस-सईद ने शाम, लेबनान, फ़िलिंस्तीन, ईराक़, और जार्डन की एकता की बेहद कोशिश की थी, लेकिन वे असफल ही रहे। उसके बाद, 1944, में सिकन्द्रिया में "मुस्लीम देशों" का एक सम्मेलन हुआ, जिसमें, लेबनान, ईराक़, मिश्र, जार्डन, सऊदी अरब और यमन ने हिस्सा लिया, और "अरब लीग" की स्थापना कर अरब राष्ट्रों की एकता का व्रत लिया गया।

उसमें निर्णय किया गया, कि फ़िलिस्तीन के मुस्लमानों की रक्षा करना तथा यहूदियों को फ़िलिस्तीन में आने से रोकना उनका लक्ष्य था। लेकिन इज़राईल से उनकी 'हार' ने उनके स्वपनों को चूर-चूर कर दिया। उसके परिणामस्वरूप एशिया में आतंक बढ़ता गया, और उनकी बनी बनाई इज़्ज़त भी खो गई थी। इसके बाद अनेकों एकता संगठन बने, और समाप्त भी हुये, अनेकों ने शस्त्र भी उठाये, और आतंकी दस्ते भी बनाये, लेकिन आपसी फूट के कारण अरब राष्ट्रों में एकता नहीं

हो पाई। 1962 में मिश्र और शाम का गठबन्धन हुआ, जोर्डन तथा ईराक़ का महासंघ भी बना लेकिन 'लक्ष्य' में सफ़ल नहीं हो पाये।

पश्चिमी एशिया में साम्यवादी और पूंजिवादी विचारधारा का द्वन्द

जैसा कि ज्ञात है, ज़माना बदल गया था, दूसरे विश्व युद्ध के बाद एक ओर 'साम्यवाद' पश्चिमी एशिया में अपना आकार बढ़ा रहा था, तो दूसरी साम्राज्यवादी योरोपियन शक्तियाँ भी अपना दख़ल एशिया में बनाये रखना चाहती थीं, जैसे ही ऐशिया का कोई भी राष्ट्र स्वतन्त्र होता था, वैसे ही वहाँ के राजनैतिक दलों के माध्यम से उनकी घुसपैठ आरम्भ हो जाती थी। दूसरे विश्व युद्ध के बाद ईराक़ में "इस्तिक़लाल" स्वतन्त्र दल के माध्यम से साम्यवादी दल अपना प्रभाव जमा रहे थे। दूसरी और 'नूरी-अस-सईद' रूढिवादियों, उदारवादियों तथा पश्चिमी प्रभाव के लोगों की एकता के नाम पर सत्ता पर क़ाबिज रहना चाहता था। आरम्भ में राष्ट्रीय लोकतान्त्रिक दल का पूर्ण समर्थन नूरी के साथ था। 1946- 1947 के मंत्री मण्डल में लोकतान्त्रिक दल के लोग स्वतन्त्र चुनाव चाहते थे, इसलिये 'नूरी' से उसका मतभेद हो गया। अब नूरी संकीर्ण रूढ़िवादी शक्तियों की गोद में चला गया तथा रूढिवादी नारों के साथ सत्ता पर क़ाबिज़ रहा। यह बात ध्यान देने योग्य है, 1946-47 से 1953-54 तक अमेरीका सहित इंग्लैण्ड, फ्राँस और अन्य पश्चिमी शक्तियाँ ईराक को खुली आर्थिक तथा सैनिक मदद कर रहीं थीं। उसी के साथ-साथ रूढ़िवादी तथा कट्टरवादी शक्तियों को धर्म के नाम पर बढावा दे रहीं थीं। क्योंकि उनका लक्ष्य, प्रगतिशीलवाद को एशिया में रोकना ही था। पश्चिमी शक्तियों से मदद लेने के लिये 'नूरी' ने साम्यवादियों पर घोर अत्याचार किये, उनका दमन किया। यही नहीं, उसने 1947 में तुर्की से सन्धि कर दोस्ती का हाथ बढ़ाया। 1948 में 'पोट्स माऊथ' की सन्धि पर अपने हस्ताक्षर किये, तथा 1954 में उसने अमेरीकी सहायता के लिये प्रस्ताव किया। अमेरीका का राजनैतिक आधिपत्य स्वीकार कर, उसके कहने पर, ही उसने तुर्की और पाकिस्तान से सैनिक समझौता किया। तथा 1955 में बग़दाद पैक्ट पर हस्ताक्षर किये। एक तरह से 'नूरी' ने, पूँजीवादी सैनिक गुटों को, फिर से अपने पैर जमाने का अवसर एशिया में प्रदान करा रहा था। उसने ही रूढ़िवादीता को 'अरब' में विकसित करने के स्वपन देखे थे। पश्चिमी साम्राज्यवाद नकाब औढ़ कर, पश्चिमी एशिया में रूढ़िवादी कट्टरवादियों को शस्त्रों से सुस्ज्जित करने की पहल कर रहा था। 'नूरी' का मिश्र से आन्तरिक मतभेद बना बना था, लेकिन स्वेज नहर के संघर्ष के समय इस्लामिक देशों के दबाव में, उसे ब्रिटेन और फ्राँस की निन्दा भी करनी पड़ी थी, और उनसें दोस्ती भी बनाई रखी थी। धार्मिक कट्टरवाद ने तथा रूढ़िवादी सामन्ती व्यवस्था ने साथ ही साथ पश्चिमी पूँजिवादी इरादों को देखकर 'ईराक़' की राजीनति में तूफान आ गया था। कमज़ोर वर्गों में किसानों में तथा 'मज़दूरों' में बेचैनी बढ़ती चली गई।

जिस पश्चिमी साम्राज्यवाद से 'अरब' देश मुक्ति पाने की कोशिश में लगे थे, उन्हें फिर से 'नूरी' अपने स्वार्थ के लिये बनाये रखना चाहता था, जिससे वहाँ की आम जनता उससे नाराज़ हो रही थी। इराक़ की आम जनता मानती थी, कि उन्हें बुलावा देना फिर से पश्चिम की गुलामी को स्वीकार करने के बराबर ही है।

उस काल में, बड़े-बड़े शेख-जमींदार बन गये, साथ ही साथ नये पूँजिपतियों ने, जो भ्रष्टाचार के बल पर धन कमा रहे थे उन्होने लोगों का जीना हराम कर दिया था। उसने आम जनता में उत्तेजना की लहर पैदा कर दी थी। इस्तिक़लाल 'बेआस' साम्यवादी दल तथा लोकतान्त्रिक दल आदि ने मिलकर एक सामूहिक मोर्चे को जन्म दिया। इन दलों की 'शह' पर

सैनिक क्रान्ति हो गई। जनरल कासिम ने 14 जौलाई 1858 को सरकार का तख्ता पलट दिया और स्वयं सत्ता सभाल ली। यही नहीं, 'शाह फ़ैज़ल, द्वित्तीय, उसके मामा भूतपूर्व संरक्षक अब्बदुल इलाही तथा उनके सम्पूर्ण परिवार को 'क़त्ल' कर दिया गया तथा साथ-ही-साथ 'प्रधानमंत्री' 'नूरी' को भी मौत के घाट उतार दिया गया और जनतन्त्र को बहाल कर दिया।

साम्यवादी और पूँजिवादी देशों की वर्चस्य की लड़ाई

दूसरे विश्व युद्ध के बाद वैसे तो सम्पूर्ण एशिया का ही क्या, सम्पूर्ण दुनिया को ही दो गुटों में बाँटने की योजना काम कर रही थी। लेकिन पश्चिमी एशिया की धरातल पर तो यह शक्तियाँ पैर जमाने के लिये दौलत और शस्त्रों की सहायता के ढेर लगा रहे थे। आरम्भ में, तो जनरल क़ासिम की सरकार का पूर्ण झुकाव साम्यवाद की ओर था, इसलिये उसने बग़दाद पैक्ट समाप्त कर दिया तथा पश्चिम से सैनिक रिश्ते तोड़ लिये।

क़बाइली क़ानून समाप्त कर दिया गया, तथा मज़दूर और किसान संगठनों की स्वतन्त्रता को बहाल कर दिया गया। उसी के साथ-साथ साम्यवादी कुर्दी नेता मुस्तफ़ा बर्जानी और उसके साथियों को 'ईराक़' में लौटने की आज्ञा प्रदान कर दी। सोवियत-ईराक़ दोस्ती को मज़बूत किया गया। अल इन्सानिया 'मानवतावादी' पत्र को प्रकाशन की आज्ञा प्रदान की गई। उसी के साथ-साथ साम्यवादी दल ने "(इत्तिहाद)" 'जनता की एकता' नामक अख़बार निकाल कर साम्यवादी विचार को फैलाने का काम आरम्भ कर दिया गया।

अमेरीका और पश्चिमी देशों में बेचैनी बढ गई

उस काल में, पश्चिमी एशिया में, अब वह ज़माना लद चुका था, जब अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में कुछ साम्राज्यवादी राष्ट्रों की और अमेरीका की तूती बोलती थी, और पश्चिमी यूरोप के देश और संयुक्त अमेरीका अकेले ही बैठकर युद्ध और शान्ति के प्रश्न हल कर लिया करते थे। उस काल में, विश्व समाजवादी दर्शन के प्रभाव से तथा उसकी राजनैतिक स्थापना से, आर्थिक और राजनैतिक संघर्षों के क्षेत्र में एशिया, अफ़्रीका और लेटिन अमेरीका के नव स्वाधीन देश, जो साम्राज्यवाद के प्रभाव में थे, अब उनसे निज़ात पा चुके थे। वह जनवादी धारणों से पूर्ण हो, अपने लिये शान्ति और सुरक्षा की खोज़ करने लगे थे, लेकिन पश्चिम एशिया में बड़ी शक्तियों के गुटों का संघर्ष उन्हें चैन से नहीं बैठने देना चाहता था।

यद्यपि, पश्चिमी शक्तियों को ईराक में अपने इरादों में असफल होने पर भारी बेचैनी हुई। यह भी सही था, कि उस समय तक ईराक में जनतन्त्र नहीं क़ायम हो पाया था, साम्यवाद भी वजूद में नहीं आया था। वहाँ तो सैनिकवाद ने राजसत्ता की कमान सम्भाली थी। फिर पश्चिमी जगत और अमेरीकी यह देखकर हैरान थे, कि रूसी साम्यवाद की 'छाया' ईराक में बड़ी हो गई थी। विशेषकर अमेरीका ने सोचा उसके समस्त हित ख़तरे में पड़ गये है, क्योंकि उसके सभी सैनिक गठबन्धन टूट रहे थे, और उनके पुराने 'दोस्त' उनसे विछड़ रहे थे। इस उत्तेजना में अमेरीका ने आधुनकि शस्त्रों का अम्बार और अपनी सैनिक टुकड़ियाँ बेरूत में उतार दीं। लेकिन बाद में, कई महीनों बाद वह सैनिक वापस बुला लिये गये।

अब पूँजिवादी देशों का 'ख़ुफ़िया' विभाग, तथा उनके सहयोगी पश्चिमी एशिया में सक्रिय हो गये थे। इस्लामिक जगत के दो सैनिक जनरल क़ासिम और नासिर में आपसी मतभेद बढ़ते चले गये। अतः जनरल कासिम ने 'नासिर' समर्थक कर्नल 'आरिफ' को अपने मंत्री मण्डल से निकाल कर बाहर खड़ा कर दिया। इससे आपसी संघर्ष और तेज़ हो गया। मज़बूर होकर उसे

साम्यवादियों का सहारा लेना पड़ा।

साम्यवादियों का बढ़ता प्रभाव

एक समय ऐसा आया, जब मजबूर होकर, कासिम को साम्यवादियों की छतरी के नीचे खड़ा होना पड़ा। साम्यवादियों ने अपनी जन शक्ति का विकास आरम्भ कर दिया। मज़दूर संगठनों में, तथा किसानों में, यहाँ तक कि महिला संगठनों में जाग्रति पैदा करने के लिये, उनमें एकता बढ़ानी आरम्भ कर दी।

उधर, दक्षिण पंथी तथा कट्टरवादी शक्तियाँ भी शान्त नहीं बैठी थीं। जिसके परिणाम सामने आ रहे थे, 15 से 18 जुलाई 1959 को मौसिल में भयानक उपद्रव हो गये, जिस समय 'क्रान्ति' दिवस मनाया जा रहा था, उस समय कुद्रों के साथ साँठ-गाँठ करके तुर्कमानों की हत्या करा दी गई।

लेकिन इसका इल्जाम साम्यवादियों पर लग गया, क्योंकि उपद्रवियों द्वारा तीन दिन तक निरन्तर क़िरकुक में लाल झण्डा लहराया जा रहा था। इस हिंसक घटना से ईराक में तहलका मच गया। साम्यवादी दल में मतभेद पैदा हो गये। 1941 में दाऊद सायिग़की ने, यूसुफ़ सलमान 'यूसुफ़' के साम्यवादी दल (अल–हिब्ज़, अल–शूयूईन, अल इराक़ियीन) के साथ मिलकर, जो साम्यवादी दल बनाया था। उसमें फूट पड़ गई। साम्यवादियों में आपसी फूट बढ़ते देखकर, साम्यवादियों ने किरकुक के दंगों की निन्दा भी की, और साथ-साथ अपनी नीतियों में परिवर्तन भी किया। उन्होंने समाजवादी संगठनों के साथ मिलकर समाजवादी दृष्टिकोण को बढ़ाने की बात स्वीकार की थी। उसी के साथ सम्मेलनों में स्वतन्त्रता की प्रवृति को बढ़ावा देने की बात स्वीकार कर राष्ट्र एकता की मोहर लगाई।

क़ासिम की हत्या, और क्रान्ति

अरब एकता तथा समाजवाद की पैरवी करने वाला 'बआस दल' क़ासिम से असन्तुष्ट था, क्योंकि यह दल महसूस करता था कि 'क़ासिम' मजबूरन ही प्रगतिशील बनता है, लेकिन उसकी मनोवृत्ति और आदतों से पश्चिमीकरण की गन्ध **आती** थी। अन्दर से वह बेहद रूढ़िवादी था। उसने स्वयं न तो 'अरब' एकता के प्रयास किये, **और स**माजवाद को बढ़ाने में कोई भी उसने निजी प्रयास नहीं किया था। इस वजह से 'बआस' दल के सैनिक अनुयायियों ने विद्रोह कर दिया। 1963 में 'बआस' दल सर्मथक सैनिकों ने हवाई सेना अध्यक्ष 'औक़ाती' की हत्या करके सेना पर अपना अधिकार कर लिया और 'बग़दाद' पर बम वर्षा करके 'क़ासिम' को रक्षा मंत्रालय में घेर लिया, और बन्दी बना लिया। जिसे बाद में मार डाला गया। इसके बाद एक गुप्त क्रान्तिकारी परिषद बनाकर 'अब्दुल सलाम आरिफ़' को शासन अध्यक्ष नियुक्त किया। 1966 में प्रेज़ीडेण्ट आरिफ़ भी एक हैलीकोप्टर दुर्घटना में मारा गया।

उसकी मृत्यु के बाद उसके छोटे भाई कर्नल 'अब्दुल रहमान आरिफ' को सत्ता का भार सौंपा गया, लेकिन विरोध की अग्नि की ज्वाला से क्रान्ति की आग फूट पंड़ी। क्योंकि 'बआस' दल, माहौल पर क़ाबिज़ था, उसका दमन करके कोई सत्ता में नहीं रह सकता था।

14 जौलाई की रात्रि का समय था, उसी रात्रि को लगभग दस बजे कवचधारी सैनिक ब्रिगेड ने सम्पूर्ण बगदाद को चारों ओर से घेर लिया। प्रेज़ीडेन्ट अब्दुल रहमान को 'आराम' से कुछ वफ़ादार अफ़सर उसे बचाकर हवाई अड्डे ले गये, जहाँ से वह 'लन्दन' भेज दिया गया। यह एक तरह रक्त विहिन 'कान्ति' थी। जिसमें सत्ता परिवर्तन हो गया था।

'बआस' दल के हुक्म से मेजर जनरल अहमद हसन अल वक्र प्रज़ीडेण्ट और कर्नल अब्दुर

रज़्ज़ाक अल् नायफ प्रधानमंत्री बनाये गये। बआस दल के इशारे से बनी सरकार ने फिर से अरब एकता का व्रत लिया, उसी के साथ इजराईल के विरूद्ध सराज सैनिक कार्यवाही की कसम भी खाई गई।

शाम का गणतन्त्र

1943 में शाम (सिरिया) ने, गणतन्त्र का सवेरा देखा था। मेण्डेट की समाप्ति होने के बाद, शुक्री अल-कुब्बतली उसका प्रथम राष्ट्रपति बनाया गया। उस काल में, प्रगति का माहौल भी रहा। उसकी विदेश नीति स्वतन्त्र रही, जिसके कारण अमेरीकी टेपलाईन कम्पनी के सहयोग से फ़ारस की खाड़ी में (सिदन) सैदा तक तेल लाईन डाली गई। लेकिन नई गणतन्त्र सरकार बढ़ती हुई मंहगाई और भ्रष्टाचार को रोकने में पूर्णतय असफल रही, उधर फ़िलिस्तीन में सेना की हार के कारण यहाँ भी बेहद बेचैनी थी। नौजवानों में ग़ुस्सा था। परिणामस्वरूप यहाँ भी उपद्रव हो गये। यह दुख की बात थी, कि सम्पूर्ण 'इस्लामिक' जगत में 'गणतन्त्र' सरकारें ठहर नहीं पा रही थीं, इसका विशेष कारण साम्यवाद और पश्चिमी उदारवाद के मध्य जनता का भटकाव बना हुआ था। दूसरे पुरानी रूढ़ीवादी व्यवस्था भी अपना मुँह फैला देती थी। जिसके कारण 'गणतन्त्र' के सवेरे से पहले ही, उस पर उपद्रवों और अशान्ति का ग्रहण लग जाता था। दिसम्बर 1948 को वहाँ दंगे आरम्भ हो गये। सेना की मदद से दंगे तो शान्त हो गये लकिन उससे उठी आग की लपटों में वहाँ का गणतन्त्र, सैनिक तानाशाही के शिकंजे में क़ैद हो गया।

30-31 मार्च 1949 को 'कर्नल हुस्नी जैम' के नेतृत्व में एक सैनिक दल ने सत्ता पर क़ब्जा कर लिया और स्वयं प्रधानमंत्री बन गया, और बाद में राष्ट्रवादी बन गया। उसने समस्त राजनैतिक दल समाप्त कर दिये। नये सैनिक संगठन बनाये गये, लेकिन पड़ोसी देशों से, दुश्मनी मोल लेनी आरम्भ कर दी। ईराक़ तथा जोर्डन से उसके सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। उसने फ़्राँस से दोस्ती की पेंग बढ़ाई तथा मिश्र की ओर भी दोस्ती का हाथ बढ़ाया। उसके इस कार्य से जनता में असन्तोष भी तेज़ हुआ।

उस काल की दुखद घटना, यह थी कि उसने पहले लेबनानी नेता 'अन्तून सादेह' को पहले तो अपने यहाँ शरण दी और बाद में उसे उसकी सरकार के हाथों सौप दिया, जहाँ उसे मृत्यु दण्ड दिया गया। उससे जनता में और सैनिकों में गुस्सा पैदा हो गया। परिणामस्वरूप कर्नल जैम और उसके प्रधानमंत्री को कत्ल कर दिया गया और उसकी जगह संसद ने बजुर्ग राष्ट्रीय नेता 'हाशिम आतस्सी' को प्रेज़ीडेण्ट बनाया गया।

इसके बाद भी सैनिक और राजनैतिक तौर पर सत्ता में परिवर्तन बे हिसाब होते गये। सैनिक तानाशाहों तथा राजनैतिक मतभेदों के कारण राजनेताओं और सैनिक शासकों की हत्याओं का सिल-सिला जारी रहा, जिसे विदेशी शक्तियाँ अपना मोहरा बनाती रहीं। पश्चिमी एशिया में, 'गणतन्त्र' इन आतंकी आँधियों से अपने तम्बुओं को न बचा सका और सिसक-सिसक कर क़त्लो-ग़ारत का खेल देखता रहा।

19 दिसम्बर 1949 कर्नल अदीब शिशकली ने फिर सत्ता का तख़्ता पलट कर और "शबाब दल" के लोगों के नेतृत्व में अपनी सरकार बनाई। उस काल में केवल नाम की, संसदीय सरकार चलती रही। 29 नबम्बर 1951 शिशकली ने फिर राजसत्ता का तख़्ता पलट दिया। सरकार के सभी सदस्य गिरफ्तार कर लिये गये। वह स्वयं सेना अध्यक्ष तथा उपप्रधान-मंत्री बन गया तथा अपने साथी "फ़ौजील 'सीलो'" को प्रेज़ीडेण्ट बना दिया।

1954 को जबल ट्रज में गड़बड़ी होने पर सेना ने विद्रोह कर दिया। "शिलकली" देश छोड़ कर भाग गया और "अतरसी" फिर से प्रेज़ीडेण्ट बन गया। उसके शासन काल में 1955 तक शान्ति बनी रही। उसका कार्यकाल समाप्त होने पर, अगस्त में चुनाव हुये जिसमें शुक्री अल कुब्यतली प्रेज़ीडेण्ट बनाया गया। क्योंकि संविधान फिर से लागू हो गया था, उसी के अनुसार 1954 के चुनाव भी हुये थे।

1956 में, अल कुब्बतली के प्रयास से मिश्र और अरब में दोस्ती के हाथ बढ़ाये गये और शाम की सरकार ने एकीकरण की बात शुरु करने के निश्चय के साथ, एक संयुक्त शक्ति बनाने का प्रयास किया गया। उसी समय अक्टूबर में एक संयुक्त सैनिक संगठन बनाकर रक्षा करने का निर्णय लिया गया। क्योंकि ब्रिटिश, फ़्राँस, इज़राइल के साथ मिलकर, उस क्षेत्र पर पूर्णतया हावी होने के प्रयास कर रहे थे। जब ब्रिटिश और फ़्राँस ने मिलकर मिश्र पर आक्रमण किया, तो शाम ने भी दोनों देशों से सम्बन्ध विच्छेद कर दिये और विदेशी कम्पनियों की तेल की नली तोड़ दी।

रूस के द्वारा मिश्र को आधुनिक शस्त्र देने पर उसके प्रति 'अरब' देशों का लगाव बढ़ता गया। "शाम" देश ने भी साम्यवादी चीन को मान्यता देकर, एशिया में ब्रिटिश और फ्राँस साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकने में सहयोग किया। अक्टूबर के महीने में अल्जीरिया के समर्थन में आम हड़ताल हुई, जिसमें फ्राँसीसी स्कूल को नुकसान भी पहुँचाया गया। समय चक्र तेज़ी से चल रहा था और रक्तपात और हिंसा भी अपनी चरम सीमा पर थे। पश्चिमी एशिया को हिंसा के आतंक से निजात नहीं मिल रही थी।

15 जून 1956 को सब्री अस्सली को प्रधानमंत्री बनाया गया, जिसमें यह एक मिली जुली सरकार का प्रधानमंत्री था, जिसमें अबास के लोग भी शामिल थे, उस काल में भी हिंसा और बदले की राजनीति का खुला दौर चल रहा था। हिंसक परिवर्तन की इस आँधी में सत्ता में फिर परिवर्तन हुआ, लेकिन 1957 में एक नये 'संसदीय गुट के आने पर जिसमें समाजवादी और साम्यवादी दल प्रमुख थे, सरकार का पुनर्गठन हुआ। जिसका प्रधानमंत्री अस्सली ही रहा, लेकिन साम्यवादी तथा समाजवादी नेताओं का सत्ता **पर क़ब्**जा हो गया। उन्होंने नेहरू की तटस्थता की नीति को ग्रहण किया। **उन्होंने राष्ट्रीय भावना के** साथ-साथ सामाजवादी नीति को केवल **बढ़ावा ही नहीं दिया, बल्कि उन्होंने उसे खुले मन से अपनाया। 11 जनवरी 1957 को 'अस्सली' ने अपने भाषण में अमेरीका के राष्ट्रपति आइज़नहावर सिद्धान्त को चुनौती देते हुये कहा कि "संयुक्त-राष्ट्र" की अनुमति के बिना, अमेरीका को, अरब देशों में कहीं भी सेना भेजने का हक़ नहीं है।**

एशिया में जाग्रति

दूसरे विश्व युद्ध के परिणामस्परूप धरती के सम्पूर्ण आंगन में, असंख्य लाशों के ढेर के बाद, असंख्य बेसहारा बच्चों का खोया हुआ बेचैन बचपन, सहारे की तलाश में था। लाखों की तादाद में अपंग जिन्दा लाशें, जो बारूदी बर्बरता से घायल हुईं थी, धरती पर भार बनी रेंग रही थी। उससे आगे, एटम बमों के प्रहार से जापान की पीड़ित मानवता, दर्द से कराह रही थी। बमों की वर्षा से खेत और खलियान, तथा असंख्य बारूदि प्रहार से नष्ट हुये शहरों, गॉवों व कस्बों के आलीशान मकान और गरीबों के आशियाने, खण्डर बने 'इन्सांनी' परछाईयों को देखकर, भी भयभीत हो जाते थे। दूसरे 'महायुद्ध' में दुनिया के गोरे, काले सभी धर्मों के लोग धार्मिक संकीर्णनताओं, जाति श्रेष्ठा तथा इन्सानी अहंकार का शिकार हुये थे। दूसरे युद्ध की बर्बरता ने, गिरजो को छोड़ा था, न ही मस्जिदों को, न "बुद्ध के मठों" को, और नाही, गुरूद्वारों को छोड़ा था। उनके द्वारा शहीद हुई मस्जिदों की, मिनारें और उसके गुम्बद, इन्सानी मुर्खता पर आज भी अट्टाहस कर रहे हैं। फिर भी इन्सानी बिरादरी दुनिया के किसी कोने में भी समवेदनशील नहीं दिखाई पड़ती हैं। दूसरे विश्व युद्ध के बाद, दुनिया दो राजनीतिक ख़ेमों में विभाजित हो गई थी एक साम्यवादी खेमा कहा जाता था, जिसका नेतृत्व 'रूस' कर रहा था। दूसरा खेमा यूरोप के शक्तिशाली राष्ट्रों का था। जिाकर नेतृत्व, ब्रिटेन, फ्रॉंस, और अमेरीका तथा अन्य योरोपियन देश कर रहे थे। दूसरे युद्ध के बाद, यह महाशक्तियाँ अपने घर बैठे, आधुनिक तकननीकी के माध्यम से, और हाईड्रोजन बमों के आविष्कार से नवीन तथा आधुनिक युद्ध तकनीकी से सुसज्जित होकर अपार शस्त्र शक्ति से पूर्ण हो, दुनिया के छोटे नवोदित उदयमान राष्ट्रों को धमकाती रहती थीं।

'मानव' का जन्म हिंसा के साये में हुआ था, लेकिन क्या अपार प्रगति के बाद भी उसका अन्त भी हिंसा के साये में ही होने जा रहा है? यह प्रश्न सामने खड़ा था।

उसकी सुरक्षा के लिये चिन्तित शान्ति प्रिय लोग सदा कोशिश करते रहते हैं, कि किस तरह से 'मानवता' को "हिंसा" से सुरक्षित रखा जाये।

उसी काल में, भारत के, उस समय के प्रधानमंत्री "जवाहर लाल नेहरू" ने तथा गैमाल अब्दुल नासिर, और अन्य एशिया के प्रमुख नेताओं ने, 'शान्तिपूर्ण सहअस्तित्व के सिद्धान्तों की महत्वता के आधार पर दोनों महाशक्तियों से भी मित्रता रखते हुएँ, तथस्ट राष्ट्रों का एक संगठन बनाया, जिसका उद्देश्य कमज़ोर और निर्धन-राष्ट्रों की प्रभुसत्ता को 'स्वतन्त्र' रखकर, शान्ति, प्रगति, और सुरक्षा की ओर बढ़ना था। नये राष्ट्रों का उद्देश्य सृजनात्मक उत्साह के साथ विकास की ओर बढ़ना था तथा युद्धलिप्सा और आतंकी उन्माद से दुनिया को दूर रखना था। इसमें नेहरू की प्रमुख भूमिका रही थी। वह चाहते थे, कि अफ्रीका सहित, नये आज़ाद हुये देशों में सामूहिक एकता बनाकर, नये उठते हुये आधुनिक आर्थिक उपनिवेशवाद को रोका जाये, जो पूँजिवादी आतंक की छाया बनकर काम कर रहा था। यह शक्तियाँ स्वाधीन हुये देशों में फूट डालकर उत्पात और आतंक मचा रही थीं, उन्हें रोकना था।

नेहरू के शान्ति प्रयासों का परिणाम यह निकला कि जब 15 फरवरी 1955 को वह दो दिन की यात्रा पर क़ाहिरा पहुँचे, जहाँ मिश्र के राष्ट्रपति गमाल अब्दुल नासिर से भेंट के समय सह अस्तीत्व शान्ति और सुरक्षा तथा साम्राज्यवादी गुटों से दूर रहने की सहमति बनी।

मार्च-अप्रैल, 1955 को कंबोड़िया और वियतनाम की जनवादी जनतात्रिक सरकारों ने, 'शान्तिपूर्ण' सहअस्तीत्व के पांच सिद्धान्त (पंचशील) पर अपनी मोहर लगाई। उस काल के वियतनाम के उप प्रधानमंत्री व विदेशमंत्री फाम-वान-दोंग ने "आलइण्डिया रेडियो" से भाषण देते हुये कहा था, "भारत ने जनेवा सम्मेलन में जो रचनात्मक भूगिका अदा की है, हम उसे कभी नहीं भूलेंगे, हिन्द-चीन में सामरिक कार्यवाइयाँ रोकने में समझोते को अमली रूप देने में भारत के योगदान को भी हम नहीं भूलेंगे।"

नेहरू उस काल में हुये बांदुग सम्मेलन को सफल बनाने में भी सफल योगदान कर रहे थे। अधिकतर नये स्वतन्त्र हुये अफ्रीकी और एशिया के 'राष्ट्र' तथा शान्ति सर्मथक समाजवादी देश भी बांदुंग में होने वाले सम्मेलन पर सन्तोष ज़ाहिर कर रहे थे। लेकिन पश्चिमी देश इस सम्मेलन से ख़ुश नहीं थे। अमेरीका भी 'बांदुंग' सम्मेलन को उचित नहीं मानता था। उस समय "शिकागो सन एण्ड टाईम्स" के एक लेख में, उस काल के अमेरीकी राष्ट्रपति 'आइज़न हावर' ने बांदुग' सम्मेलन पर अपना मत ज़ाहिर करते हुये उसे 'अवांछनीय' बताया था।

तोड़फोड़ की घटना

11 अप्रैल को भारतीय विमान" कम्पनी का 'प्रिन्सेस ऑफ कश्मीर' नामक एक विमान हांगकाग से 'जकार्ता' को रवाना हुआ। जिसमें वियतनाम जनवादी जनतन्त्र और चीन लोक गणराज्य के प्रतिनिधि तथा पत्रकार सवार थे, दुर्घटना ग्रस्त हो गया। लेकिन कुछ दिन पश्चात् "साराबाक" के उत्तर-पश्चिम में जहाज़ के तीन हवाई चालक भूके-प्यासे ज़िन्दा पाये गये। उन्होंने बताया "जहाज़ के सामान रखने वाले भाग में भारी विस्फोट हुये थे, जिसके बाद हवाई जहाज़ आग में जलता हुआ समूद्र में जा गिरा। बचने वालों में केवल वे तीन ही लोग थे"।

नेहरू ने उस हादसे के विषय में कहा था "यह दुर्घटना" ग़ैर क़ानूनी हालात में हुई थी, जिसे पूरी छान-बीन का हुक्म दिया गया है, लेक़िन जब उन्हें धमाके के बारे में मालूम हुआ, तो उन्होने भी इसे एक साधारण दुर्घटना नही माना। बाद में पता चला, कि यह हादसा "जासूसी" सेवाओं द्वारा जान बूझकर की गई तोड़-फोड़ की कार्यवाही थी। जिसकी जांच के नतीजों से पुष्टि हो गई थी। यह घटना साम्राज्यवादी जासूसी सेवाओं द्वारा जानबूझ कर की गई तोड़-फोड़ की घटना थी। शीघ्र ही पता चला कि मुजरिम "ताइवान" में छुपा हुआ था। लेकिन अमेरीकी सरकार ने अपराधी को भारत को सौंप देने की माँग को ठुकरा दिया।

ब्लेक मेल, और धमकियों से लेकर, तोड़-फोड़ तक की सभी कार्यवाही के हथकण्डें इस्तेमाल किये जाने पर भी सम्मेलन इण्डोनेशिया की राजधानी जर्काता से सौ किलोमीटर दूर स्थित 'बांदुंग' में, 29 देशों के प्रतिनिधियों के सम्मलित होने पर सफल रहा। नेहरू ने अपने भाषण में इस सम्मेलन को "सह-अस्तीत्व" का एक सहयोग बताया था।

"बांदुग सम्मेलन" मतभेद साफ़ नज़र आते थे

सम्मेलन में, मतभेद साफ़ नज़र आ रहे थे। पश्चिमी एशिया के जो देश ब्रिटिश, फ़्राँस, अमेरीका देशों के गुटो से जुड़े थे, वह खुलकर अन्तर्राष्ट्रीय कम्यूनिष्टों को एक तरह का उपनिवेशवादी बता रहे थे।

उन देशों का उद्देश्य यह था, कि वह सैनिक गुटों में सम्मलित देश, पाकिस्तान, तुर्की देशों को सम्मेलन में शिरकत करने की पैरवी कर सकें, तथा उनकी शिरकत को सम्मेलन में उचित ठहरा सकें। अमेरीका और साम्राज्यवादीं देशों के सबसे बड़े 'ऐजेण्ट' उस समय सैनिक गुटों में सम्मलित पश्चिमी एशियाँ के वह देश थे, जो सैनिक गुटों में शामिल थे। उसमें पाकिस्तान और तुर्की विशेष देश थे। वह उन्हें सम्मेलन में सम्मलित करने पर ज़ोर दे रहे थे। वह शीत शुद्ध के प्रभाव और आतंक का प्रतिबिबित करते थे।

उस काल में, नेहरू ने उस सम्मेलन में बोलते हुये, पश्चिमी एशिया के आने वाले भविष्य में 'आतंकी' प्रहारों के प्रति सचेत कर दिया था। उन्होंने साफ कहा था। "बांदुंग सम्मेलन" के मतभेद और सैनिक गुटों में सम्मलित देशों की शान्तिप्रिय देशों पर दादागिरी, भविष्य के लिये खतरों के संकेत हैं।" उन्होंने कहा "बांदुग में जो मतभेद उभरे हैं, वे एशिया और अफ्रीका में शीत-युद्ध और आतंक के प्रभाव की घुसपैठ के ख़तेरे के प्रति सचेत करते हैं।"

बांदुग सम्मेलन 18 से 24 अप्रैल 1955 तक चला, जिसमें मतभेदों के मध्य विजय उन शक्तियों की हुई, जो विदेश-नीति में प्रगतिशील सह-अस्तीत्व के जीवन में यकीन करते थे, जो राज्यों के बीच सर्वांगीण आर्थिक और समाजिक विकास, धर्मनिरपेक्षता का विस्तार चाहते थे, जो उपनिवेशवाद तथा युद्ध और आतंक का विरोध करती थीं।

बांदुंग सम्मेलन ने ही 'गुट-निरपेक्षता' के सिद्धान्त के आन्दोलन का सूत्रपात किया, तथा सार्विक शान्ति, और सह-अस्तित्व के पाँच सिद्धान्तों का प्रथम प्रकाश दीप जलाया। इस सम्मेलन में नहेरू और 'नासिर', तथा 'फाम बान दोंग' सहित राष्ट्रीय मुक्ति आन्दोलन के अन्य नेताओं ने आम निरस्त्रीकरण की और 'व्यापक संहार के अस्त्रों' के उत्पादन, परीक्षण तथा प्रयोप पर पाबन्दी लगाने की, तथा आतंक और "विश्व हिंसा" को रोकने की माँग की थी।

नेहरू ने, सम्मेलन के विषय में भारत आने पर प्रेस कान्फ्रेंस में कहा था, "बांदुग सम्मेलन काफ़ी हद तक सफल रहा, सिर्फ़ इस लिहाज से ही नहीं कि उसमें एशिया और अफ़्रीकी देशों के नेता आपस में मिल रहे थे, बल्कि, इस लिहाज से भी अलग-अलग तरह के राष्ट्र भी काफी हद तक एक मत हो चुके थे।"

नासिर और अरबवाद

सन, 1952 में, फ़ौज के एक सैनिक अफ़सरों के एक दल ने, मिश्र में, "क्रान्ति" कर राजशाही को समाप्त कर गणतन्त्र की स्थापना कर दी। उसके दो वर्ष बाद गैमल अब़देल नासिर (Gamal Abdel Naesser) को मिश्र (Egypt) का राष्ट्रपति बना दिया गया। उसका स्वपन था, कि अरब देशों को एक करके वह उसका एक मात्र नेता बन जाये और मिश्र फिर से, उठकर विश्वमंच पर उसका नेतृत्व करे। उस काल में मिश्र (Egypt) भयंकर गरीबी की मार से पीड़ित था। अतीत में अनेकों तरह की ग़ुलामी की बेड़ियों में जकड़ा रहा मिश्र, (Egypt) शक्तिहीन सा हो गया था। 'इजराइल' के बनने के बाद उसका स्वाभिमान कई बार घायल हुआ था। दूसरी ओर दुनिया प्रगति की ओर जा रही थी, और जाग रही थी। वह प्रगति करने के लिये नई संस्कृति को अपना रही थी। उस समय समस्त "इस्लामिक जगत" के शिक्षित वर्ग के फ़ौजी अफसर सत्ता में अपनी दख़ल बना रहे थे। 'बन्दूक़' उनके हाथ में थी, अनुशाषित सेना उनके पीछे खड़ी थी और समय उनके साथ था। उस काल में नये स्वतन्त्र हुये 'राष्ट्रों' के 'जनतन्त्र' के जन प्रहरी आपसी दल बन्दी में डूबे थे तथा प्रभाव हीन होते जा रहे थे। उस काल में अवशेष राजतन्त्र या कुलीन तन्त्र अपनी शान शौकत

की ज़िन्दगी व्यतीत करने के कारण निर्बल हो गया था, वह किसी हथियार बन्द दल के सामने कमज़ोर पड़ जाता था। उस काल की पश्चिमी एशिया की राजनीति को या तो संकीर्णता खा रही थी, या उनकी आपसी फूट, अपनो का ही रक्त बहाने में समय व्यतीत कर रही थी। साथ-साथ 'महाशक्तियाँ', अपना संघर्ष क्षेत्र सम्पूर्ण एशिया में बढ़ाने में लगी हुईं थी। धन और दौलत के साथ-साथ शस्त्रों के अपार ढेर वह विशेषकर पश्चिमी एशिया मे लगा रहे थे। योरोपियन साम्राज्यवादियों ने एक ओर अपने सैनिक गठबन्धन वहाँ बहुत विस्तृत कर लिये थे। तो दूसरी ओर रूस का साम्यवादी तन्त्र अपना विस्तार बढ़ा रहा था। ऐसे माहौल में सैनिकवादी गणतन्त्र का उदय होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी। **जब कभी 'गणतन्त्र' में राजनैतिक शक्तियाँ, भ्रष्टाचार और अनाचार में लीन होकर अपने निजी स्वार्थों के लिये, एक दूसरे से टकराने लगती हैं, तो जन-तन्त्र को मृत्यु प्राप्त हो ही जाती है, और ऐसे में सैनिक तन्त्र ही हावी होता हैं या अराज़कता उसे खा जाती है।**

उसी काल में, "गमल अवदेल नासिर" का राजनैतिक सफर सैनिक वर्दी में आरम्भ हुआ था, उसके विभिन्न चरित्र थे, लेकिन उसका सबसे मुख्य योगदान ऐशिया में 'तटस्थता' की विदेश-नीति पर अपनी मोहर लगाना ही था। उस काल में दुनिया आधुनिक शस्त्रों के बल पर आपसी टकराव के मुहाने पर खड़ी थी और फिर से नष्ट होने के जुनून में पागल हो रही थी। उस समय 'नासिर' ने पंचशील के सिद्धान्त की नीति को 1955 बांदुग सम्मेलन में, बढ़ावा देकर एक नई महाशक्ति के निर्माण में नेहरू को सहयोग करना भी था। नासिर ने मिश्र की गरीबी दूर करने के लिये व्यापक योजनाऐं बनाई। उसने असवान हाईडाम (Aswan High Dam) नील (Nile) पर बनाने की ओर कदम बढ़ाया, लेकिन जब समय आया तो उसे बनाने में आर्थिक मदद देने के सवाल पर, अमेरीका और ब्रिटेन मुकर गये, क्योंकि मिश्र के आर्थिक तौर पर मज़बूत होने से, उनके निजी हित घायल होते थे। 'नासिर' एकदम 'साम्यवादी' महाशक्ति रूस के साथ हो गया। उसने उसकी आर्थिक मदद की और मिश्र के आर्थिक और राजनैतिक सहयोग के लिये हाथ भी बढ़ाया। यहीं से शीत युद्ध की मिश्र में नींव रखी गई।

वैसे 'नासिर' ने 19 अक्टूबर 1954 को ब्रिटेन से एक समझौता किया था, जिसके अनुसार बीस महीनों में ब्रिटिश सेना की वहाँ से वापसी का समझौता किया गया था तथा जिसमें 7 वर्ष के लिये ब्रिटिश अड्डों पर ठेकेदारी का काम करने की इज़ाज़त भी दी गई थी। विदेशी शक्ति के आक्रमण करने पर सुरक्षा के लिये उस पर ब्रिटेन का अधिकार भी स्वीकार किया था। लेकिन 'नासिर' ब्रिटेन और अमेरीका के रूख़ को देखकर बेचैन हो गया था, क्योंकि वह उनकी नियत पर शंका कर रहा था। नासिर 'तटस्थ' हो गया था। एक फ़ौजी होने के नाते, उनके षड्यंत्री इरादों को भाँप गया था।

नासिर की हत्या का षड्यन्त्र

नासिर का 'नेतृत्व' एशिया में प्रतिदिन विश्व अख़बारों की सुरख़ियों में रहता था। दूसरे उसके शत्रु कट्टरवादी संकीर्ण मनोवृति के लोग, जो आर्थिक और राजनैतिक मदद साम्राज्यवादियों से पा रहे थे, 'नासिर' को समाप्त करने की तलाश में थे। साम्राज्यवादियों के खुफ़िया तन्त्र अपार दौलत अपने विरोधी की हत्या करने में ख़र्च कर रहे थे। सिकन्द्रिया की एक सभा में, योजना बना कर इख़वान-अल मुसलिमून (मुसलिम भ्रातृत्व) (Muslim Brotherhood) के सदस्य ने नासिर की हत्या करने की कोशिश की थी। परिणामस्वरूप 'नासिर' सरकार ने 'इख़वान-अल-मुसलिमून) के 4,500 सदस्यों को गिरफ्तार कर लिया। 6 सदस्यों को फाँसी की सज़ा दी गई।

नासिर की कोशिशों से मिश्र का इतिहास बदल रहा था। 1955 में अमेरीका ने, मिश्र से चार करोड़ डालर की मदद करने का वायदा किया था लेकिन अमेरीका दिन-पर दिन अपने हाथ आर्थिक मदद से खींच रहा था। मिश्र ब्रिटेन से रूई ख़रीदता था, वह ख़रीदारी भी ब्रिटेन में रूई की मन्दी के कारण समाप्त हो गई थी। उसके परिणामस्वरूप रूस और मिश्र के मघ्य रूई का व्यापार आरम्भ हो गया। पश्चिमी योरोपियन देश एशिया में अपनी स़तरंज बिछा रहे थे। उसी काल में, तुर्की-इराक़ी समझाते से मिश्र में तीव्र प्रतिक्रिया हुई। मिश्र नासिर के नेतृत्व में आर्थिक और राजनैतिक तौर पर आगे बढ़ता जा रहा था। यद्यपि अनेकों 'षड्यन्त्र' उसके विरूद्ध हो रहे थे।

स्वेज नहर का राष्ट्रीयकरण

गाजी पट्टी पर आतंकी हमला

अधिकतर मुस्लिम देश इज़राइल से नफ़रत करते थे। ग़ाज़ा पट्टी पर आतंकी हमलों का निरन्तर ताँता लगा रहता था। आतंकी छापामार सीमावर्ती क्षेत्रों में क़हर ढाते रहते थे। अगस्त में, फीदायीन ने 'इजराइल' पर आतंकी हमलों की ज़ोरदार शुरूआत आरम्भ कर दी नासिर ने चेकोस्लोवाकिया से आधुनिक शस्त्र ख़रीदने का एक सौदा किया जिससे वह इजराइल का मुकाबला कर सके। 'नासिर' अपनी शक्ति बढ़ाने की कोशिश कर रहा था तो दूसरी ओर उसने 'शाम' और 'सऊदी अरब' से दोस्ती का हाथ बढ़ाया। साथ ही साथ उसने लेबनान और जार्डन से पश्चिमी साम्राज्यवाद के विरूद्ध खड़ा होने की और पश्चिमी एशिया से साम्राज्यवाद को उखाड़ फेकने की अपील की थी। नासिर का कद बढ़ता चला जा रहा था, 'एशिया क्या दुनिया 'नासिर' के नाम को 'अख़बार' की सुर्ख़ियों मे पढ़ने लगी थी। क्योंकि एशिया, अफ्रीका लेटीन अमेरीका के नवस्वाधीन देश, अन्तर्राष्ट्रीय मामलों में तथा आर्थिक क्षेत्रों में सभी तरह की ज़ोर-ज़र्बदस्ती के अनैतिक दरवाजों और बन्धनों से मुक्ति चाहते थे। दूसरी ओर, पश्चिमी एशिया में समाजवादी दर्शन का प्रभाव बढ़ता चला जा रहा था। जिसका नेतृत्व एशिया में 'नेहरू', 'नासिर' और 'टीटों' कर रहे थे।

पश्चिमी राष्ट्रों में बेचैनी पैदा हो गई

'नासिर' को ब्रिटेन और अमेरीका ने 'असवान' बाँध के लिये सात करोड डालर की सहायता का वचन दिया था, उसी के आधार पर 'विश्व बैक' ने 20 करोड़ डालर का 'ऋण' देना स्वीकार किया था, उससे वह पीछे हटने लगे। नासिर ने साफ़ कहा "हम आर्थिक क्षेत्र में स्वतन्त्रता चाहते हैं, किसी के दबाव में नहीं झुकेंगे। हम अपनी स्वतन्त्रता के मूल्य पर कोई दबाव स्वीकार नहीं करेगे। पश्चिमी राष्ट्रों और विश्व बैक की वायदा ख़िलाफ़ी से क्रुद्ध होकर नासिर ने उस समय के सोवियत विदेश मंत्री 'शेफ़ीलोफ़' से बातचीत कर साम्यवादी चीन को मान्यता प्रदान कर दी। जून 1956 के नये विधान के अनुसार, जिसमें विधान-सभा, मंत्री परिषद और प्रेज़ीडेण्ट के चुनाव की व्यवस्था थी, नासिर का क़द और भी बढ़ गया। वह 'मिश्र' गणतन्त्र का 'प्रेज़ीडेण्ट' चुना गया। जुलाई 1956 में उसकी यूगोंस्लाविया के 'प्रेज़ीडेन्ट' टीटो, भारत के प्रधानमंत्री! नेहरू से बातचीत हुई, जिसमें, उन्होंने आपस में मिलकर शान्ति पूर्ण सहअस्तित्व और तटस्थता की नीति पर चलने की नीति पर आगे बढ़ने के लिये कारगर तरीक़ों से कदम बढ़ाये।

युग बदल रहा था, आसमान साफ़ हो रहा था, और एशिया के 'सूर्य' की किरणों की 'लाली' से पश्चिमी 'साम्राज्यवाद' चौंधिया गया था, 'साम्यवादियों, को भी इस तीसरी शक्ति के उदय का

आभास होने लगा था। उधर कोरिया का युद्ध समाप्त हो गया था, हिन्द चीन में फ्रॉस के हस्तक्षेप का अन्त हो गया था।

उस काल में, सबसे बड़ी बात यह हुई थी, कि बांदुग सम्मेलन के सफ़ल आयोजन ने, जिसने 'ओपनिवोशिक' जुये से मुक्त हुये देशों के मध्य साम्राज्यवाद विरोधी, आपसी सहयोग की नींव भी रखी थी। उसका परिणाम सामने आया, जब उस समय के 'ज्वलन्त' प्रश्नों पर विचार करने के लिये, 'जनेवा' में सम्मेलन हुआ, जिसमें रूस, इंग्लैण्ड, फ्रॉस और संयुक्त राज्य अमेरीका एकत्र हुये। उससे यह विश्वास और पुख़्ता हो जाता है, कि विभिन्न विचारों वाले विभिन्न 'समाजिक' प्रणाली वाले देशों ने शान्तिपूर्ण सह-अस्तीत्व के सिद्धान्त के लिये जो क़दम बढ़ाये थे उसके परिणाम सुखद हो सकते हैं।

दूसरे 'विश्व युद्ध' के बाद से, बीते वर्षों में पहली बार मानवजाति को शीत युद्ध के पैदा किये गये, अविश्वास सन्देहों, संत्रास, धार्मिक संर्कीणता और जातिय संघर्ष से, तंग आ चुकी दुनिया को आशा की, निसन्देह, अभी दुबली पतली हल्की सी किरण अवश्य दिखाई देने लगी थी। विशेषकर, भारत के नेता 'नेहरू' के पंचशील सिद्धान्त के प्रभाव से मानव जाति, उस समय सोचने लगी थी, कि अन्तर्राष्ट्रीय वातावरण में ऐसे परिवर्तन आयेंगे, जो लोगों को 'शान्ति और विश्वास से निर्माण और सृजन करने की संभावना को जन्म देंगे।

यह भी कहा जायेगा कि उस युग ने, ऐसे नेताओं को जन्म दे दिया था, जो विश्व में मानवता के हित के लिये, हर तरह की संक्रीणता से मुक्त होकर, विश्व के 'बहुताय मानव प्राणियों की साझी आकांक्षाओं के लिये, और उनकी प्रगति के लिये, उनकी 'अदम्य चाह' प्रतिवादित करना चाहते थे। तो ग़लत न होगा। अगर मैं कँहु कि उनके उस समय सर्वमुख्य नेता जवाहर लाल नेहरू ही उस युग में थे।

उस युग में 'मानवता' के कल्याण के कदम आगे बढ़ रहे थे, उसमें विश्व, 'नेता' आगे आ रहे थे।

'स्वेज' नहर का राष्ट्रीयकरण का परिणाम थी

शान्ति के लिये प्रयासों के लिये, जहाँ एशिया जाग रहा था, मानव जाति के अस्तीत्व को क़ायम रखने की 'चिन्ता' एशिया को होने लगी थी, वह संर्कीणता को छोड़कर मानव हितों के विषय में सोचने लगे थे, धार्मिक संर्कीणता यदि समाप्त नहीं हुई थी, तो शान्ति और विकास की परतों के पीछे अवश्य दब गई थी। गुट-निरपेक्षता के जय घोष का, यहाँ तक असर हुआ कि फ़रवरी 1956 में, सोवियत कमयूनिष्ट पार्टी की कान्फ्रेन्स ने भी सोवियत सेना से बारह लाख सैनिक कम करने की घोषणा कर दी।

गुट-निरपेक्षता का अर्थ निष्क्रियता नहीं था। उसका लक्ष्य साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद और हर तरह के आतंक को उखाड़ फेकना था।

उसी के परिणामस्वरूप, गुटनिरपेक्ष देशों की एकता के बल पर पश्चिमी साम्राज्यवादी विरोधी भाषण के साथ 'नासिर' ने स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा कर दी।

बहुत से राजनैतिक पर्यवेषक यह मानते हैं, कि नासिर ने स्वेज नहर के राष्ट्रीयकरण की योजना की घोषण, यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति टीटो, भारत के प्रधान मंत्री जवाहर लाल नेहरू से 18-19 जुलाई 1956 ब्रियोनी में हुई बातचीत के बाद एक सप्ताह के बाद की थी। इन तीनों नेताओं ने अपने वक्तव्य में कहा था **"कि मध्य पूर्वी समस्याओं पर उनके महत्व को देखते हुये, न्याय संगत आर्थिक हितों को ध्यान रखते हुये, निर्णयों को अभिरुचिशील राष्ट्रों की स्वतन्त्रता**

पर आधारित करते हुये, गौर किया जाना चाहिये।

1956 की शरद ऋतु में, जब स्वेज़ पर संकट के बादल मण्डराने लगे, तब नेहरू ने कहा था **"मिश्र जनता की कमर तोड़ मेहनत से निर्मित स्वेज़ नहर का राष्ट्रीयकरण का 'नासिर' सरकार का निर्णय न्याय संगत है, और वैध है।"**

मिश्र की सरकार ने आश्वासन दिया था कि वह युद्ध नहीं चाहती है, वह अपने अन्तर्राष्ट्रीय दायित्वों का अक्षाशः पालन करेगी। लेकिन साम्राज्यवादी देश, मिश्र के जागरण से बड़े नाराज़ हो गये, वह सैनिक और राजनैतिक षड्यंत्र रचने लगे। उसका कारण 'स्वेज़ नहर' का राष्ट्रीयकरण ही था। एक ज़माने में जर्मन के चांसलर ने स्वेज़ को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की रीढ़ कहा था। इसी 'रीढ़' को ब्रिटिश साम्राज्वाद जीर्ण-शीर्ण होने पर भी खोना नहीं चाहता था। इसके परिणामस्वरूप अमेरीका की शक्ति के बल पर इंग्लैण्ड, फ्राँस, इज़राईल और अमेरीका का एक सैनिक गठबन्धन बना जो आक्रमण के बल पर शक्ति प्रदर्शन के सहारे स्वेज़ पर अपना अधिकार बनाये रखना चाहते थे।

इस सैनिक आक्रमण कार्यवाही की ज़िम्मेदारी इज़राईल को सौंपी गई थी। ज़ाहिर तौर इंग्लैण्ड 'नासिर' के फ़ैसले पर 'शरीफ़ाना' गुस्सा दिखा रहा था और उसकी कार्यवाही को 'अन्तर्राष्ट्रीय डकैती' बता रहा था। 16 अगस्त को, 1956 को लन्दन में इंग्लैण्ड, फ्राँस और संयुक्त राज्य अमेरीका की पहल पर, 22 देशों के प्रतिनिधियों का एक सम्मेलन बुलाया गया, जो स्वेज़ नहर पर विचार करने पर एकत्र हुये। उसमें अमेरीका के विदेश सचिव डलेस ने एक प्रस्ताव पेश किया कि स्वेज़ नहर का ज़िम्मा एक अन्तर्राष्ट्रीय प्रबन्धक मण्डल बनाकर उसे सौंप देना चाहिये। लेकिन भारत के उस काल के विदेश मंत्री कृष्णा मेनन ने सुझाव रखा कि इस तथ्य को स्वीकार कर लेना चाहिये कि 'स्वेज़ नहर' मिश्र का अभिन्न अंग है।" सोवियत संघ, श्रीलंका, इण्डोनेशिया ने इस सुझाव का समर्थन किया। लेकिन पश्चिमी देशों के प्रतिनिधि अमेरीका के प्रस्तावों को मानने की ज़िद करते रहे।

दुनिया देख रही थी कि, पश्चिमी राष्ट्र अमेरीका सहित अपने सैनिक अड्डे एशिया में बनाये रखना चाहते थे। उस समय एशिया के तटस्थ नेता 'नेहरू' सहित पश्चिमी साम्राज्यवाद के अवशेष एशिया में देखना नहीं चाहते थे। नेहरू ने इंग्लैण्ड के उस समय के प्रधानमंत्री एंथनी को और अमेरीका के 'राष्ट्रपति' ड्रैवाइट आइजन हावर को एक सन्देश भेज कर 'मिश्र' के प्रस्ताव को स्वीकार करने की अपील की ओर वार्ता के द्वारा शान्तिपूर्ण समाधान का आग्रह किया।

सितम्बर का महीना था, भारतीय संसद की कार्यवाही चल रही थी नेहरू ने संसद की कार्यवाही रूकवाकर एक तार, जो लन्दन स्थित भारतीय उच्चायुक्त का था, जिसमें सूचित किया गया था कि 'ईडन' ने अनशन पर बैठने की घोषणा की है। नेहरू ने संसद को उस तथ्य से सूचित किया और व्यंगभरी मुस्कान से उस तार को पढ़ कर सुनाया संसद सदस्यों ने नेहरू के आश्चर्य चकित चेहरे को देखकर व्यंग से कहा "प्रधानमंत्री जी, ख़ाली पेट, ख़ाली दिमाग़ से कहीं बेहतर होता है" सारा सदन हंसी के ठहासों से गूँज उठा।

पश्चिमी देशों की तैयारियाँ चल रही थी। 12 सितम्बर को, ब्रिटेन, फ्राँस, अमेरीका ने स्वेज नहर प्रयोगकर्त्ता संघ बनाया। 23 सितम्बर को ब्रिटेन, फ्राँस ने यह मामला संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद में पेश किया। उधर मिश्र और 'इजराईल' सीमा पर भारी तनाव था।

इज़राईल ने आरोप लगा कर, कि 'गाज़ा' और 'सिलाई' के अड्डों से, फ़िदायीन, इज़राईल में आतंकी और छापामार हमले करते रहते हैं, जो बर्दास्त नहीं किये जा सकते। 29 अक्टूबर को

इजराईल ने सिलाई अड्डे पर आक्रमण कर दिया। दोनों देशों में भयंकर युद्ध हो गया। इजराईली सेना ने मिश्र को भारी बम वर्षा कर उसके तेल भण्डारों में आग लगा दी। 30 अक्टूबर को फ्राँस और ब्रिटेन ने भी अल्टीमेटम दे दिया कि वह अपनी-अपनी सेना स्वेज़ से 10 किलोमीटर पीछे हटा लें। फ्राँस ने नासिर से स्वेज़ पर इंग्लैण्ड और फ्राँस का प्रस्ताव मान लेने को कहा गया। इज़राइल ने प्रस्ताव स्वीकार कर लिया, लेकिन मिश्र ने उसे साम्राज्यवादियों का 'षड्यत्र' कहकर अस्वीकार कर दिया।

'नासिर' ने कड़ा रूख़ अख़्तीयार किया और साम्राज्यवादियों के सामने न झुकने की सौगन्ध खाई। उसके परिणामस्वरूप 31 अक्टूबर को, ब्रिटिश और फ्राँस, के हवाई जहाज़ों ने मिश्र के तेल भन्डारों और महत्वपूर्ण स्थानों पर भारी बम वर्षा करके उन्हें भारी नुक़सान पहुँचाया। तीन दिनों के हमलों से 'मिश्र' की वायु सेना को नष्ट कर दिया गया। 5 नबम्बर को ब्रिटिश और फ्राँस सेनाओं ने सईद बन्दरगाह पर क़ब्ज़ा कर लिया और नहर के दक्षिण क्षेत्रों की ओर उनकी सेनाएँ बढ़ने लगी।

समस्त पश्चिमी एशिया में अपार क्रोध का तूफ़ान उठ खड़ा हुआ। भारत सहित समस्त एशिया में आन्दोलन के रूप में लोग सड़कों पर आ गये। पण्डित नेहरू ने इंग्लैण्ड, फ्राँस और इज़राईल के संयुक्त कार्यवाही को 'नग्न आक्रमण' की संज्ञा दी थी।

उस समय रूस एक मज़बूत और सर्वमान्य शक्ति थी, उसने भी इस आक्रमण की घोर भर्तस्ना की और एशिया की शान्ति की पुर्नस्थापना के लिये, अपना रूख़ आक्रमक किया। संयुक्त राष्ट्र के प्रयास से एशिया से ग़ुस्से के उबाल से तथा रूस के सख़्त रवैये से हमलावरों को अपनी सामरिक कार्यवाही रोकनी पड़ी। 23 जनवरी को 'अकावा' की खाड़ी को और ग़ाज़ा पट्टी को छोड़कर समस्त 'मिश्र' की सैनिक शक्ति कम थी, लेकिन उसकी राजनैतिक विजय ने साम्राज्यवादियों के हौसले परस्त कर दिये। लेकिन उन्होंने पश्चिमी एशिया की एकता को नष्ट करने के लिये, 'आतंकवाद को बढ़ावा देना आरम्भ कर दिया।

समाजवादी नारों और तटस्थता की नीति के बढ़ते प्रभाव से, पश्चिमी राष्ट्रों में बेचैनी फैल गई। नासिर, टीटो आदि नेताओं की बढ़ती हुई शक्ति को विराम लगाने के लिये, पश्चिमी राष्ट्रों ने अपनी चाल ही बदल दी।

1958 की गर्मियों में आंग्ल अमेरीकी, दख़ल अन्दाज़ी के कारण मध्य पूर्व की स्थिति पुनः ख़राब हो गई, रूस ने सुझाव दिया कि भारत, रूस, इंग्लैण्ड़, तथा अमेरीका की संयुक्त बैठक बुलाकर समस्या पर विचार होना चाहिये। नेहरू ने फिर जोरदार शब्दों में नव उपनिवेशवादी डलेस-आइज़नावर के दृष्टीकोण की सख़्त आलोचना की थी।

'आइज़हावर, डलेस' प्रस्ताव में कहा गया था कि "फ्राँस और इंग्लैण्ड कमज़ोर पड़ गये हैं, एशिया में शक्ति शून्यता" आ गई है, उससे कम्यूनिस्ट घुसपैठ आरम्भ हो गई है, उसे मारने के लिये अमेरीका को आगे आकर उस शक्ति शून्यता को मारना आवश्यक है।

'शून्यता' के सिद्धान्त के माध्यम से अमेरीका अपना आर्थिक द्वेष साम्राज्यवाद कायम करना चाहता था। उस पर पण्डित नेहरू ने दूनिया को सचेत करते हुये संसद में अपने भाषण में कहा "अंग्रेज़ों को हिन्दुस्तान से जाना पड़ा, उनके जाने से हिन्दुस्तान में कोई शक्ति शून्यता नहीं आई है।" शक्ति शून्यता का सिद्धान्त उन्हीं सभी देशों के लिये ख़तरा है जिन्होंने उपनिवेशिक जुएँ को उतार कर फेका है और आज़ाद हुये हैं, पश्चिमी एशिया के देशों में यदि "शक्ति शून्यता" है तो पश्चिमी एशिया के देशों द्वारा उन्हें स्वयं ही अपनी शक्ति, प्रगति और एकता द्वारा मारना चाहिये।

उस काल में एशिया के समस्त जनवादी दोनों तरफ़ से घिरे थे, एक ओर पूँजिवाद 'नक़ाब' पहन कर विस्तारवादी जाल बिछा रहा था तो दूसरी और 'सामयवादी' देश अपना प्रभाव बढ़ा रहे थे। उसके मध्य समस्त एशिया के गणतन्त्र के उगते हुये सूर्य को चारों ओर से आतंक और चिन्ता के कोहरे ने घेर लिया था।

इज़राईल के बढ़ते विस्तारवादी आकांक्षाओं से चिन्तित 'अरब राष्ट्र' कभी पश्चिम राष्ट्रों से सहारा तलाशतें थे, तो कभी साम्यवाद के साये में सुरक्षा तलाशने लगते थे। और कभी धार्मिक एकता के नाम पर कट्टरवाद की ओर मुड़ जाते थे। 'इज़राईल' अपनी सीमाएँ, उत्तर में फ़रात तक और दक्षिण में 'नील' तक फैलाने के लिये मौक़े की तलाश में रहता था। अगस्त 1958 को नेहरू के भाषण से उस समय के हालात का 'अंदाज़ा' होता है। नेहरू ने कहा था "अरब देशों और इजराइल के आपसी सम्बन्धों में ख़तरों का एक तत्व हमेशा मौजूद है, इज़राईल जब से क़ायम हुआ हैं, हमें दो साल पहले मिश्र में इज़राईल की 'घुस पैठ' आज भी बहुत अच्छी तरह याद है, उसके अलावा फ़िलिस्तीनी, शरणार्थियों के पेंचीदा सवाल अभी तक हल नहीं हुये है।"

नेहरू ने आगे कहा "मध्य पूर्व में सभी विवादों का 'निबटारा' तभी हो सकता है, जब इस इलाक़े के देश सदभाव दिखाएँ, लड़ाई के माध्यम से निबटारा नहीं हो सकता है क्योंकि अगर लड़ाई छिड़ी तो विश्व युद्ध में बदलने में देर नहीं लगेगी।"

दो महाशक्तियों के 'टकराव' से जहाँ शीत युद्ध बढ़ रहा था वहीं अन्तर्राष्ट्रीय आधुनिक आतंक की नींव रखी जा रही थी – यह राय सही है कि इज़राईल और 'अरब' राष्ट्रों में छापामार युद्ध ओर आतंकी कार्यवाही आज तक विराम नहीं पा रही थी, उसके साथ-साथ अन्य एशिया के देशों की तरफ़ आतंक का साया भयंकर रूप से उसी काल से अपना विस्तार बढ़ा रहा है, तथा नई-नई आतंकी कार्यवाही में माहिर होता जा रहा है। एक के बाद एक आतंकी संगठन बनते चले जा रहे हैं। उधर पश्चिमी देशों में, उपनिवेशवादी शक्तियाँ अपनी 'मुज़रिमाना' इरादों और योजनाओं से दुनिया के अन्य भागों में भी आतंकी और विवादों की घटनाएँ बढ़ गई थीं। कांगो, बर्लिन, कैरिवयन सागर क्षेत्र में 'क्यूबा' के तट के पास शांति और राष्ट्रों की सुरक्षा को ख़तरा पैदा हो गया था।

पश्चिमी राष्ट्र, 'अरब', लेबनान, ईराक़ और जोर्डन में अपना प्रभाव बढ़ाने में लगे थे। उनका लक्ष्य नासिर के प्रभाव को पश्चिमी एशिया में कम करना ही था।

1959 में 'अरब' जगत में नासिर के प्रभाव को कम करने के लिये, पश्चिमी राष्ट्रों ने अपार धन ख़र्च करना आरम्भ कर दिया। उसके परिणामस्वरूप 'नासिर' साम्यवादियों की ओर बढ़ते चले गये। नासिर ने एक राष्ट्रीय चार्टर भी तैयार किया। जो प्रगतिशील समाज की ओर बढ़ने का एतिहासिक प्रमाण है।

नासिर क्रान्ति का लक्ष्य

एशिया में, जमाल नासिर उस काल में समाजवाद के प्रमुख नेता बन गये थे। नासिर का व्यक्तिगत मत था, कि 'क्रान्ति' समाज के लिये आवश्यक तत्व है। उन्होंने अपनी प्रमुख पुस्तक 'अलसपत अलसवरा' (क्रान्ति का दर्शन), क़ाहिरा 1953 में, उसने समाजवाद शब्द का प्रयोग नहीं किया। लेकिन 'क्रान्ति' शब्द की परिभाषा समझाते हुये लिखा "संसार की प्रत्येक जाति दो क्रान्तियों के मध्य से होकर आगे बढ़ती हैं। एक 'राजनैतिक क्रान्ति' होती है, जिसके द्वारा वह किसी बाहरी तानाशाही या साम्राज्यवादी शक्ति जो उसकी इच्छा के बिना, उस राष्ट्र की भूमि

पर जमी आक्रमणकारी सेना से अपनी स्वतन्त्रता प्राप्त करती है, प्रथम राजनैतिक क्रान्ति कहलाती है।

दूसरी क्रान्ति 'सामाजिक क्रान्ति' कहलाती है इस क्रान्ति का लक्ष्य उन वर्गो और लोगों के साथ संघर्ष करते रहना है जब तक सब लोगों के साथ न्याय नहीं होता है, और स्थिति मजबूत नहीं होती है,............दूसरे अन्य राष्ट्रों ने, जो प्रगति कर चुके है। इन दोनों क्रान्तियों का अनुभव किया है, लेकिन सब साथ नहीं दोनों में सैकड़ों वर्ष का अन्तर रहा है। हमारा 'राष्ट्र' इन दोनो में से एक साथ गुज़र रहा हैं (क्रान्ति दर्शन, इकोनिमीका बुक 1959)

नासिर की क्रान्ति का 6 सूत्री कार्यक्रम

(1) साम्राज्यवाद की पूर्णतया समाप्ति (2) ज़मींनदारी व्यवस्था की समाप्ति (3) एकाधिकारों और बपौतियों का पूर्णतय ख़ातम, (4) पूँजिवादी व्यवस्था पर नियन्त्रण (5) एक मज़बूत शक्तिशाली सेना का गठन (6) समाजिक न्याय की स्थापना और निरोग्य गणतन्त्र की स्थापना।

समाजवाद और लोकतन्त्र दोनों ही किसी राष्ट्र के लिये अति आवश्यक हैं। यह एक दूसरे के पूरक हैं। लोकतन्त्र राजनैतिक स्वतन्त्रता की आत्मा है, तो समाजवाद समाजिक स्वतन्त्रता की प्राण है। समाजवाद और लोकतन्त्र को अलग किया ही नहीं जा सकता है। दोनों के पक्षों में होने से वास्तविक स्वतन्त्रता का आन्नद दिलाती है, इन दोनों पक्षों के बिना या किसी एक पक्ष के अभाव में गणतन्त्र भविष्य के उज्ज्वल क्षितिजों तक नहीं उड़ सकता है।" (राष्ट्रीय कार्य पद्धति घोषणा पत्र चार्टर अध्याय 5)

चार्टर 7 के अनुसार नासिर का कथन था समाज कोई 'अभूर्त, काल्पनिक रचना नहीं है, यह व्यक्तियों से बना समाज है, जो उस देश की धरती पर निवास करता है। उसमें व्यक्ति स्वाधीनता समाज का आधार है और वहीं उसका निर्माण भी करता है। अतः जनहित में हुई क्रान्ति का लक्ष्य, और समाजवाद का उद्देश्य 'व्यक्ति' की भलाई और सुरक्षा ही है।

'क्रान्ति' द्वारा लोकतन्त्र की स्थापना का लक्ष्य व्यक्ति के हित का साधन ही है। नासिर ने 12 जौलाई 1961 में दिये, भाषण में कहा था, हमारे समाजवाद का अर्थ 'व्यक्ति' का सब तरह की ग़ुलामी से आज़ाद करना है।

नासिर ने जुलाई 1962 में, जब समाजवाद शब्द का प्रयोग राष्ट्रीय कार्य पद्धति के घोषणा पत्र में किया तो इस्लामिक जगत में समाजवाद का प्रकाश बढ़ने लगा साथ ही साथ 'कट्टरवाद' का कोहरा समाजवाद के प्रकाश की सतह के नीचे दब गया।

नासिर ने, आत्म निर्भरता, और सामाजिक न्याय धर्मनिरपेक्षता को मानवता को विकसित और सुरक्षित करने का आवश्यक कवच बताया।

18 दिसम्बर 1961 में, नासिर ने, किसी भी गुट में शामिल न होने की प्रतिज्ञा को स्पष्ट करते हुये सम्पूर्ण तटस्थता की नीति पर चलने का विश्वास व्यक्त करते हुये, कहा था, "हम अपने 'राष्ट्र' में एक नये समाजवाद के अर्थ को विकसित कर रहे हैं, जो मानवता के प्रमुख सिद्धान्त आपसी भाई-चारा और आपसी प्रेम तथा शान्ति में विश्वास करता है।" जो एक वर्ग के दूसरे के ऊपर अधिपत्य पर निर्भर नहीं है, हम घोषणा करते हैं कि हम सामन्तवाद और पूँजिवाद तथा साम्राज्यवाद को फिर से अपने देश में पैर नहीं जमाने देंगे। साथ ही साथ यह भी घोषणा करते हैं, कि हम साम्यवादी अधिनायकवाद को भी नहीं प्रवेश करने देंगे। क्योंकि उसका लक्ष्य भी एक दल का प्रभुत्व क़ायम करना है'...........हमारे समाजवाद का लक्ष्य, किसी भी वर्ग की तानाशाही को स्वीकार नहीं करना है।

'अरब' जगत में नई क्रान्ति नये विचार

उस काल में 'अरब' में नये विचारों की क्रान्ति का युग था। संक्रीणता और धार्मिक कट्टरवाद समाजवादी विचारों की 'क्रान्ति' की ताज़ी हवाओं के सामने ठहर नहीं पा रहे थे। 'विज्ञान' की उज्ज्वलता और ओद्यौगिक विधाओं को इस्लामिक जगत सह्रदयता से स्वीकार कर रहा था। 'समाजवादी क्रान्ति' ने नासिर से नेहरू तथा टीटो, के संयुक्त प्रयास से समस्त एशिया में अपने अस्तीत्व को पहचानने की जो पहल की थी, उससे साम्राज्यवाद के पैर एशिया में नहीं जम पा रहे थे। 'समाजवाद' विचारों की परिभाषा भी 'एशिया' अपने नये दृष्टीकोण के अनुरूप कर रहा था। साथ ही साथ 'व्यक्ति की स्वतन्त्रता' की रक्षा के लिये एशिया, कृत निश्चित था। उस काल में 'अरब' जगत में विकास के क़दम आगे बढ़ रहे थे।

'असवान' की बिजली की टरबाई ने, 'हलवान' में लोहे के कारख़ाने तथा फौलाद के कारख़ानों से उसकी चमक, नये विकास की दुनिया की स्थापना कर रहे थे। अब तक जो 'इस्लामिक' जगत साम्राज्यवादियों सामन्तों और हथियार बन्द क़बीलों के द्वारा लूटा जाता था। उस काल में वह विज्ञान तथा तकनीकी का नया इतिहास लिख रहा था। अब इस्लामिक दुनिया में परमाणु शक्ति के भण्डार, स्वेज नहर के किनारे लहराते हरे-भरे बाग, नये अरब जगत की प्रगति की एतिहासिक कहानी लिख रहा था। ऐसा लगता था जब धार्मिक संर्कीणता का छाया हुआ कोहरा अरब जगत के आकाश से कुछ दूर हुआ और विकास का 'कांरवा' आगे बढ़ा तब लेखकों, साहित्यकारों और वैज्ञानिकों ने भी अपनी क़लम चलाने की आज़ादी महसूस की और वह क़लम ज़ोर से चलने लगी। **उस समय के साहित्यकार "हबीब जमाती" ने अपने एक उपन्यास में लोक-कल्याण, और वैज्ञानिक उत्कर्षों और एतिहासिक प्रगति का सटीक वर्णन किया कि 20 वीं सदी के अन्त में मिश्र अपनी सम्पूर्णता को विकसित करेगा।**

'अरब' लेखिका लीला बालबकी ने अपने उपन्यास "अना-अहया" (मैं जीवित हूँ) में, परम्परा के समस्त बन्धन तोड़ते हुये आगे बढ़ने का आवाहन किया (मीशेल बारबो का फ्रेन्च अनुवाद (1961) अब साहित्यकार संकीर्ण विचार धारा से हटकर ऊपर की दुनिया, तथा जन्नत की 'हूरों' की कहानियों से दूर रह कर, समाज की व्याकुलता पर लिख रहे थे।

अरब के साहित्य जगत में मानव जीवन के नये दर्शन की खोज हो रही थी। अरबी के लेखक, "ताहा हुसैन, "तन फ़ीक अल-हकीम, और अलबर्ट, अदीव" "अल-अदीप" पत्रिका के माध्यम से 'शास्त्रीय अरबी में लिखते रहते थे।

समाजवादी लेखक साधारण आम भाषा में लोगों को नये चिन्तन की ओर बढ़ने का संकेत दे रहे थे। "यूसुफ़ इदरीस, 'अल-शर्कवी' साहित्य भाषा में लिखते थे। जो समाजवादी विचारधारा को विकसीत करने का करते थे। ग़रीबों की पीड़ा का वर्णन उनकी लेखनी में होती थी। उस काल के लेखकों में मानव जीवन की पीड़ा-दर्द, ग़रीबी और आम आदमी की बेचैनी का फ़िक्र रहता था।"

सामाजिक जीवन में क्रान्ति

उस काल में अरब जगत में समाजिक क्रान्ति की लहर तेज़ी से आगे बढ़ रही थी। सहकारिता पर आधारित जीवन तेज़ी से नया सफ़र तय कर रहा था। व्यक्गित स्वतन्त्रता का महत्व अरब जगत का अंग बन गया था। आधुनिकता की लहर तेज़ी से 'अरब जगत में आगे बढ़ रही थी, एक बार 5 दिसम्बर 1968 में "शेख़ मंशूर मुहम्मद नासिर और मुल्ला मौलवियों ने स्त्रियों के घाघरे (मिनी स्कर्ट) पहनने पर पाबन्दी लगा दी, क्योंकि उससे 'शरीर' पूर्णतया नहीं ढ़क पाता था, 'प्रेज़िडेण्ट' नासिर से उस पर क़ानून बनाने को कहा गया तो उसने उसे स्त्रियों का व्यक्तिगत मामला कहकर क़ानून बनाने को मना कर दिया"।

"आवश्यकता से अधिक पश्चिमी आधुनिकता के परिणाम"

आवश्यकता से अधिक आधुनिकता के कारण धार्मिक जगत में अन्दर ही अन्दर प्रतिक्रिया हो रही थी, 'मुल्ला-मौलवी' दो वर्गो में विभाजित हो रहे थे। एक सरकारी आदेश पर धार्मिक मोहर लगा देते थे। लेकिन दूसरा वर्ग अन्दर-ही-अन्दर उसका धर्म के नाम पर विरोध करता रहता था।

उधर पश्चिमी 'राष्ट्र' अमेरीका सहित इस बात से बेहद चिन्तित थे, कि साम्यवाद का आकार पश्चिमी एशिया में बढ़ता जा रहा था केवल यह नहीं था, 'साम्यवादी जगत' पश्चिमी एशिया पर पूर्णतया 'हावी' हो गया था। इस पर ब्रिटेन, अमेरीका तथा फ़्राँस ने 'अरब' जगत में धार्मिक कहे जाने वाले आतंकवाद को सहारा देना आरम्भ कर दिया। आधुनिक आतंकवाद की प्रत्येक 'गोली' पर पश्चिमी साम्राज्यवादियों की मोहर लगी थी और आर्थिक मदद भी उन्ही से प्राप्त हो रही थी।

यद्यिपि प्रगतिवाद और पश्चिमी सभ्यता और समाजवाद का प्रभाव 'अरब' जगत में धार्मिक बन्धनों से मुक्ति दिला रहा था। आधुनिकरण की लहर तेज़ी से आगे बढ़ रहीं थी, फिर भी तीन तरह के संघर्ष अरब जगत में चल रहे थे। (प्रथम) स्वतन्त्रता और गणतन्त्र को ग्रहण करने को अरब जगत तेज़ी से आगे बढ़ रहा था, लेकिन उस पर 'सैनिक' तन्त्र हावी होकर नये गणतन्त्र की परिभाषा अपने ढंग से कर रहा था। उस समय सैनिक-तन्त्र का झुकाव कभी साम्यवादी गुट की ओर हो जाता था, तो कभी समय पड़ने पर 'पश्चिमी अमेरीकन' गुट की ओर हो जाता था, जिसमें फ़्राँस, इंग्लैण्ड सहित कई देश शामिल थे। पश्चिमी आधुनिक साम्राज्यवाद खुलकर अपने 'सैनिक' अड्डे एशिया में बना रहे थे। जिन्हें अपार आधुनिक सामरिक और ख़तरनाक शस्त्र दे रहा था, साथ ही साथ साम्यवादियों के विरूद्ध अधिनायकवाद भी अपने अस्तीत्व को क़ायम रखने के लिये अरब जगत में हर तरह से प्रयत्नशील था।

(2) आधुनिकरण की बढ़ती हुई परछाई से कट्टरवादी धार्मिक नेता असन्तुष्ट हो गये थे, वह धर्म को बचाने के नाम पर नौजवानों को शस्त्र उठाने के लिये तथा जिहाद करने के लिये 'शह' दे रहे थे। कट्टरवादी धार्मिक नेता अपने अस्तीत्व के लिये, अरब जगत की राज्यसत्ता पर क़ाबिज़ होने के लिये, संघर्ष कर रहे थे। धार्मिक नेता, पश्चिमी आधुनिक सभ्यता और समाजवाद प्रगतिवाद दोनों के ही विरूद्ध थे। लेकिन, पश्चिमी राष्ट्रों से सैनिक सहायता लेने से नहीं चूकते थे।

(3) इस्लामिक जगत में अशान्ति और अन्तर्राष्ट्रीय आतंक का मुख्य कारण आर्थिक साम्राज्यवाद ही था, क्योंकि 'तेल' क्षेत्र पर (Oil region) आधिपत्य क़ायम करना ही शक्तिशाली गुटों का लक्ष्य रहा है। जो 'अरब' जगत को चैन से नहीं बैठने दे रहा था।

जब नासिर, टीटो तथा अन्य प्रगतिशील सैनिक गुटों का 'अरब जगत में 'ह्रास' हो गया,

तब धार्मिक कट्टरवाद ने नई सभ्यता के तूफ़ान को रोकने के लिये 'प्रगतिवाद' और 'पश्चिमी' सभ्यता के विरूद्ध हथियारबन्द धार्मिक गुट वाले नौजवानों के अन्दर धार्मिक उन्माद भरने का काम किया और हत्यायें तथा शक्ति प्रदर्शन करके आतंक फैलाने की योजनाओं का विस्तार किया। उनका मुख्य लख्य प्रथम समाजवादी प्रगतिवाद को समाप्त करना था। इस लक्ष्य के लिये उन्हें पश्चिमी देशों से और उनकी गुप्तचर संस्थाओं से मदद मिलने लगी। सैनिक छापामारों के रूप में वह प्रगतिशील शक्तियों की सरकारों को अरब जगत से हटाने का प्रयास करने लगे।

उदाहरण के लिये नासिर के उतराधिकारी राष्ट्रपति "सादात" President (Sadat) ने अमेरीकन प्रभाव में आकर इज़राइल का शान्ति प्रस्ताव स्वीकार कर लिया। इससे अरब जगत में शान्ति की स्थापना नहीं हुई, बल्कि मिश्र (Egypt) "अरब जगत की राजनीति की मुख्य धारा से बाहर निकाल दिया गया। अब वह अमेरीकन प्रभाव में आगया था, रूस ने इसका घोर विरोध किया। वास्तव में अमेरीका अरब के तेल के क्षेत्र में, एक ऐसा क्षेत्र बनाना चाहता था, जो साम्यवादी प्रभाव से मुक्त रहे। और अमेरीकी गुट के प्रभाव में रहते हुये, उसके हितों की रक्षा करे। इसके लिये अमेरीकन गुट, धार्मिक कट्टरवादियों को खुलकर आर्थिक और सैनिक मदद कर रहा था। जो आगे जाकर उसी के लिये घातक हो गया।"

ईरान में, आधुनिकरणवादियों व कट्टरवादियों में संघर्ष

इतिहास के पृष्ठ संकेत देते हैं, 1796 से 'काजरी' वंश का शासन 'मिश्र' में चालू हुआ। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में इसी के वंश के शासक, नासिरूद्दीनशाह ने रूसियों के कहने पर, 1856 में, 'हरात' पर हमला बोल दिया। इस पर ब्रिटिश सरकार के भारत में गवर्नर जनरल ने अपनी सेना को ईराक़ के विरूद्ध 'युद्ध' में उतार दिया। क्योंकि उस काल में भारत का गर्वनर जनरल ब्रिटिश सरकार का हित इस क्षेत्र में देखता था। रूसियों ने भी 'ईरान' की कोई मदद नहीं की थी। इसलिये ईरान के शाह की हार हुई। 'हेरात' के युद्ध में हार के बाद ईरानी सेना ने हैरात ख़ाली कर दिया और अफ़ग़ानिस्तान की स्वतन्त्रता 1857 की पेरिस सन्धि के अनुसार स्वीकार कर ली गई।

नासिरूद्दीनशाह की हत्या

अंग्रेज़ों को नसिरूद्दीनशाह ने व्यापार करने के, सम्पूर्ण अधिकार दे दिये। 1872 में, नसिरूद्दीनशाह ने, ब्रिटिश कम्पनी के एक उद्योगपति 'बेरन रायटर को' रेल और सड़के बनाने का ठेका और 24 वर्ष के लिये चूंगी वसूलने के अधिकार दे दिये। 1889 ई० में 'शाह' में उसे 'इम्पिरियल बैंक ऑफ़ पर्शिया' खोलने के अधिकार भी दे दिये गये।

फिर क्या था, सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान में विद्रोह फैल गया। 'मुल्ला' मौलवी सभी 'शाह' के विरूद्ध खड़े हो गये, वह 'पश्चिम संस्कृति के बढ़ते हुये प्रभाव को समाप्त करने के लिये विद्रोहियों के साथ खड़े थे, क्योंकि वह पश्चिमी संस्कृति को 'इस्लाम' विरोधी मानते थे। उस समय जमालुद्दीन अल अफ़ग़ानी ने उन्हें उत्तेजित कर दिया था। आख़िकार 'नसिरूद्दीनशाह' की हत्या कर दी गई, क्योंकि उसे पश्चिमी सभ्यता को बढ़ावा देने के लिये ज़िम्मेदार माना जाता था। नसिरूद्दीनशाह के समय में अंग्रेज़ों ने जो 'अफ़ग़ान' जनता का शोषण किया था, वह अफ़ गानियों की ग़रीबी का कारण था और उसका ज़िम्मेदार वहाँ की जनता 'शाह' को ही मानती थी।

सबसे पहले 'पश्चिमी' सभ्यता का असर फ़ौज़ी अफ़सरों पर ही पड़ा था क्योंकि वह अंग्रेज़ फौज़ी अफ़सरों के प्रभाव में रहते थे। उधर, ईसाई चर्च, मिशनरी के प्रचारकों ने आधुनिक शिक्षा के माध्यम से अपना प्रभुत्व आम जनता में क़ायम कर लिया था। योरोपियन संस्कृति के आधार पर मिशनरी सोसायटियों ने 'यज्द किरमान शीराज़' और इस्फ़ाहान में नई शिक्षा के आधुनिक शिक्षा केन्द्र स्थापित किये। 1837 में अमेरीकियों ने 'तेहरान' में एक स्कूल खोला था, जो आगे जाकर 'अलबुर्ज' कालिज के रूप में एक प्रमुख शिक्षा केन्द्र बन गया।

1837 में 'फ़ारसी' समाचार पत्र निकाला गया नसिरूद्दीनशाह के मंत्री 'मिर्ज़ा तक़ी खाँ, अमीरेकबीर' ने 'दारूल फ़ुनून' की स्थापना की, जो सैनिक शिक्षा चिकित्सा भूगोल, रसायनशास्त्र, विज्ञानशास्त्र आदि के साथ विदेशी भाषा पढ़ाने का केन्द्र बन गया। इसी के साथ-साथ संगीत, कला विभाग भी खोले गये। नाटक-कला के विकास के लिये एक रंग-मंच भी बनाया गया जिसे

बाद में 'मुल्ला-मौलवियों' ने बन्द करा दिया था। इसी कॉलेज का सबसे प्रसिद्ध विद्वान 'रिज़ी क़ुली ख़ां था, जो इसका प्रथम निर्देशक था।

ऐसा नहीं था कि साहित्य क्षेत्र में वह धरती बन्जर थी। 1874 में मिर्जा ज़ाफर कराज़ दाग्र प्रसिद्ध नाटक लेखक था। 1909 में मल्कूम खां "तबरीज़" के पत्र इत्तिहाद में कई नाटक प्रकाशित किये।

"हाज्जी शेख़ अहमद रूही के हाज्जी बाबा " की व्यंगपूर्ण लेखनी ने ईरानी समाज की बुराई पर चोट कर उसे जाग्रत किया। नये पत्र, पत्रिकाओं जैसे मुसाबात, नौबहार, दानिश, फ़िरदौसी, पार्स, गुलेज़र्द आदि ने गद्य और पद्य दोनों में ही साहित्यिक क्रान्ति को ईरान में जन्म दिया।

उस समय मिर्ज़ा मलकूम खां (1838-1908) ऐसे विचारों का मानने वाला था, जो योरोपियन जीवन शैली को पूर्णतया अपनाने पर ज़ोर दे रहा था। उसका मत था, राजनैतिक व्यवस्था में सैनिक सुधार पूर्ण समाज को बदलने में कामयाब नहीं हो सकते, वह ऐसे ही है, जो गिराऊ मकान जैसे हैं, जिसमें ऊपर की लीपापोती कुछ नहीं कर सकती, वह कहता था, "एक करोड़ लोगों का जीवन एक बिगड़ी हुई मशीन के पहिये से जुड़ा है, जिसे अनाड़ी और बेकार आदमी घुमाने की कोशिश कर रहे हैं।" वह योरोपियन संस्कृति अपनाने पर ज़ोर देता था, जो 'ईरानी' लोगों के भाग्य बदल सकती है। अपने विचारों को प्रकट करने में अपनी पुस्तक 'किताबचा-ए-ग़ैबी' में योरोपियन जीवन शैली अपनाने पर ज़ोर दिया।

क्रान्ति

नये विचारों की आँधी चल रही थी, ईरान आरम्भ से ही ऐशियन संस्कृति का केन्द्र रहा है। नये विचारों की हवाओं ने तथा 'तुर्की' और 'मिश्र' में बहती आधुनिक जीवन शैली के मस्त-मस्त रसीले झोकों की 'सुगन्धी' हवाओं ने ईरानी ज़िन्दगी में भूचाल ला दिया। वहाँ जो भ्रष्टाचार का आतंक छाया था, उसके विरूद्ध नौजवान 'क्रान्ति' के लिये तैयार होने लगे।

5 दिसम्बर, 1905, में तेहरान में चीनी में अधिक मुनाफ़ाख़ोरी के अपराध में 8 व्यापारियों को कोड़े लगाने की सज़ा दी गई। उसी से व्यापारियों ने आम जनता के साथ मिलकर प्रधानमंत्री एनुद्दीनशाह को हटाने की माँग की और वहाँ आन्दोलनों तथा हड़तालों की बाढ़ आ गई। अतः 'शाह' को झुकना पड़ा, जिसमें उदार प्रवृति के लोगों की इच्छानुसार संविधान बनाना पड़ा। इसी ग़म में शाह की मृत्यु हो गई।

तेल की राजनीति पश्चिमी एशिया में अशान्ति पैदा कर रही थी

रूस को यह डर सदा बना रहता था कि कहीं 'अंग्रेज़' तेल क्षेत्रों पर क़ब्ज़ा न कर लें, उधर 'अंग्रेज़' अपने साम्राज्य की एक ईंट भी खिसकने देना नहीं चाहते थे। दोनों ही ईरान में अपनी गोट बिछा रहे थे। ईरान में, 1907 की बात है, नये 'शाह' मोहम्मद अलि को 'जनतन्त्र' से बेहद नफ़रत थी उसने रूस के इशारे पर और उसके सहयोग से एक क़ज़्ज़ाक़ सेना का गठन किया, दूसरे परिवर्तन की आँधी चल रही थी। सुधारवादी आन्दोलन तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। 'राष्ट्रवाद' की भावना के साथ-साथ 'ईरान' में उग्रवाद भी शस्त्र, उठाने की तैयारी कर रहा था। 1908 में तुर्की से युवा वर्ग, ओर युवक तुर्क दल के कारनामों की कहानियाँ ईरानियों में भी उत्तेजना पैदा कर रही थी। 'राष्ट्रवाद' अब 'ईरान' में उस काल में मजबूती से क़दम जमा रहा था, जिसकी कमान नौजवानों के हाथ मे थी। 'युवा तुर्क' दल के नमूने पर ईरान में भी नौजवान 'फ़ारसी दल' का गठन किया गया। इसी दल के सदस्य ने अतावेग आज़म की हत्या कर दी तथा उसी समय

शाह की गाड़ी पर भी बम फेंका गया, जिससे उसके अंगरक्षक की मृत्यु हो गई। 1907 में नासिरल्मुल्क के नेतृत्व में उदारवादी मंत्री मंण्डल का गठन भी हुआ।

उधर अपने स्वार्थ की ख़ातिर रूस और ब्रिटेन ने 1907 में अगस्त के महीने में एक सन्धि करके 'ईरान' का आर्थिक शोषण करने के लिये ईरान को दो हिस्सों में विभाजित कर दिया। जिसके लिये "ईरान का जन आक्रोश" 'शाह' को ज़िम्मेदार मानता था। रूस और ब्रिटेन की सन्धि ने, समस्त ईरान को उग्रता के साथ जन क्रान्ति की ओर मोड़ दिया। ईरान में चारों ओर जन आन्दोलन का बिगुल बज उठा। दिसम्बर 1907 में जनता ने 'शाह' को हटाने का आन्दोलन छेड़ दिया। उस समय चारों ओर क्रान्ति का इन्क़लाबी नारा, ईरान की धरती और आकाश पर गूंज रहा था। उस काल में ईरान का जन-जन क्रान्तिकारी हो गया था। उसे कुचलने के लिये जून 1908 में, शाह के हुक्म से, तथा रूसी क़ज़्ज़ाक़ सेना के सहयोग से संसद भवन तक पर बमबारी की गई। ईरान की धरती क्रान्तिकारियों के लहू से लहू-लुहान हो गई थी। ईरानी जनता, विशेषकर, नौजवान रूसी सशस्त्र सेनाओं से टकरा रहे थे। ऐसा जोश ईरान के इतिहास में कभी पहले नहीं देखा गया था।

फ़रवरी 1909 में लाखों लोगों की शहादत इस बात की गवाह है, कि ईरानियों ने संगीनों के सामने सीने खोल दिये थे। क्रान्तिकारियों के अपार जन समूह की लाशों के ढेर पर गुजरती हुई रूसी सेनाएँ, तबरीज़ में प्रवेश तो कर गईं, लेकिन क्रान्तिकारियों का संघर्ष बराबर चलता ही रहा और उस संघर्ष की आग दूसरे क्षेत्रों में भी फैल गई, दक्षिण में वरूत्यारी क़बीले "अली कुली ख़ां" के नेतृत्व में, जो यूरोप की यात्रा से वापिस आया था। आगे बढ़े, वह 'इस्फ़ाहान' को पार कर रेस्त की ओर चल दिये। रेश्त के आपार मीनी और 'तुर्क' तथा 'काके शियाई' दस्तें उन से मिल गये। उन्होंने मिलकर तेहरान को चारों ओर से घेर लिया। तेहरान की सड़कों पर तथा उसकी गलियों में 'शाही' सेना, और जनता के मध्य संग्राम होता रहा। लाशों के ढेर लग गये। 'शाह' जनता से हार कर 'ओदेशा' भाग गया।

उसके बाद कुछ दिनों के लिये शान्ति हुई, **'शाह'** का 12 वर्षीय पुत्र गद्दी पर बैठा दिया गया लेकिन उसके बाद पश्चिमी देशों का प्रभाव **ईरान** में बहुत बढ़ गया। उसके परिणामस्वरूप, अमेरीका के आर्थिक विशेषज्ञ "भार्गन शस्तर को आर्थिक सुधारों के बहाने अधिक अधिकार दिये गये तो, उससे रूसी और भी उत्तेजित हो गये । उसने 1911 में उत्तरी ईरान पर हमला कर दिया। उधर 'शाह' ने भी दिसम्बर 1911 में ही मजलिस को भंग कर, संसद में ताला डाल दिया। इतिहास की घटनाएँ तेज़ी से बढ़ रही थीं, लेकिन वहाँ गणतन्त्र कहीं नहीं दिखाई देता था।

ईरान की 'क्रान्ति' चाहते हुये भी 'गणतन्त्र' की स्थापना नहीं कर पाई। क्योंकि उसका 'लक्ष्य' 'रूसी' और साम्राज्यवादियों द्वारा बनाई भूल-भूलैयों में फंस कर रह गया। संसद में कभी ताले लग जाते थे, और कभी 'जनवादी' आन्दोलनों में कट्टरपंथी प्रवेश कर उसे धार्मिक और राजनैतिक प्रभुसत्ता की ओर मोड़ देते थे। प्रथम विश्व युद्ध तक रूसी और पश्चिमी साम्राज्यवादियों द्वारा ईरानी जनवाद कई बार बुरी तरह रौंदा गया था।

प्रथम विश्व युद्ध

1914 में, प्रथम विश्व युद्ध आरम्भ हो गया, जर्मन 'ईरान' को अपने साथ रखना चाहता था, 'बाखमूस' 'त्सूगमायर' और 'नीदरमायर' जैसे जर्मन दूत 'ईरान' पर प्रभाव जमाये हुये थे। रूसी फ़ौजों ने जो पहले, ही 1915 तक इरान में मौजूद थी, तेहरान पर क़ाबिज़ हो गईं और वहाँ जर्मन प्रभाव को समाप्त कर दिया। युद्ध की आग ओर छीना-झपटी का तंगदिल माहौल था, तुर्की भी

'ईरान' पर क़ब्ज़ा करना चाहता था, लेकिन रूसी सेना ने उसे वहाँ नहीं जमने दिया और मार भगाया। रूसी क्रान्ति होने पर रूसी सेना ईरान को आज़ाद करके चली गई। लेकिन ईरान का आपसी संघर्ष चरम सीमा पर था। वह संघर्ष आग बन कर ईरान की शान्ति निगलने लगा। विद्रोह की आग जल रही थी, 'कूचिक ख़ां' ने "गीलान" में विद्रोह खड़ा कर दिया। शैख़ मोहम्मद 'खियावानी' के नेतृत्व में केन्द्रिय सरकार के ख़िलाफ बग़ावत का झण्डा बुलन्द हो गया। अंग्रेज़ ईरान को छोड़ना नहीं चाहते थे। साम्राज्यवाद का आतंक उन्हें कोई मौलिक अधिकार भी नहीं देना चाहता था। हर तरफ़ ईरान में ज़ोर-ज़र्बदस्ती ही थी। ब्रिटिश सेना ने, बोल्शेविक प्रसार को रोकने के बहाने सम्पूर्ण 'ईरान' को ही धर-दबोचा और उस पर ब्रिटिश हकूमत का क़ब्ज़ा हो गया।

मानव अधिकारों की माँग के लिये 'ईरान' में संघर्ष जारी था। उस काल में नौजवान वर्ग अपनी स्वतन्त्रता की माँग के लिये रक्त बहा रहा था। 9 अगस्त 1919 की सन्धि, भी एक धोका थी, जो ईरान सरकार को दिखावटी स्वतन्त्रता के नाटक के रूप स्वीकार की गई थी। इसमें ईरान का दर्जा एक उपनिवेश से अधिक कुछ नहीं था। ईरान कभी ब्रिटिश, कभी रूस तथा कभी अन्य महाशक्तियों के आतंक का शिकार होता रहता था। उसे आर्थिक तथा राजनैतिक साम्राज्यवाद के 'दबाव' को हटाने के लिये धर्मान्धता नौजवानों को अपने क़ब्ज़े में कर लेती थी, इन सब का परिणाम ग़रीब जनता को ही सहन करना पड़ता था। वहाँ पर मानवता तिल-तिल कर के मृत्यु को प्राप्त होती थी।

आगे जाकर 1920 में रूसी बोल्शेविकों को यह भय महसूस हुआ कि अंग्रेज़ ईरान के तेल भण्ड़ारों पर नज़र लगाये हुये हैं। उन्होंने भी 'कैस्पीन' सागर की ईरानी हिस्से पर क़ब्ज़ा कर लिया और यहीं पर अपनी मौजूदगी 'दर्ज' करा दी, इस पर ब्रिटिश फ़ौजें तथा क़ज़्ज़ाक़-फौज़ी दस्ते अन्दर तक प्रवेश कर गये, नौजवान क्रान्तिकारी फिर से हरक़त में आ गये।

उस समय ईरानी क्रान्तिकारियों का नेतृत्व एक साहित्यकार और पत्रकार सैय्यद जियाउद्दीम, 'तवातबाई' कर रहा था। उसने 'रिजा' खां को प्रोत्साहित किया जो कबाज़ दस्तें का एक आला अफसर था। 22-23 फरवरी 1921 के रात्रि के पहर में 300 सैनिकों के साथ तेहरान पर क़ब्ज़ा कर लिया, जिसमें ज़ियाउद्दीन के नेतृत्व में एक नई सरकार बनी, जिसमें, 'रिजा खां' मंत्री बनाया गया।

उधर रूस में क्रान्ति के कारण, सभी दृष्टीकोण बदल रहे थें। रूस ने साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ और पूँजिवाद के विरूद्ध बिगुल बजा दिया था। उसके परिणामस्वरूप उन्होंने ईरान को अपनी ओर से पूर्ण स्वतन्त्रता दे दी थी। ईरान पर से सभी कर्ज़े माफ कर दिये। रूस और ईरान के सम्बन्ध दोस्ताना हो गये। यह देखकर तुर्की ने भी 'ईरान' से अपने सम्बन्ध बेहतर बना लिये। जब रूस और तुर्की से 'ईरान' के सम्बन्ध मधुर हो गये। तब विवश होकर अंग्रेज़ी फ़ौज़ों, को भी 'ईरान' की धरती को ख़ाली करना पड़ा। रिजा खां के नेतृत्व में ईरान की 'राजनीति' पटरी पर आ रही थी। यहाँ यह बात साफ़ हो जानी चाहिये कि 'रिजा खां' एक तानाशाह प्रवृति का व्यक्ति था।

वह जनतन्त्र में विश्वास नहीं करता था। वह सत्ता के सिंहासन पर पहुँचने के लिये हिंसा का सहारा ले रहा था। उसने प्रसिद्ध पत्रकार, लेखक तथा प्रधानमंत्री सैय्यद ज़ियाउद्दीन की हत्या करवाकर स्वयं प्रधानमंत्री बन गया।

तानाशाही और हिसां के ख़ौफ़नाक शिकंजे में फंसा 'ईरान' 'जनतन्त्र' की तलाश में भटक रहा था। उधर "रिजा खाँ" अपनी महत्वकांक्षा को बढ़ाता हुआ 'जनतन्त्र' की भावनाओं को बन्दूक की 'नोक' से कुचल रहा था। 'शिया' 'मौंलवी' उन्हें पूर्ण सहारा दे रहे थे। 1925 के फ़रवरी माह

में उसने अपने को ईरान का 'शाह' घोषित कर दिया और बड़ी शान के साथ वह 25 अप्रैल 1926 को 'रज़ा शाह पहलवी' के नाम से ईरान सिंहासन पर बैठ गया। उसने इस्लामिक देशों के साथ दोस्ती का हाथ बढ़ाया। ईराक, तुर्की तथा अफग़ानिस्तान से दोस्ती करके इस्लामिक देशों की एकता का नारा दिया और ईरान को मज़बूत करने के लिये उनसे सहयोग भी लिया।

अपने को स्थापित करने के बाद वह एक होशियार खिलाड़ी की तरह तथा अन्य फ़ौंजी राजनेताओं की तरह, 'धर्मवाद' को पीछे छोड़ दिया। उसने पश्चिमी, संस्कृति और औद्योगिकरण के लिये ईरान के 'द्वार' खोल दिये। उसी काल में 1920 में सैय्यद हसन 'तकीज़ाजा' ने पश्चिमी सभ्यता को अपनाने की सख़्त अपील की थी।

पश्चिमी सभ्यता की ओर ईरान के बढ़ते क़दम

सबसे पहले ईरान ने मध्य कालीन संकीर्ण जिन्दगी से निजात पाने की ओर अपने क़दम आगे बढ़ाये। मध्य कालीन संस्कृति से छुटकारा पाने के लिये 'रियाज़ शाह' ने 1935 में अपने देश का नाम 'फारस' बदल कर ईरान रखा। उसने अपने नाम के साथ 'पहलवी' लगाना आरम्भ कर दिया जो पुरातन राजवंश से सम्बन्धित था। जिसे 'पार्थिक' राजवंश कहते थे। उसने 1930 और 1935 में बहुत से धार्मिक प्रचलनों पर पाबन्दी लगाई। धार्मिक जायदादें ज़ब्त कर लीं। दरवेशों के सम्प्रदाय का दमन करके उन पर बहुत सख़्ती से प्रहार किया। धार्मिक उपाधियों पर पाबन्दी लगा दी। हाज्जी, मशहदी तथा 'करबलाई' उपाधि सम्बोधन बन्द करा दिये। उसने इस्लामिक 'चाँद' तारीख़ों के स्थान पर 'ईरानी' 'सौर' तारीख़ें लिखने पर ज़ोर दिया। 'शरीअत' के क़ानूनों के स्थान पर उसने 'फ्राँसीसी' कानून लागू किये। यही ही नहीं 'तलाक़' क़ानून को भी उसने नये आधुनिक ढंग से लागू किया। उससे भी आगे बढ़कर लड़कियों की शादी की आयु 9 वर्ष से बढ़ाकर 15 वर्ष कर दी। उसी के साथ-साथ काज़ियों और मुल्लाओं को हटा कर पश्चिमी न्याय व्यवस्था के अनुरूप न्यायालय बनाये गये।

लड़कियों की तालीम के लिये स्कूल कालिज खोले गये। उसके लिये पर्दे के रिवाज़ से औरतों को छुटकारा दिलाना आवश्यक था। सबसे पहले स्वयं 'रानी' बिना पर्दे के बाहर आई। 'शाह' ने आदेश दिया, आधुनिक बाज़ारों में औरतें बिना पर्दे के ख़रीदारी करने जाएँ। सरकार ने 2500 पौण्ड इसलिये वितरित कराएँ, जिससे औरतें आधुनिक ढंग से कपडे बनवा लें। सरकार की ओर से महिला उत्थान केन्द्र तथा सांस्कृतिक केन्द्र बनाये गये, जिससे महिला आगे बढ़कर र्निभीकता से कार्य कर सकें।

यही नहीं ठहरा आधुनिकिकरण का कारवाँ, ईरान में पुरानी वेभ-भूषा को छोड़कर आधुनिक ढंग से कपड़े पहनना क़ानूनी तौर पर अनिवार्य कर दिया, जिससे धार्मिक मनोवृति के लोगों को बहुत बुरा लगा। 1936 में तो स्त्रियों को योरोपियन ढंग के वस्त्र धारण करना, अनिवार्य कर दिया गया।

सरकारी तौर पर 'ईरानी' पुस्तकों से 'अरबी' शब्द निकालने शुरु कर दिये गये। ईरानी भाषा में 50 प्रतिशत शब्द 'अरबी' के थे, जिन्हें निकालना बड़ा मुश्किल काम था। 1935 में ईरान के राष्ट्र कवि फ़िरदौसी तक ने 'अरबी' की जगह अधिकतर शब्द फ़ारसी के ही प्रयोग किये थे।

धीरे-धीरे 'फ़ारसी' भाषा पश्चिमी सभ्यता के साथ ईरान में, एक नई सभ्यता से पश्चिमी एशिया को परिचित करा रही थी।

वह काल फ़ारसी तथा पुरातन ईरानी संस्कृति के जागरण का युग था

उस काल में ईरान की राष्ट्रीयता जाग रही थी। साहित्य जगत और ईरान के उच्च कोटि के लेखक 'ईरान' की 'अतीत' की संस्कृति और इतिहास के सुनहरे पन्नों की खोज कर रहे थे जो समय की गर्त में संकीर्णता तथा साम्राज्यवादियों ने अर्थहीन कर दिये थे।

जहां 'शाह' अतीत के सांस्कृति पहलूओं को अनुसंधान की प्रयोगशाला में लाये, वहीं नवीन साहित्य शैली को जन्म देकर संकीर्णता पर गहरी चोट भी की थी। जहाँ बीसवीं सदी के 'फ़ारसी' साहित्य ने 'ईरान' की राष्ट्रीयता को नवीन दर्पण दिखाया, वहीं देश भक्ति के तरानों से माहौल राष्ट्रवादी हो गया। उस काल के साहित्यकारों ने 'फ़ारसी' साहित्य को विश्व मंच पर स्थापित किया।

भारत में भी एक कहावत बड़ी प्रसिद्ध थी, जो 'फारसी' भाषा और साहित्य की विशालता पर प्रकाश डालती है —

"पढ़े फ़ारसी बेचे तेल, यह देखो ! क़िस्मत के खेल।

अर्थ साफ है, फ़ारसी पढ़ने के बाद ऊँचे पदों पर स्थापित होना अनिवार्य था, ऐसा न होने पर इसे बदकिस्मती ही कहा जायेगा।

फ़ारसी साहित्य प्राचीन काल से ही जहाँ अपना उच्च स्थान रखता है, वहीं 20 वीं सदी के महान् साहित्यकार "मलिक-उश-शुअरा बहार (1886-1951), जो महान् राष्ट्रवादी आधुनिक शैली के साहित्यकार थे। फ़ारसी साहित्यकार 'पूरे-दाऊद' ने अपनी कविताएँ "अल्लाह" की तारीफ़ में, न कहकर, "हुरमुज्द" की 'इबादत' से शुरू की थी। "मोहम्मद रिज़ा-ईशाकी" ने ईरान की प्राचीन संस्कृति को बड़े साहित्यिक प्रस्तुति में प्रकट किया था।

"मोहम्मद फ़र्रूरवी" ने (1889-1939) समाजवादी साहित्य को मुखरित किया था। "परविन-ए-इतिसामी" 1907 से 1941 तक एक उच्च कोटि की कवित्री रही थीं, जिन्होने 'माँ' की ममता तथा मातृ पक्ष की भावात्मक साहित्यक प्रतिमा को विकसित किया था। 20 वीं सदी में अनेकों प्रगतिशील ईरानी साहित्यकार अपनी लेखनी से मानवता को जगा रहे थे। आम आदमी के दर्द को अपनी 'क़लम' से प्रकट कर रहे थे।

साहित्यक जाग्रति से मानव जगत में क्रान्ति आ गई। संर्कीणता की ज़ंज़ीरें ईरान में चटकने लगीं। ज़मींनदारी-साहुकारी जैसी प्रथाओं का ख़ात्मा हो गया। उसी के साथ-साथ विज्ञान और आधुनिक तकनीकी ने ईरान को नई मंज़िलों तक पहुँचाया। समय बदल रहा था और तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। 1939 को, यूरोप द्वितीय महायुद्ध के काले 'बारूदि' बादलों के धुँये से पीड़ित हो, दम तोड़ने लगा। युद्ध की घन-घोर घटाओं से ईरान भी नहीं बच पाया। "रिजाशाह" ने हिटलर से दोस्ती कर ली जिस सं मित्र राष्ट्रों का प्रकोप ईरान को सहन करना पड़ा। जर्मन का रूस पर आक्रमण होने पर एशिया युद्ध की आग में जलने लगा। युद्ध का आतंक ईरान का दरवाज़ा खट-खटाने लगा। उसी से प्रभावित हो, रूसी तथा अंग्रेज़ी फ़ौजे ईरान में प्रवेश कर गईं। रूसी और अंग्रेजी सेनाओं के साये में ईरान को फिर से जीने को मजबूर होना पड़ा। "शाह को तख़्त से उतार दिया गया और उसे 'मारिशस' के ब्रिटिश द्वीप में भेज दिया गया। 1944 में जोहन्सबर्ग दक्षिण अफ्रीका में शाह का निधन हो गया। युद्ध काल में ईरान की जन शक्ति मित्र राष्ट्रों की ग़ुलामी में जीवन व्यतीत कर रही थी। युद्ध के समय ईरान की हालत बहुत ख़राब हो गई थी। उसकी प्रगति की गति रूक गई थी। युद्ध समाप्त होने पर जब ब्रिटिश, रूसी तथा अमेरीकी सेना वापिस चली गईं और तब उसके बाद कहीं जाकर ईरान ने घुटन से बाहर निकलकर सांस ली, फिर से अपनी 'राष्ट्रीयता' के बल पर, नये ईरान के निर्माण को आरम्भ किया।

युद्ध की काली घटाएँ हटने पर जब युद्ध की बर्बरता से पश्चिमी एशिया को छुटकारा मिला, और वह अपने निर्माण के लिये आगे बढ़ा, तब फिर से कठोर दो महाशक्तियों के लोह समान शिकंज़े ने एशिया को बुरी तरह जकड़ लिया। महाशक्तियों के आतंक ने जनवादी 'प्रजातन्त्र' को पनपने नहीं दिया था, पश्चिमी महाशक्तियाँ धर्म की संकीर्णता की ज़ंज़ीरों में जकड़े एशिया को ख़ौफ़नाक' शस्त्रों की पूर्ति कर, उन्हें आतंक के लिये तैयार कर रही थी, तो दूसरी महाशक्ति अधिनायकवादी, तानाशाही को शह दे रही थी। दोनों महाशक्तियाँ एशिया में 'बारूदि' भण्डारों के ढेर लगा रही थी।

इसी कशमाकश में पश्चिमी एशिया की मानवता रौंदी जा रही थी। आगे जाकर पश्चिमी एशिया में 'रूस' में साम्यवाद की समाप्ति के बाद अमेरीका का एक छत्र राज्य दुनिया में क़ायम हो गया। परिणामस्वरूप धार्मिक कहा जाने वाला कठोर आतंकवाद पश्चिमी एशिया में अपना ख़ौफ क़ायम करने लगा।

आधुनिक आतंकवाद का विस्तार

धार्मिक कट्टरवाद पश्चिमी एशिया, विशेषकर तुर्की, ईरान तथा मिश्र में कमज़ोर पड़ गया था। इसी कारण स्वतन्त्र रुप से यह देश विज्ञान क्षेत्र में प्रगति की ओर बढ़ रहे थे अनेकों कठिनाईयों के होते हुये भी अधिकतर सरकारों का लक्ष्य 1952 ई० तक बाद की पुरानी परम्पराओं को तोड़कर अपने-अपने देशों में आधुनिक निर्माण की ओर ही रहा। लेकिन, महाशक्तियों की दखलअन्दाजी उनके विकास को बाधा पहुँचाती रहती थी, विशेषकर इन देशों में शासन प्रवृतियों, और अध्यक्षों के बदलाव के कारण विकास का रथ ठहर सा जाता था। जैसा लिखा जा चुका है, नासिर के बाद मिश्र का झुकाव अमेरीका की तरफ़ हो गया था, और अमेरीकी महाशक्ति अपना फैलाव मिश्र में कर रही थी। उसी की प्रतिक्रिया में, रूस ने अपना फैलाव सीरिया (Syria) और 'ईराक़' (Iraq) में आरम्भ कर दिया। उस समय अमेरीका को बेहद चिन्ता हुई, उसने रूस (Soviet Union) और धनी तेल भण्डार वाले देशों के मध्य रूस के विरूद्ध एक ऐसी शक्ति बनानी आरम्भ कर दी जो रूस तेल के धनी देशों से दूर रख सके, इसी कारण अमेरीका ने 'ईराक' के भ्रष्टशासक 'शाह' की आर्थिक मदद करनी आरम्भ कर दी। उसके परिणामस्वरूप ईरान में आधुनिक पश्चिमीकरण, भ्रष्टाचार और नग्न फैशन पस्ती के विरूद्ध एक धार्मिक क्रान्ति 1979 ई० में हो गई, जिसने ईरान में 'शाह' के 'भ्रष्ट' शासन का अन्त कर दिया। उस धार्मिक क्रान्ति का नेता अयातुल्ला खुमानी (Ayatollha Khomani) था, जो सम्पूर्ण पश्चिमी एशिया के इस्लामिक जगत का ही नहीं, बल्कि विश्व भर के इस्लामिक कट्टरतावाद का आधुनिक जन्मदाता, आज भी कहा जाता है। उसने पश्चिमीकरण तथा पश्चिमी सभ्यता के विरूद्ध उतेजित ज़िहाद छेड़ दिया।

अयातुल्ला-खुमानी और आधुनिक धार्मिक कट्टरवाद

खुमानी ने 'इस्लाम' को पश्चिमीकरण से छुटकारा दिलाने के लिये और पश्चिमी सभ्यता से निज़ात, दिलाने के लिये कठोर धार्मिक 'शस्त्रधारी' जिहादी दस्ते बनाये जो विश्व भर में उसके आदेशों का पालन करते थे। खुमानी धार्मिकवादी ने एक आँधी की तरह से केवल सम्पूर्ण 'अरब' जगत में ही नहीं, बल्कि विश्व भर के मुस्लीम नौजवानों को अपनी ओर खीचं रहे थे। उसके एक इशारे पर अरब मुस्लीम नौजवान अपने प्राण देने को आतुर हो जाते थे। अधिकतर 'शस्त्रधारी' संगठनों ने उसको अपना नेता स्वीकार कर लिया था। उसका दिया हुआ 'क़त्ल' का 'आदेश' पश्चिमी देशों, रूस तथा अरब देशों के शक्तिशाली शासन-अध्यक्षों को भी कड़े फ़ौज़ी संरक्षरण में रहने को मजबूर कर देता था उसके एक 'आदेश' से अनेकों बड़े राजनेता या इस्लाम विरोधी कहे जाने वाले क़त्ल कर दिये गये। उस काल में सम्पूर्ण ईरान में धार्मिक ही नहीं पश्चिमी एशिया में आतंक का परियायवाची बन गया था।

खुमानिवाद (Khomanion) का प्रथम लक्ष्य महाशक्तियों को धार्मिक नारों के बल पर सम्पूर्ण मुस्लीम जगत से बाहर निकालना था। उसने सबसे पहले पश्चिमी सभ्यता के बढ़ते हुये प्रभाव

को रोकने के लिये ईस्लामिक क़ानूनों के आधार पर दण्ड देने की व्यवस्था की। अमेरीकी परस्त तथा रूस परस्त सरकारों का मुस्लीम जगत से उखाड़ फेकने के लिये जिहाद का नारा दिया।

वह साम्यवादी तथा पश्चिमी पूँजिवादी, दोनो दर्शनों का कट्टर शत्रु था तथा वह दोनों ही विरूद्ध खुले छापामार संघर्ष का आवाहन कर रहा था। उसके प्रभाव से ही अफ़गानिस्तान से लेकर अलजीरिया तक रूसी समर्थक सरकारों पर हमले हो रहे थे। उसने सबसे पहला निशाना रूसी सरकारों को मिटाने में लगाया।

वास्तव में 1979 में रूस का अफ़ग़ानिस्तान पर अपनी समर्थक सरकार को बचाने का अभियान 'कट्टरवादी' धार्मिक संगठनों ने नाकामयाब कर दिया, जिससे साम्यवाद के बढ़ते क़दम ठहर से गये। यद्यपि अफ़ग़ानिस्तान के धार्मिक कट्टरवादियों को अमेरीका, ब्रिटेन तथा अन्य पश्चिमी योरोपियन देशों की महाशक्तियाँ धन और दौलत तथा आधुनिक घातक शस्त्रों से मदद कर रही थीं, तथा सैनिक सहायता दे रही थीं। अफगानिस्तान में जितनी भी (बंकर) खाईयाँ बनी हैं वह सभी अमेरीकी सैनिक मदद से साम्यवादियों को रोकने के लिये ही बनाई गयीं थी। जो इस बात की गवाह हैं कि अफ़ग़ानिस्तान में धार्मिक कट्टरवादियों की शस्त्रों और धन से मदद प्रथम अमेरीका ने ही की थी, जो आगे जाकर अमेरीका के लिये भी परेशानी का कारण बन गई थी।

1979 में, ईराक़ भी एक बहादुर, तथा अति, मज़बूत इरादों वाले नेता, सद्दाम हुसैन के नेतृत्व में अपनी सैनिक शक्ति को अधिक आधुनिक ढंग से विकसित और अनुशासित करने लगा, उसने नासिर की तरह 'अरब' देशों को एकत्र करने की परम्परा को आगे बढ़ाया। ईरान पर आक्रमण के समय उसे अरब देशों से तथा पश्चिमी महाशक्तियों से भारी सहायता प्राप्त हुई लेकिन वह युद्ध द्वारा किसी लक्ष्य की प्राप्ति नहीं कर पाया। उसने 1990 में कुवैत (Kuwait) पर आक्रमण कर दिया और उस पर समस्त विश्व भर में घोर प्रतिक्रिया भी हुई और ईराक को उससे भारी नुकसान भी उठाना पड़ा। लेकिन 1991 में उसने अपने को एक शक्तिशाली नेता के रूप में इस्लामिक जगत में स्थापित कर लिया। जो वर्तमान में पश्चिमी महाशक्तियों को चुनौती देता रहता था तथा इस्लामिक जगत से महाशक्तियों को बाहर निकालने के लिये संघर्ष करता रहता है। वह शस्त्रधारी इस्लामिक जिहादियों के लिये चेतना का प्रतीक बन गये थे, जो महाशक्तियों से इस्लामिक जगत को मुक्त कराना चाहती थी। "अमरीका और इंग्लैण्ड ने, रूस की प्रभावशाली सरकारों को समाप्त करने के लिये, सी.आई.ए. द्वारा मुज़ाहिद्दीन को अपार मदद की गई तथा उन्हें हज़ारों टन बारूद दिया गया, जो बाद में अमरीका के विरूद्ध ही प्रयोग किया गया।

"ओसामा बिन लादेन आधुनिक आतंकवाद का नायक"

संसार की एक मात्र महाशक्ति, अमेरीका जिसकी धन और दौलत, शस्त्रविद्या और कूटनीति की सहायता से परवरिश पाकर, दुनिया का सर्वाधिक ख़ूंख़ार 'आतंकवादी' कहा जाने वाला नेता 'ओसामा बिन लोदेन' अमेरीकी साम्राज्यवाद के रक्षा-कवच में विकसित और जवान हुआ था। वह वर्तमान में अमेरीका पर हुये आतंकी हमले का सूत्रधार भी माना जाता है, आख़िर ओसामा बिन लादेन की कहानी क्या है ? वह अमेरीकी साम्राज्यवाद की गोद में परवरिश पाकर, अमेरीका का शत्रु कैसे बन बैठा जो लादेन, एक समय अमेरीकी ख़ुफ़िया तन्त्र का लोकप्रिय नायक था, उसने अपने आंतकी दाँत, अपने संरक्षक, अमेरीका को ही क्यों दिखाने शुरू कर दिये ? यह प्रश्न और उसका उत्तर इतिहास में साफ़तौर पर लिखे जा रहे हैं। राजनीति शास्त्र में भी इन प्रश्नों पर शोध कार्य चलता रहेगा।

पश्चिमी बडे समाचार–पत्रों के अनुसार धार्मिक 'जेहाद' के नारों के साथ अपनी बर्बर 'सनक' से दुनिया को दहशत गर्दी का शिकार बनाने वाला 'लादेन' स्वयं अपने में, सनसनीखेज़ दस्तावेजों का संग्रालय कहा जाता रहा है।

लादेन का जन्म और परिचय

22 अक्टूबर 1950, को लादेन का जन्म, सऊदी अरब के रियाध शहर में मसालों के एक धनी, व्यापारी मुहम्मद बिन लादेन के घर में उसकी 'नौवी' पत्नि से 50 वी सन्तान के रूप में जन्मा था, जिसका नाम ओसामा बिन लादेन रखा गया। जिस समय 'लादेन' पैदा हुआ उसके पिता की आयु 69 वर्ष की थी, मुहम्मद बिन लादेन के सब से बड़े बेटे की आयु उस समय 52 वर्ष की थी। प्रारम्भिक शिक्षा पूरी करने के बाद, जब ओसामा आगे की पढ़ाई करने के लिये लन्दन जाने लगा या बेरूत जाने की तैयारी कर रहा था, तो उसके पिता की मृत्यु हो गई। उस समय ओसामा की आयु 17 वर्ष की थी, लादेन अपने पिता की शक्ल से बहुत मिलता था, इसलिये लोग उसे 'लादेन' ही कहने लगे। लादेन की लम्बाई 17 वर्ष की आयु 6 फीट 7 इंच थी। ओसामा, आरम्भिक जीवन में बड़ा व्यवहारिक और सम्मोहित करने वाला व्यक्ति था। उसका आकर्षक व्यक्तित्व तथा 'बुद्धिमान' व्यवहार उसके व्यक्तित्व को उसके बचपन और जवानी से ही उत्तेजित कर रहा था।

17 साल की आयु में ही ओसामा को जूनियर लादेन के नाम से लोग पुकारने लगे। क्योंकि यह एक रोबिला आकर्षक नौजवान था। उसके पिता, मुहम्मद बिन लादेन की मृत्यु 1967 में हुई थी। उस समय तक सम्पूर्ण लादेन परिवार एक साथ मिल कर रहता था जबकि उस परिवार के लोगो की संख्या 277 थी। लादेन परिवार आपसी सम्बन्धों के मामले में विभिन्न चरित्र वाले व्यक्तियों से पूर्ण था फिर भी वह लोग एक कुटुम्ब के सदस्यों की भाँति रहते थे।

यद्यपि सऊदी अरब में संयुक्त परिवार की (Joint family) कोई विशेष परम्परा नहीं थी। वह एक आधुनिक परिवार था, और कट्टरवाद को कोई भी चिह्न लादेन परिवार में नहीं मिलते थे। वास्तविकता यही थी, मुहम्मद बिन लादेन 1894 में यमन में सऊदी अरब से आए थे। जो मसालों के बड़े अच्छे व्यापारी थे। सम्पूर्ण खाड़ी देशों में उनके मसालों के व्यापार का अच्छा नाम था। यह परिवार व्यापार के सम्बन्धों से एक जगह से दूसरी जगह परिवार सहित यात्रा करते रहते थे। उस काल में यमन गरम मसालों के उत्पादन के लिए मुख्य देश था। ख़ास तौर पर वहाँ की काली मिर्चे बहुत ही मशहूर थी। 19 वीं शताब्दी के अन्तिम दिनों में सऊदी अरब के ततकालीन शेख़ परिवार को लादेन के मसालों ने इतना प्रभावित किया कि उन्होंने लादेन परिवार को शाही नगर रियात में स्थाई रूप से बस जाने का आग्रह किया। वैसे यमन और सऊदी अरब दोनों ही ईस्लामी देश हैं। फिर भी दोनों देशों के रहन-सहन में, भाषा और संस्कृति में बहुत अन्तर है और लादेन के पूर्वजों ने यह निर्णय किया कि वह सऊदी अरब में रहते हुए यमन कि संस्कृति को नहीं छोड़ेगे और वहाँ पर संयुक्त परिवार की हैसियत से मिल करके रहेंगे। चाहे, परिवार कितना ही बड़ा क्यों ना हो जाए, ये परिवारिक एकता मुहम्मद बिन लादेन तक चलती रही। लेकिन बाद में नई पीढ़ियाँ सऊदी अरब की संस्कृतियों में समा गईं।

1932 में जब आधुनिक सऊदी अरब की जीवन यात्रा आरम्भ हुई जिस में पैट्रोल की खोज ने आर्थिक क्रान्ति ला दी। तब सऊदी अरब का विकसित अस्तित्व निखरने लगा। सऊदी अरब में नया निर्माण युग आरम्भ हो रहा था। ऊँचे-ऊँचे विशाल भवन आधुनिक सुसज्जा के सत्य से आकाश को छूने लगे। आधुनिक संस्कृति और सभ्यता विकसित होने लगी थी। वास्तव में यह सऊदी अरब में परिवर्तन का युग था।

लादेन परिवार ने भी मसालों का धन्धा छोड़कर भवन निर्माण का कार्य आरम्भ कर दिया। लादेन परिवार की भवन निर्माण कम्पनी सऊदी अरब की करोड़पति कम्पनी कुछ ही दिनों में बन गई। अब इस परिवार पर धन-दौलत, नाम और एश्वर्य की कोई कमी नहीं थी। ओसामा बिन लादेन की माँ मुहम्मद बिन लोदन की 9वीं (नौवीं) पत्नियों में से एक थी। इस नवीं पत्नी से बिन लादेन का कोई भावात्वम लगाव नहीं था। उसका मुख्य कारण यह था कि 'लादेन' की माता किसी 'कुलीन' परिवार से नहीं थी 'ओसामा बिन लादेन' का परिवार आधुनिक ढंग से रहने वाला आधुनिक धनी मुस्लिम परिवार था लेकिन आसामा बिन लादेन की माता लादेन परिवार में सम्मान न मिलने के कारण आधुनिकता से दूर होकर धार्मिक आस्थाओं की ओर मुड़ती चली गई। 'ओसामा' एक मात्र भक्त व्यक्ति था, उसने अपनी 'माता' का तिरस्कार अपनी आँखों से देखा था। वह अपनी माता के बनाये, धार्मिक आस्थाओं के रास्ते की ओर बढ़ता चला गया। वह 'इस्लामिक' दुनिया को विश्व जगत में विकसित करने के स्वपन सजाने लगा तथा एक इन्जिनियर होते हुये भी संक्रिणताओं की मजहबी दिवारों में भटकने लगा।

'ओसामा लादेन' कठोर तथा विचित्र परिस्तिथियों में अपनी माँ के साथ, एकांकी जिन्दगी व्यतीत करते-करते 'मज़हबी' कट्टरवाद का शिकार यू ही नहीं हुआ था। एक विशाल तथा धनी परिवार के सदस्यों से कटा हुआ होने के कारण, उन्मादी 'जनून' ने माँ की लोरियों के साथ उसकी परवरिश की थी। उसकी एकांकी ज़िन्दगी का सब से 'प्रमुख' सबूत यह सामने है कि वह अपने कई-भाई-बहनों को पहचानता भी नहीं था।

सत्तर के दशक में उसकी भेट शेख़ अब्दुला आज़म से हुई वह एक कट्टरवादी फ़िलिस्तीनी थे, जो मुक्ति संगठन के सदस्य थे। 'शेख़' इस्लामिक ब्रार्दसहूड की भावना से पूर्ण व्यक्तित्व के व्यक्ति थे। शेख़ साहब जहाँ अराफ़ात के नज़दीकी व्यक्तियों में थे वहीं वह 'अरब राजनेताओं से भी सम्बन्ध रखते थे। 'शेख़' साहब का स्वपन था कि 'इस्लाम' का झण्डा दुनिया की हकूमतों पर हावी होता हुआ विश्व भर में लहराये। इसी के साथ शेख़ अब्दुल्ला आजम कूटनीति और धर्म नीति में महारथ हासिल किये हुये थे। उनका मुख्य कार्य नौजवानों को एकत्र कर, इस्लामिक संगठन बनाना, और उन्हें 'इस्लाम' के नाम पर सब कुछ कर गुज़रने के लिये तैयार करना ही था।

उन्होंने फ़िलिस्तीन मुक्ति संगठन में युवा वर्ग को लाने का कार्य किया था तथा उन्हें अतिवादी 'जुनून' के रंग में रंग कर 'फ़िदाइ' दस्तों में सम्मलित करके फ़िलिस्तीन पर कुर्बान होने को तैयार किया था। इसलिये ज़ज़बाती और उत्तेजित व्यक्तित्व वाले नौजवानों की उन्हें बेहद पहचान थी। ओसामा लादेन के बारे में वह समझ गये थे कि वह 'तीक्ष्ण' बुद्धिवाला ज़ज़बाती नौजवान है, जो सब कुछ कर गुज़रने को तैयार रहेगा। उन्होंने कहा था "यह नौजवान लाखों में एक है। यह नौजवान एक दिन पूरी दुनिया को हिलाकर रख देगा।"

एक समय ऐसा आया जब पश्चिमी एशिया पर अमेरीकी साम्राज्यवादियों का पंजा सख्ती से कसता चला गया। 'इज़राइल' ने फिलिस्तीन की 'सम्पूर्ण' स्वतन्त्रता को चारों ओर से घेर लिया। उधर सऊदी अरब की तमाम घटनाएँ, ऐतिहासिक चौराहे पर खड़ी एक एतिहासिक मोड़ ले रही थीं। उधर मिश्र और इजराईल के मध्य ऐतिहासिक कैप डेविड समझौते के दो वर्ष बाद 'मिश्र के राष्ट्रपति अनवर सादात इज़राईल की यात्रा की योजना बना रहे थे। उससे प्रभावित होकर इस्लामिक जगत में तूफ़ान उठ खड़ा हुआ, विशेषकर इस्लामिक जगत के कट्टरवादियों ने उत्तेजित होकर मिश्र के राष्ट्रपति की इज़राईल यात्रा का घोर विरोध किया। इसी से 'मिश्र' के विरुद्ध एक अरबी' मार्चा बन गया। उस काल में ही, अफ़ग़ानिस्तान इस्लामिक कट्टरपंथी नौजवानों,

'तालिबान' के कठोर शिकंजे में जकड़ता चला जा रहा था। मुस्लीम ब्रादर्स-हुड का 'नारा' अरब जगत से निकलकर, यूरोप, अफ़्रीका, पाकिस्तान यहाँ तक की भारत की धरती पर भी प्रवेश कर गया था। शेख़ अब्दुला आज़म समस्त इस्लामिक जगत इस इस्लामिक इन्क़लाब के जन्म दाता कहे जाने लगे थे, उन्होंने अफ़ग़ानिस्तान' को अपनी इस्लामिक कट्टरवादी राजनीति की भूमिका तैयार करने और उसमें सक्रियता से हिस्सा लेने का मन बना लिया था, जिसके लिये उनके पास ओसामा बिन लादेन से उपयुक्त नौजवान और कोई नहीं था जो माहौल पर छाकर अपने विस्फ़ोटक कार्य से दुनिया में दहशत पैदा कर दे।

1980 के दिनों में सोवियत सेनाएँ अफ़ग़ानिस्तान में अपना डेरा जमाये हुये थीं अमेरीका और उसकी ख़ुफ़िया ऐजन्सी सी० आई० ए० के प्रमुख ऐजेण्टस तथा पाकिस्तानी सेना के अफ़सर इस्लामिक जगत के आतंकी संगठन, सोवियत सेना को बाहर निकालने के लिये योजना बनाते रहते थे। 'पेशावर' इन लोगों का योजना केन्द्र था। पेशावर अफ़ग़ानिस्तान से भागकर आये लोगों का शरण स्थल बन गया था। ओसामा बिन लादेन उन लोगों की तन-मन और धन से मदद करता था।

कुछ ही दिनों बाद, उसने महसूस किया कि शस्त्र उठाये बिना इस्लामिक जगत की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता है, बस फिर क्या था, उसने नौजवानों को सांठा इस्लामिक ज़िहाद के नाम पर आधुनिक शस्त्रों से सुस्ज्जित संगठन बना लिये तथा एक योद्धा के रूप में उभर कर सामने आया। अमेरीका की (सी० आई० ए०) ऐजन्सी उस काल में उसकी पूर्ण मदद कर रही थी। वह एक ख़तरनाक आतंकवादी बन गया। रूसियों की दृष्टि में वह प्रमुख शत्रु था। अमेरीका ने उस काल में रूसियों से 'लोहा' लेने के लिये आधुनिक शस्त्र भी दिये, साहस भी बढ़ाया तथा अपार धन से उसकी और आतंकी संगठनों की मदद भी की थी।

कथा-कथित, इस्लामिक हितों के लिये लड़े जा रहे 'ज़िहाद' में ओसामा बिन लादेन ने क्रूरता की सभी सीमाएँ लांघ दीं, संसार की सर्वोच्च बहादुर तथा आधुनिक शस्त्रों से सुसज्जित रूसी सेना में 'ओसामा बिन लादेन' आतंक के ख़ौफ़नाक शत्रु के रूप में पहचाना जाने लगा। उसकी मुज़ाहिदों की टुकड़ी सब से अधिक ख़तरनाक रणनीति अपने निशाने में कायमाब होती थी। दुश्मन को हर तरह से बर्बाद करना उसका लक्ष्य था।

रूसी सेना को अफगानिस्तान में जितना परेशान ओसामा बिन लादेन ने आतंकी कार्य कारगुज़ारियों से अकेले ही किया था, उतना परेशान अमेरीकी, राजनीति तथा पाकिस्तानी गुरिल्ला फौजें भी मिलकर नहीं कर पाई थीं।

1988 के आते-आते अफ़ग़ानिस्तान में रूसी सेनाएँ इतनी थक चुकी थीं कि वह आगे वहाँ ठहरना नहीं चाहती थीं। रूसी सरकार ने ओसामा बिन लादेन को ज़िन्दा या मुर्दा पकड़ने के लिये भारी इनाम की घोषणा भी की थी। लेकिन वह नाकामयाब रही थी, अब 'ओसामा बिन लादेन' आतंक जगत का केवल जाना पहचाना नाम ही नहीं था, बल्कि एक खतरनाक़ आतंकवादी के रूप में रोज़-रोज़ अख़बारों की सुर्ख़ियों में छपता रहता था। 1988 में ही जनेवा में क़रार के मुताबिक रूसी सेनाओं को अफ़ग़ानिस्तान छोड़ना था। ओसामा बिन लादेन के हौसले इससे और भी अधिक बढ़ गये थे और वह इस्लामिक जगत का 'हीरो' बन गया था। 1989 को, आख़िरकार रूसी सेनाओं ने अफगानिस्तान से अपने घर के लिये कूच किया तो उसी समय पेशावर में ड़ेरा डाले आतंकवादियों, मुजाहिद्दीन और अरब स्वयं सेवकों ने ज़लालाबाद की ओर बढ़ना आरम्भ किया। उनका लक्ष्य अब जलालाबाद शहर पर क़ब्ज़ा करके, काबुल में बनी मास्कों की समर्थक

नाजीबुल्ला सरकार को समाप्त करना था। उस संघर्ष में लादेन को एयरपोर्ट को बर्बाद करने का काम सौंपा गया था। जिसे उसने बहादुरी से समाप्त कर दिया।

ओसामा बिन लादेन के जीवन में बदलाव

अफ़ग़ानिस्तान में अपनी 'फ़तह' के बाद, और अपने गुरु शेख़ अब्दुल आज़िम और उनके दो पुत्रों की पेशावर में बमों से आक्रमण में हत्या होने के बाद, 'ओसामा' को बेहद सदमा पहुँचा। अपने गुरु शेख़ की निर्मम हत्या ने उसके दिल पर गहरा घाव किया। उसने उससे दुखी होकर मक़तब-अल-खिदमत की सेवाओं को जारी रखने के लिये, उसने एक जन कल्याण संस्था बनाई और वह 'खिदमत' (सेवा) का काम करने लगा। वह आतंकवादी गतिविधियों से नाता तोड़कर शान्ति की ज़िन्दगी जीने लगा। उसने तीन शादियाँ कीं। 1983 ई० से 1990 ई० तक, वह सुख से शान्ति प्रिय गृहस्थ जीवन व्यतीत करने लगा।

लेकिन समय बदल रहा था, 1990 ई० को जब ईराक के सद्दाम हुसैन ने 'कुवैत' पर कब्जा कर लिया, तो ओसाम बिन लोदेन फिर आतंक और युद्ध के मैदान में आ गया। कुवैत पर इराक के कब्ज़े से, सऊदी अरब को बहुत दुख हुआ, और उसने ईराक़ के हमले की घोर निन्दा की। सद्दाम हुसैन ने, सऊदी अरब को धमकी दे डाली, इस पर ओसामा बिन लादेन ने सद्दाम हुसैन के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। यहाँ से फिर 'ओसामा' का जीवन बदल गया और 'ओसामा' फिर पुरानी राह पर आ गया। इसी मध्य अमेरीका ने कुवैत, इराक़ और सऊदी अरब के मध्य सन्धि करा दी। 'लादेन' को सऊदी अरब का यह रवैया पसन्द नहीं आया और उसने दोनों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी।

आतंकवादियों की युद्ध की घोषणा बड़ी विचित्र होती है। वह दुश्मन देशों के विरुद्ध आतंकी कार्यवाही से दुश्मन देश की शान्ति और सुरक्षा को नुक़सान पहुँचाते हैं, निर्दोश लोगों की हत्याएँ कराते हैं, सरकारी और ग़ैर सरकारी सम्पत्ति को नुकसान पहुचाते हैं तथा राजनेताओं की हत्या करते हैं।

ऐसा कहा जाता है, कि ओसामा ने अपना पहला निशाना सुड़ान की राजधानी खादून का न्यूवियन रेस्तरा बनाया जहाँ लादेन के एक मुज़ाहिद ने जबर्दस्त बम विस्फोट करके 1992 ई० में, 230 निर्दोष व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया तथा अनेकों को अपंग और घायल कर दिया। 1991 ई० में, लादेन सऊदी अरब से भाग गया, 2 फरवरी 1994 ई० को उसके आतंकी कारनामों के कारण सऊदी अरब सरकार ने, उसकी नागरिकता समाप्त कर दी। यह, लादेन की नागरिकता समाप्त करने की कार्यवाही सऊदी अरब ने अमेरीका के दबाव में अन्जाम दी थी, इसलिये अमेरीका और सऊदी अरब का, 'ओसामा' लादेन घोर शत्रु हो गया था। उस काल में लादेन की आतंकी कार्यवाहियाँ अमेरीका और सऊदी अरब के खिलाफ, निरन्तर बढ़ती ही चली जा रही थीं इसी श्रृंखला में 7 अगस्त 1998 ई० को लादेन के फ़िदाई दस्तों ने केन्या और तंज़ानिया स्थित, अमेरीकी दूतावासों को बम के गोलों से उड़ाकर राख कर दिया। ओसामा बिन लादेन के इशारे पर अमेरीका के ख़िलाफ़ आतंकी हमलों की रफ्तार बढ़ती जा रही थी।

'लादेन' निरन्तर अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहा था, आगे जाकर वह अपने मिशन का दायरा बढ़ाता चला गया। लादेन के एक मुजाहिद्द ने अमेरीका के सबसे सुरक्षित संस्थानों में से एक वर्ड-ट्रेड सैण्टर पर बम विस्फोट किया। ओसामा लादेन आगे जाकर इस्लाम एकता के नाम पर कार्यवाहियों में हिस्सा लेने लगा था।

'ओसामा बिन लादेन', रूसी फ़ौजों के अफ़ग़ानिस्तान छोड़ने पर अपनी 'कार्य शैली' पर गर्व कर रहा था कि उसने एक बड़ी महाशक्ति रूस को, अफ़ग़ानिस्तान से बाहर निकाल दिया, जो उसकी दृष्टि में इस्लामिक सभ्यता की शत्रु थी, और शक्ति के बल पर एशिया के इस्लामिक देशों पर क़ाबिज़ थी।

वास्तविकता यह है, कि रूस को अफ़ग़ानिस्तान से बाहर निकालने में अमेरीका का खुला हाथ था, जो तालिबान और लादेन जैसे अनेकों आतंकवादियों और उनके संगठनों को धन, और शस्त्रों से पूर्ण मदद कर रहा था। पश्चिमी देश और अमरीका अपना 'वजूद' एशिया में, अपने आर्थिक हितों के लिये बनाये रखना चाहते थे, इसलिये धार्मिक संगठनों और आतंकी संगठनों को खुलकर मदद कर रहे थे।

इतिहास प० एशिया में नया मोड़ ले रहा था, रूस के शक्तिहीन हो जाने पर जहाँ अमरीका दुनिया की एक मात्र महाशक्ति हो गया था, वहीं, वह प. एशिया में 'मन-मानी' करने लगा था। इस्लामिक देशों में कोई 'सत्ता' उसके बिना नहीं चल सकती थी। प. एशिया के देशों में सरकारों को बनाना और गिराना, अमेरिका की विदेश नीति का एक अंग बन गया है। उसके परिणाम स्वरुप, 'लादेन' के इशारे पर चलने वाले आतंकी संगठन अमरीका के घोर शत्रु हो गये थे। आतंक और हिंसा के साये में, प. एशिया का इतिहास आगे बढ़ रहा था।

जब अफ़ग़ानिस्तान में 'लड़ाकू' तालिबान सत्ता पर क़ाबिज़ हो गये, तब 'लादेन' की शक्ति में ज़ोरदार बढ़ोत्तरी हुई।

सम्पूर्ण अफ़ग़ानिस्तान कठोर 'धर्मतन्त्र' के साये में चलने लगा। धार्मिक नियम और क़ानून आम जनता पर शक्ति के साथ लागू कर दिये गये। तालिबान सरकार का लक्ष्य था कि इस्लामिक साम्राज्य को दुनिया में बढ़ाया जाये, और उसे दुनिया के प्रत्येक कोने में सुरक्षित किया जाये। 'तालिबान' और 'लादेन' इस्लामिक जगत में, 'इस्लाम' का एक छत्र शासन चाहते थे। उनके मत के अनुसार 'इस्लाम' के शत्रुओं से युद्ध करना उनका नैतिक धर्म है। अफ़ग़ानिस्तान में सत्ता पर क़ाबिज़ होने के बाद, 'लादेन' अमेरीकी साम्राज्यवाद को सम्पूर्ण इस्लामिक राज्यों से बाहर निकाल फेकना चाहता था। अब उसका पहला 'शत्रु' अमेरीका था। अगस्त 23, 1996 को, लोदेन ने घोषणा की, "कि प्रत्येक मुस्लिम का कर्त्तव्य है, कि अपने पवित्र वतन से, अमेंरीकन शत्रु को बाहर निकाल दो।"

"There is no more important duty than pushing the American enemy out of the holy land." (from New York Time)

सर्वप्रथम,, अमेरीका ने 'लादेन' की इस घोषणा को बहुत ही हल्के ढंग से लिया और उसे एक 'आदमी' की 'बेहूदा' धमकी बताया। लेकिन बाद में जब जगह–जगह पर अमेरीकियों पर खुले हमले होने लगे, तब अमेरीका ने उसे गम्भीर रूप से स्वीकार किया। यह समय की हलचल थी, कि अब नई नस्ल का आतंकवाद (A New Breed of Terrorism) अमरीका के राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश कर गया था। एक समय ऐसा आ गया जब आतंकवाद के विरुद्ध लड़ना अमेरीका की विदेश नीति का ही अंग नहीं रहा बल्कि उसकी आन्तरिक सुरक्षा के लिये भी आवश्यक हो गया।

नई नस्ल के आतंकवाद की नवीन शैली

आज की दुनिया में आतंकवाद एक तरह का 'युद्ध' ही है, जो धार्मिक और जातीय आवरण में, अपने राजनैतिक लक्ष्य की प्राप्ति के लिये आतंकी शैली में लड़ा जाता है। इस नवीन आतंकी

युद्ध शैली में शत्रु पर छिपकर, धोके से घात लगाकर नुक़सान पहुँचाना उनका खुला उद्देश्य होता है। आतंकी 'दस्ते' अपनी जान पर खेलकर अपने दुश्मन को नुकसान पहुँचाते हैं। आतंकवाद एक शैली है, जो हिंसा के माध्यम से अपने लक्ष्य को प्राप्त करती है।

यह भी पूर्णतय सिद्ध हो गया है, कि इन आतंकवादियों का कोई न कोई देश या बड़ी राजनैतिक शक्ति 'धन' और 'शस्त्रों' से मदद करती रहती है। किसी न किसी, बड़ी शक्ति के साये में आतंकवाद विकसित होता है। सत्यता यह है, कि आतंकवाद की नवीन शैली सबसे ख़तरनाक क़िस्म की युद्ध शैली है, जो 'मानवीय' सिद्धान्तों को त्यागकर, निर्दोष लोगों की हत्या करते हैं। इसमें आतंकवाद बहुत 'डरावना' दहशत गर्द हो जाता है। एक 'आत्मघाती' दस्ता या एक व्यक्ति धार्मिक जुनून में अपने को शहीद करके हज़ारों लोगों की जान ले सकता है। एक व्यक्ति, या आतंकी व्यक्तियों का 'समूह' सम्पूर्ण दुनिया को आतंक के साये में जीने को मजबूर कर सकता है। प्रत्येक व्यक्ति, बाजार में, सड़क पर, ट्रेन या बस में घर में या दफ़्तर में, सहमा-सहमा, डरा-डरा सा रहता है। आतंकवादियों में न कोई नैतिकता होती है, न ही धर्म या समवेदना होती है, बस उनमें भावात्मक ढंग से अपने को मज़हब पर बलिदान करने की तमन्ना होती है। शायद, उन्हें सिखाया जाता हैं, कि मरने के बाद उन्हें स्वर्ग मिलेगा। इसी तमन्ना में वह अपने लक्ष्य प्राप्ति के लिये मर मिटते हैं।

यह कहा गया है, कि अमेरीका ने अपनी व्यापारी नीति के अनुरुप दुनिया में फैले आतंकवाद को गम्भीरता से नहीं लिया। अमेरीका समझता है, कि उनका एशिया में फैलाया हुआ 'आतंकी जाल' पश्चिमी और अमेरीकी आर्थिक साम्राज्यवाद को क़ायम रखने में सदा सहायक रहेगा, लेकिन उसका यह 'गणित' असत्य साबित हुआ। धीरे-धीरे आतंकवाद के डरावने साये, अमेरीका के राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में प्रवेश कर गये। आतंकवादी अपना बदला लेने के फिराक़ में अमेरीका की धरती पर जा बैठे। उसका परिणाम दुनिया ने खुली आँख से अपने सामने देख लिया। अमरीका की धरती पर बड़े नाटकीय ढंग से 'लादेन' के शिष्यों ने प्रवेश करके अपनी मौजूदगी का अहसास करा दिया था! उच्चकोटि के लेखक 'साईमोन रिवी' और गिल फोडन (लन्दन) (Simon Reeve and Giles Foden London) (The Guardian) में, अपने लेख द्वारा वर्णन करते हैं "कि रैमज़े यूसुफ नाम के व्यक्ति ने जो लन्दन से उच्चकोटि की शिक्षा प्राप्त किये हुये था। उसने ही 1993 में वर्ल्ड ट्रेड सैण्टर (World Trade Center) पर हमले की योजना बनाई थी, वह W.T.C पर हमले का प्रथम शिल्पकार था। उसने 25,000 लोगों को एक साथ मारने की और सदा चहल-पहल से पूर्ण रहने वाले व्यवसायिक केन्द्र वर्ल्ड ट्रेड सैण्टर (W.T.C) को एक धमाके से नष्ट करने का ख़तरनाक इरादा बनाकर काम कर रहा था। यह हिंसा जापान के शहर हिरोशिमा (Hiroshima) और नागासाकी (Nagasaki) की विध्वन्सकार तबाही से किसी भी तरह से कम नहीं होती, यदि उसकी यह योजना सफल हो जाती। लेकिन उसकी योजना असफल हो गई। 'यूसुफ' और कई अन्य आतंकवादी कई अन्य विध्वनक योजनाओं के लिये भी ज़िम्मेदार थे। कुवैतवादी एक नौजवान आतंकवादी संगठन ने एक ऐसा अदृश्य रसायनिक बम तैयार करने की योजना बनाई। (Undetectable liquid nitroglycerine bombs) जो कौण्टक्ट लैंस (Contact Lens Bottles) में छिपाया जा सकता था। उसने, उस समय अमेरीका के राष्ट्रपति बिल-किलंगटन (Bill Cilington) और 'पोप' की हत्या करने की योजना भी बनाई थी। कहने का अर्थ यह है कि इस राजनैतिक और धार्मिक कहे जाने वाले आतंकवादी मिशन में केवल 'लड़ाकू' मनोवृत्ति के नौजवान ही शामिल नहीं थे, इसमें, उच्चकोटि के वैज्ञानिक, इन्जिनियर तथा पश्चिमी देशों के

उच्चकोटि के विश्वविद्यालयों में, शिक्षा प्राप्त, बुद्धिजीवी वर्ग के लोग भी शामिल थे।

आधुनिक आतंकवाद किसी एक जगह या किसी एक लक्ष्य तक ही सीमित नहीं है, जो नवीन आतंकवादी शैली में धर्म, जाति और राजनैतिक तथा आर्थिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये लड़ा जा रहा है। इस आतंकवादी संघर्ष में अपार धन लगाया जा रहा है तथा उनके पीछे उच्चकोटि की ख़ुफ़िया एजेन्सीज़ कार्य कर रही हैं। आतंकवादियों का नैटवर्क किसी भी देश की उच्चकोटि की ख़ुफ़ियाँ संस्थाओं से कम नहीं है। ऐसा लगता है कि इन आतंकवादी योजनाओं की पीछे विश्व के कुछ धनी देशों की सरकारों का हाथ भी होता है जो अपने राजनैतिक और आर्थिक स्वार्थों के लिये इन आतंकवादियों से काम कराती हैं।

इन कम आयु के नौजवानों में, पहले धार्मिक या जातीय जुनून की कट्टरवादी भावना कूट-कूट कर भरी जाती है। उन्हें सिखाया जाता है मज़हब पर 'शहीद' होना, ईश्वर का आदेश है। इनकी नस-नस में तथा **रक्त के कण-कण में दुश्मन के प्रति नफ़रत कूट-कूट कर भरी जाती है। जिन व्यक्ति को हम आतंकी कहते हैं, वह व्यक्ति अपने धर्म या जाति के लिय 'शहीद' कहलाते हैं। उसके लिये धर्म पर 'मरना' या 'मारना' एक धार्मिक या देश भक्ति का काम है।** इसलिये वह अपने धर्म और जाति के लिये 'श्रेष्ट धार्मिक' या जातीय शहादत के प्रतीक हैं।

कहते हैं, कुछ नौजवानों को बिना बताये ही आतंकी मिशन पर भेज दिया जाता है, उन्हें पता भी नहीं होता, उन्हें क्या करना है ? **जब धार्मिक जुनून या जातीय जुनून किसी व्यक्ति की समस्त 'मानसिक' कोशिकाओं में फैल जाता है, जब वह भावना उसके हृदय और मस्तिष्क पर पूर्णतय हावी हो जाती है, तब उस पर जुनून का एक ऐसा 'जादू' चलता है कि अति शिक्षित से शिक्षित व्यक्ति भी उस जुनून में सब कुछ कर गुज़रने के लिये तैयार हो जाता है।**

उन्हें तैयार करने में उच्चकोटि के 'मास्टर माईण्ड' और विशेष शैली के लोग होते हैं, जो बच्चों को या कम आयु के नौजवानों को अपने मिशन के लिये तैयार करते हैं। अध्ययन से यह भी पता चलता है कि उसमें आगे बढ़कर काम करने वाले, अधिकतर निर्धन घरों से आने वाले बेरोज़गार युवक ही होते हैं।

यह भी कहा जाता है कि लादेन के शिष्यों की एक बड़ी फ़ौज़ विभिन्न देशों में काम कर रही है। वही 'यूसुफ' जैसे आतंकवादियों को आर्थिक सहायता करता रहा है।

अमेरीका के विरूद्ध आतंकवाद के क़दम अपनी योजना के अनुसार तेज़ी के साथ आगे बढ़ रहे थे। अमेरीका का गुप्तचर विभाग भी इससे बेख़बर था, कि आतंकवाद उसकी धरा में प्रवेश कर गया है। आख़िरकार एक दिन ऐसा आया, जब 11 सितम्बर 2001 को अमेरीका के सर्वोच्च व्यवसायिक 'केन्द्र' डब्लू. टी. सी. (W.T.C) (न्यूयार्क) तथा अमरीका के सैन्य मुख्यालय पेंटागन को एक के बाद एक हवाई जहाज़ों से टकराकर धराशाही कर दिया गया। आग की लपटों की भंयकर ज्वाला में भस्म होकर वह आकाश को स्पर्श करती इमारत धरती पर आ गिरी। जिसमें सैकड़ों निर्दोष लोगों की जानें भी गईं। यह सोचने की बात है कि अमरीका के सुरक्षित कवच में एक के बाद एक हवाई जहाज का अपहरण करना एक बहुत कठिन कार्य है। फिर भी 'आत्मघाती' दस्तों ने, अमेरीका की धरती पर अपने लक्ष्य को बेख़ोफ अन्ज़ाम दिया, और अपने को शहीद करके, दुनिया को हिला दिया। अमरीका की सम्पूर्ण रक्षा प्रणाली पर ही उंगलियाँ उठने लगीं। अमेरीका के आन्तरिक-सुरक्षा कवच पर कई सवाल उठ खड़े हुये। सम्पूर्ण अमेरिका राष्ट्र,

जो महाशक्ति के रूप में दुनिया पर हावी था, आंतकवाद के एक झटके में हिल सा गया। उस काल में 200 से अधिक आतंकी संगठन दुनिया में कार्य कर रहे थे। अमेरीका की 'खुफिया एजन्सिज़' ने बहुत बारीकी से उसका अध्यन किया और वह इस नतीज़े पर पहुँचे कि अमेरीका के ऊपर आतंकवादी हमले के पीछे, ओसामा बिन लादेन का ही हाथ है, जो उस समय अफ़ग़ानिस्तान में, 'तालिबान' सरकार के संरक्षण में छिपा था, और तालिबान सरकार उसे पूर्ण सहयोग कर रही थी तथा उसे अपना संरक्षण दिये हुये थी।

इस समय प० एशिया में ही क्या दुनिया में जितने भी ख़तरनाक आतंकवादी संगठन हैं। उनमें से अधिकतर किसी न किसी रूप में, ओसामा बिन लादेन से. जुड़े हैं। शिक्षित वर्ग से सम्बन्धित 'यूसुफ'(Yusuf) तथा अलकायदा ग्रुप (Alquaeda Group) के आतंकवादी भी लादेन से ही सम्बन्धित माने गये थे। अख़बार की ख़बरे यह संकेत देती है, कि उन्होंने ही अफ्रीका में, दूतावास (Embassy) पर आतंकी हमला किया था।

एफ. आई. बी. (F. I. B.) के डिप्टी डाईरेक्ट्रर ओलिवर रिवँल (Oliver Revell) के अनुसार, बिन लादेन जैसे आतंकवादियों से मुकाबला करना एक कठिन कार्य है, क्योंकि वह पश्चिमी दुनिया और अमेरीका को अपने यहा से बाहर निकालने के सपने संजोये हुये हैं तथा उसके लिये वह सदा सुर्खियों में रहते हैं। अपने लक्ष्य के अंजाम के लिये वह किसी भी हद तक जाने को तैयार रहते है। प्रसिद्ध लेखक 'मारबिन सैटरान (Marvin Cetron) लिखते हैं :

The Ultimate reasoning of bombers is simple Terrorism works "Remember one driver in one sucide attack against our marines in Beirut turned Amrican policy 180 degrees and drove the greatest world power out of levanon, admits a specialist on international terrorism with the pentagon's secretive special operations and low intensity conflict office" ....

अब दुनिया आतंकवादी धमाकों का अर्थ साफ़ समझ गई है, कि इन "बमों के धमाकों और निर्दोषों की हत्या का उद्देश्य साफ़ है, कि वह डरा धमका कर अपनी मंज़िल को प्राप्त करने की इच्छा रखते है। उन्होंने ऐसा करके बहुत सी सरकारों को अपनी बात मानने के लिये मजबूर कर दिया। अमरीका जैसी महा शक्तियाँ, प० एशिया के कई देशों से बाहर कर दी गई। रूस को अफ़ग़ानिस्तान से बाहर निकाल दिया गया। भारत को शान्ति के नाम पर कश्मीर में आतंकवादियों से वार्ता करने को मजबूर कर दिया गया। श्री लंका में आतंकवादियों से कई वार्ता के दौर चल चुके हैं। इस तरह आतंकवादी संगठन धमाकों के माध्यम से अपने लक्ष्यों पर पहुँचने में कभी-कभी कामयाब हो जाते हैं। इसलिये वर्तमान में नई नस्ल का आतंकवाद एक तरह की युद्ध प्रणाली ही है।

यहाँ तक कि अमेरीका में, कुछ आतंकवादियों ने विध्वंसक कार्यवाही करके, उसकी घरेलू और विदेश नीति में विशेष परिवर्तन करा दिया।

दुनिया ने यह भी देखा, कि दुनिया में आतंकवाद से संघर्ष करते हुये, विश्व के कई बड़े राजनेता शहीद हो गये, भारत में इन्दिरा गाँधी, आतंकवाद से लड़ती हुई शहीद हुईं। भारत के ही राजीव गाँधी श्रीलंका के आतंकवाद का मुकाबला करते हुये शहीद हुये, पाकिस्तान की बेनज़ीर भुट्टो तथा राष्ट्रपति मुशर्रफ को भी आतंकवादियों ने निशाना बनाया था लेकिन वह अपनी किस्मत से बच गये। अमेरीका के 'राष्ट्रपति' और वहां के राष्ट्रपति भवन को उड़ाने की साजिशें कई बार नाकामयाब कर दी गईं। भारत की संसद को उड़ाने की कोशिश भी की गई थी, जिसमें कई आतंकवादी दिल्ली में मारे गये थे। श्रीलंका में भी इसी तरह की राजनैतिक हत्यायें कई बार की गईं।

अर्थ साफ है कि आतंकवाद, अब किसी एक देश की समस्या नहीं रही है। यह विश्व की एक राजनैतिक तथा आर्थिक समस्या बन गई है, जो विश्वशान्ति और सुरक्षा के लिये एक ख़तरा बनी है।

न्यूयार्क टाईम्स आतंकवादियों को चेतावनी देते हुये, लिखता है कि "आतंकवाद समझता है कि "प्रजातन्त्र प्रणाली बहुत नर्म है" मि० किगन (Mr. Keegan) ने कहा "यह सही की, जनतन्त्र बहुत नर्म है लेकिन जब वह कठोर हो जाता है तब वह किसी भी तानाशाही से कम नहीं रहता।"

"The terrorist think democracies are soft." Mr. Keegan said "And of course they are soft most of time but when they get aroused they are more resolute and harsher then an authoritarian system." दुनिया की समस्त जनतन्त्रवादी सरकारें आज किसी न किसी रुप में आतंकवाद से संघर्ष कर रही है। उन्हें कठोर कदम उठाने को मजबूर होना पड़ रहा हैं, क्योंकि आतंकवाद का समाप्त करना जरूरी है।

(The Guardian)

पश्चिमी देशों की अधिकतर सरकारें अमेरीका सहित यह सोचने को मजबूर हो गई हैं, कि आतंकवाद एक ख़ौफनाक इरादों के साथ उनकी ओर भी तेज़ी बढ़ रहा है। ओसामा बिन लादेन ने उस समय घोषणा कर दी थी कि जहाँ रूस को तबाहा किया जा सकता है, जो साम्यवाद का शाक्तिशाली प्रतीक था तब, अमेरीका तो उसके लिये चूहे समान है। "If Russia can be destroy, the United State can also be headed. They are like little mice." (The Guardian)

अमेरीका की 'बुश' सरकार ने अपने ऊपर हुये हमले को गम्भीरता से लिया उन्होंने घोषणा कर दी कि हम युद्ध के मैदान में हैं "We are at war" हम दुश्मन को और उसके समर्थकों को पूर्णतय नष्ट कर देंगे, चाहे वह जहाँ भी छिपे हों!

आतंकवाद को समाप्त करने की अमरीकी संयुक्त कार्यवाही

अमरीकी का संयुक्त प्रस्ताव : अमरीकी हाऊस और 'सीनेट' (House and Senate) ने आतंकवादियों को नष्ट करने के लिये सैनिक कार्यवाही को सम्पूर्ण अनुमति प्रदान कर दी। अमरीका के राष्ट्रपति को, सीनेट और हाऊस ने आतंकवादियों को नष्ट करने की सम्पूर्ण अधिकार प्रदान कर दिये तथा उन लोगों के विरुद्ध, जिन्होंने अमरीका पर आतंकी कार्यवाही की थी, या जो उसके सहयोगी थे, या जो राष्ट्र उसकी मदद कर रहे थे तथा या जो आतंकी संगठन उनकी सहायता कर रहे थे, उनसे निपटने के सम्पूर्ण अधिकार अमरीकी राष्ट्रपति तथा अमेरीकी सरकार को प्रदान कर दिये गये।

"Text of U.S. joint Resolution allowing military action :

Following is the text of a resolution approved by the "House and Senate" Friday authorizing milatary action against the terrorists who attacked the United States on Tuesday.

Joint Resolution :

"To authorize the use of united states armed forces against those responsible for the recent attacks launched against the United States on Tuesday. WHEREAS, on september, II, 2001, acts of treacherous violence were committed against the United States and its 'Citizens' and **WHEREAS**, such act render it both neccessary and appropriate that the United States exercise its right to self-defence and to protect United States citizens both at home and abroad and **WHEREAS** in the light of threat to the national security and foreign policy of the United States sposed by these grave acts of violence and **WHEREAS** such act continue to

pose an unusual and extraordinary threat to the national security and foreign policy of the United States.

WHEREAS the president has authority under the constitution to take action to deter and prevent acts of international terrorism against the United States.

Resolved by the senate and house of the representatives of the United States of Amrica in congress assembled (section i).

The joint resolution may be cited as the authorization of use "Military Force" (section 2)

Authorization for use United States Armed Forces : (a) "That the president is authorized to use all necessary and appropriate force against those nations, orgnization on persons he determines planned authorized committed, or aided the terrorist attacks that occurred on September 11, 2001 or harbored such orgnizations or persons, in order to prevent any future acts of International terrorism against the United States, by such nations, orgnizations or persons.

(b) War power resolution requirments.

(1) Specific Statutory Authorization : Consistent with section 8G (2)(1) of the war powers resolution, the congress declares that this sections is intended to constitute specific statutory authorization with in the meaning of section 5(b) of the war power resolution.

(2) Applicability of Other Requirments : Nothing in this resolution supercedes any requirment of the war powers resolution.

अमरीका की "सीनेट तथा हाऊस" ने अमरीका के राष्ट्रपति को, सम्पूर्ण युद्ध सम्बन्धी अधिकार देकर, उन आतंकवादियों को, ज़िन्होंने अमरीका पर आतंकी कार्य की थी, या जिन देशों ने या व्यक्तियों तथा संगठनों ने आतंकवादियों की मदद की थी, उन्हें नष्ट करने को अधिकृत कर दिया। अमरीका ने उसी के अनुसार अफ़ग़ानिस्तान में शरण पाये, ओसामा बिन लादेन को अमरीका को ज़िन्दा या मुर्दा सौंपने को कहा, लेकिन उस समय की "तालिबान सरकार ने उसके लिये सबूत की माँग अमरीकी सरकार से चाही। अमरीका ने घोषणा कर दी कि ओसामा बिन लादेन ही अमरीका पर आतंकी कार्यवाही का सरगना है। 'परिणाम स्वरुप' अमरीका ने तालिबान सरकार को तथा ओसामा बिन लादेन को नष्ट करने के लिये अफानिस्तान पर आक्रमण कर दिया, असख्य बमों के धमाकों से तालिबान सरकार का सफ़ाया हो गया तथा 'अफ़ग़ानिस्तान' की बेबस ग़रीब जनता फिर युद्ध की आग में झौंक दी गई। अफ़ग़ानिस्तान की जनता 'तालिबान' सरकार की संर्कीण मनोवृत्ति के बौझ से 'दबी कुचली' ख़ौफ़ज़दा थीं तथा पहले से ही ग़रीबी और भूखमरी की पीड़ा से बेहाल थी और अमरीकी हमलों के बाद में तथा बारुदि आग में जलती हुई अपना भविष्य तलाश रही थी।

ओसामा बिन लादेन का पता नहीं, वह कहां भूमिगत हो गया या अमरीकी बमों की आग में नष्ट हो गया ? लेकिन यह भी सत्य माना जा रहा है, कि ओसामा बिन लादेन अभी ज़िन्दा हैं। इसे भविष्य ही बतायेगा।

अमरीकी घोषणा से, कि वह आतंकवाद से विश्वभर में लड़ाई लड़ेगा तथा आतंकवाद को विश्व भर में, नष्ट करने की कोशिश करेगा, सन्देह की दृष्टि से देखा जा रहा है, क्योंकि आतंकवाद की अमेरीका की अपनी ही परिभाषा है जो केवल अमरीका की सुरक्षा तक ही सीमित है या जिन देशों में अमरीका का अपना 'स्वार्थ' है, वहीं तक केन्द्रित है। उसे वह किसी निश्चित परिभाषा में बांधने को तैयार नहीं है। अन्तराष्ट्रीय नग्न आतंकवाद को और उसकी अमानवीय

विध्वन्सक कार्य शैली को जो पागलपन की हद तक पहुँच गई है, सम्पूर्ण दुनिया को अपने स्वार्थो से हटकर तथा पूंजीवादी आर्थिक लालच में डूबी राजनीति से हटकर मानवीय दृष्टीकोण से देखना होगा। विश्व की बड़ी राजनैतिक शक्तियों को उसके लिये अलग-अलग 'आयनों' की ज़रुरत नहीं है, केवल एक 'आयना' देखने को पर्याप्त है, जिसमें आतंकवाद का चेहरा, साफ़ नज़र आ रहा है, कि आतंकवाद 'साम्प्रदायक' तथा 'आर्थिक साम्राज्यवादी', 'राजनैतिक' माता-पिता की सन्तानें हैं, जिसे विश्व के धनवान देशों ने परवरिश किया है।

भारत के शास्त्रों में एक प्रचलित कथा है, कि 'भस्मासुर' नामक एक राक्षक ने 'शिव भगवान' (देवता) की बहुत पूजा की, शिव ने उसे प्रसन्न होकर वरदान दे दिया कि "तू अमर रहेगा और वह जिस व्यक्ति के सिर पर हाथ रख देगा, वह भस्म हो जायेगा। उस भस्मासुर दानव ने सर्व प्रथम 'शिव' (देवता) से कहा "मैं प्रथम आपके ही सिर पर हाथ रखना चाहता हूँ। बस! फिर क्या था, वरदान देने वाले देवता आगे-आगे भाग रहे थे और भस्मासुर उनके पीछे-पीछे भाग रहा था। फिर शिव भगवान को ही अपने 'हूनर' से उस दानव को नष्ट करना पड़ा।" यह कथा अमरीका पर उचित बैठती है क्योंकि अमरीका ने ही अफ़ग़ानिस्तान में, आतंकवादियों को मदद देकर साम्यवादियों को मिटाने के लिये, आतंकियों को सहयोग किया था। अब वह आतंकी दानव उसी के सामने आ रहा है, और वह अपना खूनी शिकंजा अमेरीकी महाशक्ति के सामने बढ़ा रहा है। आज की दुनिया, संसार की सर्व शक्तिवान राज्य सत्ता पर अति आधुनिक आतंकी छाया को मंडराते, अपनी आँखों से देख रही है, जो विश्व भर के टेलिविज़नों पर खुलेआम दिखायी जा रही है। अब महाशक्तियों को भी सचेत हो जाना चाहिये, कि नये रूप में, नयें ढ़ग से आतंकवाद उनकी ओर भी तेज़ी से बढ़ रहा है, जिसको उन्होंने दूसरों को मिटाने के लिये, आधुनिक शस्त्रों और आधुनिक बमों से अपने स्वार्थ के लिये सुसज्जित किया था।

यह उपरोक्त उदाहरणों से यह साफ हो जाता है, कि अमेरिका सहित पश्चिमी तथा मध्य एशिया में और उसके आस-पास के क्षेत्रों में आतंकी 'युद्ध' खुला रूप ले रहा है। ओसामा बिन लादेन जैसे, धार्मिक कहे जाने वाले नेता तथा अन्य राजनैतिक आतंकी दल खुले रूप से अमेरीका के विरुद्व युद्ध की घोषणा कर चुके हैं। दूसरी ओर अमरीका सहित पश्चिमी देशों ने भी आतंकवाद के विरूद्ध, खुला युद्व घोषित कर दिया है। जो निरन्तर चल रहा है। उसके परिणाम स्वरूप नित्य निर्दोष लोगों की हत्या हो रही है और ऐसे में निर्दोष मानवता की रक्षा करने वाला कोई नहीं है। दुख का विषय यह भी है, कि यह सब कुछ किसी न किसी रूप में धर्म के नाम पर भी हो रहा है। जबकी 'धर्म' का इस से कुछ लेना देना नहीं है, यह बस एक राजनैतिक कला हैं, जो धर्म के आड़ में लड़ी जा रही है।

आतंकवाद के विरुद्व भूमण्डलिय गठबन्धनों द्वारा अफ़ग़ानिस्तान में लड़ा गया युद्व नई शताब्दी का 'प्रथम' युद्ध, अमरीका द्वारा घोषित किया गया था। अमरीका यह भी मानता है कि यह युद्ध सर्वोतम आधुनिक हथियारों द्वारा लड़ा गया है, इसमें जो भी हथियार प्रयोग किये गये, वह 'इराक़' के विरुद्व खाड़ी युद्ध के मुक़ाबले बहुत ही आधुनिक तथा अति विध्वनसक थे। परिणाम यह हुआ, कि अफ़ग़ानिस्तान में आग से जलते हुये शहर और गाँव, पर्वत तथा गुफायें 'मीडिया' के द्वारा आसानी से देखी जा सकती थी। जहाँ एक ओर आतंकी कार्यवाही से हज़ारों लोगों की मौत, अमरीका के बमों के हमलों से की गई, जिसमें आफ़ग़ानिस्तान में, असंख्य निर्दोष लोग मारे गये। आतंक की आग में जलती मानवता, यदि अमरीका के आधुनिक नगर में, आज के सभ्य कहलाने वाले युग में, धार्मिक जुनून की अग्नि में जलाई जा रही थी, तो दूसरी ओर

अफ़ग़ानिस्तान में, ग़रीब, निर्दोष, बेसहारा लोगों पर क़हर बरसाते बम-वर्षक लड़ाकू विमान, तीन महीने तक आग और मौत अफ़ग़ानिस्तान पर बरसाते रहे थे, फिर भी मुख्य दोषी ओसामा बिन लादेन और मुल्ला उमर नहीं पकड़े गये। उनका क्या हुआ ? यह भी पता नही। ओसामा बिन लादेन आज भी जिंदा है, यह कई बार कहा भी जा चुका है। आज भी अफगानिस्तान में लाखों बेघर लोग भूखें, प्यासे यह नहीं समझ पर रहे थे कि गरीब जनता का दोष क्या था ?

जहाँ आतंकवादी संगठन अपनी बर्बरता के लिये तथा निर्दोषों की हत्या के लिये ज़िम्मेदार हैं, वहीं महाशक्तियाँ भी अफगानिस्तान में, अपनी क्रूरता के लिये मानवता की हत्या के इल्ज़ाम से बच नहीं सकतीं। अमरीका और उनके सहयोगियों का मानवता के लिये मापदण्ड अलग-अलग क्यों हैं ? **यह युद्ध यदि आतंकवाद के विरुद्ध है, तो दुनिया की समस्त सरकारें, जो मानवता की दुहाई देती हैं आतंकवाद से एक साथ मिलकर क्यों नहीं लड़तीं ? प्रश्न उठता है कि, बेरहम ! राजनीति मानवता के साथ खिलवाड़ क्यों कर रही है ? निर्दोष जनता, चाहे वह विश्व के किसी कोने में आतंकवाद का शिकार हुई हो, उसके लिये सभी 'धर्म' चिन्तक निर्भीक होकर क्यों नहीं बोलते हैं ? उनके निहित राजनैतिक तथा आर्थिक स्वार्थ कब तक मानवता की हत्या पर मौन खड़े तमाशा देखते रहेंगे। इसका उत्तर आज कोई नहीं दे रहा है।**

आतंकी हमलों के कारण, अमरीका की गगन चुम्बी मीनारों से उठती आग की लपटें, जहाँ निर्दोष लोगों को भस्म किये बैठी हैं, वहीं पर 'अफगानिस्तान' में हज़ारों निर्दोष लोगों की कब्रें मालूम कर रही है कि, उनका क्या क़सूर था ? अमरीका कहता है, युद्ध में ऐसा हो ही जाता है। एक घटना है, जौलाई के महीने में, जब अमरीका के बमवर्षक वायुयान दक्षिण अफ़ग़ानिस्तान में बम वर्षा कर रहे थे तो उसी समय 4010 अमरीकी सैनिकों ने, अफगान सैनिकों के साथ मिलकर 'ओरजगान' प्रांत के 'केकाराक' गांव पर हमला बोला और 48 निर्दोष व्यक्तियों की हत्या कर दी तथा उस गाँव को तहस-नहस कर दिया। इसी तरह अन्य अमरीकी हमलों में, अनेकों निर्दोष लोग मारे गये। अमरीकी के ख़ुफ़िया विभाग का कहना था, कि यह कार्यवाहियाँ 'तालिबान' की मौजूदगी के सन्देह में हुई थी। 'हूमेन राईट्स कमीशन' के सलाहकार 'विलियम एच. आरकिन' के पास तीन सौ व्यक्तियों की मौत के आंकड़े हैं, जिसमें अनेकों अफ़ग़ानिस्तान के निर्दोष लोगों की हत्या कर दी गई थी।

यह माना जा रहा है, कि अफ़ग़ानिस्तान में 36 हज़ार से भी अधिक बम ऐसे चारो ओर बिखरें पड़े थे, जो अभी तक चारों ओर बिखरे पड़े हैं, जिसके विस्फोट से नागरिकों की और भी जान जा सकती हैं। न्यू हैम्पशायर यूनिवर्सिटी के अर्थशास्त्र के प्रौफेसर मार्क डब्लू. हेराल्ड के अनुसार 7 अक्टूबर से 6 दिसम्बर तक 3,767 निर्दोष नागरिक अफ़ग़ानिस्तान में मारे गये थे।

प्रश्न फिर उठता है, संयुक्त राष्ट्र (U.N.O.) जैसी संस्था भी आतंकवाद के लिये मौन क्यों है ? जबकि आतंकवाद की समस्या विश्व युद्ध से भी गम्भीर समस्या बनती जा रही है। उसे चुनौती के रूप में अन्तराष्ट्रीय जगत क्यों नहीं स्वीकार कर रहा है। विश्वभर में इससे अमानवीय घटनाएँ क्या हो सकती हैं कि कही ट्रेन में बम रखकर उसे उड़ा दिया जाता है। तो कहीं बसों से उतार कर निर्दोष लोगों का क़त्ल कर दिया जाता है और कहीं घरों में, दफ्तरों में काम करते लोगो को बमों के धमाकों से उड़ा दिया जाता है।

यहीं नहीं, ज़िम्मेदार आतंकी संगठन अख़बारों और मीडिया के माध्य से आम ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेते हुये कहते हैं, कि "यह बर्बरता का कार्य अमुख संगठन ने किया है।" यह आधुनिक

युग में 'जंगली' अमानवीय कार्यवाही नहीं है तो और क्या है? दुख की बात यह है, इन सभी कार्यवाही को धार्मिक तथा राजनैतिक संगठन सहयोग और आर्थिक सहायता देते हैं, तथा कई देशों की सरकारें आतंकवादियों को उन्हें खुलेआम पनाहा देती हैं, तथा उन्हें शस्त्र देकर प्रशिक्षित करती हैं।

अफ़ग़ानिस्तान में, इस काल में भी, जब तालिबान का शासन समाप्त हो गया, वहां की जनता खुले माहौल में सांस नहीं ले रही है, दहशत अभी भी आम जनता में बनी हुई है। सत्ता पक्ष तो हर समय दहशत गर्दों के निशाने पर रहता है, क्यों कि अभी भी आतंकवाद की परछाई अपना वजूद अफ़ग़ानिस्तान में बनाये हुये है। 5 सितम्बर 2002 का दिन, उसका सबूत है, जब 'हामिद करजई' पर हुआ आतंकी हमला, यह अहसास कराता है कि अभी तालिबान और अलक़ायदा का आतंक वहाँ 'हारा है, मरा नहीं'।

अफगानिस्तान की जनता ग़रीबी मार से पीड़ित है। बहुत समय तक आंतक के साये में जीने से उसके 'अरमान' असहाय हो गये हैं। नई सरकार के पास धन की कमी है, संसाधनों की कमी है, सैनिक शक्ति आतंकवाद का मुक़ाबला करने के लिये अपर्याप्त है।

वर्तमान राष्ट्रपति 'करज़ई' हमले में बाल-बाल बच गये परन्तु उनके तीस सैनिक मारे गये। यह इस बात का सबूत है कि आतंक अभी अफ़ग़ानिस्तान में ज़िन्दा है।

अफ़ग़ानिस्तान की समस्या जातीय आधार पर विचित्र है, एक तो वहाँ की आर्थिक परेशानियाँ नौजवानों को चैन से जीने नहीं देती, इसलिये वह 'शस्त्र' उठा लेते हैं। जब तक अफ़ग़ानिस्तान का आर्थिक पुनः निर्माण नहीं होगा, तब तक वहा 'शान्ति' की उम्मीद करना बेकार है। वहाँ पर विश्व समुदाय को आर्थिक मदद देना तथा उसके विकास के लिये नवीन रास्ते ढूढना आवश्यक है। दूसरे वहाँ पर जातीय समस्या क़बीलों की है। वहाँ पर सबसे बड़ा क़बीला पख़्तून है, जो वहाँ के 40 प्रतिशत नागरिकों में समाया है। वर्तमान में अधिकतर सत्ता पख़्तूनों के पास रही है। तालिबान का 'सरदार' मुल्ला उमर भी पख़्तून ही है, इसलिये उसे पख़्तूनों का सदा सहयोग मिलता रहा। पख़्तूनों को सन्तुष्ट करने के लिये ही 'हामिद करज़ई' को राष्ट्रपति बनाया गया, परन्तु 'पख़्तून' अभी परेशान हैं, वह अपनी 'सत्ता' को केन्द्रित नहीं मानते हैं, वह सम्पूर्णतय अपमानित सा महसूस कर रहे हैं, क्योंकि वर्तमान में, सभी उच्च पदों पर 'ताज़िक तथा उच्वेक' लोग बैठे हैं, जिससे पख़्तून नौजवान परेशान हैं। वह महसूस करते हैं कि तालिबान का साथ देना उन्हें मंहगा पड़ा हैं। लेकिन अभी भी उसका लाभ मुजाईद्दीन नेता 'गुलबुद्दीन' उठा रहा है, जो रूसी सेना से लड़ चुका है, और वह वर्तमान में ईरान में रह रहा है। वह अफ़गान सरकार के विरुद्ध ज़िहाद का नारा दिये हुये है। अफ़ग़ानिस्तान में धीरे-धीरे राष्ट्रीयता की भावना पैदा हो रही हैं, दूसरे वहाँ की कट्टरवादी शक्तियाँ भी अमरीका के विरुद्ध अन्दर ही अन्दर आग सुलगा रही हैं। अफगानिस्तान ने, वर्तमान में, 'कट्टरवाद' से तो छुटकारा पा लिया लेकिन अनुभव यह कहता है, कि जब तक विश्व समुदाय यह महसूस नहीं करेगा कि अमरीकी साम्राज्यवाद से अधिकतर ऐशिया के देश आर्थिक शोषण का 'खतरा' महसूस करते हैं तथा समझते हैं, कि यूरोपियन साम्राज्यवाद प० ऐशिया में केवल अवसर की तलाश में ही रहता है तथा अपना स्वार्थ ही देखता है। जब तक अमेरीका अपना आर्थिक स्वार्थ नहीं छोड़ता है, और एशिया में साम्राज्यवादी आतंक को फैलाता रहेगा, तब तक अफ़ग़ानिस्तान जैसे देशों में उसका नैतिक प्रभाव नहीं बढ़ सकता है। प० एशिया के लोग यह समझते है कि जब तक 'अमरीका' का स्वार्थ है, वह शान्ति के बहाने, उनके संरक्षण का दावा करता रहता है, लेकिन जब उनका 'स्वार्थ' पूर्ण हो जायेगा तब वह किसी भी

आतंकवादी दल से समझौता कर लेगा।

इतिहास गवाह है, पश्चिमी देशों की विदेश नीति 'एशिया' में अपने स्वार्थ के लिये कुछ भी कर सकती है। उसी के परिणामस्वरुप ऐशिया में रोज़-रोज़ जनतन्त्र की हत्या हो रही है। **एक ओर 'धार्मिक और जातीय' आतंकवाद एशिया में अशान्ति के लिये जिम्मेदार है तो दूसरी ओर पश्चिमी देशों की और अमेरीका की विदेश नीति, एशिया की 'शान्ति' और सुरक्षा को शक्ति के बल पर रौंद रही है। एशिया में मानवता दो शक्तियों के मध्य रोज़-रोज़ मृत्यु को प्राप्त हो रही है।**

21 वीं सदी में राजनैतिक आतंकवाद के बढ़ते कदम

दुनिया ने 20 वीं, शताब्दी में आतंकवाद और महायुद्ध के बड़े डरावने और खौफ़नाक दौर देखे थे, जिसमें करोड़ों लोगों को मौत के घाट उतार दिया गया। प्रथम तथा दूसरे विश्व युद्ध में करोड़ों लोगों की मृत-आत्माएँ सभ्य मानव जाति से यह प्रश्न करती है कि उन निर्दोष लोगों का अपराध क्या था, जिन्हें बेवजह मौत के घाट उतार दिया गया था। दूसरे विश्व युद्ध में जहाँ करोड़ो लोगों की जाने गईं, करोड़ों लोग बेघर हो गये, करोड़ों अपंग बने ज़िन्दा लाशों की तरह सड़कों पर रेंगने लगे, करोड़ों मकानों और दुकानों को, यहां तक पेड़-पौधों और पक्षियों तक को आग की लपटों में जलते हुये, इतिहास ने स्वयं देखा था। 1944 के आते-आते जहाँ यूरोप जल रहा था, वहाँ एशिया के देश भी युद्ध का आतंकी इतिहास अपने सीने में समेटे हुये हैं।

इतिहास जानता है, जब दूसरे विश्व युद्ध का अन्तिम दौर था और मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ विजय की ओर बढ़ रही थी। उस काल में, युद्ध के अन्तिम समय में, मित्र राष्ट्रों के निशाने पर एशिया का धनवान शक्तिशाली देश जापान भी था। 1944 के उत्तरार्ध में, मित्र राष्ट्रों के हमले जापान पर तेज़ हो गये थे। मित्र-राष्ट्रों के हवाई जहाज़ हज़ारों-हज़ारों की संख्या में, जापान के आकाश पर छाने लगे। हज़ार-हज़ार हवाई जहाजों की लम्बी क़तारे निरन्तर आकाश से धरती पर आग बरसाने लगीं।

इतिहास गवाह है, ऐसा लगता था जैसे बमों के धमाकों से मौत बरसाई जा रही हो। इतिहास बोलता है, कि जब 10 मार्च 1945 को जापान के शहर 'टोकियो' पर मित्र राष्ट्रों के हवाई जहाज़ों ने आग लगाने वाले बमों की बौछार करके, 'टोकियो' शहर को जला डाला था, जिसमें एक लाख आदमियों की जाने गईं थी और 23 लाख घर जलकर नष्ट हो गये थे। हज़ारों पुरुष, बच्चे और महिलायें आग से जलकर अपंग हो गये थे। तब यह आतंक नहीं था, तो और क्या था ?

6 अगस्त 1945 का दिन, सभ्य और मानवतावादी कहलाने वाले, 'धर्म' पुरुषों के लिये और जनतन्त्र के लम्बरदारों के लिये कलंक का दिन है।

जब अमरीका ने हिरोशिमा पर परमाणु बम डालकर 60,000 हज़ार व्यक्तियों को, बमों की आग से उठी ज्वाला में तड़फा-तड़फा कर बड़े ख़ौफनाक अन्दाज़ से मौत के घाट उतार दिया था। अमरीका द्वारा मानव समुदाय की हत्या का यह सिलसिला और भी डरावना हो गया, जब 9 अगस्त को नागासाकी पर परमाणु बम गिरा कर 40,000 हज़ार व्यक्तियों को मौत के घाट उतार दिया गया। 1945 के वह दिन इतिहास के पन्नों पर मानवता की हत्या और सभ्यता को कलंकित करने वाले काले दिनों की तरह याद किये जायेंगे। जब आतंकी घटनाओं से दुनिया हिल गई थी। दुनिया के सभ्य लोगों ने खुले दिल से इस अमानवीय घटना की निन्दा की थी।

दुनिया के इतिहास ने, ऐसी 'राष्ट्रवादी' प्रबल भावना न कभी देखी है और न शायद आगे देखी जाएगी, जो दूसरे युद्ध के समय जापान ने दिखाई थी। जब राष्ट्र एकता के सूत्र में बंधे जापान के बच्चे-बच्चे ने देश पर 'शहीद' होने की कसम खायी थी। परमाणु बमों की मार से घायल

होने के बाद भी जापान मित्र राष्ट्रों के सामने 'सीना' खोले खड़ा था। **जापान के लाखों लोगों के बलिदान के बाद भी जापान के लोगों की राष्ट्रीयता का उत्साह किसी तरह भी कम नहीं हुआ था। जापानी जनता अपने 'राष्ट्र' जापान पर मर मिटने के लिये तैयार खड़ी थी। जापान की जनता ने निश्चय कर लिया जब तक जापान में, एक भी बच्चा 'ज़िन्दा' है, वह आत्म-समर्पण नहीं करेगा। यदि जापान मर भी गया तो जापान देश की मृत-आत्मायें मित्र राष्ट्रों से लड़ती रहेंगी। हिरोशिमा और नागासाकी की परमाणु बमों की तबाही के बाद भी जापान युद्ध के मैदान में अकेला खड़ा था। उस काल में जापान के पास न हथियार रह गये थे और न सेना के पास गोलियाँ बची थी, फिर भी जापानी जनता लाठी, डण्डा, बांस और बल्लम लेकर मुकाबले के लिये खड़ी थी।**

9, 10 अगस्त 1945 को, जापान के सम्राट की अध्यक्षता में सर्वोच्च 'युद्ध परिक्षद' की सभा बुलाई गई, इसमें सम्राट ने, उस काल के जापान के प्रधानमंत्री सूजी को मित्र राष्ट्रों के सामने आत्मसमपर्ण के लिये कहा। जापान द्वारा मित्र राष्ट्रों को सूचना दे दी गई कि जापान समर्पण के लिये तैयार है, बशर्ते जापान के सम्राट और उसके अधिकारों में कोई भी कमी न आये।

लेकिन मित्र राष्ट्रों ने उसे अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप 14 अगस्त को, जापान देश की जनता और सेनापति की इच्छा के विरुद्ध जापान की सरकार ने आत्मसमर्पण करना स्वीकार कर लिया। जापान के इतिहास में वह दिन भी भूलने लायक नहीं है, जब सरकार ने तो आत्मसमर्पण की सोच ली थी, लेकिन जनता ने 'हार' नहीं मानी थी।

टोकियो में, जापान द्वारा हथियार डालने की 'खबर' पढ़कर जापानी लोगों की लाखों की 'भीड़' सम्राट के महल की ओर चल पड़ी, एक तरह से यह शाही महल पर हमला ही था। महल के सामने, हज़ारों लोगों ने अपने पेट चाक़ कर के जान दे दी। जापानी सेना के एडमिरल ओनीशी, जनरल 'तानाका' तथा कई अन्य सेनापतियों ने आत्म-हत्या करली। 'सूज़ूको' और 'कीदो' किसी तरह बच गये। **यह जापान की सरकार का आत्मसमर्पण था। जनता का नहीं !**

जापान के शस्त्र डालने पर, 'युद्ध' की आग तो शान्त हो गई। उसके बाद दुनिया, फिर से खड़ा होने की कोशिश करने लगी, फिर भी महाशक्तियाँ परमाणु बमों के ढेर अपने देशों में लगाने की होड़ में जुट गई थीं। साथ ही साथ 'कोरिया' जैसे युद्ध धरती पर उसके बाद भी लड़े जा रहे थे, दुनिया की दो महा शक्तियाँ एक रूस और दूसरी अमेरीका, दुनिया पर छाने के लिये होड़ लगाये हुये थी। दुनिया में बेचैनी थी, चिन्ता थी, और सन्देह भी था। खूनी संघर्ष कभी धर्म के नाम पर और कभी राजनैतिक स्वार्थो के लिये मानवता को हानि पहुँचा रहा था।

समय के साथ इतिहास ने फिर खिलवाड़ किया, जब रूस जैसी महाशक्ति समय की गर्त में समा गई थी, और अमेरीका का एक छत्र राज दुनिया पर काबिज़ हो गया। अमेरीका महाशक्ति के रूप में दुनिया पर आर्थिक साम्राज्य कायम करने के स्वपन सजाये हुये है। देखना, यह है, कि आगे क्या होता है ? आधुनिक युग में, विश्व समुदाय जहाँ विकास कर रहा है, वहीं अपने भविष्य के लिये चिन्तित भी है। खासतौर पर गरीब-निर्धन जनता दहशतग़र्दी का शिकार हो रही है। चिन्ता की रेखायें उसके माथे पर साफ देखी जा सकती हैं।

एशिया में आतंकवाद का विस्तार

21 वीं शताब्दी से पूर्व, दुनिया भर की महाशक्तियों ने घोषणा की थी कि 21वीं शताब्दी आतंक और युद्ध रहित होगी। दुनिया के कमज़ोर लोगों के दुख-दर्द दूर करने के लिये बड़े राष्ट्र आगे बढकर कार्य्य करेंगे। 21वीं शताब्दी, आतंक विहिन तथा युद्ध विहिन दुनिया की रचना करेगी।

आतंकवाद को समाप्त करने के नाम पर 'अफगानिस्तान' की धरती पर आग के रूप में बरसती बारूदी लपटों ने हज़ारों लोगों की जाने ली। अमरीका के 'राष्ट्रपति बुश' ने 11 सितम्बर की आतंकवादी घटना के बाद अपने भाषण में कहा था "हम आतंकवाद के विरुद्ध 21वीं शताब्दी का पहला युद्ध लड़ने जा रहे हैं, जिसमें विजय हनारी होगी, हम आतंकवाद को समाप्त कर देंगे।" वास्तविकता यह है, कि यह युद्ध एक राजनैतिक युद्ध था, जो दुनिया में घोर हिंसा के उत्पन्न करने के संकेत दे रहा था। इस युद्ध से यह भी संकेत मिलते हैं कि 'एशिया' को युद्ध का मैदान बनाने की योजनायें बन रही हैं। आतंकवाद के विरुद्ध 'सर्वभौतिक' युद्ध, जो अमेरीका जैसी महाशक्ति द्वारा घोषित किया है, उसके पीछे और कई तरह की गंध उठती नज़र आ रही हैं।

प्रथम यह संकेत मिल रहे है, कि किसी न किसी रूप में यह युद्ध आगे बढ़ता नज़र आ रहा है। एक ओर 'ओसामा बिन लादेन' जैसे लोगों के आतंकवादी संगठन, अलकायदा जैसे आतंकी संगठनों के साथ मिलकर ख़ूनी खेल खेल रहे हैं। वह 'अरब देशों में सक्रिय हैं, उनका लक्ष्य अमेरीका तथा पश्चिमी राष्ट्रों के साम्राज्यवाद को समाप्त करना है। दूसरी ओर अमेरीका, अरब देशों में फैले अपने साम्राज्य को पूर्णतय सुरक्षित रखना चाहता है।

21वीं शताब्दी के इस खूनी संघर्ष का कारण जहां धर्म की सुरक्षा है, वहीं आर्थिक साम्राज्यवाद का विस्तारवादी दर्शन भी है। अमरीका की आतंकवाद समाप्त करने की घोषणा में, निष्पक्षता नज़र नहीं आती है, क्योंकि अमेरिका इजराईल द्वारा 'फिलिस्तीन में की जा रही, आतंकवादी हिंसा की निन्दा नहीं करता।

इजराइली 'शस्त्र दल', फिलिस्तीन पर रोज़-रोज़ टैंकों और हवाई ज़हाजों से हमले करते रहते हैं। जिसमें हज़ारों लोगों की जाने जाती हैं। केवल यह ही नहीं, फिलिस्तीनी जनता के नेताओं को मारने की रोज़-रोज़ कोशिश भी होती है। फिलिस्तीन की समस्या दिन-प्रतिदिन पाश्विक होती जा ही है। वहाँ, मानवता रोज़-रोज़ रोंदी जाती है। यह भी अखबारों की सुर्खियों में रहता है कि अमेरीका, इज़राइल की मदद करने, और हथियारों और लड़ाकू समान से सुसज्जित करने के लिये, प्रतिदिन लगभग ढेड करोड़ डालर खर्च करता है। यह कहा जाता है, इलराइल नाभिकीय हथियार रखता है, लेकिन उसकी निन्दा महाशक्तियों द्वारा नहीं की जाती है। निष्पक्ष, इतिहास लेखकों का कहना है, कि जहाँ 'अफगानिस्तान' की सरकार में तालीबान को आतंकवादियों को पनाह देने पर समाप्त कर दिया जाता है, वहीं फिलिस्तान के बारे में अमेरीका पूर्णतय मौन रहता है, और 'इजराइल' के आतंकवादियों की मदद करता है। केवल यह ही नहीं, इजराइल के प्रधानमंत्री 'एरियल शैरान' को 'शान्ति पुरुष' कहकर भी पुकारा जाता है।

दूसरी ओर इजराइल द्वारा 'यास्सेर अराफात' के कार्यालय तक की घेराबन्दी की जाती है। इस्लामिक जनता अमेरीका तथा पश्चिमी देशों से इसलिये भी नाराज़ है, कि आतंकवाद के खिलाफ विश्वव्यापी युद्ध में, इस्लाम पर खुला हमला करके उसे आतंकवादी कहने की चेष्टा की गई है और उसे बदनाम किया जा रहा है। साम्राज्यवादी देश चाहते हैं कि 'अरब' देश इज़राइल के अधिपत्य को स्वीकार कर ले। इसी कारण अरब जनता में, अमेरीका के प्रति गुस्से की लहर देखी जा सकती है। कई अखबार, जो प्रगतिशील कहे जाते हैं, यह खुले तौर पर लिखते है कि इजराइल के पास 'रासायनिक और जैविक' हथियार हैं। उनका तो यहाँ तक कहना है, कि अमेरिका के पास स्वयं जैविक और रसायनिक हथियार हैं। यह नहीं भूलना चाहिये, कि जर्मन के हिटलर और अमेरीका की महाशक्तियाँ ही रसायनिक, और जैविक शस्त्रों के प्रथम उत्पादक थे। आज भी उसकी तकनीकी अमेरीका और पश्चिम के बड़े राष्ट्रों के पास ही है। आज भी अमेरीका और रूस के पास पूर्ण दुनिया को नष्ट करने का परमाणु शस्त्रों का ज़खीरा मौजूद है, जो सबसे बड़ी आतंकी दहशत का कारण बना है।

प्रश्न उठाया जाता रहा है, आतंकवादियों पर हथियार कहाँ से आते हैं। यह भी कहा जाता है ? कि दुनिया भर को शस्त्र बेचने वाले देश पश्चिम में ही बसे हैं।

दूसरे विश्व युद्ध के बाद, कोरिया और वियतनाम, में सैनिक कार्यवाही और क्यूबा में कत्लोंग़ारत, का खेल लगभग चार दशक तक घेराबन्दी करके अमरीका खेलता रहा और 'कास्त्रो' की हत्या और सत्ता परिवर्तन, में भी उसी का हाथ माना जाता है। 'चिली' में विद्रोह और सत्ता पर कब्जें की कार्यवाही में भी महाशक्तियों का हाथ माना जाता है। उसी के साथ-साथ 'निकीर गुआ' अंगोला की लोकप्रिय सरकारों को साज़िश करके हटा देने की घटना और वहाँ 'गृह-युद्ध' में मौत का ताण्डव भी बड़ी महाशक्तियों की ओर इशारा करता है। यह उपरोक्त घटना चक्र, एक राजनैतिक साम्राज्यवादियों के आतंकवाद के बढ़ते कदमों की ओर इशारा करते हैं, जो खासतौर पर एशिया की शान्ति और सुरक्षा के लिये ख़तरा बन गया है। वर्तमान में, नक़ाब पहनकर साम्राज्यवादी आतंकवादी शक्तियाँ एशिया और अफ्रीका के कुछ देशों में अपनी कटपुतली सरकारों के माध्यम से, एशिया के देशों में खूनी आतंक मचा रही हैं जो, चरम सीमा पर पहुँच गया है। अमेरीका द्वारा एशिया के देशों में सैनिक हस्ताक्षेप निरन्तर बढ़ता चला जा रहा है। परिणामस्वरूप एशिया के कई देशों की अर्थव्यवस्था तबाह हो गई और गरीबी और बेरोजगारी का दायरा बढ़ता चला जा रहा है।

आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध का अर्थ

21वीं शताब्दी में, 11 सितम्बर की आतंक घटना के बाद, अमेरिका ने कथा-कथित आतंकवाद के विरुद्ध युद्ध आरम्भ कर दिया और अफगानिस्तान की तालिबान सरकार समाप्त कर दी गई, जैसा कहा भी जा चुका है। उसके बाद 'इराक' से 'सद्दाम हुसैन' की सरकार भी समाप्त कर दी गई। वैसे, इराक पर, अमेरीका की नियत 1991 में ही साफ हो गई थी, जब अमेरीका ने इस छोटे से देश को बमों की मार से रोंद दिया था। 1991 में ही अमेरीका के लडाकू विमानों ने 1,10,000 हवाई उड़ाने भरी थीं। उस काल में ही इराक पर 88,500 टन बम गिराये गये थे। उस युद्ध में 15,000 इराकी मारे गये थे।

इराक के सभी पॉवर स्टेशनों, संचार केन्द्रों, औद्योगिक केन्द्रों, आपूर्ति व्यवस्था और सरकारी इमारतों पर बम गिराये गये। उसी के साथ इराक पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगाये गये। कहते हैं कि

आर्थिक नाकाबन्दी के कारण इराक में, 10 लाख से भी अधिक लोगों की मौत हो गई थी तथा चिकित्सा और दवाई के अभाव में लगभग 5,00,000 बच्चों की मौत हो गई थी। आर्थिक प्रतिबन्धों और नाकाबन्दी के साथ-साथ 1991 से लेकर सद्दाम हुसैन के शासन के अन्त तक लगातार सैनिक हमले होते रहते थे। सद्दाम हुसैन की सरकार को डराने और धमकाने की कार्यवाही निरन्तर होती रही थी।

अमेरीका का पहला आरोप था कि इराक के पास बड़ी मात्रा में विनाशकारी हथियार हैं। अमेरीका का दूसरा आरोप था, कि 'इराक' का सम्बन्ध अलकायदा तथा लादेन से है, लेकिन बाद में, दोनों ही आरोप असत्य साबित हुये। वैसे देखा जाये तो इराक एक बहुत ही छोटा देश है। जिसकी आबादी 2.3 करोड ही है, लेकिन 'तेल' के अपार भण्डार होने के कारण इसका महत्व दुनिया में बहुत बड़ा है। तेल आज की आधुनिक दुनिया के लिये 'प्राण' है। तेल के बिना मानव संसार का रथ चल ही नहीं सकता है, इसलिये विश्व के साम्राज्यवादी देशों की लालच भरी निगाहें 'इराक' और 'कुवैत' पर सदा लगी रहती हैं। इतिहास के पन्नों पर, इराक की सभ्यता अति प्राचीन है। यहाँ से दुनिया की प्राचीन संस्कृतियों का उदय भी हुआ था। 'बौबिलोन' और 'मेसोपोटानिया' की सभ्यतायें दज़ला और फ़रात के तटों से ही विकसित हुई थीं। बगदाद भी एक अति प्राचीन नगर है, जो 'ज्ञान' और 'संस्कृति' का भण्डार कहा जाता रहा है। इराक, जैसा कहा भी जा चुका है, एक 'ब्रिटिश उपनिवेश' था। अब वह तेल के कारण ही आधुनिक युग में, यूरोपियन देशों के मध्य संघर्ष का केन्द्र भी बना रहता है। साम्राज्यवादी शक्तियाँ इस क्षेत्र में बहुत पहले से ही 'जमी' हुई हैं। 'इराक' का महत्व इसलिये भी अधिक है, क्योंकि यह 'अरब' देशों की मुक्ति और 'स्वतन्त्रता' आन्दोलन का केन्द्र भी रहा है। यह वह स्थान है, जिसने 'गुट-निरपेक्षता' की नीति को अपनाने की एतिहासिक पहल की थी।

जैसा कहा भी जा चुका है, इराक तेल के मामले में एक धनी देश है। उसके पास अपार तेल भण्डार हैं। यह भी कहा जाता है कि इराक के पास 112.5 अरब बैरल तेल के सुरक्षित भण्डार हैं। सऊदी अरब के बाद, इराक तेल के मामले में बहुत ही धनी देश है। आज की दुनिया में अमेरीका का नियन्त्रण और प्रभाव कुवैत, सऊदी और अमीरात पर पूर्ण रूप से कायम है, लेकिन 'सद्दाम हुसैन' उनके प्रभाव में नहीं आ रहा था। इसलिये 'इराक' पर अमेरीका तरह-तरह के दबाव डालता रहता था। इराक पर हमला और आर्थिक प्रतिबन्ध उसकी एक महत्वपूर्ण वजह थी। अमेरीका का इल्ज़ाम था कि 'इराक' बहुत बड़ी तादाद में जैविक और रसायनिक घातक हथियार छिपाये हुये है। 1988 में अमेरीका ने इल्ज़ाम लगाया कि 'इराक' हथियार निरिक्षकों को सहयोग नहीं कर रहा है, जबकि गत आठ सालों में 9,000 निरिक्षण किये गये थे। अमेरीका का यह भी इल्ज़ाम था, कि इराक 'अलकायदा' जैसे आतंकी संगठन की मदद करता था। कुछ इतिहासकारों का कहना है, कि अमेरीका का उद्देश्य साफ था कि 'सद्दाम हुसैन' के शासन को समाप्त करके, वहाँ ऐसी सरकार कायम कर दी जाये, जो अमेरीका के इशारे पर चले और उसके आर्थिक हितों की पूर्ति करें।

एशिया के देशों में अमेरीका की दखल अन्दाज़ी कोई नहीं बात नहीं थी, रूस के पतन के बाद तो उसने अपने आर्थिक साम्राज्यवाद को विस्तृत करने के प्रयास बहुत पहले ही तेज़ कर दिये थे। अमेरीका ने अपने पश्चिम के मित्रों के साथ बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के साथ मिलकर अपनी वित्तीय पूँजी एशिया के बाज़ारों में लगा दी, आज एशिया के बाज़ार उसके सर्वोत्तम चरागाह हैं। उसकी रक्षा के नाम पर वह किसी 'राष्ट्र' की 'प्रभु सत्ता' पर कब्जा कर सकता है। अफगानिस्तान

में अमेरीकी सेना अपना क़ब्ज़ा जमा चुकी हैं, 'इराक' पर भी इसी उद्देश्य से उसने सद्दाम हुसैन की सरकार को समाप्त कर अपनी 'सेना' इराक में उतार दीं हैं। कुवैत पर पहले से ही एक तरह से उसका आधिपत्य कायम है। सन्देह किया जा रहा है कि एशिया के प्राकृतिक संसाधनों पर कब्जा करना उनका लक्ष्य है। अमेरीका ने घोषणा पहले ही कर दी है, "जहाँ कही भी उसके आर्थिक हितों को चोट पहुँचेगी, वह अपनी अपार शक्ति द्वारा अपने शत्रु को नष्ट कर देगा।" इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये गत वर्ष अमेरीका का सैन्य बजट 395 अरब डालर था, जो सम्पूर्ण विश्व के देशों के रक्षा बजट का 40 प्रतिशत से भी अधिक बैठता है। दुनिया ने देखा, समस्त विश्व की शान्ति प्रिय जनता ने अमेरीका की जनता सहित, इराक के विरुद्ध 'युद्ध' न करने की अपील की थी, लेकिन अमेरीकी महाशक्ति ने तथा इंग्लैण्ड की सरकार ने सबकी प्रार्थना को नज़र अन्दाज़ करके 'इराक' पर ज़ोरदार हमला कर दिया। जबकि 2002 में लन्दन में ही 3,00,000 लोगों ने एक विशाल रैली निकालकर अमेरीका से निवेदन किया था, कि इराक की प्रभुसत्ता को नष्ट न किया जाये ! फ्लोरेन्स में, 50,00,000 व्यक्तियों ने भी एक विशाल रैली के द्वारा ज़ोरदार शब्दों में अमेरीका से कहा था 'इराक से दूर रहो' ! वाशिंगटन में 5 लाख लोगों ने 'बुश' से 'युद्ध' न करने की अपील की थी। भारत के शहर-शहर गाँव-गाँव में 'इराक' पर हमला न करने की अपील की गई थी, लेकिन अमेरीकी 'बुश' सरकार ने इराक पर जोरदार हमला करके, वहाँ के हज़ारों लोगों को आग उगलते बमों से मौत के घाट उतार दिया। शाही महल सहित लाखों मकानों को नष्ट कर दिया गया। प्राचीन संग्रालय लूट लिया गया। सद्दाम हुसैन की लगी मूर्तियाँ बड़े अपमान भरे अन्दाज़ में गिराते हुये दुनिया भर के टी० वी० चैनलों पर दिखाया गया। साथ ही साथ सम्पूर्ण इराक में बड़े अपमान जनक अन्दाज़ में इराक के प्रत्येक घर की तलाशी ली गई। कई दिन तक अपार अराजकता के साये में घरों की लूट-पाट को दुनिया भर के टी०वी० चैनलों पर दिखाया गया। ऐसी भयानक लूट-पाट युद्ध के बाद, शायद मध्य युग में नहीं होती होगी ! अराजकता के वातावरण में बर्बरता और भी चरम सीमा पर पहुँच गई थी, जब स्त्रियों के साथ बलात्कार और घोर शोषण की कहानियाँ दुनिया के अखबारों की सुर्खियों में रोज़-रोज़ छपती रहती थीं।

इराक के राष्ट्रपति सद्दाम हुसैन की गिरफ्तारी के बाद, उसके साथ जो अपमान जनक सुलूक किया गया, वह स्वयं दुनिया के सभ्य राजनैतिक व्यवहार में नहीं आता, उसके साथ किया गया, अपमान जनक व्यवहार मानवता की दृष्टि से बड़ा घृणित कार्य था, जो दुनिया के टी०वी० चैलनों पर दिखाया गया था।

अमेरीका द्वारा कहा जाता है, कि "सद्दाम हुसैन' एक युद्ध अपराधी है। वह एक क्रूर सैनिक तानाशाह रहा है, जिसने अपने ही लोगों का 'नर संहार' किया था। यह भी कहा जाता है, उसने 1988 में सैकड़ों गांव उजाड़ दिये थे, और रासायनिक शस्त्रों से हजारों कुर्दो की हत्या कर दी थी। लेकिन वह भी समय इतिहास को याद है, जब सद्दाम हुसैन एक अमरीकी पसन्द शासक था और अमेरीका भक्त शासक भी था, इसलिये उसे उस काल में, सब कुछ माफ़ था। चाहे वह निर्दोश लोगों के सर कलम कराये या इन्सानी बस्तियों को कत्लगाह बना दे। न्याय की 'तराजू' में अमेरीकी सोना (Gold) रखा था। तत्कालीन, अमेरीका सरकार ने उसे कृषि उत्पादन यन्त्रों की खरीद के लिये और इराकी प्रगति के नाम पर लगभग 50 करोड डालर का अनुदान भी दिया था। जब कि वहाँ 'नर संहार' हो रहा था। अगले ही वर्ष यह अनुदान अमेरीका ने बढ़ाकर 'एक अरब' डालर कर दिया था। अमेरीका ने उसी के साथ-साथ उच्च कोटि के 'एंथैक्स' के लिये उच्च कोटि के विषाणुओं के बीज़ भी दिये थे, तथा उसे उच्च कोटि के शस्त्र तथा हेलीकॉप्टर भी दिये थे।

उस समय वहीं सद्दाम हुसैन अमेरीका और ब्रिटेन का मित्र था, जो अमेरीका के इशारे पर काम करता था, लेकिन 1990 में सद्दाम हुसैन ने अमेरीका की आज्ञा के बिना, कुवैत पर हमला बोल दिया, जो तेल की राजनीति के लिहाज़ से उसका सबसे बड़ा दोस्त है। अमेरीका की दृष्टि में, कुवैत पर इराकी आक्रमण, अमेरीकी साम्राज्यवाद का सन्तुलन खाड़ी देशों में बिगड़ने की सम्भावना को बढ़ावा देने वाला माना जाने लगा। सद्दाम हुसैन का यह कार्य अमेरीका और ब्रिटेन को अच्छा नहीं लगा। इसलिये अमेरीका की विदेशनीति ने निर्णय लिया कि सद्दाम हुसैन की बढ़ती हुई शक्ति को समाप्त किया जाये। यदि उससे पूर्व, अमेरीका और ब्रिटेन चाहता तो सद्दाम हुसैन को कुर्दो पर अत्याचार करने से रोका जा सकता था।

कुवैत पर इराक के हमले के बाद, अमेरीका के इराक पर हमले आरम्भ हो गये। जनवरी 1991 में ही अमेरीका ने इराक पर हमले आरम्भ कर दिये थे, और यह युद्ध किसी न किसी रुप में आज भी जारी है, जिसमें लाखों लोगों की जाने जा चुकी हैं। माना, कि सद्दाम हुसैन को गिरफ्तार कर लिया गया। माना कि इराक की सेना ने शस्त्र डाल दिये हैं और माना कि अमेरीकी सेना द्वारा बड़े घिनोने अत्याचार और अमानवीय व्यवहार इराक के नागरिकों के साथ इसलिये किये जा रहे है कि इराक की जनता 'भय' और अमरीकी फौजी आतंक से घबरा कर आत्मसमर्पण कर दे, जो टी०वी० के चैनलों पर खुले आम दिखाये जा रहे हैं। फिर भी इराक की जनता अमेरीका से खुला युद्ध लड़ रही है और यह युद्ध शायद लम्बा चलेगा। वर्तमान में इराक का बच्चा-बच्चा सद्दाम हुसैन बन गया, जो प्रतिदिन अमरीकी सेना से युद्ध कर रहा है।

शायद आने वाले समय में इराक की जनता अमेरीका की कठपुतली सरकार को बरदास्त नहीं करेगी और शायद बमों के धमाके होते रहेंगे, जब तक की अमेरीकी सेना इराक से बाहर नहीं हो जाती है। इराक में, यह तो साफ हो गया कि साम्प्रदायक आतंकवाद तथा साम्राज्यवादी-राजनैतिक आतंकवाद मानवता की खुलेआम निरन्तर हत्या कर रहा है।

ऐसा लगता है, कि संयुक्त राष्ट्र संघ भी अमेरीका की अपार शक्ति के सामने अर्थ हीन हो गया है, स्वयं न्यूयार्क टाईम्स के स्तम्भकार 'थामस फ्रिड मैन' ने अपने लेख में पहले ही लिख दिया था कि "अमरीका निसंकोच तरीके से और बिना संयुक्त राष्ट्र संघ की परवाह किये अपनी शक्ति का खुला प्रयोग करेगा।" (क्रेजीनैस पेज़ पर) यह दुनिया ने देखा भी कि अमेरीका ने अफगानिस्तान और इराक सहित कई देशों में ऐसा किया भी है। 'इराक' पर हमलों से पूर्व संयुक्त राष्ट्रीय संघ के अधिकतर सदस्य इराक पर हमले के विरुद्ध थे, फ्राँस, रूस, चीन और भारत सहित अधिकतर देश, इराक पर सैन्य कार्यवाही का विरोध कर रहे थे। जर्मन और भारत सहित अधिकांश अरब देश भी इराक पर आक्रमण के विरुद्ध आवाज़ उठा रहे थे, लेकिन सब ही देशों की आँखों के सामने हमला हुआ और 'इराक' की प्रभुसत्ता नष्ट कर दी गई और समस्त दुनिया देखती रही।

तेल की प्यास आतंकवाद का कारण बन गई

तेल के अपार भण्डारों की खोज के बाद, अरब देश, विश्व की आर्थिक धुरी के मजबूत हिस्से के रूप में जाने जाते हैं। जब कहीं भी विश्व भर में तेल के बारे में बात की जाती है तो साफतौर पर कहा जाता है कि तेल के कारण, इराक विश्व का एक अटूट हिस्सा है। **पश्चिमी देशों की, विशेष रूप अमेरीका की विदेश नीति यह रही है कि यदि उन्हें दुनिया पर नियन्त्रण करना है तो तेल पर पूर्णतय राजनैतिक नियन्त्रण करना होगा।**

आज विश्व की आर्थिक, राज और वैज्ञानिक प्रगति तेल के बिना आगे बढ़नी असम्भव है, इसलिये महाशक्तियाँ तेल के बदले में रक्त बहा रही है। उनकी दृष्टि में इन्सानी रक्त तेल से बहुत सस्ता है।

इराक में 'सद्दाम हुसैन' की सत्ता को इसलिये समाप्त किया गया, क्योंकि वह अमेरीका सहित शक्तिशाली राष्ट्रों की एशिया में नियन्त्रण नीति के मध्य बाधक बन रहा था। अमेरीका की नीति साफ़ है कि विश्व बाज़ार पर कब्ज़ा कर, वह निर्देश देना चाहता है कि उन्हें अपनी आर्थिक विकास दर कितनी रखनी हैं और कहाँ उन्हें ठहरना है, और कहाँ आगे बढ़ना है। दूसरे विश्व युद्ध की समाप्ति के बाद अमेरीका ने जर्मन, जापान, फ्राँस तथा एशिया के कई प्रमुख देशों के साथ भी ऐसा ही करने की नीति बनाई थी, अब उसका लक्ष्य तेल पर पूर्ण नियन्त्रण करके चीन और भारत जैसे बड़े देशों को भी अपने नियन्त्रण क्षेत्र में लाना है।

समस्या यह है, यदि 'अरब' धरती पर, जहाँ तेल के भण्डार हैं, इसी तरह से विध्वंसक आक्रमण निरन्तर होते रहे, और तेल के कुएँ आग के हवाले किये जाते रहे तो आने वाले समय में तेल का भयानक संकट पैदा हो जायेगा। जो विश्व के निर्धन देशों की अर्थ-व्यवस्था को नष्ट कर देगा और वहाँ भयानक आर्थिक संकट पैदा हो जायेगा। यदि पश्चिमी देशों के और अमेरीका के हमले इसी तरह से जारी रहे तो आतंकवाद किसी न किसी रूप में बढ़ता ही रहेगा और यह आपसी दुश्मनी कभी धर्म के नाम पर और कभी राष्ट्रीयता के नाम पर आतंकवाद को जन्म देती रहेगी। युद्ध और आतंक के रहते हुये, एशिया का विकास नहीं हो पायेगा। खासतौर पर यदि 'तेल क्षेत्रों' का विकास रुक गया तो 'विश्व व्यापी' शान्ति को भी गम्भीर खतरा पैदा हो जायेगा। उससे युद्ध और विनाश ही होगा।

युद्ध और आतंक का मार्ग इन्सानी समाज को मौत की तरफ ले जाता है। इसे मानव जाती को चेतावनी के तौर पर लिया जाना चाहिये, कि यदि एशिया में, यह आतंकीदौर और अधिक लम्बे समय तक चलता रहा तो इससे अमेरिका सहित किसी भी देश को फायदा नहीं पहुँचेगा। और इससे दीर्घकालीन लाभ उन लोगों को भी नहीं होगा, जो आज एशिया में हिंसा फैला रहे हैं। हिंसा और आतंक चाहे धर्म के नाम पर हो या फिर साम्राज्यवादियों की आर्थिक नीतियों का अंग हो, विश्व शान्ति और सुरक्षा के लिये ख़तरा पैदा कर रहा है।

जैसा लिखा भी गया है, सद्दाम हुसैन की सत्ता समाप्ति के बाद जिस तरह के अत्याचार इराक की जनता के साथ हो रहे हैं, और जो टी० वी० चैनलों पर तथा अखबार की सुर्खियों में रोज़-रोज़ आ रहे हैं, वह सबूत बर्बरता की सभी सीमाओं को लांघ जाते हैं।

यहाँ 'दुश्मनी' बढ़ाई जा रही है, और नये तरह के आतंकवाद को जन्म देने की नींव रखी जा रही है, उसी से 'अरब देशों' के मन में अमेरीका के प्रति शत्रुता के बीज बोये जा रहे हैं, जो लम्बे समय तक नफ़रत की खेती को बनाये रखेंगे और विषैले आतंकवाद को जन्म देते रहेगे। दुनिया को मिलकर, साथ बैठकर सोचना चाहिये कि किसी भी राष्ट्र की 'प्रभु सत्ता' कुछ ही समय के लिये गुलाम बनाई जा सकती है, सदा के लिये नहीं ! कभी भी उसमें स्वतन्त्रता के और 'राष्ट्र प्रभुसत्ता सम्मान' के अंकुर नहीं मरते हैं। वह फिर खड़े होते है, और अपने शत्रु से अवश्य ही बदला लेते हैं, और उसको नष्ट करके स्वतन्त्र होने की कोशिश करते हैं। 'स्वतन्त्रता' मानव का जन्म सिद्ध अधिकार है, उसे तो जीवित रहना ही, उसकी 'सम्पूर्ण प्राप्ति' के लिये संघर्ष सदा जारी रहता है। इसलिये यह आवश्यक होगया है कि दुनिया के सभी राष्ट्र मिलकर एक नतीजे पर पहुँचे कि मानव सुरक्षा आवश्यक है। शान्ति के लिये और मानव जाति की सुरक्षा के लिये 'आतंकवाद'

और किसी भी तरह की हिंसा को समाप्त करना आवश्यक है, तथा शक्तिशाली महाशक्यियों की राजनैतिक और धार्मिक कही जाने वाली दादागिरी को भी समाप्त करना अनिवार्य है। भूमण्डलीय प्रभुत्व का नग्न सिद्धान्त, चाहे वह राजनैतिक हो, या फिर धार्मिक कहे जाने वाला हो, निश्चित तौर पर मानव समाज की मृत्यु का कारण बन जायेगा। यह धारणा 'बुराई की धुरी' बनकर 'शान्ति' को ख़तरा बनी हुई है। यह एक तरह की युद्ध 'वासना' ही है, जिस पर नियन्त्रण करना नितान्त आवश्यक है। किसी भी स्वतन्त्र तथा विकासशील 'राष्ट्र' की प्रभुसत्ता पर हमले नहीं होने चाहिये। स्वतन्त्रता तथा समानता को कायम रखने के लिये हर तरह की सकीर्णता और 'सशस्त्र' हमलों को रोकना आवश्यक है। 'संयुक्त राष्ट्र चार्टर' भी इस तरह के हमलों की आज्ञा नहीं देता, फिर भी ऐसा हो रहा है और विश्व समाज मौन खड़ा तमाशा देख रहा है। यह दुखद घटना है।

आज देखा जाये तो, 'अमेरीका-इजराइल' धुरी का 'पश्चिमी', एशिया और खाड़ी के देशों पर पूर्ण अधिपत्य हो गया है। इस क्षेत्र में लोगों में गुस्सा और उन्माद भयंकर रूप धारण कर गया, इसका विस्फोट किस तरह होगा, यह कोई नहीं जानता। ऐसा सन्देह है, कि अमेरीका और इजराइल तथा इस क्षेत्र में बहुत से देशों के पास 'नाभिकीय' शस्त्रों का अपार भण्डार है, जो कभी भी, और कही पर भी मृत्यु और विनाश का ताण्डव कर सकते हैं। अब अनुमान यह लगाया जा रहा है, कि महाशक्तियों का अगला निशाना फिलिस्तीन है, जिसे चारों ओर से घेर रखा है, जैसे-जैसे यह घेराबन्दी और तेज़ होगी, वैसे-वैसे आतंक की साजिशें और बढ़ेगी और यह युद्ध लम्बा हो जायेगा। तेल के खातिर इन्सानी रक्त सड़कों पर, गलियों में गई तथा घर-घर में बेरहमी से बहेगा, जिसकी चिन्ता करना आवश्यक है।

इसी कारण से, 'बदला लेने की भावना' ने उग्रदलीय लोगों में एक ऐसी उत्तेजना भर दी है, कि वह सब कुछ करने को तैयार हो सकते हैं। यह अरब देशों का चरित्र है कि वह बदला लेने से कभी नहीं चूकते, क्योंकि उनके साथ विद्रोह की भावना सदा काम करती रहती है। उसी के साथ-साथ धर्म और राष्ट्रीयता की भावना उनके अन्दर कूट-कूट कर भरी जाती है। ओसामा बिन लादेन जैसे आतंकवादी कई संगठन यूरोप, एशिया तथा अफ्रीका जैसे देशों में अपना जाल बिछाये हैं, विशेष रूप से वर्तमान में उनका निशाना अमेरीका पर सबसे अधिक है, अमेरीका (USA), कैनाडा (Canada), बोसीनिया (Bosnia), अलबैनिया (Albania), यू.के. (U.K), जूनिसिया (Junisia) लिबिया (Libiya), सऊदी अरेबिया (Saudi Arabia), सुडान (Sudan), इथेपिया (Ethiopia), यूगांडा (Uganda), तनज़ानिया (Tanjania), किनिया (Kenya), सोमालिया (Somalia), यमन (Yemen), ताजिस्तान (Tazistan), कोसोवो (Kosovo), लैबनान (Lebienan), जोरडन (Jordan), उज़बेकिस्तान (Uzbekistan), अफगानिस्तान (Afghanistan), मलेशिया (Malaysia), फिलिपीन (Philippines), बंगलादेश (Bangla Desh), और पाकिस्तान आदि देशों में उनका जाल (Network) किसी न किसी रूप में तेज़ी से फैल रहा है। इराक में हुये अमेरीकी जुल्मों की बोछार ने उनमें और भी भंयकर उत्तेजना पैदा कर दी है, इसलिये आतंकवादी धमाकों के ख़तरे चारों ओर बढ़ गये हैं, विशेष रूप से उपरोक्त देशों में अमेरिका सहित पश्चिमी देशों के प्रति विशेष गुस्से की लहर है, जो एक नवीन शैली के ख़तरनाक़ आतंकी युद्ध को जन्म दे सकती है। इसलिये मानवता की रक्षा के लिये, मानव समुदाय को इस ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। जिससे आतंकवाद और अधिक फैलाव न कर सके और मानव समुदाय सुरक्षित महसूस कर सके।

अमेरीका ने स्वयं लादेन सहित कई आतंकी संगठनों को दुनिया के ख़तरनाक़ इस्लामिक आतंकी सगठनों के रूप में स्वीकार किया है, उनके द्वारा उन्हें समाप्त करने की घोषणा भी की

गई है। इससे साफ ज़ाहिर है कि यह युद्ध कोई भी ख़तरनाक़ मोड़ ले सकता है। यद्यपि 1979 में रूस के खिलाफ सी०आई०ए० (C.I.A.) के साथ लादेन सहित कई आतंकवादी संगठन खुलकर रूसी सेनाओं से लड़े थे, लेकिन बाद में, रूस के अफगानिस्तान से बाहर जाने पर 1980 में लादेन ने, 'अलकायदा' (Al-Qada) नामक आतंकी संगठन को जन्म दिया और अमेरीका जैसी बड़ी शक्तियों के हितेषी देशों पर मध्य एशिया में हमले आरम्भ कर दिये थे। 1993 में, ही एन० वाई० "N.Y. World Trade Centre" पर घात लगाकर आतंकी आक्रमण किया, जिसमें 6 व्यक्ति मारे गये और एक हज़ार के लगभग घायल हुये, 1995 में सऊदी अरेबिया में कार बम में 5 यू० एस० फौज़ी अफसरों की मौत हो गई और 1996 में सऊदी अपार्टमेण्ट के भवन (Saudi Apartment Building) को बम के धमाकों से उड़ा कर, यू० एस० (U.S.) सेना के 18 अफसरों की हत्या कर दी गई, और 400 लोगों को घायल कर दिया गया, 1988 में किनिया (Keneya) और तनज़ानिया में यू० एस० (U.S. Emliassies) पर बमों से हमला कर 224 लोगों की हत्या कर दी गई और हज़ारों लोगों को घायल कर दिया गया। उसी तरह से 2000 से लेकर 2004 तक सैकड़ों आतंकी हमलों से निर्दोषों की हत्या निरन्तर की जा रही है। जिसमें 11 सितम्बर की घटना भी शामिल है। जिसका वर्णन किया भी जा चुका है। अलकायदा और अन्य आतंकी संगठनों ने योजना बद्ध तरीके से, अमेरीकी सरकार के विरुद्ध युद्ध छेड़ रखा है।

यह बात किसी से छुपी नहीं है, कि आज की दुनिया परमाणु विध्वंसक छाया में सांस ले रही है। दोनों ओर से आतंक की काली छाया को वर्षों से लम्बा किया जा रहा है। एक ओर अमरीक़ा ने आतंक के 'विरुद्ध युद्ध' का नारा देकर 'तेल' की प्राकृतिक सम्पदा पर एकाधिकार करने की योजना बनाई है, तो दूसरी ओर धार्मिक आवरण की आड़ में दुनिया को मिटाने की साज़िश की जा रही है। दोनों ओर से अनियन्त्रित सत्ता उन्माद बढ़ रहा है। दोनों ओर से धर्म और राजनीति की नियत अब भी किसी न किसी रूप में हिंसक और विस्तारवादी है। उसकी विध्वंसक राजनीति ने 'आम गरीब जनता' का जीना मुश्किल कर दिया है।

एक ओर आतंकवादियों के प्रहार से हज़ारों लोगों की जाने गई हैं, तो दूसरी ओर 'साम्राज्यवादी सत्ता' की विस्तारवादी नीतियों के कारण लाखों लोग, अब तक अनगिनत जान गवां चुके हैं।

मानवता तथा लोकतन्त्र की हत्या

वर्तमान में, आधुनिक सभ्य दुनिया में, लोकतंत्र की हत्या सरे आम की जा रही है। लोकतंत्र आतंक के साये में सांसे नहीं ले सकता है। एशिया के अधिकतर देशों में, लोकतंत्र का या तो जन्म देते ही साम्राज्यवादी शक्तियों ने गला दबा दिया या फिर धर्मतन्त्र की आड़ लेकर आतंक की काल कोठरियों में बन्द कर दिया गया।

एशिया के देशों में, विशेष कर पश्चिमी एशिया के देशों में, 'लोकतन्त्र' हवा के झोंकों की तरह आया और एक झटके में धराशाही कर दिया गया। ब्रिटेन ने 1932 से लेकर 1948 तक, अपना साम्राज्वादी दखल एशिया के देशों में बनाये रखा। 1948 में जब इराक, फिलिस्तीन और जोर्डन आदि देशों ने स्वतन्त्रता की पहली किरण देखी थी, तो उसका प्रकाश भी 'रक्तरंजित' खूनी झरोकों के मध्य से होकर आ रहा था, क्योंकि उस काल में, इजराईल की स्थापना की नींव रख कर, साम्राज्यवादियों ने अपनी स्थाई सैनिक छावनी वहाँ बना ली थी। उसी दिन से केवल पश्चिमी एशिया में ही नहीं, आस-पास के सभी राज्यों में आतंक और मृत्यु की छाया मण्डराने लगी थी।

एक तरह से पश्चिमी एशिया में लोकतन्त्र की हत्या कर दी गई थी। 1937 में 'चर्चिल' ने फिलिस्तिनियों के विषय में बड़ी बेहूदा टिप्पणी की थी। वह नहीं मानता कि नांद के कुत्ते का नांद पर अंतिम अधिकार होता है, फिर चाहे वह कितने ही समय में उसमें रह रहा हो ! चर्चिल ने और भी आगे जाकर कहा, कि "यदि एक ताक़तवर नस्ल, या एक उच्च श्रेणी की नस्ल ने सांसारिक रूप से वहाँ जाकर अपना स्थान ले लिया तो क्या कुछ गलत हुआ है ?" साम्राज्यवादियों के उपरोक्त राजनैतिक दर्शन ने एशिया में लोकतन्त्र की नींव में ही बारूद्धि आग लगा दी, जो आज तक भंयकर रूप से जल रही है और आतंक का विस्तार भी कर रही है। यह एक तरह से जहाँ 'मानव बमों' का निमार्ण कर रही है, वहाँ आम जनता को अमानवीय स्थितियों में जीने को मजबूर कर रही है।

ऐसा नहीं, यदि देखा जाये तो लोकतंत्र की प्यास आम आदमी में भी होती है, स्वतन्त्रता उन्हें भी चाहिये, लेकिन आम आदमी ने भय और आतंक के अलावा उस क्षेत्र में कुछ देखा ही नहीं। वहाँ तो, पैदा हुये बच्चे से लेकर बड़े लोगों ने मृत्यु, आग उगलते बमों से जलती लाशें और और आग से जलते, मकान देखे हैं। गत पृष्ठों पर इसका वर्णन किया भी जा चुका है, एशिया के अधिकतर देश पूर्णतय जनतन्त्र की 'चाह' रखते थे, और खुलेतौर पर वह धर्म-निरपेक्षता की ओर बढ़ रहे थे। पश्चिमी एशिया और मध्य पूर्व के देशों में धर्म-निरपेक्षता की भावना जन्म ले रही थी। जनतन्त्र की अभिलाषा उनमें स्थान बनाये हुये थी, लेकिन 'तेल' की 'राजनीति' ने उन्हें अशान्ति और असुरक्षा के हवाले कर दिया। जो आज तक आतंक के साये में जी रही है।

जन-तन्त्र को पनपने के लिये स्वतन्त्र वातावरण की आवश्यकता होती है। यह सत्य है, कि संकीर्ण धार्मिक प्रवृत्ति भय, आतंक, और अन्धविश्वास की जननी होती है। उनमें कहा जाता है, उसमें विश्वास करो ! उसमें तर्क को प्रोत्साहन नहीं दिया जाता है, उसमें बहुत से रहस्यों को धर्म की चादर में ढक दिया जाता है, लेकिन चादर को उठाकर देखने की आज्ञा नहीं होती है। 'गणतन्त्र' के विकास के लिये मानवतावादी वैज्ञानिक दृष्टिकोण का होना आवश्यक है, जो मानव विकास के लिये रास्ता बना सके। पश्चिमी एशिया के कई देशों में जहाँ धर्म के नाम पर हिंसा हो रही है। वही तेल की 'राजनीति' हिंसा का खेल अपने आर्थिक स्वार्थ के लिये खेल रही है। यही प्रवृत्ति जनतंत्र की हत्या में सहायक हो रही है !

समय आ गया है ज़ब 'समस्त' विश्व को साथ बैठकर कर समस्त आतंकी अराजकता और हिंसा तथा शोषण के विरुद्ध आवाज़ उठानी चाहिये, चाहे वह धार्मिक आतंकवाद हो या साम्राज्यवादी राजनैतिक आतंकवाद हो। 'शान्तिमय अहिंसक' आन्दोलन की आवाज़ ही विश्व में 'शान्ति और सुरक्षा' का माहौल बना सकती है। जब तक स्वार्थ रहित और शोषण रहित मानवतावादी 'दृष्टिकोण' दुनिया में नहीं अपनाया जायेगा तब तक हिंसा का ताण्डव होता रहेगा।

पश्चिमी देशों में तथा अमरीका की विदेश नीति में, साफ दिली नहीं है। इतिहास ने साफतौर पर देखा है, कि शान्ति और व्यवस्था के नाम पर घोखा पट्टी और स्वार्थ पूर्ण कूटनीति ही महाशक्तियों की विदेश नीति का अंग रही है। इतिहास ने साफतौर देखा कि कभी धर्मतन्त्र के साये में जन्म ले रहे आतंकवाद को महाशक्तियाँ थपकी देती रहीं, या फिर उन्हें समाप्त करने के लिये ज़ोरदार तरीकों से युद्ध करते रहे। यह भी निश्चित है कि 'इराक' में अमरीका के इशारे पर उनकी मनचाही सरकार बन भी जायेगी, लेकिन 'इराक' की जनता उसे मन से स्वीकार करेगी या नहीं करेगी, इस प्रश्न का उत्तर भविष्य ही देगा !

आज दुनिया के सामने 'प्रश्न' सरकार बनने का नहीं है, जनतन्त्र की स्थापना का है, साथ ही साथ शान्ति व्यवस्था और मानव समाज के कल्याण और उसकी सुरक्षा का है। दुनिया के किसी भी कोने में यदि 'आतंक' का विस्तार होता है, या 'महाबलशाली' शक्तियाँ किसी देश में भी जनतन्त्र को, किसी भी बहाने से समाप्त करती हैं, तब सच्चे अर्थों में जनतन्त्र की स्थापना नहीं हो सकती है। क्योंकि, जनतन्त्र की प्रभुसत्ता उस देश की जनता में निहित रहती है, किसी बाहरी सत्ता में नहीं ! दुनिया में जनतन्त्र स्थापना का 'सार' दुनिया के सभी देशों में एक ही तरह का होना चाहिये। वह किसी भी महाशक्ति या किसी भी आतंकी शक्ति के इशारे पर चलने वाला 'तन्त्र' नहीं होना चाहिये।

आज की दुनिया में, 'जनतन्त्र' का दृष्टिकोण महाशक्तियों की दृष्टि में, व्यवसायवादी हो गया है। दुनिया की महाशक्तियाँ छोटे और कमज़ोर देशों में, अपनी बाजार 'मण्डी' बनाने के लिये अपनी मनचाही सरकारों की स्थापना, धन और बल के आधार पर अपनी खुफियाँ एज़न्सियों द्वारा कराती करती रहती है, जो आज विशेष रूप से युद्ध और आतंकी का कारण बन गई हैं। यह प्रवृति भी आज की दुनिया में भयानक रूप ले रही है, विशेष तौर पर शान्ति स्थापना के लिये इस समस्या पर सोचना आवश्यक है, तभी मानवता ज़िन्दा रह सकती है।

सारांश

इतिहास के पृष्ठों पर लिखी गई मानवं जीवन की यात्रा, यह तो घोषित करती ही है, कि हिंसा निरन्तर मानव समाज को विकृत करती रही है, युद्ध, आतंक और हिंसा ने मानव जीवन की 'प्रगति' को अपनी विध्वंसक मनोवृत्ति के अनुरुप, मनुष्य जाति को समाप्त करने की निरन्तर कोशिशें की, लेकिन मनुष्य की निष्ठुर, हिंसक 'प्रवृति' को, धीरे-धीरे मनुष्य की अहिंसक प्रवृत्ति के सामने घुटने, टेकने पड़े। वास्तविकता तो यह है, कि अहिसा ही शाश्वत है। शान्ति और सुरक्षा की भावना मनुष्य के मानवीय स्वभाव में सदा समाई रहती है और जब वह जाग्रत हो जाती है, तब मानव समाज की रक्षा करती है।

हमने धर्म गुरूओं, अवतारों, पैगम्बरों और अनेक संतों और दार्शनिकों के पैगाम पढ़े, उनमें से किसी ने भी हिंसा की वकालत नहीं की है, सभी ने अहिंसा और शान्ति का ही अनुकरण किया है। सभी पैगम्बरों और अवतारों ने मानव समाज की एकता, भ्रातृत्व, सत्य और अहिंसा के पालन हेतु उपदेश दिये हैं। लेकिन विडम्बना यह रही कि धर्म के नाम पर हिंसा और आंतक को राजनीति ने अपने स्वार्थ के लिये प्रयोग किया। धर्म सम्प्रदाय आपस में टकराने लगे तथा घोर हिंसक होकर एक दूसरे का सर काटने लगे। जब धर्म-सम्प्रदाय हिंसक हो जाता है तब वह धर्म के मूल सिद्धान्त से अलग हो जाता है। 'तलवार' से राजनीति कुछ समय के लिये चल सकती है। धर्म से तलवार का कोई रिस्ता नहीं है। तलवार पर जंग लगना निश्चित है, लेकिन अहिंसा के साथ सदा प्रकाशमय 'अहिंसक धर्म' सदा तथा निरन्तर विकासशील है। आज की दुनिया में, ईसाई, हिन्दु, मुस्लिम, बौद्ध, जैन, यहूदी, कन्यूशियन, ज़रतुश्ती तथा सिक्ख आदि प्रमुख धर्म सम्प्रदाय हैं। वास्तव में देखा जाये तो यह धर्म-सम्प्रदाय है, जो आराधना या पूजा (इबादत) और अपनी धार्मिक दार्शनिक मान्यताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में विभाजित हो गये और भिन्न-भिन्न तरीकों से जीवन की परिभाषा बताने लगे है, लेकिन इन सब धार्मिक सम्प्रदायों की आत्मा एक शाश्वत 'धारणा' में विश्वास करती है, कि दया ही धर्म है। 'सत्य' की खोज ही धर्म का लक्ष्य है। शान्ति और अहिंसा सभी धर्म सम्प्रदायों का सुखान्त और जीवित स्वर है, विश्व कल्याण और सद् भावना, सभी धर्मो के उपदेशों का सारांश है। बौद्ध धर्म जहा करुणा को 'धर्म' का सार मानता है, वही, हिन्दू धर्म, सहिष्णुता प्रधान माना जाता है। सिक्ख धर्म न्याय के लिये 'वोरता' को मुख्य स्थान देता है। जैन धर्म का विश्वास अहिंसा में है। जैन धर्ग कहता है, मन वाणी या कर्म से जब किसी को आहत किया जाता है तब वह भी हिंसा कहलाती है। जैन दर्शन कहता है कि :

"सव्वेसि जीविअं प्रियः"

अर्थात् सभी में जीवन की चाहत होती है, सभी को जीवन प्रिय है तब सभी को जीने का अधिकार है, इसलिये **"जीयो और जीने दो"** जैन धर्म का सार है कि "किसी को भी, किसी को, मारने का अधिकार नहीं है क्योंकि सभी जीना चाहते हैं। इसलिये किसी की 'आत्मा' या शरीर

को कष्ट देना मानव धर्म के विपरीत है।" जैन धर्म दर्शन प्राणियों पर दया करने की वकालत करता है।

"पाणिण च पिया दया"

प्राणियों के प्रति दया करना श्रेष्ठ दान है। क्योंकि सबसे श्रेष्ठ दान कमज़ोरों और मजलूमों को अभय दान देना ही है। सबकों निर्भिक होकर जीने का हक़ है।

"आत्मवत सर्वभूतेष"

मनुष्य को दूसरों के दर्द का अहसास होना चाहिये। जो दूसरों की पीड़ा को समझेगा, वही दूसरों के सुख-दुख का अनुभव कर सकता है।

जैन धर्म का यह भी मानना है कि, अहिसंक प्रवृत्ति के विकास के लिये 'सद्‌भावना' जरूरी हैं, इसलिये सद्‌भावना को ही अहिंसा की पहचान कहा गया है -

"परस्परोपग्रहों जीवा नाम्"

एक जीवन का सार्थक जीवन इसी में है कि वह दूसरे जीवों का सहयोगी बनकर जीवन यात्रा को पूरा करे, और मानव समाज की परवरिश एक सहयोगी बनकर करें। जैन धर्म यह भी मानता है कि अहिंसा ही सभी जीवों के लिये अति प्रिय 'ब्रह्म' है। उसी में अपार शांति तथा सुखमय आनन्द छिपा रहता है।

"अहिंसा सव्वसत्ताणं सदा णिव्वेकारिका।
अहिंसा सव्व सत्तेसु पर बतमणि दिय।।"

यदि मनुष्य में, अहिंसा और शान्ति की चाह का समावेश न हो, तो इस जगत को नष्ट हाने में 'समय' नहीं लगेगा। जीव, जीव, को मार कर खा जायेगा। इसलिये इस जगत का अस्तित्व ही अहिंसा पर ही निर्भर है।

जैसा कहा भी जा चूका है कि ईसाई 'धर्म' मानव सेवा, अहंकार रहित जीवन, नम्रता, दयालुता और अहिंसा तथा भ्रातत्व को ही धर्म परायण होना मानता है। **ईसाई धर्म में सेवा ही सर्वोत्तम आत्म त्याग है।** यदि मनुष्य सम्पूर्ण होना चाहता है, तो भाई से भाई का मेल कराओं संघर्ष मय पक्षों में आपसी समझौता कराओं, यही मनुष्य समाज को हिंसा से बचायेगा।

इस्लाम धर्म सम्प्रदाय में, मानवता और भाईचारा तथा समानता प्रमुख है। ईश्वर ही सर्वोच्छ है। ईश्वर की सर्वोच्छता ही मानव को मानव बनाने का संदेश देती है।

इस्लाम कहता है "तुम्हारा (मानव) समुदाय वास्तव में एक ही है किन्तु वह आपस में विभाजित हो गया, उन्होंने आपस में मनुष्य समाज के टुकड़े-टुकड़े कर डाला" जब की सम्पूर्ण संसार एक ही है तथा एकता में बंधा है, यह जो कृतिम बटंवारा दिखाई पड़ता है वह मनुष्य ने अपने स्वार्थ के लिये किया है। मानव भाईचारा, आपसी प्रेम, संघर्ष रहित जीवन, दीन, दुखियों की सेवा, ही इस्लाम का परम उद्देश्य है। इस्लाम में भ्रातृत्व ही मुख्य उद्देश्य है। 'हदीस' में कहा गया, "ईश्वर से प्रेम करने वालो, मेरे लिये एक दूसरे पर व्यय करने वालो केलिये प्रेम निरन्तर आवश्यक है।" हदीस हिदायत देती है **"व्यक्ति एक दूसरे से प्रेम करे तो ऐसा, जैसा की वह ईश्वर से प्रेम कर रहा हो।" इसलिये 'इस्लाम' में भाईचारा और मानव समता का सिद्धान्त ही श्रेष्ठ उपदेश है।** यहूदी धर्म भी समता और न्यायप्रिय होना श्रेष्ठतम मानव होना मानता है। शुद्ध न्याय ईश्वर को प्रिय है। 'तौरते' में हज़रत 'मूसा' ने दोनों पक्षों को सुनकर न्याय करने का सन्देश दिया।

यहूदी धर्म सम्प्रदाय में हत्या, व्यभिचार चोरी पर नारी गमन, झूठी साक्षी देना आदि, अन्यायी

कर्म माने जाते हैं। मानव धर्म उनकी दृष्टी में, वह ही श्रेष्ठ है, जो मानव सुरक्षा, सत्यता और संरक्षण तथा शुद्ध न्याय करता है, वह ईश्वर मार्ग पर निरन्तर चलता जाता है।

उसी तरह 'जरतुश्ती' सम्प्रदाय मानव समाज में एकता के सूत्र में बाधने का सन्देश देता है। यह मानव समाज की मित्रता तथा एकता में यकीन करता है। एकता से 'जरतुश्ती सम्प्रदाय' का सम्बन्ध अहूरा माज़दा (ईश्वर) से है। जो जीवन और ज्ञान का स्वामी है, वही सर्वोच्छ है। वह एक है। प्रेम करुणा, न्याय, चेतना की सत्यता उसी में है। **सभी प्राणी ईश्वर के अंग है, इसीलिये सभी समान है, उसमें कोई छोटा-बड़ा नहीं है।**

कन्फ्यूशियन धर्म, सम्प्रदाय भी मानव समाज की समानता को प्रथम स्थान देता है। 'कन्फ्यूशियन' धर्म सम्प्रदाय स्पष्ट तौर पर कहता है **" तुम वह व्यवहार दूसरों से मत करो, जो तुम अपने लिये नहीं चाहते"** यदि मानव समाज एक दूसरे का शोषण करके, उसे नष्ट करेगा तो विरोध और संघर्ष ही समाज को नष्ट कर देगा।"

बौद्ध धर्म

ऋषियों द्वारा कुछ भी उपदेश दिये जायें, लेकिन मानव समाज में, कमज़ोरों का शोषण करने की मनोवृत्ति पहले से ही, यानि जीवन चक्र के आरम्भ से ही चली आ रही थी। मानव समाज की विध्वंस और हिंसक प्रवृति ने कई बार मानव समाज के टूकड़े-टूकड़े कर दिये।

शान्ति और मानव सुरक्षा कई बार खतरों की काली डरावनी मंजिलों से होकर गुज़री। अतित के उस काल में जब मानव समाज घोर अन्धविश्वास और हिंसा के द्वार पर खड़ा था, उस समय गौतम बुद्ध ने समस्त मानव समाज को अहिंसा और समानता के मार्ग पर चलने का उपदेश दिया। बुद्ध धर्म सम्प्रदाय ने, समस्त मानव समाज को समानता के सूत्र में बाँधते हुये, शोषण और अत्याचार तथा अन्धविश्वास के विरूद्ध आवाज़ उठाई। उस काल, में गौतम बुद्ध प्रथम धार्मिक क्रान्तिकारी थे, जिन्होंने मानव द्वारा मानव के शोषण को अनुचित बताया था। बौद्ध धर्म में 'करुणा' को मानव धर्म का प्रथम मूल आधार माना है। करुणा ही मैत्री पक्ष की जीवन आधार है। बौध धर्म कहता है, कि करुणा पूर्णरुप से घृणा मुक्त होनी चाहिये। दया धर्म तभी सार्थक है, जब वह किसी के प्रति भी घृणा रहित हो। करुणा धारक को अमैत्री, असमानता घृणा और हिंसा से मुक्त रहना होगी। अहिंसा तो करुणा की प्रथम साक्षी है, वास्तव में अहिंसा ही करुणा की जननी है, लेकिन बौद्ध धर्म सम्प्रदाय करुणा को अहिंसा से ऊपर मानता है। वह करुणा को ही, अहिंसा का सर्वोच्छ गुण मान कर चलता है। गौतम बुद्ध ने करुणा को जीवन का सार बताया, इसलिये वह 'महा कारुणिक' कहलाते है।

"करुणा शीतल ह्वदय, पंजापजोत विहन मुहतामं।
सनरामर-लोकगुरुं वन्दे सुमतो गति विमुत्त।।"

अर्थात् ! जो ह्वदय करुणा से शीतल हो गया है; जिसकी आत्मा मोहजाल से स्वतन्त्र है, जो समस्त जगत के गुरु हैं, एवं समस्त सांसारिक दुखों से मुक्त करने वाले हैं, वह 'बुद्ध' सत्कार योग्य है।

त्याग : त्याग करना महान योग और पूर्ण साधना है। बुद्ध सम्प्रदाय में त्याग को भी अशिष्ट-अनिष्ट से बचाने वाला सर्वोच्छ गुण माना है। क्रोध और अभिमान को त्यागकर समस्त बन्धन मुक्त होने पर दुखों से मुक्ति मिलती है। ये बौद्ध धर्म के उपदेश हैं।

बौद्ध धर्म में हिंसा की प्रवृति का त्याग सर्वोच्छ त्याग है। किसी भी तरह की हत्या का

विरोध करना, बौद्ध धर्म सम्प्रदाय में अनिवार्य है। बौद्ध सम्प्रदाय में व्याभिचार-त्याग, को बहुत महत्व दिया है। **मानव को एक दहकते हुये कोयले की तरह व्यभिचार का त्याग कर देना चाहिये।** असत्य त्याग मनुष्य का धर्म है, मनुष्य को प्रत्येक प्रकार के असत्य को त्याग देना चाहिये। बौद्ध धर्म 'मादक पदार्थो' का त्याग भी विशेषकर ग्रहस्थ जीवन में आवश्यक मानते है।

मनुष्य जीवन के लिये, बौद्ध धर्म भी अहिंसा को सर्वोच्छ मानता है। गौतम बुद्ध ने कहा : जीवन सर्वप्रिय है, इसकी रक्षा करना अनिवार्य है।

"सब्बे तसन्ति दन्डस्य सब्बे भायान्ति मच्चुनो।
अत्तान उपम कत्वा न हनेय्य न घातये।
सब्बे तसन्ति दन्डस्य सब्बेस जीवितं पिंयं।
अत्तान उपम कत्वा न हनेय्य न घातये।।

अर्थात्-सभी मानव दण्ड से डरते हैं। समस्त मनुष्य मृत्यु से भयभीत रहते हैं। याद रखो! तुम भी उन्ही के समान हो, इसलिये हिंसा मत करो। दूसरों को हिंसा के लिये प्रेरित मत करो। जीवन सभी को प्रिय है, और दण्ड भयभीत करने वाला है। इसलिये सबको समान मानकर, किसी को न भी मारो। न ही, किसी को मारने की इच्छा रखो।

बौद्ध धर्म कहता है, मनुष्य को अहिंसा का पालन करना चाहिये। पुरानी रूढीवादी धार्मिक परम्पराओं का विरोध करते हुये बुद्ध ने घोषणा की थी कि धार्मिक अनुष्ठानों में अपने स्वार्थ के लिये जानवरों की 'बलि' देना भी हिंसा ही है।

रूढिवादी धार्मिक विचारधारा में यह माना जाता था कि पशुओं की बलि देना पाप नहीं है, और पशुओं की धार्मिक अनुष्ठानों में बलि देना हिंसा भी नहीं है। इस धार्मिक रूढिवादी विचारधारा के समर्थक मानते थे, "वैदिकि हिंसा, हिंसा न भवति" अर्थ यह है, कि वैदिक विधि से की गई हिंसा, हिंसा नहीं है।" गौतम बुद्ध इस विचार धारा के समर्थक नहीं थे। उन्होंने कहा "यदि यज्ञों में मारे गये प्राणी स्वर्ग में जायेंगे, तो जो ऐसा कहते है, तो वह अपने परिवार वालों को बलि देकर स्वर्ग में क्यों नहीं भेज देते ? इस प्रकार बुद्ध ने रूढिवादी धार्मिक हिंसा का विरोध किया।

गौतम बुद्ध का मानना था कि जीवन के यर्थात पक्ष को समझना ही मनुष्य का पहला धर्म है। लोग 'सौ वर्ष' तक जीने की कामना करते है, लेकिन एक पल भी शुद्धता से नहीं जीते, लेकिन उत्तम जीवन दर्शन अनुरुप जीने वाला व्यक्ति एक दिवसीय जीवन भी, श्रेष्ठ जीवन की तरह व्यतीत करता है।

गौतम बुद्ध ने कहा 'जगत में केवल एक ही आदर्श है, कि किसी अन्धविश्वास के प्रति कार्य न करो। जिसका ज्ञान तुम्हें न हो, उसकी भक्ति न करो।

बुद्ध भगवान ने निजी स्वार्थो की सिद्धि हेतु बनाये धार्मिक अन्धविश्वासी प्रथाओं का विरोध किया। **धर्म के परदे के पीछे किये गये अमानवीय आचरणों का गौतम बुद्ध ने खुलकर विरोध किया। अन्धविश्वास के कारण, क्रूरता, शोषण, दरिद्रता तथा हिंसा का जो सम्बन्ध धर्म से जोड़ दिया गया था, गौतम बुद्ध ने उनका खुलकर विरोध किया।**

गौतम बुद्ध ने, 'सत्य' चिन्तन और अहिंसक साधनों की व्याख्या कर मानवतावादी समता के सिद्धान्तों की रक्षा हेतू, धर्म दर्शन पर ज़ोर दिया। उन्होंने उसके लिये आठ मार्गो पर चलने का आवाहन किया।

सम्यक, दृष्टि; सम्यक् वाक; सम्यक् संकल्प; सम्यक् व्यायाम; सम्यक कमन्तिः सम्यक् आजीविका; सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि।" गौतम बुद्ध, समानता, अहिंसा, करुणा, मैत्री और

शान्ति को जीवन का आधार मानते थे। गौतम बुद्ध ने अन्धविश्वासी शोषण, धार्मिक रुढिवादिता तथा निरंकुश तथा हिंसक शासन का खुला विरोध किया था। **'बौद्ध धर्म' शुद्ध मानव धर्म है और शान्ति उसका चिरस्थाई लक्ष्य रहा है।**

सभी धर्मो का सार जब मानव कल्याण है, तब हिंसा और आतंक संसार में क्यों है?

हज़ारों वर्षो से हिंसा और आतंक ने मानव जाति को नष्ट करने का खुला, खेल खेला, जब कि अनेको धर्म गुरूओं ने अहिंसा और शान्ति का प्रसार शुद्ध आत्मा से किया। उपरोक्त सभी धर्मो ने मानवता की रक्षा के लिये उपदेश दिये तथा अपने सन्देशों से केवल मानव जाति ही नहीं, बल्कि समस्त प्राणी जगत की सुख कामना के लिये मूल्यवान वचन कहे। फिर भी धर्म सम्प्रदायों के नाम पर राजनीति ने ऐसे अमानवीय हिंसक खेल खेले, जिसमें हिंसा और आतंक पराकाष्ठा को पहुँच गया। जहा समाज में मानवता को असमानता और शोषण का शिकार बनाया गया। जहां गुलामों को जानवरों की तरह जंजीरों में बांधकर सरेआम निलाम किया जाता था तथा जहां अन्धविश्वास मानवता को पीड़ित करता रहा। यही ही नहीं, जैसे-जैसे सम्यता का दायरा बढता गया, वैसे ही वैसे दानवता भी आकार बढाती रहीं।

जहाँ राजा, महाराजाओं, तानाशाहों तथा हिंसक, बर्बर राजनैतिक लूटेरों ने खुलेआम धर्म और राजनीति के नाम पर धरती को लाशों से पाट दिया, यह हिंसक लूटेरे धर्म गुरुओं की समस्त नैतिक और धार्मिक शिक्षाओं को त्याग कर, क्रूर बनकर निर्धन जन मानस का कत्लेआम करते रहते थे। हमने पिछले पृष्ठों पर वर्णन किया कि किस तरह राजनीति और धर्म के नाम इतिहास ने भयंकर हिंसा का दौर देखे। यूरोप के इतिहास के पन्नों पर लगभग ढाई हज़ार वर्ष पूर्व, ऐथेन्स (421 से 431) और स्पार्टा के मध्य में हुये युद्ध में, जो लगभग 10 वर्ष तक निरन्तर चला था और जिसमें असंख्य लोग मारे गये थे। जब यह लोग थक गये और दोनों देश बर्बाद हो गये तब उन्हें हार-थक कर सन्धि करनी पड़ी।

प्यूनेक का प्रथम युद्ध घोर हिंसा और आतंक के नाम से जाना जाता है जो लगभग 23 वर्ष तक चला। दूसरा प्यूनिक युद्ध 17 वर्ष तक चला, जिसमें असंख्य लोग मारे गये। 149 ई० पू० प्यूनिक का तिसरा युद्ध भी हुआ और हिंसा से समस्त रोम गणराज्य तबाह हो गया। इतिहास यह भी जानता है कि नैपोलियन और रूस के युद्ध में लाखों लोग मारे गये थे।

इतिहास आगे बढ़ा और उसने देखा, प्रथम विश्व युद्ध में, जो 1914 से 1918 तक चला उसमें एक करोड़ से भी अधिक लोग मारे गये। करोड़ों लोग गरीबी और निर्धनता की भेट चढ गये।

द्वितीय विश्व युद्ध में, जो 1939 से 1945 तक निरन्तर चलता रहा, इसमें 5 करोड़ लोग मारे गये। इस युद्ध में साढ़े तीन करोड़ से अधिक लोग घायल हो गये। शहर-शहर, गाँव-गाँव आग के हवाले हो गयें, उसमें बर्बादी के सिवा कुछ भी नहीं मिला, द्वितीय विश्व युद्ध में ही रूस (सोवियत संघ) के लगभग दो करोड लोग मारे गये, लगभग 17,00 सौ नगर तथा 7000 से अधिक गाँव पूरी तरह से बर्बाद हो गये। उसी के साथ यातायात के समस्त साधन एक तरह नष्ट हो गये। उसी में अपार सम्पत्ति नष्ट हो गई। कुछ विजेता देश खुशी मना रहे थे। पराजित देश सब कुछ खो चूके थे। मानवता मर गई थी। सब तरफ दर्द और पीड़ा थी। दुनिया का विकास रुक गया। ऐसा लगता था जैसे सारी दुनिया तबाह हो गई, लेकिन शान्ति और सुरक्षा की चाह ने दुनिया को फिर से खड़ा होने का हौसला दिया। एक तरफ से शान्ति की चाह में, दुनिया अपने पैरों पर फिर से खड़ी होने लगी, लेकिन यह सब देखते हुये भी साम्राज्यवादियों ने और संकीर्ण धार्मिक नेताओं ने निरन्तर युद्ध और आतंक का विस्तार खुलकर किया। परिणाम स्वरुप आज युद्ध और आतंक

का विस्तार हो रहा है, और नये-नये रूप में आतंक दुनिया की शान्ति को निगल रहा है। दुनिया बारूदि ढेर पर बैठी है, फिर भी अपने को सभ्य कहने वाले लोग आतंक का खुला खेल, खेल रहे है।

मानव धर्म को त्यागकर लोग हिंसा की खूनी तलवारें लिये आज भी खड़े हैं और धोषणा कर रहे हैं। हम विकासशील है, हम श्रेष्ट सभ्य है, हम मानवतावादी-जनतान्त्रिक है, लेकिन सत्यता यह भी है कि वही सभ्य देश, मानव बमों का निमार्ण कर हर पल आतंक मचा रहे हैं। महात्मा गाँधी ने कहा था "ऐसे लोग घोर हिंसक हैं, जो हिंसक होता है, वह सभ्य कैसे हो सकता है ? यह प्रश्न विचार योग्य है।

सृष्टि के आरम्भ से लेकर वर्तमान तक जहाँ मनुष्य जाति ने विविध प्रकार के सुखद अवसर देखे, वहीं, उसने शक्तिशाली का गरीबों पर अत्याचार, अपार शोषण, छल, कपट द्वारा घोर हिंसा राजशाही को तलवारों की धार से लहू बहाती नदियाँ देखी। शायद, उसी से भयभीत होकर वह मनुष्य धर्म की शरण में चला गया हो ! क्योंकि 'धर्म गुरूओं' ने कहा, आओ ! **मैं तुम्हें शान्ति और सुरक्षा दुंगा, तुम्हें स्नेह और ममता भरा प्यार दूंगा। मैं तुम्हें स्वर्ग का रास्ता बताऊगा और तुम्हें तुम्हारे रचनाकार 'ईश्वर' से मिलवाँऊगा। यह सही भी था, क्यों कि धर्म दर्शन ने समाजिक और नैतिकता को आधार मानकर जीने का सलीका, सत्य और अहिंसा तथा सुख और शान्ति का रास्ता समझाया।**

लेकिन समय के साथ-साथ राजा और राज्य की रचना के साथ राजनीति की परिभाषा, और राजनीतिक जीवन दर्शन और उसका लक्ष्य, स्वर्ग और नरक की व्याख्या, कर्म और धर्म के सिद्धान्त सभी मनुष्य समाज के यर्थात बन गये।

एक ओर आज मनुष्य अकेला खड़ा था। आरम्भ में मुक्त था, और स्वतन्त्र भी था। प्रकृति से प्राप्त जन्मजात प्रवृत्तियाँ उसके जीवन का संचालन करती रहती थी, लेकिन समय के साथ वह सामाजिक और धार्मिक तथा नैतिक जंजीरों के बन्धनों में बन्धता चला गया।

उसके साथ ही एक समय ऐसा आया, जब छद्म भेष में शोषण करताओं ने धर्म के नाम से अन्धविश्वासों के क्रूर प्रहार के साथ धार्मिक दुनिया में प्रवेश किया और लोगों का शोषण करने के लिये आगे बढे। उसी के साथ-साथ धार्मिक संस्थाओं के माध्यम से अपार धन सम्पत्ति के मालिक हो गये। उसके विरुद्ध धार्मिक और राजनैतिक क्रान्तियाँ हुई। कई वर्षो तक चलने वाले धार्मिक युद्ध हुऐ, जिससे धरती लाशों से पट गई। यह सिलसिला निरन्तर आज तक चल रहा हैं। जिसका वर्णन किया जा चूका है। इतिहास में झाँकने पर हमें ज्ञात होता है, कई युद्ध तो बहुत ही लम्बें चले फिर भी जीने की अभिलाषा ने मानव समाज में समय-समय पर नई 'चेतना' का विस्तार किया। यह विश्वास और चेतना हमें आज तक जीवित रखे है। आज जब हम जानते है, युद्ध और हिंसा किसी समस्या का हल नहीं कर सकती, तो क्यों हम निरन्तर हिंसा कर रहे है ? क्यों शान्तिमय दुनिया में, अशान्ति फैला रहे है ?? क्योंकि शक्तिशाली महा शक्तियाँ, हिंसा को बढ़ावा दे रही हैं ? जब हम यह भी जानते है कि सुख और शान्ति मानवीय सुरक्षा में नीहित है, तब यह हिंसा क्यों ?

आज संयुक्त राष्ट्र जैसे संगठन, राजनैतिक मंच और सामाजिक और धार्मिक संगठन खुले मंचों पर शान्ति और मानव सुरक्षा की बात करते हैं, लेकिन मंच से नीचे आते ही, धर्म, जाति और राजनैतिक संर्कीणता की चादर में सीमट जाते हैं। आज विश्व यह स्वीकार करता है, कि युद्ध ओर आतंक से भय तो उत्पन्न हो सकता, लेकिन उस से समस्या का समाधान होने वाला नहीं

है, जैसे अमरीका जैसी 'महाशक्ति' ने युद्ध के जरिये 'इराक' पर 'कब्जा' तो कर लिया, लेकिन उसे दूसरा 'वियतनाम' बना दिया, जहां अमरीका को मुहँ की खानी पड़ी थी। आज कैद में बन्दी 'सद्दाम हुसैन' इराक के प्रत्येक नागरिकों की आत्मा में प्रवेश कर गया। सद्दाम ने अदालत के सामने कहा था "दोषी मैं नहीं हूँ, दोषी अमरीका के राष्ट्रपति बुश है, मैं तो 'इराक' का राष्ट्रपति हूँ" अपने शासन के दौर में शायद 'सद्दाम हुसैन' सब इराकियों को स्वीकार न हो, लेकिन आज कैद में बन्द सद्दाम हुसैन इराक की स्वतन्त्रता का प्रतीक बना गया। उसी तरह यह सत्य है, कि आंतकवाद से आतंक का अन्त नहीं हो सकता है। क्योंकि आतंक से आतंक ही जन्म लेता है। गाँधी ने साथ कहा था **"शान्ति के लिये आपसी सहयोग आवश्यक है, दोनों पक्षा में आपसी सहयोग से समस्या का निदान करना आवश्यक रहेगा।" क्योंकि सहयोग स्थायी है तथा अहिंसक है। गाँधी ने साफ कहा था "आपसी मतभेद (हिंसा) और आतंक से नहीं मिटाये जा सकते, उसके लिये आत्म चिन्तन द्वारा उसके मूल में जाना होगा तथा मतभेदों को दूर करने की कोशिश करनी होगी।"** आतंक मुख्य कारण शक्तिशाली की ज़ोर जबरदस्ती ही है।

आतंक रहित दुनिया और शान्ति की खोज

सदियों से मनुष्य समाज अपनी सुरक्षा, मानवीय समानता तथा स्वतन्त्रता, के लिये भटक रहा है, लेकिन न तो धर्म और न ही राजनीति उसे आजतक पूर्ण रुप से सुख और शान्ति से जीने का अवसर नहीं दे पाई। वर्षो तक किये गये निरन्तर प्रयासों से भी मानव जीवन शान्तिमयी नहीं बनाया जा सका। इस अशान्ति का कारण तो खोजना ही होगा।

विज्ञान की प्रगति के साथ विकास का कारवां आगे तो बढ़ता चला गया, सुख और सुविधायें, समिष्टि की प्रगति और चहुँमुखी प्रगति भी हुई। लेकिन प्रगति के दौर में भी भंयकर हिंसा हुई और शान्ति खण्डित होती रही। अनेकों पैगम्बर धरती भेजे गये और अवतार भी हुये, लेकिन हिंसा की काली छाया के चिन्ह नहीं मिट पाये। स्वयं 'ईसा' को सत्य और अहिंसा के लिये अपना बलिदान देना पड़ा, 'सुकरात' को ज़हर का प्याला पीना पड़ा। भगवान श्री कृष्ण के अथक प्रयास करने पर भी, 'दुर्योधन' की स्वार्थी राजनैतिक और हिंसक प्रवृत्ति के कारण 'कुरूक्षेत्र' का भयानक हिंसक युद्ध हुआ। महाभारत की इतिहासिक कथा कहती है, उसमें विश्व भर के योद्धाओं ने हिस्सा लिया था। उसमें भयानक हिंसा हुई थी। कुरुक्षेत्र के महायुद्ध की समाप्ति पर, जो विभत्स और पीड़ादायक शोकमय दृश्य पैदा था, उसका चित्रण, महाभारत का इतिहास बड़ा ही मार्मिक वर्णन करता है।

समस्त धरती लाशों से पट गई थी, दूर-दूर तक असंख्य शव पड़े थे, जिनकी दुर्गन्ध से समस्त वायु मण्डल प्रदूषित हो गया था। विधवाओं के चीत्कार से घर-घर में शोक और विलाप की आवाज़ें आ रही थी। दुख इस बात का था, कि सभी अपने सम्बन्धियों और कुटुम्बियों द्वारा मारे गये थे। स्वयं श्री 'कृष्ण' और 'महर्षि व्यास' के अहिंसक चेतना का पाठ पढ़ाने के लिये, ओर वातावरण की शुद्धि के लिये, अपार और भीषण नर संहार के पाप की मुक्ति के लिये उपाय करने पड़े।

महान पैगम्बर महोम्मद सहाब की पवित्र शिक्षाओं को ग्रहण करने के बाद भी 'करवला' के मैदान में हुई घोर हिंसा को आज तक मानव समाज नहीं भुला पाया है। लेकिन पवित्र पुस्तके क़ुरान, गीता, बाईबिल करोड़ों लोगों के प्राणों में मानवता का सन्चार करती हुई, उन्हें इन्सान बनाती है। 'मानव धर्म' तो पवित्र है, धर्म अहिंसक है और मानव कल्याणकारी, विकासशील और

प्रगतिशील है, लेकिन राजनैतिक स्वार्थ ने और उसकी हिंसक मनोवृत्ति ने उसका प्रयोग करके उसे हिंसक बना दिया। किसी भी धर्म शिक्षाओं में आपसी टकराव नहीं है, सब का उद्देश्य विश्व कल्याण' और मानवतावादी है। सभी धर्म अपने आचरण और दर्शन में धर्म निरपेक्षता को धारण किये है, इस तरह धर्मो के पूर्ण अत्मिय अध्ययन से ज्ञान उत्पन्न होता है और धर्म के शुद्ध और मानवीय ज्ञान से मन में विशालता आती है और अन्धविश्वास के अन्धकार का विनाश होता है।

सभी धर्मो के अनुसार 'ईश्वर' ही सत्य है, दीन, दुखियों, पीड़ितों और समस्त कमज़ोरो का एक मात्र सहारा, दुख और पीड़ा में, ईश्वर ही तो है। मार्क्स जैसे दार्शनिक ने जहा धर्म की तुलना 'अफीम' से की है, वहीं वह यह भी स्वीकार करता है, कि धर्म की नैतिकता और धर्म संरक्षण, कमज़ोरों और पीड़ितों के लिये, एक अज्ञात 'सहारे' और संरक्षण के रुप में भी कार्य करता है। यद्यपि मार्क्स परिवर्तन केवल आर्थिक कारणों से ही मानता था। इस संदर्भ में दार्शनिक 'रसोल' कहते है, हमारे राजनैतिक जीवन की बड़ी घटनाएँ भौतिक अवस्थाओं तथा मानवीय मनोभावों के घात-प्रतिघात द्वारा निर्धारित होती है। राज प्रसादों में होने वाले षडयन्त्र, प्रपंच, व्यक्तिगत राग-द्वेष तथा धार्मिक साम्प्रदायकतावादी विरोध ने अतित के इतिहास में बड़े परिवर्तन किये हैं। मानव इतिहास की अनेकों घटनाओं की केवल आर्थिक व्याख्या नहीं की जा सकती।" इतिहास की भौतिक धारणा महात्मा बुद्ध, टॉलस्टाय, ईसा अथवा महोम्मद की व्याख्या नहीं कर सकती। दुनिया में आतंक के लिये केवल धर्म को ही जिम्मेदार ठहराना उचित नहीं है, उसके और बहुत से कारण भी है। उसमें सबसे बड़ा कारण राजनैतिक तृष्णा तथा आर्थिक शोषण भी है। प्रो. लास्की ने साफ लिखा "बाल्कन राज्यों में आत्मघाती राष्ट्रवाद की कोई आर्थिक व्याख्या नहीं की जा सकती।" 1914 का विश्व व्यापी युद्ध तथा दूसरे विश्व युद्ध का कारण आर्थिक साम्राज्यवाद हो सकता है। उसमें भी राष्ट्रीय विचारों की प्रतिप्रस्पर्धा का हाथ था।" **इसलिये केवल धर्म को ही हिंसा का कारण कहना पूर्णतय सत्य नहीं है।**

आतंक के कारण

वास्तव में देखा जाये , तो आतंक के कारण एक नहीं अनेक है। वास्तव में मनुष्य में अनेकों भाव और प्रवृत्तियाँ है।

तृष्णा, शक्ति या प्रतिस्पर्धा, क्रोध, अभिमान, धार्मिक, सम्प्रदायवाद, आर्थिक और समाजिक शोषण मनोवृत्ति, अहंकार और आर्थिक हिंसा, काम, क्लेश आदि।

यदि मार्क्स ने, सामाजिक हिंसा और मनुष्य द्वारा मनुष्य का शोषण के कारण धार्मिक अन्ध विश्वास को माना है उसने, वर्ग संघर्ष और आर्थिक शोषण को आतंक का कारण माना है। तो वही भगवान बुद्ध ने मनुष्य प्रवृत्ति तृष्णा को समस्त प्रकार के आतंक की जननी होना स्वीकार किया है। तृष्णा तीन प्रकार की होती है। काम (भोग) तृष्णा (भव तथा विभव तृष्णा) होती हैं। तृष्णा एक प्यास है। यह इन्द्रियों द्वारा सुख भोग की पूर्ति हेतू भोग तृष्णा उत्पन्न करती है और दुख का कारण बन जाती है। तृष्णा को भगवान बुद्ध ने बहुत भयानक और क्रूर कहा है।" बुद्ध भगवान कहते है "काम पूर्ति हेतू ही राजा, राजाओं से, क्षत्री, क्षत्रियो सें, ब्रह्ममण, ब्राह्ममणो सें ग्रह पाली, (वैश्य) गृहपतियों से युद्ध करते हैं। यहाँ तक कि पिता, पुत्र से लड़ता है, बहन, भाई में लड़ती है। मित्रों में आपसी लड़ाई होती है। आपस में कलह, विग्रह, विवाद होती है। उसी से युद्ध होते है, आतंक होता है। एक सम्प्रदाय दूसरे से सम्प्रदाय से टकराता है। एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र से टकराता है। इससे वह मृत्यु को प्राप्त होते हैं। उसी से वह मृत्यु समान दुख को भोगते हैं।

यह उपदेश बुद्ध धर्म संस्थापक बुद्ध भगवान का था। जो सम्पूर्ण आतंक का कारण तृष्णा को बताते हुये, मनुष्य समाज को अहिंसक होने को कहते थे। प्रश्न का उत्तर, साफ है, धर्म शुद्ध अहिंसा है, जो हिंसा और आतंक से बचने के संकेत देता है और मनुष्य को करुणामय और मानवीय मित्र बताता है। धर्म ही मनुष्य की हिंसा और आतंक से बचने के उपाय भी बनाता है। सभी धर्मो का उपदेश 'मानव' कल्याण है, शुद्ध रूप से अहिंसक हैं।

इसी तरह हिन्दु धर्म भी प्राणी मात्र के कल्याण की कामना करता है। ईसा ने भी सन्देश दिया था "जो मेरा अनुकरण करना चाहता है वह आत्म-त्याग करे।" इस्लाम समस्त मानव समाज को जोड़ने का सन्देश देता। इस्लाम तो 'मोमिन' (मुसलमान) होने के लिये प्रेम का आवश्यक मानता है। इस्लाम कहता है, वह व्यक्ति भलाई से दूर है, जो न किसी से प्रेम करता है, तथा जिससे कोई दूसरा भी प्रेम नहीं करता।

इसलिये केवल धर्म को आतंक के लिये जिम्मेदार ठहराना धर्म के प्रति अन्याय होगा। संसार भर में, 'आर्थिक शोषण' समाजिक असमानता, वासना, सामाजिक और आर्थिक प्रतिस्पर्धा तथा साम्प्रदायकता और अन्धविश्वास के कारण अनेकों युद्ध घटित हुये जिसका बहुत कुछ वर्णन पिछले पन्नों पर किया जा चुका है।

गत विश्व युद्धों ने नाज़ीवाद, फांसीवाद, सम्प्रदायक जातिवाद तथा आर्थिक साम्राज्यवाद के आतंक ने, मानवीय चिन्तन, प्रयोगशालाओं में यह अध्ययन करने का अवसर दिया, कि धर्म सम्प्रदाय के नाम पर, आर्थिक संरक्षण के नाम पर आसानी से विनाश की स्थिति पैदा की जा सकती है। आज दुनिया पर विनाश और हिंसा के काले बादल दिखाई दे रहे है, जिसमें मानव सुरक्षा ख़तरे में पड़ गई हैं। वास्तविकता तो यह भी है, कि समस्त मानव जीवन और समस्त देशों की शान्ति ख़तरे में पड़ गई है, क्योंकि आज के आधुनिक विकासशील युग गें ख़तरे तेज़ी के बढ रहे है।

इसलिये यह आवश्यक है शान्ति और प्रगति हेतु मानवीय सहयोगी चेतना को पुनः जीवित करे। 21वीं शताब्दी में, 'शान्ति' के साथ प्रगति हेतु वैज्ञानिक और तकनीकी क्षेत्र में उन्नति के साथ, शान्ति और मानव सुरक्षा का दायरा बढाया जाये। स्वतन्त्रता और समानता का रसास्वाहन सभी को हो। **हिंसा और शोषण के लिये तकनीकी और वैज्ञानिक ज्ञान हिंसक लोगो के हाथ में न जाये। दुनिया में तकनीकी ज्ञान मानव कल्याण के लिये हो, हिंसा और युद्ध के लिये नहीं।**

आओं ! हम सब मिलकर कल्पना करे कि सृष्टि युद्ध और आतंक रहित हो ! समस्त परमाणु विध्वंसक शस्त्रों को नष्ट कर दिया जाये, और समस्त दुनिया की प्रभु-सत्ताएँ, अन्तराष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा की अभिवृद्धि के लिये प्रतिबंद्धित हो ! आओं हम संकल्प करे, कि समस्त राष्ट्रो के मध्य न्याय संगत और सम्मानपूर्ण सम्बन्धों में वृद्धि हो!

हम सब मिलकर साम्प्रदायक सदभाव स्थापित करे। आओं, हम सब मिलकर सेवा का व्रत ले, कि अधिकांश विश्व की निर्धन जनसंख्या, किभी भी तरह के शोषण का शिकार न हो। पृथ्वी पर कोई प्राणी मूल आवश्यकताओं से वंचित न हो। आओं, हम मिलकर स्वप्न देखे कि दुनिया का विकास मानव कल्याण के लिये हो।

आओं ! हम प्रभु से प्रार्थना करे, कि मनुष्य श्रेष्ठतम् अहिंसक प्राणी हो ! वह अन्धविश्वास से दूर, गौरवमयी सत्य ज्ञान से युक्त हो। मनुष्य, कर्त्तव्य तथा कर्म परायण हो।

आओ ! हम संकल्प करे, कि कर्म और ज्ञान में समन्वय स्थापित हो। तथा सम्पूर्ण मानव

धर्म, अपने गुण में निरपेक्ष है, क्यों कि सभी धर्मों का आधार ईश्वर है, धर्म, ईश्वर की व्याख्या में समा जाता है। सभी धर्म, एक स्वर से बोलते हैं, **'सब का मालीक एक है।'** सभी महा पुरूषों का स्वभाव भी 'प्राणीत्र' का हित करने का ही रहा है। 'गीता' में भी कहा गया है - **'सर्वभूतहिते रताः'** (गीता 5, 25, 12, 14) 'सब का हित करना' ही अहिंसक मानव का स्वभाव है और वही सर्वोच्छ धर्म है। गीता में यह स्वीकार किया गया है "स्वभावस्तु प्रवततेः" (गीता 5/14) दूसरों का हित करते-करते जब मनुष्य संसार से सम्बन्ध विच्छेद कर लेता है, तब वह उसी की सत्ता में समा जाता है।

जब कभी कोई धर्म यह कोशिश करता है, कि वह ही सत्य है, या प्रभु या स्वयं भगवान पर केवल उसी का हक़ है, तब वह अहंकारी हो जाता है, उसका अहंकार 'सबके मालिक' ईश्वर पर भी एकाधिकार करने की प्रवृत्ति' यह सिद्ध करती है, कि वह प्रभु को भी अपने आधीन करना चाहता है। उस समय वह धर्म-निरपेक्ष नहीं होता है। एकाधिकार वादी हो जाता है, तथा 'प्रभु' को भी अपने आधीन करना चाहता है। तब वह एकांकी धर्म हो जाता है। जब कोई धर्म-सम्प्रदाय, दूसरे धर्मो की निंदा करता है, तब वह ईश्वर और उसकी सत्ता का 'आकार' छोटा करने का दोषी कहा जाता है। ईश्वर सर्व व्यापक है, सभी मानव धर्मों के अनुसार भी ईश्वर सर्वशक्तिमान है, और सबसे बड़ा है तथा कृपालू तथा सब को क्षमा करने वाला है। तब उसकी अपार सत्ता का विभाजन कैसा ? क्योंकि सत्य यह है, कि ईश्वर की अपार सत्ता का विभाजन हो ही नहीं सकता। आओ हम सब मिलकर उसकी 'रहमत' और सत्ता में यकीन करें। सब धर्मों का आदर करते हुये धर्म निरपेक्ष रहे।

वैसे 'धर्म-निरपेक्ष' की धारणा 'बहु धर्मी' राष्ट्रों के लिये बहुत ही महत्वपूर्ण है। 'धर्म निरपेक्षता' अनन्य है। साथ ही साथ, यह सर्व हितकारी है। इसका अर्थ भी विभाजित नहीं है। इसका 'अर्थ' समाज में मानव सहयोग के लिये तथा नव जागरण युग के लिये किया गया है। साथ ही साथ यह धर्म-निरपेक्षता, लोकतन्त्र की सुरक्षा और उसकी 'शान्ति' के लिये आवश्य है। यह हमें संकीर्णता तथा अन्धविश्वास की मानसिकता से मुक्त भी रखती है।

वैसे, सर्वधर्म समभाव भी हमें साम्प्रदायक होने से बचाता है तथा दूसरे धर्मो के प्रति उदार बनाता है। लेकिन किसी 'राष्ट्र' की सरकार को, पूर्णतय धर्म-निरपेक्ष होना आवश्य है, जिस से बहु धर्मी राष्ट्र में सभी लोग शान्ति और सुरक्षा से रह सके। कभी-कभी सरकार धर्मो को प्रोत्साहन देते-देते स्यंम 'बहु धर्मी' (Multi Theocrtic) बन जाती है। उस अवस्था में, कभी-कभी बहुसंख्यक समुदाय सरकार पर हावी हो जाता है। और वह सरकार धर्म-निरपेक्षता के मार्ग से हट जाती हैं। इसलिये सरकार को सावधानी से निष्पक्ष होकर धर्म-निरपेक्ष धारणा के साथ, रहना आवश्यक है। समभाव केवल धर्म-निरपेक्ष सरकार में ही विकसीत हो सकता है। समभाव, धर्म द्वारा प्रोत्साहित सरकारों में यह सम्भव नहीं है। इसलिये सरकार को केवल सद्भाव की परवरिश करना ही आवश्यक नहीं है, उसे धर्म-निरपेक्ष होना भी आवश्यक है। मानव समाज के लोग मिलकर कोशिश करे, कि राष्ट्र सरकारें स्वयं में, धर्म-निरपेक्ष रहे, और सभी धर्मो को सदभावना के साथ, पक्षपात रहित रहकर विकसीत होने का अवसर दे। सरकारों का गठन धर्म-निरपेक्ष सिद्धान्तों के अनुरूप ही हो, उसकी शिक्षा प्रणाली तथा व्यवस्था धर्म निरपेक्ष हो।

आज, तर्कशीलता के युग में, विज्ञान के प्रकाश से, अन्धकार और अन्ध विश्वास का छाया हुआ मकड़ी जैसा जाला छिन्न-भिन्न हो रहा है। आज के युग में पुनर्जागरण के प्रकाश से मानवतावाद महत्वपूर्ण योगदान कर रहा है।

धर्म-निरपेक्ष, मानवतावादी दर्शन ने, मानव शास्त्र के मूल्यों के आधार पर सर्व कल्याणमयी और भय मुक्त दुनिया की रचना का स्वप्न देखा। उसके विकास के लिये अनेक महा पुरूषों के योगदान से, नवीन इन्कबाल को जन्म दिया गया। इनमें महात्मा गाँधी, रविन्द्र नाथ टेगोर, स्वामी विवेकानन्द, राजा राम मोहन राय, रूसों, लिंकन, मिल, बोल्टेयर, गैरीबाल्डी, कबीर दास, मार्क्स, महात्मा फूले, शैली, मेज़िनी तथा विक्टर आदि प्रमुख है। हमारे प्रगतिशील धर्मिक नेताओं ने धार्मिक और सामाजिक अन्याय के विरूद्ध संर्घष किया तथा अपार कष्ट भी सहे। उनका सहयोग भी सामाजिक 'क्रान्ति' में सहायक रहा है।

इस निरपेक्षतावादी दर्शन ने लोकतान्त्रिक क्रान्ति के युग को अन्धविश्वासी धर्मवादियों को चुनौती देते हुये, नये युग में प्रवेश किया, जिससे सामाजिक उत्पीड़न करने वाली पुरानी संकीर्ण प्रथाओं को एक साथ चुनौती दे डाली। जिससे विश्व जागृति के साये में लोकतान्त्रिक युग का आरम्भ हुआ। सामाजिक उत्पीडन के खिलाफ संर्घष तेज़ भी हुआ। उसमें मानवतावादी कारवां तेज़ी से आगे बढ़ा। लेकिन अभी विश्व में सामाजिक न्याय के लिये, संघर्ष निरन्तर जारी है, आओ ! हम सब मिलकर मानवतावाद को विजय दिलाये। विश्व में जाति-निरपेक्ष, धर्म-निरपेक्ष, पंथ-निरपेक्ष तथा अर्थ-निरपेक्ष जनतन्त्र की स्थापना करें।

हमारे चारो ओर, अहिंसा का मर्म समझा जाये तथा जीवन के विश्वास का कारवां, युद्ध और आतंक के वातावरण को समाप्त करता हुआ सरलता से आगे बढ़े। धर्म, कट्टरवाद रहित होकर, लोक कल्याणकारी शाश्वत दर्शन पूर्ण हो, तथा वह अपने व्यवहार में भी सहिष्णुता प्रधान बने रहे।

ऋग्वेद में कहा गया है -

"अस्मांक देवा अभयाय जन्मने शर्मयच्छत द्विपदे चतुष्पदे"
अदत् पिबदर्जयमान माशिंत तस्मेंशकर योररपों दयातन।।"

संदर्भिका

महान दार्शनिक इतिहासकारों तथा विद्वानों को नमन करते हुये, जहां से ज्ञान वर्द्धन में पूर्ण सहयोग मिला है, आभारी हूँ।

1. जी० टी० डब्लू० पैट्रिक – दर्शन–शास्त्र का परिचय
2. विल ड्रयूरेन्ट – दर्शन की कहानी
3. वर्नेट जॉन "ग्रीक दर्शन"
4. रसेल, "हिस्ट्री ऑफ फिलास्फी"
5. फुलर एण्ड मैकमूरिन "ए हिस्ट्री ऑफ दी फिलास्फी"
6. थिली हिस्ट्री ऑफ दी फिलास्फी' हीगल लेक्चरर्स आन द हिस्ट्री ऑफ फिलास्पी
7. डा. राधा कृष्णन्" प्राच्च धर्म और पाश्चात्य विचार
8. "मनु स्मृति" भाषा अनुवाद (पं० तुलसीराम स्वामी)
9. Will and Ariel Durant " The Age of Napoleon, A History of European Civilization.
10. "Abnormal Psychology and Modern Life" James, C, Coleman Professor of Psychology. The University of Colefornia at Los Angeles.
11. Gettell, R. G. "History of Political Thought".
12. Marx "Political Philosophies"
13. स्व० जे० पी० सूद
14. डा० वीरकेश्वर "पाश्चात्य रानीतिक विचारक"
15. "ऐशिया का इतिहास" डा० बुद्ध प्रकाश
16. महर्षि दयानन्द – सत्यार्थ प्रकाश, आर्य प्रकाशन, अजमेरी गेट, दिल्ली
17. यूरोप का इतिहास, एन० मुकर्जी (प्रमुख इतिहासकार)
18. Dr. Ravinder Kumar, Ex. V.C. C.C.S. University, Meerut "Religion and World Peace".
19. Siman Reeve and Giles Foden, London From Times of India प्रमुख पत्र ' (1)"The Gurdian" (2) The New York Times, (3) Times of India (4) पुस्तकालय, चौधरी चरण सिंह विश्व विद्यालय, मेरठ
20. Marx and Engles - Selected works Vol (i) 253-54
21. (1) तिलक पुस्तकालय, टाऊन हाल मेरठ, (2) मेरठ कॉलिज मेरठ, पुस्तकालय (3) कैलाश प्रकाश पुस्तकालय, पी० एल० शर्मा स्मारक, हापुड रोड, मेरठ।

References :

New Testment (H) P 28
Holy Quar'an
Hadis (H)
Rig Veda, 16.37, 11
Geddes & Grosset (World History)
Open Letter (M. K. Gandhi)
Horld Laski, Reflection on the revolution or our Times London 1943
Vishnu R. Kant : Violence Roots and Resolutions.
अथर्ववेद
गीता
राधाकृणन : धर्म और समाज
Tara Chand "Influence of Islam on Indian Culture"
Hindustan Times प्रमुख (समाचार-पत्र)

धर्म दिवाकर जी एक राजनीतिज्ञ, सुप्रसिद्ध चिन्तक, लेखक तथा समाजसेवी हैं, उनका विशेष अध्ययन 'गाँधी दर्शन' पर रहा है। दिवाकर जी की लिखी कई पुस्तकें राष्ट्रीय स्तर तथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ख्याति प्राप्त है।

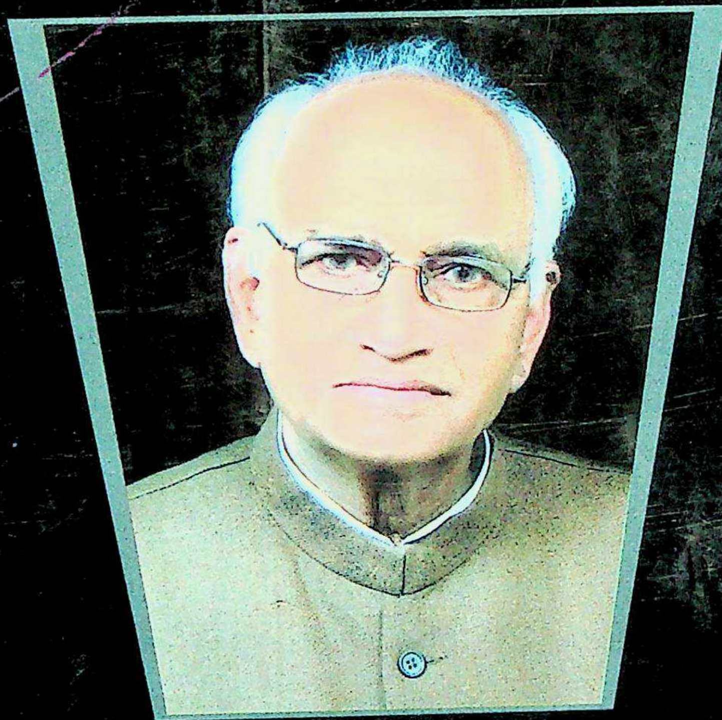
कांग्रेस के आन्दोलन में, मजदूर तथा किसान आन्दोलन का नेतृत्व करते हुए कई बार जेल की यातनाएँ भी सहीं। उन्होंने गोवा मुक्ति संग्राम में सक्रिय भाग लिया। स्वतन्त्रता आन्दोलन में, स्कूल भवन पर तिरंगा फहराने के अपराध में पब्लिक केनिग की सज़ा दी गई।

कविता, कहानी के क्षेत्र में भी दिवाकर जी एक विशिष्ठ स्थान रखते हैं तथा राष्ट्रीय स्तर की पत्र–पत्रिकाओं में उनके लेख प्रकाशित होते रहते हैं।

वह अनेक वर्षों तक भारत दूरदर्शन तथा ऑल इण्डिया रेडियो के वार्ताकार भी रहे हैं।

दिवाकर जी का समाजसेवा के लिए तथा मानव समाज की एकता के लिए कार्य करना एक लक्ष्य है।

धर्म, धर्म-निरपेक्षता बनाम आतंकवाद



"चारों ओर देखो ! जीवन अंगड़ाई ले रहा है। सभी श्रमरत् हैं। मानवता के लिये आत्मोत्सर्ग कर रहे हैं। सर्वत्र संघर्ष का महाज्वाल धधक रहा है।"

- रविन्द्रनाथ टैगोर

प्रभादिवाकर प्रकाशन

अशोका अकादमी, पी.एल. शर्मा रोड, मेरठ.

फोन : 0121-2663658